

य प्रजापति की अनुकम्पा से आज हम इगोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य
द्वितीय खण्ड अपने उपनिषत् प्रेमियों के समक्ष उपस्थित करने में समर्थ हो
सके हैं। प्रथम खण्ड में ३ मन्त्रों का भाष्य प्रकाशित हुआ है, अब इस दूसरे
खण्ड में उपनिषत् के शेष १२ मन्त्रों का भाष्य सम्पन्न हुआ है। आरम्भ के तीन
मन्त्र पुरुषात्मा का निरूपण करते हैं, अब आगे के १५ मन्त्र प्राकृतात्मा का
प्रतिपादन करते हैं। इस विषय विभाग को सद्य में रखकर ही हमने तीन मन्त्रों को स्वतन्त्र
खण्ड में, अब १५ मन्त्रों को स्वतन्त्र खण्ड में प्रकाशित करना आवश्यक समझा है। मन्त्र
त्रयात्मक पुरुषात्माधिकरण भी २५० पृष्ठों में, अब पञ्चदशमन्त्रात्मक प्राकृतात्माधिकरण
भी २५० पृष्ठों में ही संपन्न हुआ है। इस प्रकार सम्पूर्ण यह ईगभाष्य २०० पृष्ठों में
पूर्ण हुआ है। इन दोनों खण्डों के प्रकाशन का अर्थ "बर्म्हर्षेदिषद्विज्ञानप्रकाशनफण्ड"
को ही है।

उक्त फण्ड में माननीय श्रीसेटीमहोदय, एवं माननीय राजासाहबधीमुकुन्द
भास्करजी गिरी महोदय के स्तुत्य प्रयास से सन् ३८ में लगभग २ सहस्र रु० व्ययित हुए थे। उक्त
द्रव्य से यम्बई से प्रकाशन सम्बन्धी सामग्री (ट्रेडिङ मशीनें-टाइप-कटर मशीन आदि) खरीदी

गया था । साथ ही मैं कमेटी से लिखितरूप में यह प्रतिज्ञा करी गई थी कि “५ सित्त ५० की श्रावत के हिन्दी-वैज्ञानिक ग्रन्थ स्थानीय श्रीवासपात्र १० प्रेस से प्रकाशित कर दिये जायेंगे । तदनुसार एक वय के भीतर भीतर हमें लगभग २॥ सित्त के व्यय के दो खण्ड प्रकाशित कर दिए हैं । लिखित प्रतिज्ञानुसार व्यय के विस्तार के साथ प्रकाशित खण्डों की १०० प्रतिशत कमेटी की सेवा में भेंट दी गई हैं । बाकी बचे हुए व्यय से भी हम शीघ्र ही मुक्त होने का प्रयास कर रहे हैं । इस सम्बन्ध में कमेटी से, निवेदनः श्रीमतीलेडीसुखीबाई, एन राजासाहब श्रीमुकुन्दमासनी से यह निवेदन करना चाहते हैं कि कमेटी में जो द्रव्य हमें प्रदान किया था उसका उपयोग पूर्वकमानुसार प्रकाशन सम्बन्धी सामान में ही होगा । ऐसी स्थिति में प्रकाशन जैसा परिष्कृत होना चाहिए था, नहीं होसक्य है । कमेटी द्वारा प्राप्त सामान से किस प्रकार सैकड़-मस्त बन कर हम दो खण्ड कमेटी के सामने रखने में समर्थ होसके हैं इस का पूरा निश्चय “हमारी यात्रा, और वैदिकसाहित्य” नाम के ग्रन्थ से कमेटी को सिद्ध होगा । इन सब सक्तों के रहते हुए भी कमेटी को हम विश्वास दिसाते हैं कि अग्रिम वर्ष की सम्पत्ति तक जैसे भी कौना हम शेष व्यय से मुक्त होने का प्रयास करेंगे । हमें आशा है—छेदी साहिब एन राजासाहब हमारी विषम परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए मन्त्रिय में भी इस साहित्य पर इसी प्रकार अनुमोदित बनाए रखेंगे ।

इस के अनन्तर “उपनिषद्विज्ञानमाध्यम्युमिका” का प्रथम खण्ड प्रकाशित होगा । यह युमिका २ ० पृष्ठों में सम्पन्न हुई है । इसी लिए इसे भी दो खण्डों में ही प्रकाशित करने का निश्चय किया है । इस में निम्न लिखित विषयों का समावेश हुआ है—

- | | | |
|---------------------------|-----|-------------------|
| १—प्रारम्भिक मन्त्रव्य— | १०० | } युमिकाप्रथमखण्ड |
| २—मन्त्रसपाठरहस्य— | ४० | |
| ३—उपनिषत्तु गन्ध का अर्थ— | १०० | |
| ४—क्या उपनिषत्तु वेद है ? | १२० | |

- (५)—१—उपनिषदों में क्या है ?
 (६)—२—उपनिषद ज्ञान का अधिकारी कौन है ?
 (७)—३—उपनिषद हमें क्या सिखाती है ?
 (८)—४—औपनिषद ज्ञान के प्रवक्ता कौन थे ?
 (९)—५—ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद में परस्परमें
 क्या सम्बन्ध है ?
 (१०)—६—श्रुतिगण्डीमांसा, एष एकेनरवाद् पर
 एक दृष्टि ।

(सगम ५०० पृष्ठ)

भूमिकाद्वितीयखण्ड

प्रकाशित दोनों खण्डों के सम्बन्ध में हमें अपने प्रेमी पाठकों से यह निवेदन करते हुए
 ज्ञान का अनुभव होता है कि प्रकाशन में अशुद्धियों को आवश्यकता से अधिक स्थान मिला
 है । कारण इसका यही है कि अध्ययन के कार्य में संलग्न रहने कारण हमें समय बहुत ही
 कम मिलता है । साथ ही में अर्थसम्बन्धिनी जटिल समस्या के कारण हम इस कार्य के लिए
 सतत व्यक्ति रखें में भी असमर्थ हैं । इन्हीं सारी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए पाठक
 उक्त शपथ के लिए हमें क्षमा प्रदान करेंगे यही निवेदन कर हम अपनी संक्षिप्त प्रस्तावना
 समाप्त करते हैं ।

प्रियतामनेनात्मदेवतोति-शम्

पुस्तकगुणरूप १३ शिवरात्रि

विद्वद्भिर्निर्धेयः—

वि० सं० १२२०

मोतीलालशर्मा, भारद्वाज

(प्रत्यसमाप्ति)

जयपुर—राजधानी

ईशोपनिषत्-हिन्दीविज्ञानमाध्य-द्वितीयखण्ड की विषयसूची



अथ

प्राकृतात्माधिकरणे— अव्यक्तात्माधिकरणम्

१

(१ पृष्ठ से १५१ पृष्ठ पयन्त)



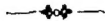
विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—प्रकृतिवैभव	*	६—अद्वैत की मीमांसा	३
२—अधिकरणस्वरूप	*	७—समातीय-विजातीय-स्वगतभेद	॥
३—अव्यक्तात्मस्वरूपनिर्गुण	*	८—कथित अद्वैतवाद	४
१—मूलमन्त्र	१	९—अनीह्वरवादप्रधान जगन्मि-	५
२—मन्त्र का अक्षरार्थ	२	ध्यायवाद	
३—विषय की द्विनिपत्ति	॥	१०—विरह का मूल	॥
४—द्वन्द्वभाव की व्यापकता	॥	११—सात्त्विक विरह की संपत्ता	॥
५—एकत्व-अनेकत्व	३	१२—अमृत पुरुषमय विरह	६

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१३—नाम-रूप की सत्यता	६	१७—मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय	१०
१४—जगन्निष्पादक की अशास्त्रीयता	७	१८—मन्त्रसम्बन्धी सोपाधिकमय	"
१५—जगत् की सत्यता के समर्थक	८	१९—आहिति एवं आपान सम्बन्ध	"
सौतप्रमाण		२०—मन्त्रोपाद्य यज्ञक्रम	११
१६—आत्म के स्वरूपधर्म	१०	२१—विद्याकर्ममय अन्वय	५

इति-विषयोपक्रमः

मन्त्रार्थसम्बन्धिनी-त्रयीवेदनिरुक्ति

(१२ पृष्ठ से १० पर्यन्त)



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—ज्ञानसाधक वेद	१२	१—क्रिया का स्वरूप	१३
२—ब्रह्मा से सर्वप्रथम वेद का प्रादुर्भाव	"	११—कल्पन एवं गति का तार	"
३—वेद के चार विभाग	"	मय (इष्ट-प्रवृत्ति)	
४—अग्निवेद सोमवेद	"	१२—अग्निपितृव्यात्मक शरीर	१४
५—अग्नितात्व का अग्नित्व	"	१३—प्राणाग्नि का विस्तार	"
६—होह-होहना	"	१४—कर्मव्यपन्न अग्नि	"
७—देव-देवता	"	१५—प्राण-सूत वेद से अग्नि के दो विवर्य	"
८—अग्निमयी मूर्ति	१३	१६—विश्वकर्मवर्मा अग्नि	१५
९—कर्मपुत्र	"	१७—संकेतवर्मा सोम	"
	"	१८—यि-माद्य	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
११—अग्नीषोमात्मक जगत्	१५	४२—प्राजापत्यवेद	२३
२०—सत्याग्नि, देवाग्नि, भूताग्नि	"	४३—वेद से आप्ति	२४
२१—अग्निप्रयी (त्रयीवेद)	"	४४—वेदि, वेद, यज्ञ, प्रजापति	"
२२—सोमवेद (अथर्ववेद)	"	४५—पुष्करपथ	"
२३—सायकान निरायकान सोम	१६	४६—पुर की उत्पत्ति	२५
२४—आत्मवेदोपक्रम	"	४७—चतुर्मुखब्रह्मा	"
२५—उक्त्य-ब्रह्म-साम	"	४८—धीरसमुद्र	"
२६—आत्मवेद में त्रयीवेद	१७	४९—सरस्वतीवाक्	"
२७—प्रतिष्ठावेदोपक्रम	"	५०—नारदऋषि	"
२८—प्रतिष्ठात्रयी	"	५१—सरस्वान् समुद्र	"
२९—वसिष्ठरूपनिर्बचन	"	५२—प्राकृतिक अग्न्याधान	२६
३०—असतोवसि	१८	५३— " अग्निहोत्र	"
३१—सतोवसि	"	५४— " दशपूर्णमास	"
३२—प्रतिष्ठावेद में त्रयीवेद	१९	५५— " चातुर्मास्य	"
३३—ज्योतिर्वेदोपक्रम	"	५६— " पशुबन्ध	"
३४—पञ्चज्योति	"	५७— " ज्योतिषोम	"
३५—मूत्रज्योति	२०	५८— " अग्निघषन	"
३६—सप्तज्योति	"	५९—हृष्टाग्नि	"
३७—ज्योति, चेतना, आनन्द	२१	६०—आतानपथ	२७
३८—सन्निधानम्बुधम वेद	"	६१—महापृथिवी	"
३९—अग्निवेदनिर्बच	२२	६२—प्राजापति के रम्य	"
४०—अनन्तवेद	२३	६३—निष्पत्ति वेद	२८
४१—त्रयीनिर्मित मूलप्रपञ्च	"	६४—मूर्तिमात्र	२९

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
५—रेत का प्रमाण	५१	२८—अप-वर्णक का वर्ण	५७
६—वस्त्रपुत्र-पुत्र	"	२९—संक्षेपमय वेद	"
७—दीर्घादि-वर्ण	"	३०—प्रत्यक्षीकृत वेद	"
८—दीर्घमय-पुत्र	"	३१—पौरुषेय वेद	"
९—पुत्र	५२	३२—भारतपुत्र	५८
१०—प्रासबाय	"	३३—पोषण	"
११—पञ्चमय बाय	"	३४—पण्डित	"
१२—मातरिका बाय	"	३५—रेतोपुत्र	"
१३—सक्ति बाय	"	३६—व्योम	"
१४—विश्वेद से बायविमल	५३	३७—समुद्र	"
१५—बातबाय	"	३८—वस्त्रपुत्र	"
१६—पञ्चमान, पाचक, सुवि	"	३९—सुप्ताद्यय	"
१७—अपवर्णप्रियावस्त्र	५४	४०—समावृत्त	"
१८—अपवर्ण	"	४१—अप, वेद, वीर्य, अग्नि	५९
१९—अपवर्णप्रयोग	"	४२—सुप्ताद्य, सुवेद अपवर्ण, सोम	"
२०—आद्योक्त का संक्षेप	५५	४३—विषा, विमल, आकाश का कृ. वृ. ०	"
२१—अपवर्ण	"	४४—अपवर्ण, अग्नि, वायु, प्राण, पद	"
२२—सुप्त अपवर्ण	"	४५—अपवर्ण-अपवर्ण	६१
२३—असा का ओष्ठपुत्र अपवर्ण	"	४६—अपवर्ण-अपवर्ण	"
२४—अपवर्ण	५६	४७—अप वस्त्र	"
२५—आपवर्ण	"	४८—अप वस्त्र	"
२६—अपवर्ण	"	४९—अप वस्त्र	"
२७—अपवर्ण	"	५०—अप वस्त्र	"
२८—अपवर्ण	५७	५१—अप वस्त्र	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
५१—भ्याख्याताओं का मातरिवा	६१	७५—मूषष्ठ-अभ्यय	६५
५२—पारमेष्ठ ममोता	"	७६—सूत्र-सूत्रवायु	"
५३—पद्मस	६२	७७—षष्ठ-यजुर्वेद	"
५४—शृङ्गपत्नी	"	७८—मिष्ट्री-श्वरभाग	"
५५—शङ्खमयभूत	"	७९—दण्ड-धुवनिष्पत्ति	"
५६—वेदशास्त्र	"	८०—पानी-आपोमयप्रज्ञा	"
५७—आकाशात्मिक वाक्	"	८१—कीर्तिक-विश्वनाभि	"
५८—पादकौशिक विवर्त	६३	८२—प्रत्यक्षक-प्रज्ञाण्ड	६६
५९—आत्मन्मी प्रजापति	"	८३—उत्तरारूप-प्रज्ञाण्ड	"
६०—अनेजदेवत्	"	८४—मूषोक्त-मुष्म	"
६१—अवयवगति	"	८५—मुखोक्त-उदर	"
६२—अवयवगति	"	८६—सर्गोक्त-मुख	"
६३—उभयगति	"	८७—प्रतिनिर्माता, निश्चिन्माता में स्पष्टा	"
६४—गतिस्थिति का दिग्दर्शन	६४	८८—अनेजदेवत् का एकप्रसम्भव	"
६५—कुम्भकार प्रजापति	"	८९—गतिस्थिति का समन्वय	६७
६६—प्रजापति का धरातल	"	९०—मनसो जमीय	६८
६७—पट का निमित्त कारण	"	९१—देवसृष्टि	६९
६८—" उपादानकारण	६९	९२—इन्द्रियदेवता	"
६९—" सबकारणकारण	"	९३—पूर्वमर्पित	"
७०—बौद्धपट	"	९४—देवताओं का परामर्श	"
७१—पटपत्र	"	९५—महत्तमभूत मापी महेश्वर	७०
७२—पटोत्पत्ति	"	९६—मन्त्र के तीन पाद	७१
७३—पिटरपात्र	"	९७—मन्त्र का चौथा धरण	"
७४—कुम्भकार-अधर	"		

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
६०—रेत स्रव	७१	१२१—बराहसिंहा	७६
६१—योनितन्त्र	७२	१२२—पवन और शूकर	"
१००—रेतोषाक्तत्व	"	१२३—अश्वज और शूकर पशु	"
१०१—सृष्टिनिर्णयक शिष्यायु	"	१२४—मत्तविशोधक अश्वज	"
१०२—सृष्टिनिर्णयक पशुयु	"	१२५—मत्तविशोधक शूकरपशु	"
१०३—पिण्डनिष्पत्ति मातरिश्वा	"	१२६—सब किए पुरुष हैं	७७
१०४—पिण्डशब्द की व्याप्ति	"	१२७—मन्त्रप्रमाण	"
१०५—पृथिवी—पुष्टोक्त	"	१२८—श्रीसायणमिम्ब अथ	"
१०६—मत्तरिराज का कर्म	७३	१२९—सब पुरुष किए हैं	"
१०७—अपारिज	"	१३०—सायणमिम्ब और कर्मकाण्ड	"
१०८—मातरिराज और बराह	"	१३१—सायणमिम्ब में विज्ञानवैदिक अभाव	"
१०९—अनज्योति	"	१३२—अश्वज शब्द का निर्बधन	"
११—सम्प्रोति	"	१३३—शुरू मन्त्रसम्बन्धिनी आत्मविषय	
१११—परम्प्रोति	"	पिण्डी मात्रमा का उपक्रम	७८
११२—रूपम्प्रोति	७४	१३४—सायणमुत्र ब्रह्मात्मा	"
११३—आदिक्राव	"	१३५—सीर देवात्मा	"
११४—पञ्चपण्ड	"	१३६—पार्थिव मृतात्मा	७९
११५—रवेतपण्ड	"	१३७—उपनिषदों का व्याख्या	"
११६—मन्त्रपण्ड	"	१३८—त्रयीवेद का व्याख्या	"
११७—पञ्चपण्ड	"	१३९—मागम शास्त्र का व्याख्या	"
११८—यज्ञपण्ड	७५	१४०—वेदोपनिषद की सम्प्रति	"
११९—घण्टी उपनिषद्	"	१४१—ज्ञान—काम—कर्म—आत्म	"
१२०—त्रेधर्मार्थगुह्य	७६	१४२—व्यामिशिष्य का दिग्दर्शन	८०

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१४३-आत्मविकल्पपरिच्छेद	८१	१६६-क्षरोपासना	२०
१४४-त्रिपात् पुरुष की विमृष्टि	८२	१६७-काण्डप्रयी	२१
१४५-आत्मविकर्षों की व्याप्ति	८३	१६८-उपनिषत्काल की उपासना	"
१४६-त्रिपात् अक्षरपुरुष	८४	१६९-उपासना का अर्थ	"
१४७-त्रिपात् अक्षरपुरुष	"	१७०-उपासना का अर्थ	"
१४८-एक ही आत्मा के तीन विकर्ष	८५	१७१-मूर्त-मूर्तिप्रस	"
१४९-चेतनसूष्टि	८६	१७२-अक्षी की उपासना	"
१५०-अर्धचेतनसूष्टि	"	१७३-अक्ष की उपासना	"
१५१-अचेतनसूष्टि	"	१७४-उपासना का प्रथमात्म	२२
१५२-अक्षरसूष्टि	८७	१७५-उपासना का द्वितीयस्तम्भ	"
१५३-दैवसूष्टि	"	१७६-गीत बह-तुलसी आदि की उपासना	"
१५४-मूर्तात्मसूष्टि	"	१७७-सगर्वप्रक्षिप्तार्थों उपासना	"
१५५-प्रथमाधिकारी	८८	१७८-शासनात्म की उपासना	"
१५६-अप्यमाधिकारी	"	१७९-त्रिमूर्ति श सप्राम	"
१५७-उत्तमाधिकारी	"	१८०-सदासीनभाव	"
१५८-सर्वभूतान्तरात्मोपासना	"	१८१-अकृतिभाव	"
१५९-क्षिरपयगर्भोपासना	"	१८२-विकृतिभाव	"
१६०-अक्षरयोपासना	"	१८३-श्रीकृष्ण प्रसात्म	२३
१६१-मोक्षोपासना	८९	१८४-स्रेष्ठ में बीबाहृति	२४
१६२-सद्गीयोपासना	"	१८५-विश्वयोनि	"
१६३-प्रणवोपासना	"	१८६-विज्ञानवेत्ता कति	"
१६४-अप्ययोपासना	९०	१८७-ब्रह्मसूत्र की व्याख्या	२५
१६५-अक्षरोपासना	"	१८८-वैदिक आख्यान	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१८६-पितृपितासद	६६	२११-सकौष-निकस	१००
१८७-रश्मिबिपयिणीमात्रना		२१२-नि सीममात्र शत्रुता का प्रवचक	"
का उपक्रम	"	२१३-एति-प्रेति	"
१८८-आत्मा-प्राण-पशु	"	२१४-समिद्धाति	"
१८९-परोरजाप्राण	६७	२१५-सामिकनी	"
१९०-आग्नेय-सौम्यप्राण	"	२१६-युग्युषी	१०१
१९१-सूखमृत	"	२१७-अक्षिराज्यी	"
१९२-पुरुषप्रवृत्ति	"	२१८-स्त्री का पुरुषत्व	१०२
१९३-कविपुत्र	"	२१९-पुरुष का स्त्रीत्व	"
१९४-विवाद पुत्र	"	२२०-स्त्रीकामुक पुरुष	"
१९५-रश्मिमात्र	"	२२१-पुरुषकामुक स्त्री	"
१९६-स्त्रीरूप रश्मि	६८	२२२-मगलमगल	"
२००-शुक्रविपयिणीमात्रना		२२३-मकराक्षि और मगल	"
का उपक्रम	"	२२४-मकराक्षि (काम)	"
२०१-अचेतन अग्नि	"	२२५-पुरुष की प्रजननशक्ति	"
२०२-अचेतन सोम	"	२२६-सुव्रतत्व	१०३
२०३-अक्षिराज्य	"	२२७-मीनराक्षि और शुक्र	"
२०४-मैथुनीमहि	"	२२८-मीनराक्षि [काम]	"
२०५-पुरुष-स्त्री	"	२२९-सुव्रतत्व	"
२०६-शरीरवर्णामेद	"	२३०-सुव्रतत्व	"
२०७-वर्ण शरीर	६९	२३१-शिक्षाशक्ति का सम्बन्ध	"
२०८-वर्णमय शरीर	"	२३२-श्रीमत्पु और अन्तःपुष्ट	"
२०९-सौम्य शुक्र	"	२३३-श्रीमत्पु और अन्तःपुष्ट	"
२१०-आग्नेय श्रेष्ठ	"	२३४-प्रवृत्ति का वैयम्प	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२१५—अग्निप्रधान पुरुषशरीर	१०४	२४१—पितृप्यितासत्	१०७
२१६—सोमप्रधान पुरुषात्मा	"	२४०—अश्वत्थार्षोपसहार	"
२१७—सोमप्रधान स्त्रीशरीर	"	२४१—एकयामरुत्	"
२१८—अग्निप्रधान स्त्री का आत्मा	"	२४२—योनि में शुक्रवृद्धि	"
२१९—स्त्री का सौम्य भूण	"	२४३—रेतोपा मातरिरवा	१०९
२२०—पुरुष का आग्नेय भूण	"	२४४—वायुवृद्धिमीनादि	"
२२१—पुंभूण—स्त्रीभूण	"	२४५—प्रजोत्पत्तिक्रम	"
२२२—त्रिसप्त देवता	१०५	२४६—अभिदैवतसत्त्वा	"
२२३—प्रजननकर्म का त्रिकभाव	"	२४७—मन्त्रार्थसंज्ञा का उपक्रम	"
२४४—प्रथमाक्रमण	"	२४८—दक्षिणी विराट्	"
२४५—द्वितीयाक्रमण	"	२४९—मन्त्रापक्रम	११२
२४६—अश्वमन्त्रसंज्ञा	१०६	२५०—पुण्डरीक स्तयम्भू	---
२४७—कविपुत्र का रहस्यप	१०७	२५१—अनेकदेवत् प्राकृतात्मा	"
२४८—जायामाग	"	२५२—शान्तात्मा	"

मन्त्रार्थप्रकरण—समाप्त ।

अव्यक्तात्माधिकरण में ब्रह्म—कर्मसंवन्धाधिकरणा

(११७ पृष्ठ से १५१ पद्यन्त)



१—सम्प्रपत्तिशब्दकर्मप्रतिषेध	११७	४—ब्रह्म-कर्ममय कर्ममय	११२
२—सम्प्रपत्तिशक्ति का उपक्रम	११८	५—विद्यात्मा-ब्रह्म	"
३—प्रवृत्ति के द्वारा विघननिवृत्ति	"	६—विद्य-कर्म	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
७—प्रस-शुक्र-विरच	११६	२६—प्रारम्भसम्बन्ध	१२८
८—अमृत-प्रस-शुक्र-विरच	"	२७—बौद्धात्मिकसम्बन्ध	१२९
९—ईश के प्रतिपाद्य विषय	"	२८—सांतात्मिकसम्बन्ध	"
१०—अमृतमिरूपकप्रमाण	"	२९—विकर्षसम्बन्ध	"
११—विहसितानिरूपकप्रमाण	१२०	३०—वैकल्पिकसम्बन्ध	१३०
१२—वैकारिकतन्त्रनिरूपकप्रमाण	"	३१—ऐक्यिकसम्बन्ध	"
१३—कारणतापञ्चमी	"	३२—बोधोपादिकसम्बन्ध	"
१४—चतुष्पाद व्याख्या	१२१	३३—परिष्कामी सम्बन्ध	"
१५—चतुष्पाद प्रस	"	३४—संज्ञावृत्तिकसम्बन्ध	"
१६—अष्टादश गणप्री	"	३५—सांयोजिकसम्बन्ध	"
१७—गणप्री की व्यापकता	"	३६—बोधोपादानिकसम्बन्ध	१३१
१८—गणप्रीपरिच्छेद	१२२	३७—सांख्यिकसम्बन्ध	"
१९—प्रवृत्तिरूपनिरूपकव्याख्यान	"	३८—आत्मिकसम्बन्धीसम्बन्ध	"
२०—शोपनिषद्	"	३९—प्रमत्तात्मनस्तत्त्व-प्रमत्तवित्त	"
२१—अभिहरणद्वयी	"	यत्नात्मकसिद्धयन्तत्त्व-प्रमत्तवृत्त	"
२२—कर्त्रों का विषयानुसार विभाग	"	चरत्त्वसम्बन्ध (१)	१३३
प्रश्न	१२३	४०—प्रमत्तात्मनस्तत्त्व-प्रमत्तवित्तयन्तत्त्व	"
२—विषयपरिच्छेद	"	प्रमत्तवृत्तचरत्त्व सम्बन्ध (२)	"
३—सम्बन्ध विभाग	१२६	४१—प्रमत्तात्मनस्तत्त्व-प्रमत्तवित्तयन्तत्त्व	"
४—दार्शनिक पद्धतिकृत सम्बन्ध	"	प्रमत्तात्मनस्तत्त्व-प्रमत्तवृत्तचरत्त्व सम्बन्ध (३)	"
५—इतिवृत्त	१२७	४२—प्रमत्तात्मनस्तत्त्व-प्रमत्तवित्तयन्तत्त्व	"
६—नैमित्तिकसम्बन्ध	"	प्रमत्तवृत्तचरत्त्व सम्बन्ध (४)	"
७—प्राकृतिकसम्बन्ध	"		
८—वैदिकसम्बन्ध	१२८		

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
४६—प्रमत्तसम्बन्ध-प्रमत्तचित्तयनत्वं		६५—"तदेजति०" मन्त्र का अर्थ	१३७
प्रमत्तपृथक्त्वसम्बन्ध (५) १३३		६६—कृतात्मा मनुष्य	"
४७—प्रमत्तसम्बन्ध-प्रमत्तचित्तयनत्वं	"	६७—अज्ञान मनुष्य	"
प्रमत्तचित्तयनत्वावित्तयनत्वं प्रमत्त-		६८—सत्य का तारतम्य	"
पृथक्त्वपृथक्त्वसम्बन्ध (६) "		६९—विषयानुगतासुद्धि	"
४८—सम्बन्ध में संशय	१३४	७०—अपुक्त मनुष्य	१६८
४९—सत्त्वसम्बन्ध (४)	"	७१—सर्वज्ञानविमूढमनुष्य	"
५०—पद्मासृष्टिावसम्बन्ध (४)	"	७२—सम्बन्धमेददृष्टि	"
५१—अज्ञानमिदृष्टिावसम्बन्ध (५)	"	७३—निष्ठ इषी	१३८
५२—अभिप्रेत्यावकाशपरमाणव-	"	७४—मेदवाद का निराकरण	"
५३—(१) कार्य कारण में है	१३५	७५—विधेयभारमा	१४०
५४—(२) कारण कार्य में है	"	७६—मायादिकबीज	"
५५—(३) कार्य-कारण मिला हैं	"	७७—प्राणादिकबीज	"
५६—(४) कारण ही कार्य है	"	७८—पुण्यबीज	"
५७—(५) कार्य कारण से अभिन्न है	"	७९—पुण्यभाग	"
किन्तु कारण कार्य से मिला है "		८०—युक्तयोगी	१४१
५८—(६) कारण में कार्य सम्पन्न है	"	८१—युज्जानयोगी	"
५९—अथ काम में प्रतिष्ठित है (१) १३६		८२—अथानात्ममनुष्य	"
६०—अथ काम में प्रतिष्ठित है (२)	"	८३—अथ-कर्ममयी उपासना	"
६१—अथ काम पालन मिला हैं (३)	"	८४—सर्वत्र आत्ममात्रना	"
६२—अथ ही काम है (४)	"	८५—पुण्यकारण का फल	"
६३—अथ काम से मिला है, किन्तु		८६—मन्त्रावसम्बन्ध	१४२
काम काम से अभिन्न है (५)	"	८७—अनिवर्तनीयसम्बन्ध	१४३
६४—अथ में काम मास रहा है (६)	"	८८—मोक्षमोक्षमात्रसम्बन्ध	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
४६—प्रमथासम्भवात्-प्रयश्चित्तपनात्-		६५—"तदेमति०" मन्त्र का अर्थ १३७	
प्रमथापृषत्परत्तसम्भवात् (५) १३१		६६—कृतात्मा मनुष्य	"
४७—प्रमथासम्भवात्प्रमथासम्भवात्	"	६७—अपुष्ट मनुष्य	"
प्रयश्चित्तपनात्प्रमथासम्भवात् प्रमथ		६८—सत्य का तारतम्य	"
पृषत्परत्तपृषत्परत्तसम्भवात् (१) ११		६९—विषयानुगतामुद्दि	"
४८—सम्भवात् में संशय	१३४	७०—अपुष्ट मनुष्य	१६८
४९—सम्भवात्सम्भवात् (४)	"	७१—सपक्षानविमृदमनुष्य	"
५०—पृषत्परत्तपृषत्परत्तसम्भवात् (४)	"	७२—सम्भवात्मेंदृष्टि	"
५१—सम्भवात्प्रमथासम्भवात् (५)	"	७३—मिष्ट इषी	१३६
५२—अभिज्ञसत्ताकावयकारणमात्र-	"	७४—मेदबाद का निराकारण	"
५३—(१) कार्य करण में है	१३५	७५—विषयभारमा	१६०
५४—(२) कारण काय में है	"	७६—मायादिपञ्चीय	"
५५—(३) काय-कारण मिल है	"	७७—प्राबाहिकपञ्चीय	"
५६—(४) कारण ही काय है	"	७८—पुष्टजीव	"
५७—(५) काय कारण से अभिज्ञ है,		७९—पुष्टिमाग	"
किन्तु कारण कार्य से मिल है "		८०—पुष्टिपोगी	१६१
५८—(६) कारण में काय सम्पन्न है	"	८१—पुष्टिमानपोगी	"
५९—अथ काम में प्रतिष्ठित है (१) १३६		८२—पञ्चाशत्तमनुष्य	"
६०—पञ्च अथ में प्रतिष्ठित है (२)	"	८३—अथ-कामपयी उपासना	"
६१—अथ काम परात्पर मिल है (३)	"	८४—सत्य काममात्रना	"
६२—अथ ही काम है (४)	"	८५—कुम्भकर का चक्र	"
६३—अथ काम से मिल है, किन्तु		८६—मन्त्रावसक्त	१४२
काम अथ से अभिज्ञ है (५)	"	८७—अभिज्ञपनीयसम्भवात्	१४३
६४—अथ में काम प्राप्त रहा है (६)	"	८८—मोक्षप्रोत्साहकसम्भवात्	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
८६—अन्तरात्तरीमाससम्बन्ध	१४३	१०६—मन्त्रार्थोपसंहार	११
८७—आवातापेयमाससम्बन्ध	"	१०७—७ मन्त्रार्थोत्तर	"
८८—मेदसम्बन्ध	१४४	१०८—सर्वत्रत्यागमादना	१४६
८९—अमेदसम्बन्ध	"	१०९—मोक्षकसिद्धाभुद्धि	"
९०—मेदाभेदसम्बन्ध	"	११०—मोक्षकशोक	"
९१—मन्त्रार्थोपसंहार	१४५	१११—शोकनिवृत्त्युपाय	"
९२—आत्मज्ञान में कर्मका समय	"	११२—अज्ञेयमात्रकीउपासना	"
९३—सूत्राद्वैतविषय	"	११३—"विमानता" शब्दरहस्य	१५०
९४—६ मन्त्रार्थोपसंहार	१४६	११४—सामान्यज्ञान	"
९५—मन्त्रका आख्याय	"	११५—तारिककथान	"
९६—प्रत्यक्ष-परागुद्घा	"	११६—कसौ वेदात्मिका सर्व	"
१००—युष्मदरमत्प्रत्यपगोचरविषय-	"	११७—"इदमित्येव"	"
विषयी	"	११८—उपसंहार	"
१०१—ओति-आभरण	"	११९—मेदयुक्तिक आत्मनिक निराकरण	"
१०२—निद्यासुतिम्ब	१४७	१२०—प्राणिमत्सिकज्ञेय	१५१
१०३—विशुद्धता	"	१२१—म्यावहारिकज्ञेय	"
१०४—रागद्वेष	"	१२२—पारमार्थिकज्ञेय	"
१०५—आनन्दमाप्ति	१४८	१२३—मन्त्रार्थोपसंहार	"

सम्बन्धाधिकारसमाप्त

इति—प्रत्यक्षात्मपिङ्गल समाप्तम्

अथ
प्राकृतात्माधिकरणो—

२—महदात्माधिकरणम्
(१५३ पृष्ठ से २११ पृष्ठ पर्यन्त)

विषय,	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—महत्स्वरूपनिदर्शन	१५४	२१—वेद और प्रजापति	१६६
२—अष्टाक्षराण्यत्री	१५७	२२—प्रजा और प्रजापति	"
३—प्रजापति के आठ अवयव	"	२३—सुवेद और श्लोक	१६७
४—वत्सार्णिकक्षपरमाक्षिद्	१५८	२४—वेद और सुवेद	"
५—सहस्राक्षर विराट्	"	२५—विश्वकर्मा	"
६—अनाष्टम्य	१५९	२६—विश्वकर्मा के अस्मिन्निष्ठ	"
७—प्रजापति के तीन अवयव	"	२७—कामप्रपञ्च	"
८—मृतमन्त्र	"	२८—दशपूर्णमासविज्ञान	"
९—मन्त्र का अक्षरार्थ	"	२९—प्रतिपत्-अनुचर	"
१०—मन्त्रार्थ और प्राचीनम्याख्याता	१६०	३०—मधुहृदि	१६८
११—प्रकरणसंगत मन्त्रार्थ	१६१	३१—व्यापक पूर्विका	१६९
१२—शुक्रशब्द के प्रयोग	"	३२—माकस्यान	"
१३—	१६२	३३—मिथुणमूर्ति महान्	"
१४—माप्यामिमत् शुक्रशब्द	१६३	३४—प्राणमयी अद्विती	"
१५—साप्यामिमत् शुक्रशब्दार्थ	"	३५—पुण्याहकाल	१७०
१६—शुक्र की २७ स्थानों में व्याप्ति	१६४	३६—ई रज	"
१७—शुक्र-और शुक्रः	१६५	३७—परोरमासाय	"
१८—सम्प्रदायवाद से हानि	"	३८—परम-मध्यम-अवम-भाम	"
१९—उपादानकारणता	१६६	३९—आत्मा, पद, पुन-पद	१७१
२०—सृष्टि का आधार	"	४०—प्राजापत्यस्तथा	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
४१—भुतिसम्बन्ध	१०२	६५—सबाहुति	१७७
४२—परमप्रज्ञापति	१७३	६६—माय की बाहुति	"
४३—प्रतिमाप्रज्ञापति	"	६७—मातरिन्ना भुहोति	१७८
४४—आग्नेयीकाक्	"	६८—मातरिरना दधाति	"
४५—जगतःपितरौ	१७४	६९—सं पर्यगात्	"
४६—अस-अमरसम्बन्ध	"	७०—पप्पाय सम्बन्ध	"
४७—समुत्पापसम्बन्ध	"	७१—पप्पाय की अवैज्ञानिकता	"
४८—अवपवसम्बन्ध	"	७२—संस्कृतसाहित्य पर कथन	"
४९—हीनुरूपसम्बन्ध	१७५	७३—शास्त्रों की निष्ठापता	"
५०—आविःफोटन	"	७४—एकदेश की समानता	"
५१—सम्बन्धसम्बन्ध	"	७५—शुक्र-बीम्-रेत का पार्यक्य	१७९
५२—उदरसुक्ष्मसम्बन्ध	"	७६—ब्रह्म का वैज्ञानिकस्वरूप	"
५३—अग्नि-अग्नि का सम्बन्ध	"	७७—दीपका	"
५४—पानी पानी का सम्बन्ध	"	७८—पराक्रम का	"
५५—अग्नि-जानी का सम्बन्ध	"	७९—प्रक्षीय	"
५६—पुष्टिकरसम्बन्ध	१७६	८०—क्षत्रीय	"
५७—निरपक्वसम्बन्ध	"	८१—निष्पीय	"
५८—वि फोटकसम्बन्ध	"	८२—बल-अवरण	"
५९—सुप्तिरसम्बन्ध	"	८३—देवमाग	१८०
६०—रूप-प्राणसम्बन्ध	"	८४—मन्त्रमाग	"
६१—परोक्षप्रियदेवता	"	८५—दैवीसम्पत्	"
६२—इन्द्र की व्याप्ति	१७७	८६—आसुरीसम्पत्	"
६३—आपक ब्रह्म	"	८७—ब्रह्मवपनिकृति	"
६४—रेत की व्याप्ति	"	८८—शुक्र का अय	१८१

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
८८—रेत का भय	१८१	११३—भीमाकस्यापन्न शुक्र	१८४
८९—सिम्परसा	"	११४—सिरोमपरिहार	"
९०—उपादानद्रव्यत्व	"	११५—सब कुछ बही है	१८५
९१—आग्नेयरेत-शुक्र	"	११६—सब कुछ बसी में है	"
९२—सिम्पररेत-रेत	"	११७—अमृत्य का विकृत	"
९३—घनरेत	१८२	११८—अमृत्य	१८६
९४—तरलरेत	"	११९—कर्मात्म्य	"
९५—वित्तप्राप्त	"	१२०—मायामेवां तरन्विते	"
९६—भूत	"	१२१—शुक्रवर्धन	"
९७—प्रजननकर्मके अशरीरक दोष	"	१२२—'तत्'—विज्ञान	"
९८—विषुदोपनिर्बलकामाङ्गकर्म	"	१२३—कर्म में प्रवृत्ति	१८७
१००—सारभेद	"	१२४—अष्टात्मिक अविद्या	"
१०१—प्रवृद्धितरेत	"	१२५—अष्टात्मिक विद्या	"
१०२—शुक्ल और शुक्र	"	१२६—अष्टात्मिक सम्बन्ध	"
१०३—शुक्रग्रह	१८३	१२७—विद्यदुर्ग	"
१०४—अष्टाशुक्र	"	१२८—दुर्ग की इष्ट	"
१०५—अमृत रेत	"	१२९—आत्मन्वी ईश्वर	१८८
१०६—शुक्र-रेत के परविकृत्य	"	१३०—सिपिपिप्र प्रजापति	"
१०७—आत्मपोनि	१८४	१३१—तीन ओषधिरं	"
१०८—प्रकृतिपोनि	"	१३२—वित्तप्राप्त	"
१०९—विद्युत्पोनि	"	१३३—वित्तमिषयप्राप्त	"
११०—सर्वम्	"	१३४—भीमविति	"
१११—सुप्रिमुख	"	१३५—देवविति	"
११२—सुप्रिभीज	"	१३६—भूतविति	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१३७-ज्योतिषां ज्योति	१८८	१६१-६-मासमात्र	१६१
१३८-आत्मा-शरीर	"	१६२-६-मासमात्र	"
१३९-आत्मप्राप्त	१८९	१६३-सप्तदशराशि	"
१४०-दैवप्राप्त	"	१६४-साहस्री	१६२
१४१-भूतप्राप्त	"	१६५-बीज-कारण-कारणमय	"
१४२-प्राप्त-पुर	"	१६६-निष्ठुर विरुद्ध	"
१४३-आत्मपरिमित	"	१६७-विकल्प आत्म	"
१४४-भूत	"	१६८-विकल्पपद	"
१४५-पुत्रप्राप्त	"	१६९-विकल्पपुनःपद	"
१४६-स्थल	"	१७०-नक्षत्र प्रभावपति	"
१४७-राशि	"	१७१-भूतविराट्प्रभावपति	"
१४८-भरण-प्राप्त का रहस्यार्थ	"	१७२-भूतमात्र	१६४
१४९-भारकप्राप्त	"	१७३-भूतमात्र	"
१५०-भारकप्राप्त	"	१७४-नास्त्यकृतः कृतेन	"
१५१-आभाषिकसप्त (प्राप्ति)	१९०	१७५-कर्म-कर्म-शुद्ध	"
१५२-आभाषिकसप्त (पुर)	"	१७६-मात्रा-मात्रासप्तकार	१६५
१५३-आभाषिकसप्त	"	१७७-व्यवहारिकबीज	"
१५४-आभाषिकसप्त	"	१७८-प्राजातबीज	"
१५५-आभाषिकसप्त	"	१७९-मात्राकर्म	"
१५६-आभाषिकसप्त	"	१८०-व्यवहारिक	"
१५७-आभाषिकसप्त	"	१८१-कर्मसूत्र	"
१५८-आभाषिकसप्त	"	१८२-पुत्रप्राप्तप्राप्त	"
१५९-आभाषिकसप्त	"	१८३-कर्मसूत्र	"
१६०-६-भूतमात्र	"	१८४-प्राजातबीज	१६५

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१८५-नियतकर्माश्चलिकजीव	१८६	२०६-आपोमय महान्	२००
१८६-नित्यजीव	"	२१०-महद्गुण	"
१८७-सामयिकजीव	"	२११-पञ्चपर्वनिबन्ध	२०१
१८८-आत्माभिमानिदेवता	"	२१२-अमृतविभाग	"
१८९-प्रकृतिका शोभ	"	२१३-मत्पविभाग	"
१९०-अवतार की आवश्यकता	"	२१४-महद्गुणैकमखरम्	२०२
१९१-अनासक्तयोगेर्ष्यर	१९७	२१५-प्रजापतिः	"
१९२-त्रिकालापाद्	"	२१६-पञ्चगव्य	२०३
१९३-अविद्यामयशुक्र	"	२१७-काम-कर्म-शुक्र	"
१९४-कामनाभोकासमुद्र	१९८	२१८-शुक्र की चतुर्धा व्याप्ति	"
१९५-प्राजापत्यवक्त्रा	"	२१९ निबन्धशुक्र	"
१९६-सत्य ज्ञानमन्त्र मन्त्र	१९९	२२०-पञ्चगव्यासृष्टि	२०४
१९७-अमृतमहेश्वर	"	२२१ शुक्र का दशरोत्तरमात्र	"
१९८-ऊर्ध्वमुख अक्षय	"	२२२-वाक्मय स्वयम्भू (१)	१ २ ३ ४ ५ ६
१९९-हृदयस्थान और ऊर्ध्वमात्र	"	२२३-आपोमय परमेष्ठी (२)	
२००-विराटोपक्रमस्थान	"	२२४-अमृताग्निमय सूर्य (३)	
२०१-विराटोपसंहारस्थान	"	२२५-सूर्याग्निमय सूर्य (४)	
२०२-सोम का उदय	"	२२६-आपोमय अमृतमा (५)	
२०३-योगमाया	"	२२७-वाक्मयी वृषिणी (६)	
२०४-शुक्र की सामान्य व्याप्ति	"	२२८-मन्त्राद्योपक्रम	२०५
२०५-मन्त्र की शुद्धता	२००	२२९-वाक्मय	२०६
२०६-सुव्रत का रेतस	"	२३०-मन्त्राद्य	"
२०७-महान् की महत्ता	"	२३१-स्नातुत	"
२०८-मूषावत	"	२३२-अशुद्धता	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२३२—पापमिदित्व	"	२३१—कवि	२०७
२३३—अकृत्यत्व	२०७	२३०—मनीषी	"
२३५—अकृत्यत्व	"	२२९—परिन्तु	"
२३६—अस्त्वामित्व	"	२४२—सपम्पू	"
२३७—शुद्धत्व	"	२४३—कवि कथं मन्त्राकाङ्क्षम्	"
२३८—अपापमिदित्व	"	२४४—यपार्पणमन्त्राकाङ्क्षम्	२०८
		२४५—त्रिगुणमीमांसा	२०९
		२४६—पद्मगुणकर्मज्ञानं	२१०
		२४७—सूक्तज्ञेयमेवमज्ञानं	"
		२४८—मन्त्रार्पणोपसंहार	२११

इति प्राकृतात्माधिकरणे महदात्माधिकरणम्

३

अथ

प्राकृतात्माधिकरणे विज्ञानात्माधिकरणम् (२१२-२०२ पक्ष)

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—विज्ञानात्मासंज्ञापरिचयः	२१२ २१३	३—संज्ञापरिचयः	२१७
२—यज्ञकथं महात्मापरिचयः	२१७	४—सुपरी	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—महासुपथ	७१७	२९—महिशमत	५२७
६—सयम्भुसासृष्टि	२१८	३०—मैदेहजनकमत	"
७—सूर्यमूसासृष्टि	"	३१—कश्यपमत	"
८—पृथ्वीमूसासृष्टि	"	३२—कन्नतरिमत	"
९—प्रथमासृष्टि	२१९	३३—चक्रमत	"
१०—द्वितीयासृष्टि	"	३४—शार्ङ्गस्यमहपिमत	"
११—तृतीयासृष्टि	२२०	३५—भारुष्मिमत	"
१७—भोक्कारमिषा	"	३६—ज्ञानप्रधानसृष्टिक्रम	२२३
१३—उद्गोपमिषा	"	३७—क्रियाप्रधानस्थितिक्रम	"
१४—प्रणवमिषा	"	३८—अर्थप्रधानदृष्टिक्रम	"
१५—माहमिषा	"	३९—शिरोमूसासृष्टि	"
१६—वैष्णवमिषा	"	४०—ब्रह्ममूसासृष्टि	"
१७—माहेश्वरमिषा	"	४१—पादमूसासृष्टि	"
१८—पुराणसम्प्रदाय	"	४२—हिरण्यगर्भमिषा	२१४
१९—ब्रह्ममूर्तिप्रसा	"	४३—सुखा-विषया	"
२०—क्रियामूर्तिविष्णु	"	४४—पाङ्क्तो व यज्ञः	२६६
२१—अथमूर्तिशिव	"	४५—अग्निमिति	"
२२—त्रिमूर्तिविष्णु	"	४६—वायुमिति	"
२३—प्राज्ञान्तकम्प	"	४७—आदित्यमिति	"
२४—गमहिमिति	"	४८—साध्यमिति	"
२५—कुमारशिरामाहात्म्यमत	"	४९—पिण्डहिमिति	"
२६—कण्डात्मन बाह्यहीनमत	२२२	५०—स्वयमात्मव्याप्ति	२२६
२७—मद्रकाप्यमत	"	५१—विश्वम्यासिभिति	"
२८—मद्रशौनकमत	"	५२—साध्यदेवता	२२७

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२२—पोडरीप्रश्न	२१७	७०—भूमकेतु	२३३
२३—प्रभापत्तिकेपुत्र	"	७८—भूकृतसहिता	"
२४—आत्मप्रेक्षिप्रसार	"	७९—भूमाभारत में भूमकेतु	२३४
५६—मोष्ट-मोष्टप्रश्न	२२८	८०—भूत-भूमिपुत्र	२३५
५७—मोष्टप्रश्न	"	८१—भूमिभूमासमाना	"
५८—सर्वोत्कृष्टप्रश्न	"	८२—भूमिभूमि	"
५९—भूमिभूमि	"	८३—सूर्य के उदय	"
६०—परमभूमि	२०१	८४—उपमर्शोकी द्विपति	"
६१—परमभूमि	"	८५—वाताभूमि सुविज्ञान	२३६
६२—विज्ञानभूमि	"	८६—तेजोभूमिभूमि	"
६३—ज्ञानभूमिभूमि	२३०	८७—कैट एवै काकाभूमि भूमि	"
६४—विज्ञानभूमिभूमि	"	८८—पूर्व-पश्चिमभूमिभूमि की भूमि	"
६५—भूमिभूमिभूमि	"	८९—सत्य का भूमिभूमि	२३७
६६—प्रभापत्तिके पुत्राद	"	९०—भूमि भूमिभूमि	"
६७—संक्षिप्तभूमि	"	९१—सत्यभूमि	"
६८—सर्वसत्तेपति	२३१	९२—भूमिभूमि	"
६९—सर्वसत्तेपति	२३२	९३—देवता की भूमि भूमि	"
७०—भूमिभूमि	"	९४—संक्षिप्त भूमि का भूमि	"
७१—भूमिभूमि	"	९५—संक्षिप्त भूमि भूमि	"
७२—सर्वभूमि	"	९६—भूमिभूमि परिभूमि	२३८
७३—सर्वभूमिभूमि	"	९७—भूमिभूमि संक्षिप्त	"
७४—भूमिभूमि	"	९८—भूमिभूमि भूमिभूमि	"
७५—भूमिभूमि	"	९९—भूमि-भूमिभूमि	"
७६—भूमिभूमि भूमि	२३३	१००—भूमिभूमिभूमि	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१०१—आभिव्यक्तिरूप	२३८	१२१—उत्तमम्योति	२४३
१०२—अष्टौ मुद्रयः	"	१२२—विष्टपत्नी	"
१०३—धम्मसङ्ख	"	१२३—असविष्टप	"
१०४—आमसङ्ख	"	१२४—विष्टपविष्टप	"
१०५—वैराग्यसङ्ख	"	१२५—इन्द्र विष्टप	"
१०६—ऐरव्यसङ्ख	२३९	१२६—त्रिविष्टपस्वर्ग	"
१०७—अजमसङ्ख	"	१२७—अवाहय	"
१०८—अमानसङ्ख	"	१२८—अहर्ष	"
१०९—आसक्तिरूप	"	१२९—एदविष्टपस्वर्ग	"
११०—अनैरव्यसङ्ख	"	१३०—सप्तसरप्रतिमा	"
१११—माङ्ग्रा	"	१३१—प्रतिष्ठास्तोम	"
११२—द्वीसम्पत्	"	१३२—परमस्तोम	"
११३—अवाङ्ग्रा	"	१३३—सप्तदशस्तोम	"
११४—आप्तुसम्पत्	"	१३४—सप्तदशमभापति	"
११५—इन्द्रसम्पत्	"	१३५—यहात्मक विष्टप	२४४
११६—अहोम	२४०	१३६—विष्टप के तीन विक्रम	"
११७—सम्पत्परिच्छेद	"	१३७—अजस्यविष्टप	"
११८—विष्टामुद्रय	२४१	१३८—स्वाद्य यज्ञ	"
११९—अविष्टामुद्रय	"	१३९—आकस्म	"
१२०—अविष्टिवेशसङ्ख	"	१४०—सौम्यविष्टप	"
१२१—अव्यक्तान्ननिर्मोह	"	१४१—अमानवपुरुष	"
१२२—परपृष्ठत्री	२४२	१४२—स्वर्ग्यमि	"
१२३—अपरपृष्ठ ईश्वर	"	१४३—स्वस्त्याम	२४३
१२४—अप्यत्र देवस्वय	२४३	१४४—सूयमहय	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१४६-विष्णुविशेषांग	२४५	१७३-विष्णुप्रधान	२४८
१४७-विष्णुसंग	"	१७४-गुणसंग	"
१४८-विष्णुसंग	"	१७५-विष्णुसंग	"
१४९-विष्णुसंग	"	१७६-विष्णुसंग	"
१५०-विष्णुसंग	"	१७७-विष्णुसंग	"
१५१-विष्णुसंग	"	१७८-विष्णुसंग	"
१५२-विष्णुसंग	"	१७९-विष्णुसंग	"
१५३-विष्णुसंग	"	१८०-विष्णुसंग	"
१५४-विष्णुसंग	"	१८१-विष्णुसंग	"
१५५-विष्णुसंग	"	१८२-विष्णुसंग	"
१५६-विष्णुसंग	"	१८३-विष्णुसंग	"
१५७-विष्णुसंग	"	१८४-विष्णुसंग	"
१५८-विष्णुसंग	"	१८५-विष्णुसंग	"
१५९-विष्णुसंग	"	१८६-विष्णुसंग	"
१६०-विष्णुसंग	"	१८७-विष्णुसंग	"
१६१-विष्णुसंग	"	१८८-विष्णुसंग	"
१६२-विष्णुसंग	"	१८९-विष्णुसंग	"
१६३-विष्णुसंग	"	१९०-विष्णुसंग	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१६७-चतुर्भुजमण्डप	२५०	२२०-सूयकेन्द्र	२५६
१६८-मौलिकचक्रण	"	२२१-महापथ	"
१६९-ज्ञानप्रधान सम्प्रगुण	२५१	२२२-निमेषगति	"
२००-क्रियाप्रधान तमोगुण	"	२२३-अरुण पन्था	"
२०१-अर्थप्रधान तमोगुण	"	२२४-प्रज्ञान-विज्ञान	"
२०२-अज्ञानप्रकृति	"	२२५-जास निर्बन्धन	२५७
२०३-सत्त्वादिभिः महानात्मा	"	२२६-पूर्णिमा-अमावास्या	"
२०४-ज्ञानानन्दविक्रस	"	२२७-आविर्देविक जगत्	"
२०५-प्रिगुणवैभव	२५२	२२८-"बाह्य" धरातल	२५८
२०६-सोकद्वया सूप्य	"	२२९-स्तन इनासलम्बे	"
२०७-आत्मवशा विज्ञानात्मा	"	२३०-इन्द्रियोनि	"
२०८-वायुप पुरुष	"	२३१-आप्यात्मिकी पूर्णिमा	"
२०९-आत्मविकर्षों के प्रभव, प्रतिष्ठा	"	२३२-आमदवस्था (पूर्णिमा)	"
योनि, आशयों का निदर्शन २५५ २५६		२३३-आमत् प्राणाग्नि	"
२१०-आत्मप्रमथादि परिलेख न० १		२३४-आप्यात्मिकी अष्टमी	"
२११-इन्द्रियप्रमथादि परिलेख न० २		२३५-अवस्थात्रयी परिलेख	"
२१२-कर्मप्रमथादि परिलेख न० ३		२३६-आश्रमी	"
२१३-शरीरप्रमथादि परिलेख न ४		२३७-स्वप्नावस्था (अष्टमी)	२५९
२१४-शिक्षाधारण रहस्य	२५५	२३८-आप्यात्मिकी अमावास्या	"
२१५-विज्ञानशिव	"	२३९-सुषुप्तिवृत्त (अमावास्या)	"
२१६-अमृतपुरुष	"	२४०-स्वप्नवृत्त	"
२१७-स्वस्तिक एव चतुर्भुज	"	२४१-उत्पत्तिविज्ञान	"
२१८-मूर्केन्द्र	२५६	२४२-दक्षिणवर्तु	२६०
२१९-अपानप्राय	"	२४३-अनूक-प्रतीकद्वय	"

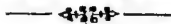
विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२४४-विज्ञानोपासना	२६०	२६५-मोक्षसिद्धान्त	२६६
२४५-हनुमान	"	२६६-वासनासंस्कार	"
२४६-विज्ञानप्रवर्तन	"	२७०-पाम्रनिर्घट	"
२४७-सेमोनादी	२६१	२७१-मनोविकर्त	"
२४८-मह-महम्	"	२७२-वासनानिर्बन्धन	"
२४९-माण्डसिकपुरुष	"	२७३-वासक्तिनिर्बन्धन	"
२५०-दीपशिखा	"	२७४-संस्कारों की दृष्टता	२६७
२५१-असंग-ससंगमय	२६२	२७५-पिरकार्तिकर में मूल	"
२५२-विदाकद	"	२७६-उभयात्मक कर्त	"
२५३-अरुनाया (सुसुखा)	"	२७७-शोक साधनम्	२६८
२५४-अग्निपूजि	"	२७८-संकरपवित्रक्यामकम्	"
२५५-बराजिन सानि	"	२७९-स्मरणकथापुत्रि	"
२५६-अग्निपूजितमात्म	"	२८०-बुद्धिबिम्ब	२६९
२५७-विपानन्द	२६३	२८१-संस्कारशैफिय	"
२५८-आत्मदोरमोक्ष	"	२८२-अनुप्यानसंघ	२७०
२५९-आत्मदक्ष अखमात्र	"	२८३-अमलदक्ष	"
२६०-आत्मनन्दाधिति	२६४	२८४-एकसंघ	"
२६१-विज्ञानेन परिपरयन्ति	"	२८५-द्वेपसंघ	"
२६२-मुखदुःखनिषेक	२६५	२८६-बोधसंघ	"
२६३-मनकी विविधवृत्ति	"	२८७-सम्बोधमात्र	२७१
२६४-अशास्त्रमन	"	२८८-स्मृतिविभक्त	"
२६५-अविद्यामन	"	२८९-बुद्धिनाश	"
२६६-सागरमन	"	२९०-संनारा	"
२६७-मोक्षमिरण	२६६	२९१-आकाशसरस्वर	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२६२-विषा-अविधोषक्रम	२७१	२६४-मन्त्रप्रकरणसङ्गति	२७२
२६३-मन्त्रार्थोपक्रम	२७२	२६५-विषयसंगतिप्रकरणसमाप्त	"

मन्त्रार्थप्रकरण

प्रथममन्त्रार्थप्रकरण

(२७३ पृष्ठ से २७८ पृष्ठ पर्यन्त)



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१-प्रथममन्त्र (१० मन्त्र)	२७३	१४-नेति-नेति सम्बन्ध	२७६
२-मूलाप	"	१५-अस्तीत्येव	"
३-विषा-अविषादर्शन	"	१६-प्रथमार्थोपसंहार	"
४-वाप्ये-कियते	"	१७-द्वितीयार्थोपक्रम	"
५-स्वयपोति-परम्पोति	२७४	१८-विषा अविषासे मिस	२७७
६-मन्त्राद्	"	१९-धीराः	"
७-क्यापिताघेग्रह	"	२०-द्वितीयार्थोपसंहार	"
८-कर्ममपविद्यान	"	२१-संहिता का मन्त्र	"
९-अद् मृग्य इवानि	२७५	२२-तृतीयार्थोपक्रम	२७८
१०-अम्यद्-विषय	"	२३-आन्तमन्त्रितुकारण	"
११-अम्यद्-अविषय	"	२४-विषागर्भितकर्म	"
१२-राप्तातीतमाया	"	२५-हामर्गमिन्नाविषा	"
१३-नेति-नेति	"	२६-तृतीयार्थोपसंहार	"

प्रथममन्त्रार्थसमाप्त

द्वितीयमन्त्रार्थप्रकरण

(१७८ पृष्ठसे १८८ पृष्ठ पर्यन्त)

— ४३३ —

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—द्वितीयमन्त्र (१ मन्त्र)	२७८	२१—सिबिलसाइन (ध्यान)	२८४
२—कर्मप्रपञ्च	२७९	२२—मिथिटी साइन (कर्म)	"
३—ब्रह्ममूलककर्म	२८०	२३—शतपथमुक्ति	"
४—विज्ञानमूलककर्म	"	२४—मित्र और वरुण	२८५
५—अब्रह्ममूलककर्म	"	२५—अभिगन्ता ब्रह्मण्य	"
६—योगसंसिद्ध	"	२६—कृष्ण चक्रिय	"
७—योगानुपायी कर्मठ	"	२७—मैत्रयवर्ण्यग्रह	"
८—साधनानुपायी ज्ञानी	"	२८—चक्रियग्रन्थब्रह्मण्य	"
९—त्रिविधा निष्ठा	२८१	२९—ब्रह्मण्यग्रन्थचक्रिय	"
१०—कर्मों की बुद्धि	"	३०—मनोवत्	२८६
११—यऽनिष्टामुपासते	"	३१—प्राणवत्	"
१२—ब्रह्मण्य का दम्भ	२८२	३२—अहोरात्रग्रह	"
१३—मिथ्याचार	"	३३—मैत्रयवर्ण्य	"
१४—उभयवत् पतन	"	३४—रात्रिर्वारुणी	"
१५—ज्ञानमार्ग का मूलोऽवधारण	"	३५—वाग्दत्त	"
१६—अज्ञान तत्त्व शरण्यम्	२८३	३६—विह्वलचित्त	"
१७—वाग्दत्त पश्चिन्तामिमामिनि	"	३७—चक्रयोनिग्रह	२८७
१८—कर्मवृत्त	२८४	३८—ब्रह्मण्य-चक्रिय-वरुण	"
१९—जलवत् (ज्ञान)	"	३९—कर्मवृत्त-पासुप्र	"
२०—चक्रवत् (ज्ञान)	"	४०—प्राणवत्पुरोधा	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
४१—पञ्चाय-यज्ञास	२८७	४४—दोनों की भानि	२८७
४२—सनातनी-आयसमाजी	"	४५—देश की दृष्टा	"
४३—विद्व-मण्डसी-राष्ट्रवादी	"	४६—य उ विद्यायां रता	२८८

द्वितीयमन्त्रार्थसमाप्त

तृतीयमन्त्रार्थप्रकरण

(२८८ पृष्ठसे ३०३ पृष्ठ पश्यन्त)

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—तृतीयमन्त्र (११ मन्त्र)	२८८	१४—प्रवृत्तिनिद्वेष	न० ४ २९१
२—आननिष्ठा	"	१५—अनासक्तकर्मयोगस्य	म० ५ "
३—कर्मनिष्ठा	"	१६—कर्मारम्भधैर्यस्य	म० ६ २९२
४—मुदियोगनिष्ठा	"	१७—जीवनयात्रानिर्वाहकस्य	न० ७ "
५—कुरु कर्म्य त्व	"	१८—अव-पनयशावकस्य	२९३
६—अभिगता भीहृष्य	२९९	१९—प्राकृतिव्यय	"
७—वृथा अजुन	"	२०—अभिदेवत-अप्यात्म-अभिभूत	"
८—अजन की भानि	"	२१—अमनो सोमादृष्टिपत्र	२९४
९—आति क्य निराकरण	"	२२—सोमतात्र किं व्याप्ति	"
१०—सर्वकर्मयोगस्य संप्रत्ययस्य	"	२३—प्राणपत्र	"
११—मैत्रय्येणोपायस्य	म० १ २९०	२४—आयोपत्र	"
१२—कर्मसंप्रत्ययस्यैवदध्य	म० २ "	२५—आण्यपत्र	"
१३—कर्मसंप्रत्ययस्यैवदध्य	न० ३ "	२६—अज्ञादपत्र	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२७—अमय	२६४	४७—शरीरत्रयी	२६७
२८—विद्यय	"	४८—श्रुतस्य मयमना	२६८
२९—अनुममन्ति	"	४९—महिता सयोग	"
३०—प्रजावन्निष्ठ	२६५	५०—उचिष्टाग्निरि सर्वम्	"
३१—यज्ञेन यज्ञनयनन्	"	५१—व्यक्ति-सम्पन्नविधि	"
३२—यज्ञ से प्रजोपति	"	५२—यज्ञकर्म की अकर्मनता	"
३३—प्रजाशब्दनिबन्धन	"	५३—संन्यासकथन	२६९
३४—आनुकर्यमृष्टि	२६६	५४—कर्मण्येवाधिकारस्ते	"
३५—पाण्डुनिर्दिष्ट	"	५५—पसाया की बधकता	"
३६—दक्षपूजा	"	५६—देताधीर्षु - फसे मेर्षु	२७०
३७—दक्षयज्ञमम	"	५७—कुबजपि न विप्यते	"
३८—दक्षयज्ञ	"	५८—मा त सगोऽस्त्वकम्पयि	"
३९—भूतसम्पत्ती दामय	"	५९—मुद्रिवोग पर आये	२७१
४०—असम्पत्ती संगमय	"	६०—आयेपसम्पत्ती	"
४१—आप्तसम्पत्ती पूजाय	"	६१—मुद्रिमहिता	"
४२—पुरोडाश (आहूतिव्य)	"	६२—उपायप्राप्ति	२७२
४३—३३ अक्षय, १ भूत	२७३	६३—उपायप्राप्ति	"
४४—याज्ञवल्कि तारादामा	"	६४—अन्तर्धर्म	"
४५—सप्तसप्तमय	"	६५—सप्तसप्तमय मुद्रिवोग	"
४६—'सप्त' दक्षनिर्दिष्ट	"	६६—प्रकृतेयप्राप्ति	२७३

तृतीयमन्त्रार्थसमाप्त

३३

प्राक्तनात्माधिकरणे विज्ञानात्माधिकरणम्

ममामय

अथ
प्राकृतात्माधिकरणे
प्रज्ञानात्माधिकरणम्

—४—

(३०५ पृष्ठसे ३४६ पृष्ठपर्यन्त)

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—प्रज्ञानात्मस्वरूपनिर्देशन	३०५ ३०६	१७—गायत्र पुरुष का द्वितीयपर्व	३११
२—विषयोपक्रम	३०७	१८—" " तृतीयपर्व	"
३—अधिकरण सगति	"	१९—" " चतुर्थपर्व	"
४—घटिक्रमानुसार सत्त्वाविभाग	३०८	२०—" " पञ्चमपर्व	३१२
५—अम्भानुसार सत्त्वाविभाग	"	२१—" " षष्ठपर्व	"
६—पितृप्राण	"	२२—" " सप्तमपर्व	"
७—पितृतिथि	"	२३—" " अष्टमपर्व	"
८—पोषिदग्नि	"	२४—गायत्रपुरुषपरिसेख	"
९—दर्शयि	"	२५—सम्भूति-विनाशालम्ब चन्द्रमा	३१३
१०—यत्तपपद्युति	"	२६—गतित्रयी	"
११—अमावास्या नाम	३०९	२७—चन्द्रविण्ड	"
१२—आरुमान रहस्य	"	२८—क्षिप्रमार्ग मन्त्रा	"
१३—गायत्रो वै पुरुष	३१०	२९—वायुरूप पानी	३१४
१४—ईश्वर - जीव	"	३०—पञ्चवराह	"
१५—गायत्र ब्रह्म	"	३१—अग्निप्राण से अग्नेरोत्पत्ति	"
१६—गायत्रपुरुष का प्रथमपर्व	३११	३२—ब्रह्मापञ्चपुराण	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१९—पुण्ड्रसंगति	३१५	५७—सुभाषिताता चन्द्रमा	३२२
२०—सोमो राजा	"	५८—अन्तरंग प्रकृति	३२६
२१—मौनव्रता	३१६	५९—सुधिसाधि	"
२६—गणवर्धनम्	"	६०—पुरुषाम्नि	"
३७—अग्निपुत्र चन्द्रमा	"	६१—आत्मानि	"
३८—महाभारत	"	६२—सुतो मयति	"
३९—महाभारतसंगति	३१७	६३—अग्निप्रकामय चन्द्रमा	"
४०—श्रुतसंहिता	३१८	६४—पुरुष-प्रकृति	३२४
६१—समूति विनाशोपक्रम	३१९	६५—रस—रस	"
६२—अग्निर्गर्भ तिरोभाव	"	६६—अग्नि—सोम	"
४३—उदय—अस्त	३२०	६७—सवमभम्	"
४४—सप्तसिद्धिस्तम्भ	"	६८—सवमभावः	"
६५—संसारस	"	६९—अन्तरमुक्ति	"
६६—अय घटोऽस्ति	"	७०—अन्तरमुक्ति	३३५
४७—सत्ता कय अनुपम	"	७१—पुण्यीरस्यपम्	"
६८—सत्ता कय निम्ब	"	७२—श्रुतसंहिता	"
४९—सत्ता कय निम्बुति	३२१	७३—अन्तरसंगति	३३६
५०—अय कय उदयति	"	७४—महाभारत	३३७
५१—विमति सम्बन्ध	"	७५—आभिमनिक चन्द्रमा	३२८
५२—समिन्वेषीमये	"	७६—आभिमनिक चन्द्रमा	"
५३—सग—मूर्ति	"	७७—विद्य और प्रगट	"
५४—उदयवर्धना	३२२	७८—संयती-अन्तरसी-देवसी	"
५५—उदय-अपन	"	७९—तेजस स्नेहन	"
५६—विनाशवर्धना	"	८०—उदय-परिधि	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
८१—उक्त-अक्ष	१२८	१०४—संभूतभासा	३३५
८२—संकोच-विकास	"	१०५—आत्मगति	"
८३—यक्षिणाश्रमी	"	१०६—प्रेतात्मा	३३६
८४—युगत्रयी	३०६	१०७—अधुमुसपितर	"
८५—इशविधसोम	"	१०८—पिण्डदानसङ्गुमाह	"
८६—पञ्चवयवयज्ञ	३१०	१०९—यज्ञासूत्र	"
८७—पषादिनिषा	"	११०—रेत	"
८८—शिवतमो रसः	३३१	१११—विष्पनिरसरस	"
८९—अवस्थाविभाग	"	११२—आर्हमात्र की व्याप्ति	३३७
९०—करयपप्रज्ञापति	३३२	११३—सहासि	३३८
९१—दक्षप्रज्ञापति	"	११४—पितर	"
९२—दक्षवृत्त	"	११५—असमयमन	"
९३—दक्ष की ६० कन्याएं	"	११६—अविषासक	"
९४—दाक्षपणिर्	"	११७—पुनः-सम्भूति	३३९
९५—नियतसमय	"	११८—चान्द्रनाडी	"
९६—मोसम-श्रुत	३३३	११९—सौरयज्ञस्थिति	"
९७—आरोहाचरोहक्रम	"	१२०—त्रैगुण्यमान	३४०
९८—प्रतिपदगन्धन	"	१२१—मात्राविभाग	"
९९—प्रमथविमोक्त	३३४	१२२—विदश-सोमार्श	"
१००—कौपीनकिमुति	"	१२३—महापेता-धीः	३४१
१०१—विषदण्डचन्द्रमा	३३५	१२४—विद्यमान	"
१०२—शिशुत्व	"	१२५—रथोत्सीयसमन	"
१०३—भैरव-प्रतिमंवर	"	१२६—सर्वेन्द्रियमन	३४२

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१२७—मनिन्द्रियम्	३४२	१२८—निपुणविषय	३४२
१२८—प्रज्ञानम्	"	१२९—महिनि कृत्येय	"

विषयसंज्ञा—समाप्त

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—प्रथममार्ग—३४३—३४४		३—तृतीयमार्ग—३४७—३४८	
२—द्वितीयमार्ग—३४५—३४६			

इति

प्राकृतात्माधिकरणे प्रज्ञानात्माधिकरण

समाप्तम्

—४—

अथ

प्राकृतात्माधिकरणे

प्राणात्माधिकरणम्

—५—

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—प्राणात्माधिकरणे—३४७—३४८		४—प्रथममार्ग—३४९	३४९
२—प्राणात्माधिकरणे—३४९		५—प्रथममार्ग—३५०	"
३—प्राणात्माधिकरणे—३५०		६—प्रथममार्ग—३५१	"
४—प्राणात्माधिकरणे—३५१		७—प्रथममार्ग—३५२	३५२

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२—महेश्वर	३२३	३३—अद्वितीयम से देवोत्पत्ति	३२५
१०—अमृतपुच्छ	"	३४—मागेवोपनिषत्	"
११—सहस्रवक्त्रा	"	३५—अतिष्ठावादेवता	३५६
१२—मूलभाग	"	३६—स्तोमविभाग	"
१३—मध्यभाग	"	३७—देवविभाग	"
१४—अन्तभाग	"	३८—सर्वमृतान्तरात्मा	"
१५—मोक्षा	"	३९—अमृत-मम देव-मृत	३५७
१६—मज्जद	"	४०—शुद्धिर्स्वकार	"
१७—साधीसुपख	"	४१—स्मात्स्वकार	"
१८—मोक्षासुपख	"	४२—धीतस्वकार	"
१९—उपेश्वर	"	४३—समुक्-सखा	"
२०—महेश्वर	"	४४—ईश्वरजगत् परिलेख	३५८
२१—परमेश्वर	"	४५—वीरजगत्परिलेख	३५९
२२—योग्यन्तरगमन	३५४	४६—एष सर्वमृतान्तरात्मा	३६०
२३—अमृतमाभावा	"	४७—मोक्षात्मविर्ष	३६१
२४—अग्नि सप्ता देवताः	"	४८—सत्यधर्म	"
२५—अमृत-पुच्छ	"	४९—प्रकरणसंगति	३६१-३६४
२६—वित्याग्नि	"	५०—द्विषमपपात्र	३६४-३६५
२७—वित्तेनिषयाग्नि	"	५१—पुष्पमेकपे	"
२८—पिण्डपूषर्षी	"	५२—असत्प्राख	"
२९—महिमापूषिनी	"	५३—अपि	"
३०—कृष्णानुन	"	५४—सप्तर्षिप्राख	"
३१—मुष्करपख	३५५	५५—प्राखविमृष्टि	३६६
३२—देवमाता अद्विती	"	५६—मागेवाग्निः	३६७

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
५७—एकविंशत्या	३६७	७१—उपास्य-उपासक	३७०
५८—पूषा	"	७२—क्षायामपीपूषा	३७१
५९—यमप्र	३६८	७३—त्रिविधजीव	३७२
६०—अदन्तकपूषा	"	७४—प्राण-अपान-अपान	३७३
६१—रेवतीपूषा	"	७५—इरा	"
६२—पृथिवीपूषा	३६९	७६—अतिर	३७४
६३—सूर्यपूषा	"	७७—अनिस	"
६४—वायुपूषा	"	७८—ज्ञानात्मुक्तिः	"
६५—एकविंशत्यास्य	"	७९—वायुरनिसममृतम्	"
६६—यमप्राजापत्य	"	८०—मृचनिति	"
६७—सूर्यप्राजापत्य	"	८१—प्राणनिति	"
६८—पूषन्	"	८२—देवनिति	"
६९—पराशो वै पूषा	"	८३—मन्त्रार्पोयसंहार	३७५
७०—इन्द्रप्रद्युम्नरूप	३७०		

इति

प्राकृतात्माधिकरणे प्राणात्माधिकरण

समाप्तम्

५

अथ

प्राकृतात्माधिकरणे

शरीरात्माधिकरणम्

६

(३७६ पृष्ठसे ३८६ पृष्ठपर्यन्त)

— ४३६ —

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—शरीरात्मस्वरूपनिर्दर्शन	३७६-३७८	२—हृदय	३८१
२—मत्मान्त शरीर	३७९	३—नाभि	"
३—इह चेदवेदीत	३८०	४—ब्रह्ममग्नि	"
४—८४ अङ्गुष्ठ	"	५—सप्तमितस्तिकाय	"
५—पुरुष परिमाण	"	६—आविर्भाविक पुरुष	"
६—प्रादेशमित प्राण	"	७—मत्मान्तविषय	३८२
७—ब्रह्मरश्मि	३८३	८—कठ-कृत	३८३
८—वयं	"	९—प्रकरणोपसंहार	३८४

इति

प्राकृत त्माधिकरणे शरीरात्माधिकरणं

समाप्तम्

६

अथ

प्राकृतात्माधिकरणे

उभयो सत्यात्मनोरग्निना-ऐकात्म्यम्

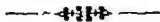
(३८४ पृष्ठ से ३८६ पृष्ठ पर्यन्त)

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—जीव-ब्रह्मसत्य	३८४	२—जीव-देवसत्य	३८५
२—ईश्वर-ब्रह्मसत्य	"	३—ईश्वर-देवसत्य	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
५—सत्यप्रतिष्ठा	१८१	६—जातवेदा	१८५
६—वपुन	"	१०—अन्नमेद	१८६
७—वप	"	११—अनुमाभिष्टाता अग्नि	"
८—अप्येनाथ	"	१२—अन्नरूपोपमहार	"

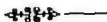
इति

वाजसनेयोपनिषत्-विज्ञानभाष्य सम्पूर्णात्



उपनिषत् निष्कर्ष

(१८७ पृष्ठ से १९२ पृष्ठ पर्यन्त)



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—मोग्राससम्पन्न	१८०	६—द्वितीय आदेश	१८२
२—वित्त वृत्ति अक्षिपराता	'	७—तृतीय आदेश	१८३
३—महाराज यमाक्षि	'	८—चतुर्थ आदेश	१८४
४—इ आदेश आक्षय	१८८	९—पञ्चम आदेश	"
५—अन्नम आदेश	१८९	१०—षष्ठ आदेश	१९२

ॐ शान्तिः । शान्तिः । शान्तिः ॥



“ मयाप्यक्षयं प्रकृतिं सृजते सचराचरम् ”

प्राकृतात्माधिकरण

२

प्राण-आप-वाक्-अन्न-अस्मादमयः प्राकृतात्मा 'विश्वकात्मनः'

४—१—१—अनेजदं मनसो जवीम	}	→ आद्यप्राकृताधिकरण
५—२—२—तदेजति तन्नेजति		
६—३—३—यस्तु सप्ताणि भूतानि		
७—४—४—यस्मिन् सप्ताणि भूतानि		
८—५—१—स पर्यगच्छुः कर्मकायम्	}	→ मध्यप्राकृताधिकरण
९—६—१—अथ तम प्रविशन्ति		
१—७—२—अप्यदेवाहुर्विद्यया	}	→ विज्ञानात्माधिकरण
११—८—३—विद्यां चाविद्यां च		
१२—९—१—अथ तम प्रविशन्ति	}	→ प्रज्ञानात्माधिकरण
१३—१०—२—अप्यदेवाहुः सम्भवात्		
१४—११—३—सम्भूतिं च विनाशं च		
१५—१२—१—द्विरयमयेम पात्रेण		
१६—१३—२—पूयन्नेकये	}	→ प्राण्यात्माधिकरण
१७—१४—३—वायु मिश्रममृतम्		
१—अपेद भस्मास्त शरीरम्	}	→ शरीरात्माधिकरण
१८—१५—१—अग्नं नय सुपथा राये		
	}	→ अग्निशक्ति की सर्वता

ॐ पूर्णमद पूर्णमिदम्



पूर्णमदः



१-स्वयम्भूः



अविदैवताम्



पूर्वमिदम्

१-शान्तात्मा

अध्यात्मम्

ब्रह्मसत्याक्षर —

ब्रह्म-कर्ममयः प्राकृतात्मा स्वयम्भूः

अव्यक्तात्मा

१

स्वयम्भू



प्रणः



शान्तात्मा

(अव्यक्तात्माधिकरणे शान्तात्मा)

वेदावच्छिन्नो वेदमूर्तिर्विद्याकर्ममयात्मा

विश्वेश्वरः

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्पत् ।

तद्भाषतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

(ईशोपनिषद् ४ मन्त्र)





अव्यक्तस्वरूपनिदर्शन

सर्वादिश कर्म्ममयश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद्गन्धवान् ।
 एव स देवो भगवान् धरेण्यो योनिस्त्वमानभित्तिष्ठत्येकः ॥ १ ॥
 यश्च स्वमान पचति विश्वयोनिः पाप्म्यांश्च सर्वान् परिष्णामयेद्यः ।
 सर्वमेतद्विश्वमभित्तिष्ठत्येको गुणांश्च सबान् विनियोजयेद्यः ॥ २ ॥
 तद्देव गुह्योपनिपत्सु गूढं तद् ब्रह्मा वेदयत ब्रह्मयोनिम् ।
 य पूर्व्वं देवा श्रूयपश्च तद्विदुष्ये तन्मया भ्रमृता वै वमृवुः ॥ ३ ॥
 गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
 स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिबर्त्सा प्राण्याभिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः ॥ ४ ॥
 भ्रनाद्यनन्त कसिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
 विश्वस्यैक परिपेष्ठितार इत्था देव मुख्यते सर्वपाशः ॥ ५ ॥
 स तन्मयोऽब्रह्मत ईशसंख्यो ह्यः सन्नगो भुवनन्याभ्य गाप्ता ।
 य ईशेऽस्य अगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥ ६ ॥
 एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदय सम्भिनिष्ठः ।
 हृत्वा मनीषा मनसाऽभिरुह्यो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ७ ॥
 छन्दांसि यद्वा अतरो व्रतानि मृत मभ्य यश्च वेदा पदन्ति ।
 अस्यान्मायी सृजते विश्वमतत् तस्मिन्भ्रान्यो मायया सम्भिरुद्धः ॥ ८ ॥
 यो यानि योनिमभित्तिष्ठत्येको यस्मिन्निदं स च विधेति सवम् ।
 तमीशानं परदं देवमीदृशं निष्ठाप्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥ ९ ॥
 विश्वतश्चक्षुस्त विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुस्त विश्वतस्पात ।
 स बाहुभ्यां पप्रति संपतत्रैर्घ्राणभूमिं मनयन् देव एकः ॥ १० ॥

अव्यक्तादव्यक्त्य सर्वा प्रभवन्त्यहरागमे ।
 राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

॥ श्री ॥

अभ्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमह्यानि भारत ।

अभ्यक्तनिधना येन तत्र का परिदेवना ॥ १ ॥ (गी० २।२८।)

अभ्यक्ताद् व्यक्तयः सभा प्रमथन्त्यहरागमे ।

राभ्यागमे प्रसीयन्ते सर्वभाष्यक्तसङ्गके ॥ २ ॥ (गी ८।१८)

महतिं भ्वाभवष्टभ्य विद्युजामि पुनः पुनः ।

भूतप्रापयिमि कृत्स्नमपश्यं मङ्कतेर्बशात् ॥ ३ ॥ (गी० ९।८।)

मयाभ्यक्षेयं मकृतिः सूर्यो सचराचरम्

हेतुनानेन कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्तते ॥ ४ ॥ (गी ९।१)



अर्प से सम्बन्ध रखने वाला बहिरङ्ग नियम समाप्त हो गया । अब मन्त्र-प्रकरण आरम्भ होता है । पुरुष प्रकरण का 'अमुया नाय ते लोकाः', इत्यादि मन्त्र आबरणतन्त्र का निरूपण करता है । आबरणतन्त्र विद्य है । इसी विद्याकरण से आत्मप्रकाश रहता हुआ भी तिरोहित हो गया है । इस आबरणतन्त्र के सम्बन्ध में प्रश्न उपनिषत् होता है कि—आबरणतन्त्र

का प्रवर्धक कौन है ? विद्युद् अभ्यय पुरुष तो केवल आत्मकर्म बनता हुआ आप्तकर्म अतएव निष्कर्म है । ऐसी अवस्था में विद्युद् अभ्यय से आबरणरूप विद्य की प्रवृत्ति हो—यह सम्भव नहीं है । इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए 'अमुर्षाः' इत्यादि मन्त्र के अभ्यवहितोत्तरकाव्य में ही निम्नलिखित मन्त्र हमारे सामने आता है ।

अनेजदेक मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वपर्वत् ।

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठतास्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

“बड (कोई) एक (बिलक्षण तत्त्व सर्वथा) कम्प रहित है । (यह) मनसे भी (अधिक) योग बामा है । पश्चिमे से ही (समग्र) व्याप्त उस तत्व को देवतासौग प्राप्त करने में

यही सीमित वसात्रभिन्न वनता हुआ, मतएव द्विनियतिभाव का प्रकृतक वनता हुआ अभ्यय कहलाने लगता है। ऐसा कि पुरुषनिरुक्ति में स्पष्ट कर दिया गया है। (देखिए ई० उ प्र० २६५-२८५ पृ०) वसमाग सर्वथा क्षणिक है, क्षोम ही इस का स्वरूपभ्रम है। इसी आत्यन्तिक क्षोम से अन्यपुरुष 'वसत' कहलाने लगता है। वसमाग सर्वथा अक्षय्य है। शान्ति इस का स्वरूपभ्रम है। इसी आत्यन्तिक शान्ति से यह 'सत्' नाम से व्यवहृत होने लगता है। नित्य अशान्तिगर्भित नित्य शान्त अमृत-सुखरूप सत्सत् तत्त्व ही ओंकार (ईश्वर) है, यही अहकार (ईश्वरानून जीवात्म्य) है, यही अहस्कार (मित्र) है। यही रामानुज सम्प्रदाय का विशिष्टाद्वैत है। इस प्रकार तत्त्व दो हैं, परन्तु आश्चर्य है—कहलाते हैं दोनों 'एक'। ऐसा क्यों? इसका उत्तर अपने वक्ष से पूछिए। वक्ष में वपका है, सूत है, रुई है, कपास है, मिट्टी है, जल है, सेम है, वायु है, आकाश है, प्राण है, मन है, विज्ञान है, आनन्द है, अमृत (परत्पर) है। वक्ष में इतनी चीजें, फिर भी वक्ष एक कहलावे, ऐसा क्यों? वक्ष जो उत्तर इस 'क्यों' का है, वही उत्तर पूर्व के 'क्यों' का है।

अद्वैततत्त्व के वास्तविक मर्म को न समझने वाले कुछ एक दार्शनिकों का कहना है कि “यदि वसवत् वक्ष को भी शान्त एवं अमृतसत् (एकपदार्थ) मानलिया जायगा तो अद्वैत का समूह विनाश होजायगा। अतः नाम रूप कर्मात्मक विश्व को सर्वथा मिथ्या ही समझना चाहिए। केवल वसतत्त्व सत्य है। और सारा प्रपञ्च मायिक है, मिथ्या है”। इस प्रकार—‘अनृत द्वे तु मायिके’ कहते हुए नामरूपामक विश्व को असत्य मानने वाले—“असत्यमवतिष्ठ ते जगदादुरनीश्वरम्” (गी० १६ अ० ८ रसो०) भगवान् के इस कथन के अनुसार अनीश्वरवादी कहित अद्वैतवाद की रक्षा के ध्याज से इस वक्ष की शान्तता पर प्रहार करना चाहते हैं। उनके प्रति हमारा यही कहना है कि योही वेर के लिए अमृतपदमशब्द से हम अद्वैतवाद के लिए कर्ममय विश्व को आपके कथनानुसार मिथ्या मान लेते हैं। यह मानलेने पर भी वक्ष स्वीकार करने से जो आपत्ति हमारे ऊपर आती है, उस आपत्ति से आप भी नहीं बच सकते। साक्षात्क पदार्थों में स्वगत, सजातीय, विजातीय भेद से तीन प्रकार के भेद

वही सीमित ब्रह्मावस्थित बनता हुआ, भूतएव श्रितियतिमात्र का प्रत्येक समता हुआ अव्यय कहलाने लगता है। वैसा कि पुरुषनिरुक्ति में स्पष्ट कर दिया गया है। (देखिए ई० उ० प्र० २६५-२८५ पृ०) असमाग सर्वथा व्यक्ति है, जोम ही इसका स्वरूपधर्म है। इसी आत्यन्तिक जोम से अम्ययपुरुष 'असत्' कहलाने लगता है। असमाग सर्वथा व्यक्ति है। शान्ति इसका स्वरूपधर्म है। इसी आत्यन्तिक शान्ति से यह 'सत्' नाम से व्यवहृत होने लगता है। नित्य अशान्तिगर्भित नित्य शान्त अमृत-मृत्युरूप सदैवसत् तत्त्व ही अज्ञेय (ईश्वर) है, वही अज्ञेय (ईश्वरशब्दमूल जीवाम्यय) है, वही अज्ञेय (विश्व) है। यही रामानुज सम्प्रदाय का निशिष्टाद्वैत है। इस प्रकार तत्त्व दो हैं, परन्तु आश्चर्य है—कहलाते हैं दोनों 'पक्ष'। ऐसा क्यों? इसका उत्तर अपने कक्ष से पूछिए। कक्ष में कपड़ा है, सूत है, रुई है, कपास है, मिट्टी है, लकड़ है, सेब है, बासु है, आकाश है, प्राण है, मन है, विज्ञान है, आनन्द है, अमन्त (परस्पर) है। कक्ष में इतनी चीजें, फिर भी कक्ष एक कहलावे, ऐसा क्यों? बस जो उत्तर इस 'क्यों' का है, वही उत्तर पूर्व के 'क्यों' का है।

अद्वैततत्त्व के दार्शनिक मर्म को न समझने वाले कुछ एक दार्शनिकों का कहना है कि "यदि रसवत् ब्रह्म को भी शान्त एवं अमृतसत् (एकपदार्थ) मानलिया जायगा तो अद्वैत का समूह बिनाश होजायगा। अतः नाम रूप कर्मात्मक विश्व को सर्वथा मिथ्या ही समझना चाहिए। केवल रसवत्त्व भूत है। और सारा प्रपञ्च मायिक है, मिथ्या है"। इस प्रकार—'अमृत द्वे तु मायिके' कहते हुए नामरूपात्मक विश्व को असत्य मानने वाले—
"असत्यमप्रतिष्ठ ते भगदादुरनीश्वरम्" (गी० १६ अ० ८ रसो०) भगवान् के इस कथन के अनुसार अनीश्वरवादी कहिये अद्वैतवाद की रक्षा के ध्याम से इस बात की शक्यता पर प्रहार करना चाहते हैं। उनके प्रति हमारा यही कहना है कि जोही देर के लिए अमृतपदमचद से हम अद्वैतरक्षा के लिए कर्ममम विश्व को आपके कथनानुसार मिथ्या मान लेते हैं। यह मातृसेने पर भी बल स्वीकार करने से जो आपत्ति हमारे ऊपर आती है, उस आपत्ति से आप भी नहीं बच सकते। सांसारिक पदार्थों में स्वर्ग, सजातीय, विजातीय भेद से तीन प्रकार के भेद

हुमा करते हैं। अथ बार मनुष्य का मे- विजातीय भेद है। मनुष्य-मनुष्य का भेद सजातीय भेद है। एक ही मनुष्यशरीर में ज्ञान-नाक-मुख हाथ-पैर आदि शरीरावयवों का पारस्परिक मे- “संगत” भेद है। अतएव इन तीनों भेदों से पुष्प- माना जाता है, जैसा कि- ‘एकमेवा द्वितीयं ब्रह्म’ इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। विजातीय भेद को हटाने के लिए ‘एकम्’ कहा है सजातीय मे- को हटाने के लिए ‘एव’ कहा है एवं संगत भेद की व्याप्ति के लिए ‘सद्वितीयम्’ कहना पड़ा है। इस पर हमारा यह कहना है कि हम उसे सजातीय विजातीयभेदरहित तो मानते हैं, परन्तु आपके माने हुए भेदरहित के स्वरूपानुसार उसे संगतभेदरहित नहीं माना जा सकता। कारण स्पष्ट है। ‘नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म’ “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” के अनुसार उसमें सचा-चेतना-ज्ञानन्द यह तीन पर्व अतस्मिन् हैं। भाति (सचा), भाति (चेतना), प्रिय (ज्ञानन्द) यह तीन पर्व आपके ही माने हुए हैं। उस एक ब्रह्म का तीन तरह से मान हो रहा है। क्या भातिमूलक भेद अमे- का प्रतिबन्धक नहीं है? यदि हां तो इस विवक्षिति को हटाने का आप के पास क्या उपाय है? नहीं सचाद्वि। उक्त विवक्षिति का निराकरण करते हुए आप कहते हैं कि-‘यद्यपि ब्रह्मतरंग सचा-चेतना-ज्ञानन्द रूप से तीन तरह से भासित होता है परन्तु सचा तीनों की एक है। भातिभेद द्वैत का कारण नहीं है अथि तु सचाभेद द्वैत का कारण है। एसी अवस्था में सचामे-मूलक संगत-भेद का प्रकृत में समावेश नहीं हो सकता’। क्या यह उत्तर (हम नाम रूप को मानते हुए) नहीं दे सकते? अगर दे सकते हैं। यही भाति होती है सचा एक है। पूर्वोक्त ब्रह्मोद्धारण पर ध्यान दीजिए। मन माया बना है, प्राण प्राज्ञाग बना है आकाश वायु, वायु प्राणि अमिज्ज ब्रह्म मिथी मिथी कणाम कणस रू-ई मून सूत कपड़ा एवं कपड़े से ब्रह्म बना है। प्रतिसृष्टक्रम का आश्रय लेते हुए यदि आप प्रमिषन्न तोड़ते जायें तो उक्त सच पदार्थ आप एक ही ब्रह्म में प्रत्यक्ष ले सकते हैं। इन सब अनेक भातियों के रहने पर भी—“वाचाक्रमसं विज्ञाना नाशय मुनिरुत्पन्नं सत्यम्” के अनुसार पूर्वपूर्व ब्रह्म सचा ही उच्छेदक रूप में प्रतिष्ठित होती है। इस एक सचामय से अनेक भातियों के (प्रतियोगियों के) रहने पर भी

यस एक कहलाता है। यही अवस्था यहाँ है। यस्तत्त्व अनंकरूप से प्रतीत हो रहा है सा।
ही में उपाधिभेद से सत्ताभाव का भी पापक्य प्रतीत हो रहा है, परन्तु रमापत सत्तास एव
है। अतः नामरूपप्रवर्तक वस्तुदार्थ को मानसत्वे से अद्वैतरूप में कोई बाधा उपस्थित नहीं
होती। ऐसी अवस्था में कल्पित अद्वैतवाद की रक्षा में प्रसन्न होकर नामरूपपरमक विषय को
मिथ्या मानना सर्वथा मिथ्या है। “अनुते द्वे तु मायिके” “ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या” यह
प्रमाण किस शास्त्र के हैं यह पता न लगता। सम्पूर्ण वेदब्राह्मण में गीता में वेदान्तसूत्रों में
कहीं भी विषय को मिथ्या नहीं बतलाया है। विषय को मायिक अन्तरय बतलाया है परन्तु माया
वस्तु मिथ्या है—यह किस आधार पर मान लिया गया, यह समझ में न आया। यदि आप सुरु
न मानें तो हमें यह कहनेमें बाधा है कि भारतवर्ष का उन्नति का समूह बिनाश यदि किसी ने
किया है तो वह यही कल्पित जगन्मिथ्यावाद है। संसार मिथ्या है—आत्मा सत्य है, सांसा-
रिक क्रम बन्धन के कारण है” इन अनुचित एवं अशास्त्रीय भावनाओं ने कमण्य भारतवर्ष को
सबका अकर्मण्य बना डाला है। पाठकों को हम यह विचार दिला देते हैं कि आप के शास्त्रों
में कहीं भी जगत् को मिथ्या नहीं बतलाया गया है, अपितु वह विषय को ब्रह्म की विभूति
मान रहा है।

‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ के अनुसार विषय का मूलप्रमथ ब्रह्म सत्ता चेतना—आनन्दलक्षण
बनता हुआ ‘सत्य’ है। इधर—‘ब्रह्मब्रह्म सत्यम्’ यह श्रुति सत्यब्रह्म के वाच्यभूत विषय को
‘ब्रह्म’ मान रही है। एक सत्यपूत महर्षि की कृति जब सत्य मानी जाती है तो सत्यमूर्ति
ब्रह्म की कृतिरूप विषय को कैसे मिथ्या माना जासकता है। कारण के गुण ही तो वाच्य
के आत्मिक (स्वरूपसम्प्राप्तक) बनते हैं। जब वाच्य सत्य है तो वाच्य कैसे मिथ्या होसकता
है। ‘यह सब्रह्म वसन्तो मत्त मर्षं प्रवक्ष्यामि (गीता १० अ ८ श्लो) के अनुसार सत्यमूर्ति
अभ्यय से सारा विषय बना है। अत्यन्त ब्रह्म ही अस्तित्व में आकर विषय कहलान लग गया
है। ऐसा विषय मिथ्या होगा—यह कौन विचार करेगा। वसन्तो गा जीवन्तक आनन्दभूत
मनावनः’ (गीता १५ अ ७ श्लो) ‘प्रकाशेन स्थितं मयम्’ ‘विषादस्थ उदितं पुरुषः पान्ता

व्योदयवत् पुनः 'पुरुष एवम् सर्वं यद्वृत्तं यच्च मायम्' एक वा इदं
 विदमूच सखे 'तपेक सन्त विद्या बहुधा यद न्न इत्यादि धृतिस्मृतिर एव स्पष्ट शब्दों
 में ब्रह्मकायनायक को पुष्ट करती हुई विश्व को ब्रह्म की विमूर्ति मान रही हैं तो ऐसी अवस्था
 में विश्व को सिध्दा मानना क्या निरी करणना नहीं है। अपि च सुष्टि होती है प्रमापति से।
 प्रमापति को सुष्टिक्रमणा से तपश्चर्या करनी पड़ती है। उस की निरकाश की तपश्चर्या से विश्व
 उत्पन्न हुआ है जैसा कि - प्रमापतिर्वा इदमग्र एक-भासीत् । सोऽकामयत् बहुभ्यसा
 ममनापेयं यमान गच्छेत् स तपाऽतप्यत्' (दे उ० १।४५।१) इत्यादि धृतिओं से
 भ्रष्ट है। साधारण मनुष्य परिक्रम करके यदि निस्ती वस्तु का निर्माण करता है तो लोक में उस
 का आदर होता है। ऐसी स्थिति में जगन्निष्पत्ता में तपश्चर्या से जिस विश्व का निर्माण
 किया उसे एक हेसा से सिध्दा बतसा देना सचमुच अपराध है, अपराध ही नहीं अक्षम्य
 अपराध है। अपिच- 'यह ब्रह्मसि' 'योऽहसोऽसौ' इत्यादि रूप से उपनिषद्भूतिर एवं
 पदार्थ को 'ब्रह्म मानती हैं। 'उमय ईतद्ब्र प्रमापतिराम-मर्त्यं नैवायुतम्' (उत्त १०।
 पं० १२। १३। १४) इत्यादि ब्राह्मसंभूति उस यह प्रमापति को अमृत-मृत्युमय मान रही है।
 भोली उपनिषद् के आचार पर चलनेवासी स्वार्थी उपनिषद् (गीता) यम्युत्तर पर मृत्युमय सद्
 सत्त्वाहमर्भुन इत्यादि रूपसे स्पष्ट शब्दों में ब्रह्म को उमयधर्मवर्णन बतसा रही है। ऐसी
 स्थिति में ब्रह्म के मृत्युप्रधान निरव को सिध्दा मानना साहस नहीं तो भीरु क्या है। जिस
 नामरूपमय निरव को आप सिध्दा मान रहे हैं देखिये भूति उसी के लिए अपने क्या निवार
 प्रकट करती है—

अयं नाऽहं नाम रूप कम । तेषां नाम्नां च गिग्येतन्तेषामुक्तयम् । अतो हि
 मयागि मापान्पुतिष्ठति । एतेषां साय, एतदि सर्वनामनि मयम्
 एतेषां ब्रह्म एतदि सर्वाणि नामानि विमर्शि । अथ कृपाया
 वस्तु — — — — — । अथ कमणावात्मा (गरीरम्) — — — — — ।
 नतन्त प्रय सत्केमपमात्मा । आम्मा—उ एकः सन्नेतत्तमयम् । तदन्तन्तम्

- १— सत्य ज्ञानमनन्तं मग्नं यो घेद निहितं गुहायाम् ” (ति० उ० १) ।
- २— स एवाधस्तात् स उपरिष्ठात्, स पश्चात्, स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः, स एवेऽस्य स्यम्—(मन्त्रवत् स्यम्) ” (छां० उ० ७।२।११) ।
- ३— ‘ पुरुष एवेऽस्य स्यम्—यद्भूतं यच्च भव्यम् ” (यजु० मं० ३ अ० १२ म०) ।
- ४— एक वा इदं विवर्तय स्यम् ”
- ५— ‘ प्रजापते न त्वेताम्यन्वो मिथा रूपाणि परिता वमूव ” (यजु० १०।२०) ।
- ६— “ एकं सवित्रा बहुधा वदत्यग्निं यम मातरस्यामहा ” अ० मं० १। ६४।४६) ।
- ७— ‘ मग्नं क्व मग्नं स ह्येष आसीत् यतो वावापृथिवी निघ्नतः ” (त० अ० २। २। २। ६)
- ८— तत्रैव शुक्रं तद् मग्नं तदंवायुतमुप्यत तं मरुतोऽपि भित्ता सर्वे ” (ऋ० २। ६। ११)
- ९— ‘ यो दधना प्रमथेद्भवश्च मिथापिपो रुद्रो मरुतिः ” (रवता उप० ३। ४) ।
- १०— योऽयं स प्रजापतिः ” (शत० ७। २। १७) ।
- ११— “ एष ह प्रजापतिः प्रजापतिपतिश्चन्द्रः ” (गे० पू० ५। १) ।
- १२— प्रजापतिं होवेदं सर्वमनु प्रजापते ” (श० ७। ५। १। ३) ।
- १३— ‘ प्रजापतिर्होवायमप्यतः पदं । तेषां तन्मन्त्रानां रसान् प्राबुधं—अग्निं धूमिन्मया वायुमन्तरिक्षात् आदिष्य विषं ’ (छां० उ० ७। १७। ११) ।
- १४— प्रजापतिं विवर्तय ” (श० ७। १७। ११) ।
- १५— ‘ इमे सोमा प्रजापतिः ” । श० ७। ५। १। ७) ।
- १६— वावापृथिवी हि प्रजापतिः ” (श० ५। १। ५। ६) ।
- १७— ‘ सं वाहुम्यां वमूति सप्ततैर्वावापृथिवी मनपन् पत्र एक ” (अ० १ । ८। १३) ।
- १८— सर्वं मु होवेदं प्रजापतिः ” (श० ५। १। १४) ।
- १९— मिपावृष्यै उदैत् पुरुषं वाग्नेस्येवावमन्त पुनः ” (यजु० ३ । १४) ।
- २०— “ प्रजापतिरहोवेदे सप्त पदिदं विषं ” (———)
- २१— ‘ य एको वासवाग्नीमिह ईशानीमिः स वाक् सोमोऽग्नीमिह ईशानीमिः ” (रवे उ० ३। १) ।

- २०- 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हर क्षात्मानावीशते देव एक' (खे १।१०) ।
- २१- 'य एको यणो बहुधा शक्तियोगात् वर्णाननेकान् निक्षिप्तार्थो ददाति' (खे० ४।११) ।
- २२- 'अहं सर्वस्य प्रभवो मघ सर्वं प्रकृत्यते' (गी० पृ० ८) ।
- २३- 'ममैवाशो जीवन्तो जीवन्तः सनातन' (गी०) ।
- २४- 'मया परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनजय' (गी ७।७) ।
- २५- 'विद्यम्याहमिदं हृस्वमेकाशेन स्थितो जगत्' (गी० १०।४२) ।
- २६- 'नामरूपे सत्यम्' (शं० १४ का० १।४) ।
- २७- 'ऐतदहमिदं सर्वं, तत् सत्यं, स आत्मा' (झा० उ० ५।८।७) ।
- २८- 'तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोऽग्निं अग्ने रापः, अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या भ्योऽप्य, भ्योऽप्योऽन्नं, अन्नादेत, रेतसः पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । + + + + अन्नादे प्रजा प्रजायन्ते याः काश्च पृथिवी भिता । सव वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मणासते । अन्नं हि भूतानां श्रेष्ठम्' (तै० उ० १।१- ११) ।
- २९- 'यदे किञ्च प्राणि स प्रजापति' (शत० ११।१।११) ।
- ३०- 'मनोमयोऽय पुरुषो मा सत्य' (शु० भा० ५ अ० ६ प्रा०) ।
- ३१- 'अयमय हि सोम्य मन' (झा० उ० ६।७।११) ।
- ३२- 'योऽयमय सोम्य पुरुष' (झा० उ० ६।७।११) ।
- ३३- 'एष वै प्रजापति + + + । माम वै प्रजापति' (तै० अ० २।२।७।११) ।
- ३४- 'प्रजापति प्रजा असृजत । स ऊर्षेभ्य एष प्राणिभ्यो देवानसृजत, येऽन्नान्प्राणा- स्तेभ्यो मया प्रजा + + + तस्य ह प्रजापतेर्ऋषेभ्य मर्त्यमासीद्भूमिममृतम्' (शत० १०।१।११-२-२) ।
- ३५- 'स आत्येनैव देवानसृजत, तस्मै स ससृजानाय दिपकास । अय योऽयमयप्राण तेनाप्युपनसृजत । तस्मै ससृजानाय तम ह्रास' शत० ११।१।६।७-८।
- ३६- 'एनो ह देव प्रदिशोऽनु सर्वा एषो द जात स उ र्भे अन्त । स एव जात स जनिम्याण प्रसृजन्नास्तिष्ठति सर्वानाम् ॥ (खे० उ० १।१६।१) ।

उक्त समयमीर्षसा से प्रकृत में हर्ष यही बससाना है कि रस बसरूप बिषा फल दोनों आत्मा के स्वरूपधर्म हैं । अभिन्नसत्तामात्र के कारण दोनों एकतरफ हैं । बिषाभाग स्थितिपूर्ति होने से सद्यः कल्प रहित है । इसी बिषाभाग को सद्य में रसकर भुक्तिने 'अनेनत्' कहा है । कर्मभाग गतिरूप होने से 'एजत्' है । इन दोनों विरुद्धमात्रों से हैत कय भ्रम न होजाय अत एकरूपबहारमूला उसी सत्तातरफ की ओर चक्षु रस कर भुक्ति ने 'एकम्' कहा है । अनेनत्-और एजत् दोनों उस एक के उद्ग में समाधि हैं । मध्यस्थ 'एकम्' दोनों का सम्बन्ध सूत्र है । इसी हस्त को हस्त में रखकर "अनेनत्—एकम्—यनसो जयीया" यह कर्म रक्खा गया है । इस प्रकार स्पष्ट ही इस मन्त्र का बिषाकर्ममध्यम्यप्रतिपादकत्वं सिद्ध होजाता है । यदि इस मन्त्र में 'तस्मिन्मयो मातरिषा द्यापति' यह वाक्य न होता तो अक्षरधमेव प्रथम प्रकरकावत् यह द्वितीय प्रकरका भी विशेषणित (वेदोपहित) शुद्ध अन्वय का ही निरूपक अन्न भिन्न आता । परन्तु उक्त अर्थ वरक ही उस के वेदयुक्त सोपानिक मात्र की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है ।

उस स्थितिगतिमत् निरापण्य तरफ में मातरिषा मात्र का तरफ विशेष अप् कय आधान करता है । आधान का अर्थ है आहित । एक आधायन पर दूसरी वस्तु का रक्खा आना ही आहित किंवा आधान है । वैदिक परिमाणानुसार जिस आधायन पर वस्तु का आधान होता है जिस पर वस्तु आहित होती है वह अणा (मोक्ष) बनता हुआ 'अन्नाद्' नाम से व्यपन्न होता है एव आहित होनेवाला पदार्थ 'आहुति' कहाजाता है । आहित शब्द ही परोक्षभाषा में आहुति है यही अन्न है । उदर अन्नाद् है कहा आहित अन्न अन्न है । दोनों का सममित-रूप ही एक कहाजाता है । उदाहरणार्थ सूर्य अन्नाद् है उस पर आहित अतएव आहित नाम से प्रसिद्ध अन्नमा (सोम) आहुति है । यही प्राकृतिक (आभिर्दिविक) नियम है । इसी आधानात्मक यह का स्वरूप अतःकाली हुई भुक्ति कहती है—

स वै यः सोऽनामिरेम सः । तस्मिन् पतकिष्वाभ्यादपति—आहितय एवाप्य नाः । आहितयो वै ता आहुतय इत्याचक्षते परोक्षम् । आदित्यो

मा अन्ता, तस्य चन्द्रमा (सोम) एवाहितयः, चन्द्रमस आदित्ये आदपति”

(शत० १०।६।३।१-२)

प्रकृत मन्त्रभाग यही यज्ञक्रम बतला रहा है । प्राचीन भाष्य के अनुसार अप् का अर्थ है कर्म, मातरिखा का अर्थ है सूत्रबाधु । सूत्रबाधु उस अनेजदेजत् नाम के परमात्मस्तव में कर्म का आधान करता है । वैज्ञानिकदृष्टि से अप् आहुति द्रव्य है, मातरिखा भी एक सतत्त्व तत्त्व है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होनायगा । इस अवाहुति से वह अम्ययपुरुष यज्ञ पुरुषरूप में परिणत होजाता है । पुरुष जबतक यज्ञ का आश्रय नहीं होता, तबतक प्रजोत्पत्ति नहीं होसकती । कारण ‘सह यज्ञा’ प्रजा सृष्टा ’ (गी ३।१०) के अनुसार प्रजा सृष्टि का मूल उपक्रम यज्ञ प्रजापति ही है ।

अप् की आहुति होती है इससे यज्ञस्वरूप निष्पन्न होता है । उधर हमारा शुद्ध अम्यय पुरुष मोक्षमोक्षयसक्षय अक्षय्यमादात्मक यज्ञ से स्रवण यहिभूत है । क्योंकि यज्ञ का पहिला मूल आपोमय परमेष्ठी है । आप्से ही यज्ञ होता है । यज्ञमूर्ति परमेष्ठी का अप् नाम का पुरजन प्राणमय वेदपुरजन से उत्पन्न होता है । स्वयम्भु का प्राण ही ‘ब्रह्मनिष्पत्ति’ वेद है । ‘सोऽपोऽसृजत वाच एव सोऽदात्’ के अनुसार इसी वेदवाक् से पानी उत्पन्न होता है । ऐसी अवस्था में वेद हो तब अप् तत्त्व का विकास हो अप् हो तब मातरिखा द्वारा उस अम्ययपुरुष पर अप् का आधान हो । अतः मानना पड़ता है कि मन्त्रगत अम्यय ब्रह्म वेदमय ही है । वेदमूर्ति अम्यय पर ही अवाहुति समभव है । वेदमय अम्ययपुरुष ही, दूसरे शब्दों में अम्ययवाक्विद्म वेद ही इस मन्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । अम्यय स्वयं विषाकर्ममय है । अतएव इस के आत्मस्वर के पञ्चीकृत प्राणभाग से प्रकट होनेवाला वेद भी अवश्य ही विषाकर्ममय है । वेद में जो विषा-कर्म का भाग है, वह अम्यय के विषा-कर्म का ही अनुग्रह है । वेद क्या पदार्थ है ? वह अपौरुषेय है, अपवा पौरुषेय ? आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में यज्ञ मतभेद है । इन सब विषयों का विवेचन भाष्यभूमिका में किया जायुक्त है । अतः प्रकृत में मन्त्रार्थ से सम्बन्ध रखने वाले वेदपदार्थ का ही स्वरूप पाठकों के सामने रखा जाता है ।

इति-विषयोपक्रम

मन्त्रार्थसम्बन्धिनी-त्रयीवेदनिरुक्ति



दार्पणम कर्त्तुं साधक तत्त्वं वेद है । 'अथ पद' " "अथ पद" इत्यादि रूप से जिसके द्वारा पदार्थ की उपसंख्य होती है वह उपसंख्य ही वेद है ऐसा कि पूर्व की वेदनिरुक्ति में विस्तार से बताया जा चुका है । वेद का अर्थ किंवा आविर्भाव आत्मस्वर से होता है । आत्मस्वर की (मर्त्य) मक्षा विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम यह पाँच कहाए हैं । सृष्टिनिर्माण करना मक्षा का कर्म है ।

परन्तु जब तक यह अक्षतरण प्राणमय वेदस्वर को अपनी प्रतिष्ठा नहीं बना लेता, तब तक यह सृष्टिनिर्माण में सर्वथा असमर्थ रहता है । सृष्टिनिर्माता है मक्षा, परन्तु साधन (उपदान) है वेद । अतएव मन्त्र की इच्छा से मक्षा से सर्वप्रथम वेद का ही प्रादुर्भाव होता है । उस प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर मक्षा विश्व निर्माण करता है ऐसा कि पूर्व की विवेचनिरुक्ति में विस्तार से बताया जा चुका है ।

वेदमन्त्रों के मन्त्रों को यह सुनिश्चित है कि वेदतरण श्रूक, यजुः, साम अथर्व मेद से चार भागों में विभक्त है । अथर्व विभक्त वेदतरण विज्ञानघटि से अग्नि-सोम मेद से दो भागों में विभक्त है । अथर्वेद पहिला वेद है, सोमवेद दूसरा वेद है । वह तत्त्व जो दाहक होता हुआ केन्द्र से निकलकर विभिन्न अवस्थाओं में परिणत होता हुआ, उत्तरोत्तर निराकृष्टित होता रहता है वही अमरगामी होने से 'अग्नि' कहा जाता है । आगे चलना, आगे बढ़ना इसका सामान्यिक धर्म है । परोक्षमात्र/सुसार यह अभितरण ही 'अग्नि' नाम से सम्बोधित होता है—(देखिए उक्त ६ कां०। प्र०।१ अ।१ अ।११ क०) । वह तत्त्व जो दाहक होता हुआ अग्नि (अग्नि) से केन्द्र की ओर आता हुआ अग्नि की ओर जाते हुए दाहक अग्नि में आहत होकर अग्नि

* अग्निः कश्चात् अमरगमिर्भवति अम नरेण प्रदीपते, अहं भवति अममयाना — न
नोमयति न स्तोत्रवति

[ना मि १ अ है अ० १-४-५-१] ।

को स्वरूप से सुरक्षित रखता है। वही सुत (आहुत) होने से 'मृपते' इस निर्वचन के अनुसार सोम नाम से प्रसिद्ध है। सोम स्नेहतत्त्व है, अग्नि तेजतत्त्व है। स्नेहतत्त्व की प्रतिष्ठा स्थितितत्त्व है, तेजतत्त्व की प्रतिष्ठा गतितत्त्व है। स्थिति-गति ही आगे जाकर स्नेह-तेज रूप में परिणत होजाती है। प्रत्येक पदार्थ स्थिति-गति-स्नेह-तेज इन चारों की समधिमात्र है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। ससार में व्याप जितनी भी मूर्तिएं देख रहे हैं, वे सब अग्निमयी हैं। अग्नि ही मूर्ति का निरूपण करता है। दूसरे शब्दों में अग्नि ही वस्तु का स्वरूप है। वस्तु (पदार्थ) 'गुणकुटो द्रव्यम्' इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार कर्म का पुद्गल है। यह कर्म कर्म एव क्रिया मेद में दो भागों में विभक्त है। एक एक क्रिया क्रिया कहलाती है, ऐसी अनेक क्रियाओं की समष्टि 'कर्म' नाम से व्यवहृत होती है। अनेक क्रियाओं के सघात से एक कर्म (काम) पूरा होता है। उदाहरणार्थ भोजन निर्माण एक कर्म है। इस कर्म की सिद्धि के लिए इधन अग्नि-पानी-आद्य-नेमक-कृत्कार आदि अनन्त क्रियाएं चरमी पड़ती हैं। 'रसोई तैयार होगई' यह एक कर्म संपन्न होगया। इस कर्मसंपत्ति के लिये उदबपधमूत अग्नान्तर कितने ही कर्म करने पड़े। इस महाकर्म सिद्धि के लिए क्रियमाण अग्नान्तर कर्म क्रिया नामसे एव अग्नान्तर कर्मों से निष्पन्न काम कर्म नाम से व्यवहृत किया जाता है। एक ही कर्म की दो अवस्थाएं होजाती हैं। इसी क्रियास्तानरहस्य को सद्य में रख कर अभियुक्त करते हैं—

गुणभूतरवयै समूहः अमजम्भनाम् ।

बुद्ध्या मकल्पितामेव क्रियेति व्यपदिश्यते ॥ वाक्यपदी)

कर्म की क्रिया अवस्था कोमपुक्ता है, कर्मवस्था शास्त्रात् है। इस-वस्तु क्रिया है। स्थिति कर्म है। स्वस्थान पर स्थिर रहते हुए लक्षणा दिखना है इसे ही कम्पन कहते हैं। सदेश का परिष्माण करते हुए भागे बहना जसना है, यही गति है। इस प्रकार क्रियाभाव कम्पन और गति दो मन्त्रों में परिणत रहता है। इसी अभिप्राय से इस का 'हल जस' शब्द से अभिनय किया जाता है। कहना यह है कि वस्तुमात्र में एक स्थिरभाव है, एक चलभाव है।

निरन्तर उस पदार्थ में से उसके परमाणु निकला करते हैं इसी (परमाणुचिन्तिमा) अवस्था का नाम किया है । वस्तुपिण्ड कर्म है । शरीर पर दृष्टि शक्ति । शरीर अग्निपिण्ड है । आप शरीर को बहाते धुते हैं, गरम पात हैं । यह अग्नि के प्रत्यक्ष दर्शन हैं । इस अग्निमूर्ति शरीर से प्राणामि का निरन्तर निस्सृतन होता रहता है । इन्द्रियत्रय परिरक्ष, रोमकूप आदि से प्राण नि र्गम होना रहता है । इसी कमी को पूरा करने के लिये साय प्राण आत्माहृति (मोहन) की आवश्यकता होती है । शरीरपिण्ड अग्निमय है जो वस्तु स्पर्श हो रही है वह भी अग्नि है । इस प्रकार पिण्डरूप कम निस्सृतनसंशय किया दोनों का अग्निमयत्व सिद्ध होजाता है । वस्तुपिण्ड कर्म है यह भी अग्नि है । वस्तुपिण्ड में होने वाला व्यापार किया है यह भी अग्नि ही है । इस प्रकार संसार में जितने भी कर्म हैं उन सब का अग्निमयत्व मान लेना पड़ता है । अग्नि की इसी कमव्यापकता को सत्य में रखकर 'मिथुनि (सबायि) कर्म्याययमग्नि' (शत ब्रा २ का १ प्र १ ब्रा १२ क०) यह कहा जाता है । हम अमुक वस्तु देख रहे हैं इस वाक्य का 'देखना' कम से ही तो सम्भव रहता है । परिवर्तनरूपान्तिपा एव पुनः आत्मापन्न कम (वस्तुपिण्ड) ही तो दृष्टि के नियम बनते हैं । दृष्टि नियम के सारे कर्म अग्नि-रूप हैं दूसरे शब्दों में इन कर्मों का प्रत्यक्ष किया स्वरूप सम्पादक अग्नि ही है । इसी रहस्य को सत्य में रखकर निम्नलिखित (निम्नलिखित) शब्द कहता है—

“यच्च किञ्चिद्वाष्टिपिण्डकर्मधिकर्मैव तन्” (य० नि० ६० कां ७।८।९)

सर्वकर्मप्रवर्तक सर्वकर्ममूर्ति इस अग्नि की प्राण भूत मेद से दो अवस्थाएँ हैं । प्राणामि अमृताग्नि है यही दक्षता है । भूताग्नि मर्त्याग्नि है यही मृत है । वस्तुपिण्ड मौक्तिकाग्नि है, पिण्ड गत निराकार प्राणामि देवता है । प्राणामि किया है भूताग्नि कम है । इस प्रकार संसार के सारे भूत एव संयुक्त दक्षता “सबायि वाऽप्य भूतानि सर्वान् देवान् गर्मी विभर्ति यो ऽग्नि विभर्ति” (शत ब्रा २ का १ प्र अ० १ ब्रा १२ क) के अनुसार अग्नि मय ही है । इस अमृताग्नि की सत्ता सोमाहृति पर निर्भर है । जब तक सोमाहृति होती रहती है तभी तक अग्नि स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है । भूतमिम्य प्राणामि ही मूर्तिरूप में परिणत हुआ है । परन्तु विद्यास कीजिए जब तक उस में सोम की आहृति नहीं होगी, तब तक वह

मूर्ति कमी प्रतिष्ठित न रहेगी। कारण—अग्नि तेजोमय होता हुआ विश्वकसनधर्मा है। वह ठहरना जानता ही नहीं। उसमें निरन्तर गति होती रहती है। वह मूर्ति का निर्माण नहीं करता, अपि तु उस के स्वरूप को विश्वकन्वित करता है। परन्तु स्नेहगुण का सोम इसमें आहुत होकर इस की विश्वकसनशक्ति का स्तम्भन कर देता है। इस सोमस्तम्भन से अग्नि को बाध्य होकर मूर्तिरूप में परिणत रहना पड़ता है। यह सोम अग्नि में आहुत होकर अग्निमय बनकर ही मूर्ति सत्ता का कारण बनता है इसी आधार पर अग्नि को मूर्ति का अविष्टाता मान लिया जाता है। परन्तु वस्तुतः यह मूर्तिमाय सोम की रूपा पर ही निर्भर है। जिस प्रकार अग्नि 'प्राग्य' कहलाता है, एवमेव सोमस्तम्भन 'रयि' नाम से व्यवहृत होता है। रयि (सोम) ही मूर्ति बनता है, इसी आधार पर—'तस्मान्मूर्तिरेव रयि' (प्रश्नोपनिषत् १ प्र० ५ क०) यह कहा जाता है। सोमस्तम्भन आपत्ति द्रव्य है, अत एव मोक्षा अग्नि की अपेक्षा इसका स्थान (दत्ता) नीचा माना जाता है। यह सब कुछ होते हुए भी सोम अग्नि का अभिन्न मित्र है, अन्तर्ग सखा है। अपने छोटे दर्जे के इसी सोम सखा के कारण प्रव्यवस्थित होकर यह अग्नि ही वेदत्रयी का प्रमथ बनता है, जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है—

अग्निमागार तपूचः कामयन्ते, अग्निर्मागार तमु सामानि यन्ति ।

अग्निर्मागार तपय सोम आह तवाहमग्निं सस्ये न्योकाः ॥

(ऋक् सं० १।४९।१५)

उक्त अग्नि-सोम के निरूपण से प्रकृत में हमें यही क्लेशाना है कि सम्पूर्ण मौक्तिक विश्व में अग्नि-सोम का साम्राज्य है, जैसा कि 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इत्यादि से स्पष्ट है। स्वयम्भू-परमेष्ठी आदि विरव के पात्र पत्र हैं। पाँचों में स्वयम्भू सस्याग्निमय, स्य देवाग्निमय, पृथिवी भूताग्निमयी है। परमेष्ठी और चन्द्रमा सोममय हैं, जैसा कि शुक्निरुक्ति में विस्तार से बतसाया जा चुका है। इस दृष्टि से भी विरव का अग्निसोममय सिद्ध होजाता है। इनमें अग्नि-वेद वेत्तमयी है, सोमवेद जोषा प्रथमवेद है। अग्नि की अग्नि-वायु-आदिस्य यह तीन अवस्थाएँ हैं, अतएव अग्निवेद अथवा-वायु-साम वेद से तीन भागों में विभक्त होजाता है।

सोमस्तस्य द्विःसोम (निरायतन सोम) माप्स्यर सोम (सायतन सोम) मेद से दो मार्गों में विभक्त है। अतएव सोमवेद—पोराङ्गिरा अथर्वाङ्गिरा मेद से दो मार्गों में विभक्त होजाता है। दोनों की समष्टि अथर्ववेद है। त्रयीवेद की प्रतिष्ठा अग्निमुष्टि ब्रह्मा है, दूसरे शब्दों में त्रयीवेद पिता पर प्रतिष्ठित है, एवं सोमवेद ब्रह्मा के ज्येष्ठपुत्र अथर्वा पर प्रतिष्ठित है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा। सोमवेद को पोढ़ी ढेर के सिधे छोड़ दीजिये, अग्नि वेद पर दृष्टि डालिए।

यह अग्निवेद आत्मा प्रतिष्ठा व्योनि मेद से तीन मार्गों में विभक्त है। आत्मवेद यजुर्वेद है प्रतिष्ठितेऽयं यजुर्वेद इ एव ओतिर्वेद सामवेद है। यह तीनों ही वेद पूर्णप्रतिपादित मन—प्राण—अक् के त्रिवृत्करण से त्रयीभाव से युक्त हैं। तीनों में से सर्वप्रथम सर्वप्रधान आत्मरूप यजुर्वेद को ही सीखिए।

१—आत्मवेद (यजुर्वेद - ऋग्यजु साममय)

‘स वा एष आत्मा वाक्यपः प्राणमयो मनोमया’ के अनुसार आत्मा मन—प्राण—वाक्यप है। इसी का नाम विष्णुवर्धित अम्बयात्मा (रुमात्मा) है। आत्मा की इन तीनों कलाओं से अमर रूप—कर्म—नाम इन तीन मर्त्य कलाओं का उदय होता है। मन रूपमात्र का उदय है। मन ही विनयरूपाकाराकारित बनता है, दूसरे शब्दों में धारे रूप मन से ही उठते हैं अतएव हम मन को रूपों का उद्भव (प्रवर्धमान) मानने के लिए तैयार हैं। मन ही रूपों को धारण करता है विनयरूप मन पर ही प्रतिष्ठित रहता है अतएव इसे सब रूपों का प्रभू (विमर्शित रूपाधि) कहा जासकता है। अरुण—मनुष्य—अ—पट आदि सब के रूप परस्पर में सर्वथा भिन्न हैं। परन्तु इन भिन्नों में मन अमिष रूप से व्याप्त है, सब रूपों में समान है सम ह, अत मनको ही रूपों का साम (प्रवसानमूषि) कहा जासकता है। इस प्रकार ‘यतो उचिष्ठन्ति सवाणि रूपाणि विमर्शितं यत् सवाणि रूपाणि, सयं यत् सर्वेषु मूर्तेषु” इस निबन्धन प्रकृत्य के अनुसार हम आत्म की मनोवृत्ता को रूपों का उदय—प्रभू—साम उद्भव आत्मा मानने के लिए तैयार हैं। इसी प्रकार आत्म की प्राणकला कर्मों की उदय

ब्रह्म-साम है वाक्कृता नामों का उत्पन्न-ब्रह्म-साम है । नाम-रूप-कर्म भेद से वह एक आत्मत्वं तीन मार्गों में विभक्त हो रहा है । तीनों मिलकर एक आत्मा है । इस आत्मा की मनो। कृता में उत्पन्नभाव प्रधान है, ब्रह्म-साम भाव गौण हैं प्राणकृता में ब्रह्मभाव की प्रधानता है, उत्पन्न-साम गौण हैं, एवं वाक्कृता में साम की प्रधानता है उत्पन्न ब्रह्म गौण हैं । इस गौणमुख्य भाव के कारण तद्वाद्यगम्य से हम मन को उत्पन्न कह सकते हैं प्राण को ब्रह्म कह सकते हैं, एवं वाक् को साम कह सकते हैं । यह उत्पन्न श्रुत है, ब्रह्म यजु है, साम साम है । इस प्रकार उत्पन्न-ब्रह्म-साम भेद से आत्मरूप यजुर्वेद में तीनों वेदों का सम्मिश्रण हो जाता है ।



१—प्रतिष्ठावेद (ऋग्वेद — ऋग्यजु साममय)

इसका है प्रतिष्ठावेद । इसीका नाम ऋग्वेद है । यह प्रतिष्ठातरव आत्मवृत्ति, असतो धृति, सतो धृति भेद से तीन मार्गों में विभक्त है । मन-प्राण-वाक् की अभ्याकृतावस्था का नाम-सत्ता है, यही आत्मा है । प्रत्येक वस्तु पर इस आत्मकक्षय सत्ताब्रह्म का अनुग्रह है । प्रत्येक वस्तु अतिमात्रावस्था है । सत्य स्वरूप से विद्यमान है पृथ्वी है हम हैं इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ का पदार्थत्व सुचित रखने वाला जो अतिमात्र है-स्वसत्ता है इसी का नाम 'आत्मवृत्ति' (आत्म प्रतिष्ठ-आत्मसत्ता) है । हम (प्रत्येक पदार्थ) मन को धारण करते हैं, प्राण को एवं वाक् को धारण करते हैं । इसी धृति से हम हैं । 'अहमस्मि' (मैं हूँ) यही तो आत्मवृत्ति किञ्च-स्ववृत्ति है ।

जो वस्तु सत्तावस्था होती है वह अन्य सत्ता के अनुग्रह से सत्तावस्था बन जाती है । उदाहरणार्थ-यह पदार्थ न था, वह असत् था नास्ति रूप या अभाव के गर्भ में विद्यमान था । कुम्भकार मिट्टी में कुत्ता द्वारा अपने मनमाणावात्म्य आत्मा के आधार पर हस्तप्रयोग से बस जाता है । कुम्भकार के बीजबगद् में प्रतिष्ठित, अतएव तदाकायकवृत्ति (धनकारा अपरित) मन प्राण वाक् की सहायता से दण्ड-बक-वीरगदि साधनों द्वारा वह असत् वस्तु

पृथिवी में स्थित सत्ता को प्रकट कर सत्तायुक्त बन जाता है । फट में जो सत्ता है वह मिट्टी से ब्यर्थ हुई है । असत् फट मृतसत्ता से सत् बन रहा है । इसी सत्ता की अपेक्षा से 'मृत उत्पन्न हुआ' यह स्पष्टीकरण होता है । अपूर्वसत्ताधारण को ही 'जन्म' कहा जाता है । तत्पक्ष वस्तु अपनी प्रकृति (उत्पादक) में ही प्रतिष्ठित रहती है । अतएव इस प्रकृतिसत्ता को 'मृतसत्ता पृथिवी' कहा जाता है, जैसा कि—'आचारम्भस्य विकारो नामयेय पृथिवीत्येव सत्यम्' इत्यादि से स्पष्ट है । जिसरूप से हम आत्मपृथिवी रूप हैं, एक शरीर मृतसत्ता पृथिवी रूप है । जीवात्मसत्तायुक्त आत्मपृथिवी से असत् शरीर सत्तायुक्त बन रहा है । यही दूसरी प्रतिष्ठा है ।

तीसरी सत्तापृथिवी है । पक्ष भी सत् है, फट भी सत् है । सत् फट में सत् जब मर हुआ है, यही सत्तापृथिवी है । हम मृग पर प्रतिष्ठित हैं पुस्तक मेज पर रखी है । व्यक्तिगत पदार्थ स्वप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित रहते हुए अन्य प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित हो रहे हैं । महाप्राण अक्षर प्राण की प्रतिष्ठा है । अक्षर अक्षर की प्रतिष्ठा है । शरीर पक्ष की प्रतिष्ठा है । अक्षर प्रतिष्ठा भर है, भर की प्रतिष्ठा भूषण है, भूषण की प्रतिष्ठा पानी है पानी की प्रतिष्ठा अग्नि है अग्नि की प्रतिष्ठा वायु है वायु की प्रतिष्ठा आकाश है, आकाश की प्रतिष्ठा सौम्यप्राण है, प्राण की प्रतिष्ठा मन है, मन की प्रतिष्ठा विज्ञान है । आनन्द सत्ता की प्रतिष्ठा है । इस प्रकार यह प्रतिष्ठा उच्चोच्च के सदृशों को अपने में प्रतिष्ठित रखती है । अतएव हम इसे 'सत्तापृथिवी' कहने के लिये तत्पार हैं । इसी को परप्रतिष्ठा भी कहा जा सकता है । यही तीसरी प्रतिष्ठा है ।

पुरुषप्रतिष्ठा आत्मप्रतिष्ठा है, प्रकृतिप्रतिष्ठा मृतसत्तापृथिवी है एवं विह्वलप्रतिष्ठा सत्तापृथिवी है । पुरुष ही प्रकृति है, प्रकृति ही स्वतन्त्रता में आत्म विह्वल कहलाने लगती है । अतः उक्त तीनों प्रतिष्ठों को ब्रह्मन्तर्गतता—'आत्मविह्वल' (आत्मप्रतिष्ठा) पर ही पर्यवसान सिद्ध हो जाता है । तीनों प्रतिष्ठा प्रतिष्ठा हैं । प्रतिष्ठातत्त्व 'प्राण' है । अतएव प्राण है, वैसाकि पूर्व के आत्मवेद में ब्रह्मत्वा आशुक्त है । यह यही प्राण है जो सत्पुरुषपुरुषप्रतिष्ठा ब्रह्मप्रतिष्ठा के

तप से प्रकट होता है । “ब्रह्म न सर्वस्य प्रथमजम्” “ब्रह्म मे सर्वस्य प्रतिष्ठा” के अनुसार ब्रह्माक्षर से समुद्भूत यह प्राणप्रतिष्ठा साक्षात् वेद है । जैसे अप्रकृतिक अक्षर विष्णु से उत्पन्न होनेवाले मात्र लोक कहलाते हैं, एवमेव प्राणप्रकृतिक ब्रह्माक्षर से प्रसूत प्रतिष्ठामात्र वेद नाम से प्रसिद्ध है । पूर्वप्रतिपादित इन तीनों वृत्तियों में आत्मवृत्ति अग्रवेद है । क्योंकि आगे की सारी प्रतिष्ठाएँ आत्मप्रतिष्ठा पर ही प्रसिद्धि रखती हैं । असतोवृत्ति-सतोवृत्ति दोनों का आधार आत्मप्रतिष्ठा है । यज्ञ-ध्वज साम अक्षर पर प्रतिष्ठित रहते हैं । अतएव सर्वप्रतिष्ठारूप इस आत्मप्रतिष्ठा को हम अक्षर ही अग्रवेद कह सकते हैं । प्रस्ताव अग्रवेद है अक्षर ही उपक्रम है । आत्मप्रतिष्ठा ही इतर प्रतिष्ठान्तों का प्रस्ताव (उपक्रम) स्थान है । असतोवृत्ति यजुर्वेद है । कथ्य में कारण सत्ता का योग हो जाना ही असतोवृत्ति है । कारणसत्ता कथ्य में आहुत हो जाती है । दोनों का यजन होता है । अतः ‘यजनात्’ से इस असतोवृत्ति को हम अक्षर ही यजुर्वेद कहने के लिये तय्यार हैं । एव योय सतोवृत्ति सामवेद है । साम का ‘अच्चा सम येने’ यह लक्षण है । आत्मवृत्ति अक्षर है । अन्य को पारण करने वाली आत्मसत्ता ही सतोवृत्ति है । आत्मवृत्ति ही आगे आकर सतोवृत्ति बन जाती है । सतोवृत्ति अक्षररूपा आत्मवृत्ति से सममाद्यपन्न है, अतः इसे सामवेद कहा जा सकता है । इस प्रकार अग्रवेदरूप प्रतिष्ठवेद में प्रतिष्ठप्रयी के कारण अक्षर-यज्ञ-सामाधिक्य वेदत्रयी का उपभोग सिद्ध होजाता है ।



३-ज्योतिर्वेद (सामवेद - ऋग्यजुःसाममय)

तीसरा है ज्योतिर्वेद । ‘सर्वं तेजः सामरूपं शरदत’ के अनुसार ज्योति ही सामवेद है । ज्ञानज्योति, मूलज्योति, ससज्योति वेद से ज्योतिस्त्वं तीन भागों में विभक्त है । आत्मज्योति ज्ञानज्योति है । सूर्य-चन्द्र-विद्युत्-नक्षत्र-अग्नि-वेद से पञ्चधा विभक्त ज्योति मूलज्योति है । ज्ञानज्योति ही मूलज्योति की प्रतिष्ठा है । ज्ञान ही मूल की आधार भूमि है । ज्ञानज्योति से ही मूलज्योति प्रकाशित रहती है, अतएव इस ज्ञानज्योति को ‘ज्योतिषां ज्योतिः’

पृथिवी में स्थित सत्ता को ग्रहण कर सत्तायुक्त बन जाता है । घट में जो सत्ता है वह मिट्टी से आई हुई है । असत् या पृथक्सत्ता से सत् बन रहा है । इसी सत्ता की अपेक्षा से 'यन् उत्पन्न इहमा' यह स्पष्टीकरण होता है । अपूर्वसत्ताधारण को ही 'जन्म' कहा जाता है । उत्पन्न वस्तु अपनी प्रकृति (उत्पत्ति) में ही प्रसिद्ध रहती है । अतएव इस प्रकृतिसत्ता को 'सत्तो पृति' कहा जाता है, जैसा कि—'वायारम्भार्थं विकारो नामधेयं पृथिव्येत्येव सत्यम्" इसारि से स्पष्ट है । सत्तरूप से हम आत्मपृति रूप हैं, एक शरीर असतो पृति रूप है । जीवामसत्तायुक्त आत्मपृति से असत् शरीर सत्तायुक्त बन रहा है । यही दूसरी प्रतिष्ठा है ।

तीसरी सतोपृति है । जल भी सत् है, धातु भी सत् है । सत् घट में सत् जल भर हुआ है, यही सतोपृति है । हम भूगुण पर प्रतिष्ठित हैं पुस्तक मेज पर रखी है । अस्तिपुक्त पदार्थ स्वप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित रहते हुए अन्य प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित हो रहे हैं । मन्त्राचार्य अक्षर-प्राण की प्रतिष्ठा है । अस्माद अक्षर की प्रतिष्ठा है । शरीर अक्षर की प्रतिष्ठा है । हमारी प्रतिष्ठा घर है, घर की प्रतिष्ठा भूमि पर है, भूमि पर की प्रतिष्ठा पानी है, पानी की प्रतिष्ठा अग्नि है अग्नि की प्रतिष्ठा वायु है वायु की प्रतिष्ठा आकाश है, आकाश की प्रतिष्ठा सीमन्तप्राण है, प्राण की प्रतिष्ठा मन है, मन की प्रतिष्ठा विज्ञान है । आनन्द सब की प्रतिष्ठा है । इस प्रकार यह प्रतिष्ठा ठगठेठार के सद्भावों को अपने में प्रतिष्ठित रखती है, अतएव हम इसे 'सतोपृति' कहने के लिये तैयार हैं । इसी को परप्रतिष्ठा भी कहा जा सकता है । यही तीसरी प्रतिष्ठा है ।

पुरुषप्रतिष्ठा आत्मपृति है, प्रकृतिप्रतिष्ठा असतोपृति है, एक विद्वत्प्रतिष्ठा सतोपृति है । पुरुष ही प्रकृति है, प्रकृति ही अक्षररूपता में आकर विद्वत् कहलाने लगती है । अतएव उक्त तीनों प्रतिष्ठों को ही अक्षररूपता—'आत्मविद्वत्' (आत्मप्रतिष्ठा) पर ही पर्यवसान सिद्ध हो जाता है । तीनों प्रतिष्ठा प्रतिष्ठा हैं । प्रतिष्ठातत्त्व 'ब्रह्म' है । ब्रह्मवत्त्व प्राण है, जैसाकि पूर्व के व्याख्यान में बताया जा चुका है । यह वही प्राण है जो सत्पुरुषपुरुषात्मक ब्रह्मप्रापति के

इन्हीं तीनों ज्योतिषों के कारण ज्योतिर्मय देवताओं को प्रिसत्य कहा जाता है । उक्त तीनों ज्योतिष विरञ्ज में परस्पर में निम्न सम्बद्ध हैं । ज्ञानज्योतिर्मय आत्मा (विज्ञानात्म) सुषुप्ति-काल में जब पुरीतति नाडी में प्रसा जाता है तो वह भूत-एव सत्यज्योतिषों का प्रसङ्ग करने में असमर्थ होजाता है । सूर्य-चन्द्र-अग्नि-वाक्-आत्मवेद से पञ्चज्योतिर्मय यह ज्ञानज्योतिर्भन जीवात्मा भूतज्योति के सहारे ही अप्यात्मसत्त्वा में प्रतिष्ठित रहता है । आदिज्योति से ही यह सचत् कलों में प्रवृत्त होने के लिए समर्थ होता है । तदभाष में चन्द्रमा, चन्द्रमात्र में अग्नि, अग्नि के अभाव में वाक्, सर्वाभाव में आत्मा है । परन्तु बिना सूर्यादि ज्योतिषों के यह अधिक समय तक नहीं ठहर सकता, जैसा कि असुर्वा नाम ते लोकाः' इत्यादि पञ्चभाष्य में विस्तार से कहाया जाचुका है । शरीरप्राणों के केन्द्रभूत हृदय में जो विज्ञानज्योति है वही आत्मा है । भूतज्योतिर्धन सत्य द्वारा अप्यात्म में प्रविष्ट होने वाला यह आत्मा स्वप्नमवस्था ज्योतिर्मय सूर्यादि के बिना कैसे प्रतिष्ठित रह सकता है । इसी प्रकार नामरूप के बिना भी शुद्ध ज्ञानात्म का विकास असम्भव है । नामरूप को छोड़ देनेपर ज्ञानात्मा निर्विकल्पकभाव में परिणत होता हुआ भातिप्रगत् से बाहर निकल जाता है । ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि उपयुक्त तीनों ज्योतिष परस्पर में ओतप्रोत रहकर ही उपलब्ध होती हैं । इन तीनों में मुख्यतः ज्ञानज्योति प्रस्तावस्थानीय होने से अखेद है । विषयवसानभूमिरूपा सत्य ज्योति सामवेद है । दोनों का यजन (सम्बन्ध) करने वाली मध्यस्थिता भूतज्योति यजुर्वेद है । इसप्रकार ज्योतिषसङ्ग सामवेद में ज्योतिषी स वेदत्रयी का योग सिद्ध होजाता है ।

आत्मा, प्रतिष्ठा, ज्योति इन तीनों में प्रतिष्ठा सचातल है, ज्योति चेतना है, आत्मा आनन्दधन है । सचात्रयभाव सत् है, चेतनात्रय चित् है आनन्दाद्ययभाव आनन्द है । विरहातीन विग्रह अल्पय के सचा-चेतना-आनन्द के आधय से प्रतिष्ठित रहने वाला विरञ्ज-मूर्ति प्रजापति भी सच्चिदानन्दधन है, तदंशभूत जीवात्मा भी सच्चिदानन्द है, ईश्वरंशभूत विश्व भी 'सच्चिदानन्दम्' है । सच्चिदानन्दधन ईश्वर-जीव-विरञ्ज इन तीनों के सचा-चेतना आनन्द यह तीन वेद हैं । सुतरां वेदत्रयी का भी सच्चिदानन्दरव सिद्ध होजाता है । यही ब्रह्म

(ज्योतिषों की मी उपोति) कहा जाता है। मृतज्योति पांच हैं, इसी बहुत्व की अपेक्षा से 'ज्योतिषां' कहा गया है। इसी मृतज्योति का निरूपण करती हुई उपमियच्छुति कहती है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नमो विद्युर्धौ मान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तथैव मान्मनुमाति सर्षं तस्य मासा सप्तमिद् विमाति ॥

कत यथायं है। जबतक हम में ज्ञान है, तभी तक सूर्य-चन्द्रादि हमारे लिए प्रकाशित हैं। यदि ज्ञान विस्तृत है तो सारे विश्व में हमारे लिये अन्धकार है। इसी आधार पर प्राचीन ऋषियों में 'घाप मरा तो जग पगम (मरण)' यह किंवदन्ती प्रचलित है। इस ज्ञान-ज्योति से प्रकाशित मृतज्योतिषों का आधार सूर्यज्योति है। इसका बहुविन्दिय पर अनुग्रह होता है। तीसरी सप्तज्योति नामरूपात्मिका है। नामरूपात्मक अट्यदादि में जो भाग विशेष नाम से प्रसिद्ध है वही अप्रुत है। यही तत्र विज्ञानमात्रा में प्राण' नाम से प्रसिद्ध है। यह अप्रुतभाग अणु-पट्टादि समस्त पदार्थों में समान है अचरोप रूप से व्याप्त है। यही अविरोध (अप्रुतत्व) नामरूप की दृष्टि से विरोध बन कर अयं पगम' 'अयं पगम' इत्यादि रूप से पूषक् पूषक् प्रतीत होने लग गया है। यदि नामरूप का परिस्वाग करदिमा जाता है तो वह अप्रुतत्व कीरात्रिक विरोधभाव से पूषक् होता हुआ अप्रतीति का नियम बन जाता है। नामरूप के बिना वह सर्वथा तिरोहित है। नामरूप से परिनिन्द्य होकर ही वह प्रकाशित होता है। अतएव अप्रुत को आश्चर्यादित करने चाहे, किन्तु उसे भाविरूप से प्रकाश में लाने चाहे नामरूप को हम अवश्य ही 'ज्योति' कहने के लिए तत्पार हैं। त्रिपयोक्तम में कहाए हुए सत्यनिश्चयन के अनुसार नामरूपात्मिका ज्योति सप्तज्योति है। वैसा कि निम्न श्रुति से स्पष्ट होता है—

“अक्षेदमृतं सत्येन छमम् । नावक्ये सत्यम् । ताभ्यामयं प्राणश्छमः ।”

(शत० १४ ब०) इति ।

आत्म-प्रतिष्ठा-ज्योति तीनों मिस्रकर एक वेद है। तीनों का समुच्चित रूप ही हमें उपसर्ग्य होता है। प्रत्येक वस्तु की हमें अस्तिरूप से उपसर्ग्य होती है। अस्ति सत्तात्पर्य है, यही अस्तिवेद है। वस्तु है—यह हम जानते हैं। यह ज्ञानज्योति ही चेतना है। चेतना ही ज्योति वेद है। जो वस्तु है, जिस का हमें ज्ञान होता है, ज्ञानसत्ता का प्रतिष्ठाभूत यही तीसरा वस्तु रूप 'रस' है। यही प्रिय है, यही आनन्द है, यही आत्मा है, यही आत्मवेद है। अस्ति-माति-प्रिय की समष्टि ही वस्तुसम्बन्ध है। यही अथर्ववेद है। ससार का प्रत्येक पदार्थ वेद है, अनन्त व्यक्तित्व हैं अनन्त वेद हैं। समष्टिरूप से एक ही वेद है। उपसर्ग्यरूप यह 'संविदानन्दात्मकवेद' नामरूपकर्मत्मक भौतिक पदार्थ के आधार से ही प्रतीति का कारण बनता है। यदि अस्तित्व पदार्थ में से नामरूपकर्मक मूलभाग को हटा दिया जाता है तो स्वरूप से निराकार रहता हुआ वेद तिरोहित हो जाता है। उपसर्ग्यरूप वेद को आप अब भी देखेंगे, मूल के आधार पर ही देखेंगे। अथर्ववेद के आधार पर प्रतिष्ठित रहें वासा नामरूपकर्मप्रपञ्च सर्वथा असत् रहता हुआ भी उस वेद अस्ति से अस्तिवत् प्रतीत होने लगता है। ससार में आप जो कुछ 'अस्ति' 'अस्ति' कर के देख रहे हैं, विश्वास कीजिए वह सब अथर्वमूर्ति वेद ही है। यही अस्ति व्यमृत है, जो व्यमृत है यही है। साथ ही में नामरूपकर्मक मूलभाग भी यही है। क्योंकि मूलप्राणवाक्य अस्तिभाग ही तो नामरूपकर्म का प्रमथ है। इसी वेदविज्ञान को रूप में रहकर अग्नि कहती है—

‘स अस्या वाच विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत् । एतद् वा अस्ति ।
एतद्दि-व्यमृतम् । यद्व्यमृतं तद्व्यमृति । एतद् तत्-यन्मन्यम् ।
अस्या वाच विद्यायां सर्वाणि भूतानि- मतिष्ठितानि ।
(शत० १० । १ । १ । २ ।) इति ।

चेतनत्व को प्राज्ञापन्य कहा जाता है। इसप्राज्ञापति से उद्भूत वेद वास्तव में प्राज्ञापन्य है। पुरुष (मनुष्य) प्राज्ञापति से उत्पन्न केतव्योमादि जैसे पुरुष को चारों ओर से वेष्टित कर

है यही सर्वत्र म्याप्त है, यही सब कुल है, इसी में सब कुल है । यह है मौक्तिकवेद । इन तीनों में ब्रह्मन्मन्त्रवेद ही (यजुर्वेद ही) पहिला पुरश्चर है । यही सृष्टि का मूलप्रमण है । यह ब्रह्मज्ञ है मनसो अभीष्ट है, एकम् है । ब्रह्म का सारा प्रपञ्च इसी ब्रह्मन्मन्त्र वेद से उत्पन्न होता है उत्पन्न होकर इसी प्रतिष्ठित पर रहता है, अन्त में इसी में स्थित होजाता है—

ब्रह्मन्मन्त्रादीनि मृतानि ब्रह्मन्मन्त्राणि भारत ।

ब्रह्मन्मन्त्रनिधनाम्येष तत्र का परिदेयना ॥

अग्निवेदविवर्त

अग्निवेदस्मृतिवेद — (मूलवेद)

१—आमन्त्र	—आमन्त्र	—आमन्त्र	→ यजुर्वेद	} अधिमणो मूलवेदः
—प्रतिष्ठावेद	—सृष्टा	—सृष्टा	→ अग्निवेद	
१—ज्योतिर्वेद	—वेत्ता	—पितृ	→ सामवेद	

१	उक्तम्—१—उक्तवेद	→ अग्निवेद	}	आत्मवेदः—वेदत्रयात्मकः
	ब्रह्म—२—ब्रह्मवेद	→ यजुर्वेद		↓ यजुर्वेद १ यजुरग्नि
	साम—३—सामवेद	→ सामवेद		
२	आत्मा—१—आत्मपुतिवेद	→ अग्निवेद	}	प्रतिष्ठावेद—वेदत्रयात्मकः
	पुति—२—ब्रह्मपुतिवेद	→ यजुर्वेद		↓ अग्निवेद २ अग्निग्नि
	विपुति—३—सतोपुतिवेद	→ सामवेद		
३	आत्मा—१—ब्रह्मज्योतिर्वेद	→ अग्निवेद	}	ज्योतिर्वेद—वेदत्रयात्मकः
	मृतानि—२—मृतज्योतिर्वेद	→ यजुर्वेद		↓ सामवेद ३ सामाग्नि
	नामन्त्रे—३—सामज्योतिर्वेद	→ सामवेद		

आत्म-प्रतिष्ठा-उद्योति तीनों मिसकर एक वेद है। तीनों का समुच्चित रूप ही हमें उपसम्पन्न होता है। प्रत्येक वस्तु की हमें अस्तित्व से उपलब्धि होती है। अस्ति सत्तामय है यही प्रतिष्ठावेद है। वस्तु है—यह हम जानते हैं। यह ज्ञानयोति ही चेतना है। चेतना ही उद्योति है। जो वस्तु है, जिस का हमें ज्ञान होता है, ज्ञानसत्ता का प्रतिष्ठाभूत वही तीसरा वस्तु-तत्त्व 'रस' है। यही प्रिय है, यही आनन्द है, यही आत्मा है, यही आत्मवेद है। अस्ति—मात्रि-प्रिय की समष्टि ही वस्तुपक्षि है। यही प्रीतिवेद है। सत्ता का प्रत्येक पदार्थ वेद है, 'अनन्त व्यक्ति' है अनन्त वेद है। समष्टिरूप से एक ही वेद है। उपलब्धिरूप यह 'सच्चिदानन्दात्मकवेद' नामरूपकर्मिक भौतिक पदार्थ के आधार से ही प्रतीति का कारण बनता है। यदि अस्तित्व पदार्थ में से नामरूपात्मक भूतभाग को हटा दिया जाता है तो स्वस्वरूप से निराकार रहता हुआ वेद तिरोहित हो जाता है। उपलब्धिरूप वेद को आप जब भी देखेंगे, भूत के आधार पर ही देखेंगे। प्रीतिवेद के आधार पर प्रतिष्ठित रहने का नामरूपकर्मप्रपञ्च सर्वथा असत् रहता हुआ भी उस वेद अस्ति से अस्तित्व प्रतीति होने लगता है। सत्ता में आप जो कुछ 'अस्ति' 'अस्ति' कर के देख रहे हैं, विश्वास कीजिए वह सब प्रीतिवेद वेद ही है। वही अस्ति अमृत है, जो अमृत है वही है। साथ ही में नामरूपकर्मिक भूतभाग भी वही है। क्योंकि सम्प्राणवाक्य अस्तिभाग ही तो नामरूपकर्म का प्रमथ है। इसी वेदविज्ञान को सत्य में रखकर मुक्ति कहती है—

“स प्रत्या वाच विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत् । एतद् वा अस्ति ।
एतद्भि-प्रभृतम् । यद्वचस्पृशं तद्वचस्ति । एतद् वत्-यन्मर्त्यम् ।
प्रत्या वाच विद्यायां सर्वाणि भूतानि- प्रसिष्टितानि ।”

(स्त० १० । ५ । १ । २ ।) इति ।

वेदतरंग को प्राज्ञापत्य कहा जाता है। प्रज्ञाप्रापति से उद्भूत वेद वास्तव में प्राज्ञापत्य है। पुरुष (मनुष्य) प्राज्ञापति से उत्पन्न केशलोमादि जैसे पुरुष को चारों ओर से वेष्टित कर

लेते हैं, एवमेव प्रजापति से उत्पन्न प्रानापत्यवेद प्रजापति को केन्द्र बनाकर इस के चारों ओर घूमता हो जाता है । सम्पूर्ण विश्व इस प्रानापत्यवेद से आवृत रहता है । इसी प्रानापत्यवेद का दिग्दर्शन करती हुई मृति कहती है—

१-“प्रजापतिरिदं द्रष्टुं वेदानां संसृजते रसम् ।

तेनाहं विश्वमाप्तासं सर्वान् कामान् दुष्टां महत् ॥ (ऐं आ ---)”

२-“महाव्रतं कर्म वा निष्क्रेवण्यं शस्त्रं वा सद्यमे,

तेन सर्वफलमाप्नुयाम, सर्वाणि कामान् सम्पादयेयम् ।”

३-“प्रजापसो वै वेदाः” (तै० ब्रा० ३।१।७) ।

४-“प्रजापतेर्षा एतानि रमभूयिषि यद् वेदाः” (तै० ब्रा० ३।१।८) ।

उक्त ऋषिप्रजापति अपनी वेदमिथुन के कारण वेदि, वेद, यज्ञ, प्रजापति, वेद से पटु-संस्पर्श बन जाता है । उदाहरण के लिए पार्ष्विप्रजापति की संस्थाओं का विचार करिए । पृथिवीस्वरूपसमर्पक सप्तपुरुषपुरुषात्मक अग्नि प्रजापति है, जैसा कि मिथुनिकृति में बताया जा चुका है । मृषिण्ड निर्माण की इच्छा रखने वाले इस अग्निप्रजापति की सब से पहिले ‘पुष्करपर्णी’ पर रहि जाती है । पुष्करपर्णी इस की पहिली प्रतिष्ठा बनती है । पार्ष्विप्रजापति (ऋषा) पुष्करपर्णी पर प्रतिष्ठित होकर ही पार्ष्विबसुधि निर्माण में समर्थ होता है अतएव पार्ष्वि ऋषा को ‘पद्मः कमलोद्भवाः’ आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है । इसी का भार पर पद्मपुष्पादि में मृषिण्ड को सर्वोद्भवात्मक माना गया है । पानी में वृन्तव्याप्तक सूक्ष्मातिवृषभ इतिवर्ण की जो ‘काई’ है, जो कि काई आगे जाकर शैवास रूप में परिणत होती है वही ‘पुष्करपर्णी’ है । पुष्करपर्णी का शब्दार्थ है—पानी का पत्ता । आरम्भ में

- ऋषा की प्रतिष्ठान्त पद्म का क्या स्वभाव है ? पापमुक्तकोट के आदि शर्वचक्र कीन है ? इत्यादि विषयों के व्यापारिक आधिरैमिक आधिमौलिक रहस्यों की भावने के लिए सतत विचार मान्य देखना चाहिए ।

पानी के ऊपर पानी से ही इसका निर्माण होता है । पानी प्रतिष्ठाशून्य है, शून्य है । आप इसमें जो भी दाँलेंगे किसीन होनायगा । सब से पहिची प्रतिष्ठा यही पुष्करपर्ण है । शून्य पानी का पहिछा स्वरूप पुष्करपर्ण है । सशरीर-सहृदय भवन को ही विज्ञानमाया में सब फाँटा जाता है । अतः पानी में हृदयभाव न था । परन्तु पुष्करपर्णरूप दो वृत्तवाली कहीं में पिण्डभाव का उदय होवाने से हृदयभाव प्रकट होनाता है । प्रजापतिश्चरति गर्भे' के अनुसार प्रजापति हृदय में प्रतिष्ठित होकर ही सृष्टिनिर्माण में समर्थ होता है । इस प्रजापति की पहिची प्रतिष्ठामूर्ति यही पुष्करपर्ण है । पुरमात्र में हृदय है, हृदय प्रजापति की प्रतिष्ठा है । उक्त पर्यं पुरमात्र का स्वरूपसमर्पक बनता हुआ ही 'पुरकरत्नात्' पुष्करपर्ण नाम से व्यवहृत होता है । इसमें प्रतिष्ठित प्रजापति (हृदयशक्ति-केन्द्रक) ही पार्ष्वसृष्टि का कारण बनता है । अभी सूक्ष्मभाव का उदय नहीं हुआ है । पुष्करपर्ण में अभी पानी ही प्रधान है । पानी ही बनताभाव में आकर सकेन्द्र बन गया है । इसी आधार पर—'आपो नै पुष्करपर्णम्' (शत० ६।४।२।२) यह कहा जाता है । आपोमय पुष्करपर्ण की प्रतिष्ठा आपोमय पारमेष्ठन विष्णु है । विष्णुकी नामि में पुष्करपर्ण प्रतिष्ठित है पुष्करपर्ण पर ब्रह्मा प्रतिष्ठित है, ब्रह्मा पर सब कुछ प्रतिष्ठित है । सब की प्रतिष्ठा होने से जहाँ ब्रह्मा की प्रतिष्ठा कहा जाता है, वहाँ इसकी भी प्रतिष्ठा होने से आपोमय विष्णु की प्रतिष्ठि की भी प्रतिष्ठा कहा जाता है । विष्णु की नामि से पुष्करपर्ण निकला है । उसी पर माया—आप—माय—प्रमाआदिरूप वस्तुसुख ब्रह्मा प्रतिष्ठित हैं । वह आपोमय पानी सूक्ष्म पानी नहीं है, अपि तु घनम नाम का वायुमय पानी है । इसी में सप्तरसात्मक दुग्ध का उदय होता है, अतएव इसे क्षीरसमुद्र कहा जाता है । प्रतिसत्वरक्रम में वायु शेष रहजाता है वायु गतिशील है, सर्पणशील है । इसी शेष पर विष्णु प्रतिष्ठित हैं । यह वायुमय पानी जिस अपि (प्राण) से उत्पन्न होता है वह 'नारद' नाम से प्रसिद्ध है । वयनाक्त जैसे अनुपुष्ट है, स्वरवाक जैसे झुझी है एवमेव ध्वनिमाक सारस्वती नाम से प्रसिद्ध है । ऐसे पार्ष्वसमुद्र 'वयन' कहा जाता है, स्वायम्भुक्समुद्र नमस्वानु कहा जाता है, एवमेव पारमेष्ठन वैष्णव समुद्र 'सरस्वान' नाम से प्रसिद्ध है । इसी में अन्तिम

चिक्क सरस्वतीवाक् प्रतिष्ठित है। स्वर-वर्णों नेनी इसी अग्निवाक् पर प्रतिष्ठित हैं। यही वाग्-
नी सृष्टि की मूलप्रवर्तिका है। यह आपोमयी अग्निवाक् स्वप्नमय उसी नारदश्रुति (प्राण)
पर प्रतिष्ठित है। इसी महाश्रुति विज्ञान को प्रसादमाया में प्रकट करत हुए पुराण में कहा है—

“दीरममु” में रोष गय्या पर विष्णुभगवान् सा रहे हैं। उन की नामि
में से कमल निकल रहा है। कमल पर शत्रुर्मुक्त ब्रह्मा विराजमान हैं।
यह आगे बढ़ने से सृष्टिनिर्माण कर रहे हैं। विष्णुभगवान् के मन्त्रक की
ओर नारद स्नेह हुए हैं उनके हाथ में बीणा है --- --- ”

प्रकृत में उक्त निदर्शन से हमें यही कहना है कि सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति (अग्नि)
के व्यापार से सर्वप्रथम पुष्करपर्ण उत्पन्न हुआ, यही प्रजापति की, किंवा सारे पार्ष्वि विश्व
की पहिली प्रतिष्ठा बना। इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

यत् पयपश्यन् सरिरस्य मध्ये—उर्ध्वमपश्यन्नागत प्रतिष्ठाम् ।

तत् पुष्करव्यापननाद्वि जात पर्णं पृथिव्यायतन इरामि ॥

(तै० भा० १।२।१) इति ।

यही पुष्करपर्ण आगे जाकर रुद्रवायु की रुद्रता पानी की शिथिलता के परस्पर के संसृष्टि
सम्बन्ध से उच्चोत्तम जनभाव में परिणत होता हुआ भूपिण्डरूप में परिणत हो जाता है।
प्रजापति के वेद से पानी पटा हुआ पानी से पुष्करपर्ण उत्पन्न हुआ, यही जगत्पिता में
आकर भूपिण्ड बन गया। इस भूपिण्ड के केंद्र में प्रजापति प्रतिष्ठित हो गये। यही पृथिवी
वेदमूर्ति प्रजापति के सम्बन्ध से ‘येति’ नाम से प्रसिद्ध हुई। इस वेदि पर अग्निरूप यही त्रयी-
वंश प्रतिष्ठित हुआ। पार्ष्वि अग्नि साक्षात् वेद है। अग्निमय वह वेद सप्तमूर्ति है। इस सत्या-
त्मवेदरूप उक्त प्रजापति के अर्कस्वरूप प्राकृतिकबलाओं के द्वारा (इसी वेदि पर) पक्क होता है।
सोमश्रुति होने से यही अग्निवेद २१ स्तोम पर्यन्त विकृत हो जाता है। पार्ष्वि शिववाग्नि
अग्न्याधान है त्रिष्टुप्स्त्रेमावच्छिन्न यज्ञसत्त्वा अग्निहोत्र है पञ्चदशस्तोमवच्छिन्न यज्ञसत्त्वा

अर्धपूर्णमास है सप्तदशस्तोमावच्छिन्न यज्ञसत्त्वा चातुर्मास्य एव पर्यवस्यति, एव यही उच्यते
 तिष्ठोम है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न यज्ञसत्त्वा अग्निपञ्च कृत्वा चवनयज्ञ है। इस प्रकार स्तोम-
 वेद से पार्थिव यज्ञसत्त्वा उक्त विभागों में परिणत हो जाती है। इसी अग्नीयोमात्मक यज्ञ से वह
 प्राजापत्य वेद एकविंशस्तोमपर्यन्त व्याप्त हो जाता है। त्रिवृत्स्तोम तक अग्निमय ऋग्वेद है,
 पञ्चदशस्तोम तक वायुमय यजुर्वेद है एकविंश तक आदित्यमय सामवेद है। यही मूत्रवेद का
 कितान है। इसी कितान सम्बन्ध में उक्त पार्थिव यज्ञसत्त्वा पितानयज्ञ आतानयज्ञ आदि
 नामों से प्रसिद्ध है।

अग्निनायुरभिभ्यस्तु अयं ब्रह्म सनातनम् ।

बुद्धो ह यज्ञसिद्धयर्थं ऋग्-यजुः-सामस्तस्यैव ॥ (मनु १।२३)

इत्यादि मानवसिद्धान्त इसी पार्थिव यज्ञमात्रिक प्रामाण्यवेद का स्पष्टीकरण करता है।
 इस वेदतत्त्व की प्रतिष्ठा पिण्डपृथिवी, एव अमृता पृथिवी है। याज्ञिक परिभाषा के अनुसार
 निष्ठाग्निय मृपिण्ड 'कृष्णाग्नि' कहलाता है, एव चित्तेनिषेधाग्निमयी महापृथिवी पु-
 ष्करपर्याय नाम से प्रसिद्ध है। (देखिए खण्ड० ६।१।१२)। पिण्डपृथिवी में छन्दोवेद प्रतिष्ठित
 है, तत् सन्ध्वी पार्थिवयज्ञ-आतानयज्ञ नाम से प्रसिद्ध है। मृपिण्ड वेदि है महापृथि-
 वी महावेदि है। प्रजापति क्षेत्र में प्रतिष्ठित रहता है, यह अनुपद में ही वतसाया जाशुका
 है। इदमस्मिन् इ-द-यम्-रूप अन्तर्यामी नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र का नाम ही
 प्रजापति है। अग्नि-सोमाक्षर वेद हैं। यह अग्नि सोम उस द्वयप्रजापति से अभिन्न हैं। इन्द्र
 ही ब्रह्मर्षित होकर अग्नि बनाता है, विष्णु ही ब्रह्मर्षित होकर सोम कहलाने लगता है।
 अतएव अन्तर्यामी द्वयप्रजापति के अवयवमूत्र विश्वरूपसम्पादक अग्नीयोमात्मक वेद को हम
 अक्षर्य ही प्रजापति के 'शमश्रु' कहने के लिए तत्पार हैं। इदमस्मिन् का नाम ही सख्य है।
 इस सख्य अन्तर्यामी का विश्वमूत्र वेद भी अक्षर्यमेव सख्य है। प्रजापति सख्य, इसका क्षेत्र
 सख्य, वेदमय विश्व सख्य-सखे सर्व प्रतिष्ठितम्। यही सख्यवेद अक्षर्य यज्ञवेदि के
 आधार पर २१ तक व्याप्त होता है। इस प्रकार यह सख्यप्रजापति सख्य (वेद) के द्वारा पानी

निकर सरस्वतीवाक् प्रनिष्ठित है। स्वर-वर्ण दोनों इसी ध्वनिवाक् पर प्रनिष्ठित हैं। यही वाग्-
की सृष्टि की मूलप्रवर्धिका है। यह आपोमयी ध्वनिवाक् स्वप्नमय उसी नारदश्रुति (प्राण)
पर प्रनिष्ठित है। इसी महासृष्टि निदान को प्रसादमाया में प्रकट करने हुए पुराण ने कहा है—

“क्षीरसमुद्र में शेष शय्या पर विष्णुमगवान् सो रहे हैं। उन की नाभि
में से कमल निकल रहा है। कमल पर शत्रुमुख ब्रह्मा निरासमान हैं।
यह जागें वेगों से सृष्टिनिपाण्य कर रहे हैं। विष्णुमगवान् के मस्तक की
घोर नाग्य स्वेद हुए हैं उनका हाथ में बीणा है --- --- ”

प्रकृत में उक्त निदान से हमें यही बतलाना है कि मातृपुरुषपुरुषप्रमथ प्रजापति (अग्नि)
यह व्यापार से सर्वप्रथम पुष्करपर्ण उत्पन्न हुआ, यही प्रजापति की विद्या मारे पार्थिव विष
की पदिनी प्रतिष्ठा बना। इसी रहस्य को लक्ष्य में रग कर कृति कहती है—

यन् पयपायत सरिरस्य मध्ये-उर्वीमपरपञ्चगतः प्रतिष्ठाप ।

नन् पुष्करव्यापननादि जात पर्णं पृथिव्यापनन इरापि ॥

(तै० ब्रा० १।२।१) इति ।

अग्नि पुष्करपर्ण आगे जाकर ब्रह्मवायु की लक्षता पानी की निम्नता के परस्पर के संसृष्टि
माध्यमे से उत्तराक्षा घनमात्र में परिणत होता हुआ सूरिण्डरूप में परिणत हो जाता है।
प्रजापति के वेग में पानी पता हुआ पानी में पुष्करपर्ण उत्पन्न हुआ, यही पनाशरपा में
आकर अर्जुन बन गया। इस सूरिण्ड के केन्द्र में प्रजापति प्रतिष्ठित हो गए। यही पृथिवी
वस्तुनिष्ठ प्रजापति के माध्यमे से अग्नि नाम में प्रसिद्ध हुई। इस वेदि पर अग्निरूप बड़ी ब्रह्मी
प प्रतिष्ठित हुआ। पार्थिव अग्नि मात्मान् वेग है। अग्निमय वह वेद संपूर्ण है। इस राज्य
महत्त्व उक्त प्रजापति के अक्षर्य शरण-प्राप्तों के द्वारा (इसी वेदि पर) यह होता है।
मेघादृति होने में यही अग्निमय २१ स्तोम पवत विगत हो जाता है। पार्थिव विराट्पि
अग्निमात्र है। विष्णुमगवान् स्वप्नमय अग्निरोप है पञ्चशक्तावाहनमय यह राज्य

परमेश्वरमात्रमय विश्व का शासन कर रहा है, उसका वही नियतिसूत्र, विज्ञानदण्ड वेद पदाप है। इस वेदसीमा के बाहर कुछ भी नहीं है। जिसका वेद नहीं वह भी—न स वेद, न स वेद। जो सम कुछ जानता हुआ भी वेदतरंग नहीं जानता, वह भी—न स वेद, न स वेद। इसी वेद से वेदि और यज्ञरूप विश्व का निम्माण हुआ है। विश्वनिर्माण के लिए इसे सर्व प्रथम पानी ही उत्पन्न करना पड़ता है। स्वायम्भुव ब्रह्मनिश्चित वेदप्रजापति के काम—तप—यज्ञ से सुवेद नाम से प्रसिद्ध अथर्वा नाम का अपूर्व उत्पन्न होता है। इसी मिथुनभाव से प्रथिव्यं सृष्टि करने में समर्थ होता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा।

उक्त मूसवेद का अर्ध माग सृन्दोवेद है, इससे मूर्ति का (पिण्ड का) निम्माण होता है। साममाग अतानवेद है इससे महिमामात्र की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। एव यजु माग रसवेद है, यही गतिमात्र का अधिष्ठाता है। इन तीनों वेदों की मूलप्रतिष्ठा आनुतिरूप ब्रह्म (अथर्ववेद) है। इन्हीं चारों मौखिक वेदोंका निरूपण करते हुए महर्षि तिसिरि कहते हैं—

अग्निं यो नातां सर्वंशो मूर्तिमाहुः सवागतिर्याजुषी इयं शरवतः ।

सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शरवतः सर्वं तेन ब्रह्मणा इयं सृष्टम् ॥

(तै० ब्रा १।१२।२।१-२) ।

अग्निमिः पूर्वाह्णो दिवि देव इयते यजुर्वेदि तिष्ठति मय्ये ब्रह्म ।

सामवेदेनास्त्रमये महीयते वेदैरग्न्यस्त्रिभिरेति सूर्यः ॥

(तै० ३।१२।२।१) ।

मन्त्रप्राणवाक् के निष्पत्ति के कारण उक्त तीनों वेद अग्नि—यजु—साम वेदोंसे तीन तीन मार्गों से निष्पन्न हैं। इन सबका विशद निरूपण उपनिषद्भाष्यभूमिका में किया जाचुका है, अतः यहाँ में इनके साममात्र का दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

उत्पन्न करता हुआ पृथिवीरूप वेदि को उत्पन्न कर यज्ञोपनिषत् से युक्त होता हुआ- वेदि-वेद यज्ञ-प्रजापति वेद से बहुफलक बन जाता है । इसी वेद रहस्य को प्रकट करते हुए निम्नलिखित श्रौत ऋषि हमारे सामने आते हैं ।

१—"एष प्रजापतिर्यद् इदमथ, एतद् ब्रह्म, एतत् सवित्रम् ।

तदेतत् स्य चरं द-यमिति । तद्वै तदेतदेव तदास सप्तमेव" (श० १४।८।१)

२- 'ते देवा सर्वं समप्रदन् । तद्यत् तत् सद्यं प्रयी सा विद्या ।

ते देवा अग्रवन्-यज्ञं वै कृत्वा सप्त तनवापवै" (श० २।५।१।)

३-"स्वया (वेदेन) वेदिं विविदुः पृथिवीं स्वया यज्ञो मायते विश्वदानि ।

अच्छिद यज्ञमन्त्रेण विद्वान् स्वया होता सवनोसर्द्धमासान् ॥" (तै० ब्रा० १।७।४)

४-"अथ वेदः पृथिवीमन्त्रिन्तु गुहासतीं गहने गह्वरपु ।

स विन्दतु यजमानाय सोकमश्चित् यज्ञं मूरिकर्मा करोतु ॥'

(तै० ब्रा० १।७।५।)

५-"वेदेन वै देवा अमुराणां विष वेद्यमविन्दत ।

तद् वेदस्य वेदस्वम्, भूमिरेव वेदिः । सा वा इय सर्वेषु वेदिः "

इत्यादि----- ।

मथा-एष वेदि' इस वाक्य के सवरूप से सर्वमूलप्रपञ्च अभिव्यक्त है । इसकी प्राप्ति उमी प्रवीतिपा के उतर में हुई है । तभी तो पूर्वोक्त-प्रस्थां याप विद्यायां सवाप्ति मृतान्य-पश्यन् यह कथन चरित्रप होना है । यह प्रजापति वेदि-वेद-यज्ञ-इन तीन ब्रह्मणों से बहुफलक बनता हुआ इस मृदाभुवन के केन्द्र में पृथ्वी-वायु-अग्नि-तीनों भुक्तों का शास्ता बनता हुआ अन्तर्धामी नाम से प्रसिद्ध हो रहा है । यह अन्तर्धामी जिस नियति मूलम

परमेश्वरमात्मय विश्व का शासन कर रहा है, उसका बड़ी नियतिसूत्र, विज्ञानदण्ड वेदपदार्थ है। इस वेदसीमा के बाहर कुछ भी नहीं है। जिसका घेद नहीं बह भी—न स घेद, न स घेद। जो सब कुछ जानता हुआ भी वेदतरंग नहीं जानता, बह भी—न स घेद, न स घेद। इसी वेद से यदि और परमेश्वर विश्व का निर्माण हुआ है। विश्वनिर्माण के लिए इसे सर्व प्रथम पानी ही उत्पन्न करना पड़ता है। स्वायम्भुव ब्रह्मनिश्चित वेदप्रजापति के काम—तप—क्रम से सुवेद नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मणा नाम का अपूर्व उत्पन्न होता है। इसी मिथुनमात्र से प्रगीवेद सृष्टि करने में समर्थ होता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होनायगा।

उक्त मूत्रवेद का अक्ष भाग कुन्दोवेद है, इससे मूर्ति का (पिण्ड का) निर्माण होता है। साममात्र त्रितानपेन है इससे महिमाभावन की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। एव यज्ञ माग रसेवेद है, यही गतिमात्र का अधिष्ठता है। इन तीनों वेदों की मूलप्रतिष्ठा आहुतिरूप ब्रह्म वेन (अपक्वेद) है। इन्हीं चारों मौखिक वेदोंका मिरूपण करते हुए महर्षि तितिरि कहते हैं—

अग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः सर्वागतिर्याहुपी इवै शस्वत ।

सर्व तेजः सामरूप्य इ शस्वत सर्व वेदं ब्रह्मणा ईष घृष्टम् ॥

(तै० अ० १।१२।१।१-२) ।

अग्निः पूर्वाहणे विवि देव ईयते यजुर्वेदे तिष्ठति मय्ये ब्रह्मः ।

सामवेदेनास्त्रमये महीयते वेदैरग्न्यस्त्रिमिरेति सूर्यः ॥

(तै० १।१२।१।१) ।

मन्त्राण्यवाक् के त्रिब्रह्माण्ड के परमेश्वर उक्त तीनों वेद अग्—यज्ञ—साम वेदसे तीन तीन मागों में विभक्त हैं। इन सबका विशद निरूपण उपनिषद्भाष्यभूमिका में किया जा चुका है, अतः प्रकृत में इनके नाममात्र का विवरण करा दिया जाता है।

- | | | | | | | | |
|----------------------------------|-------|---------|---|---|---|----------|-----------|
| १-सुन्दोवेद - मूर्ति | ----- | उत्तरम् | → | → | → | अग्नेवेद | } मूलवद १ |
| २-रसवेद - मय्यस्यो वायुमयोऽग्निः | → | → | → | → | → | पशुवेदः | |
| ३-वितानवेद - महिममण्डलम् | ----- | साम | → | → | → | सामवेद | |

१-सुन्दोवेद - (मूर्ति)

- | | |
|-----------------------|---|
| १-विष्कम्भ - अग्नेवेद | } तदित्य अग्नये सुन्दोवेदे वेदत्रयोपयोग |
| २-परिणाहः - सामवेद | |
| ३-उत्तरम् - पशुवेद | |

२-वितानवेद - साम)

- | | | | |
|------------------------|-------|----------|--|
| १-पूर्वपूजमण्डलम् | ----- | अग्नेवेद | } तदित्य सामनये वितानवेदे वेदत्रयोपयोग |
| २-उत्तर - उत्तरमण्डलम् | ----- | सामवेद | |
| ३-अलु (अकुटिला) रेखा | ----- | पशुवेद | |

३-रसवेद - (यजु)

- | | | |
|--------------------------------------|------------|------------------------------------|
| १-उत्तरोत्तरं इक्षीमन्तो विष्कम्भा | - अग्नेवेद | } तदित्य यजुमि रसवेदे वेदत्रयोपयोग |
| २-उत्तरोत्तर इक्षिमन्ति मण्डलानि | - सामवेद | |
| ३-उत्तरोत्तराद्ये प्रतिष्ठितानि वाक् | - पशुवेद | |
- प्राथम्यात्ति

इति - त्रयीवेदानिरुक्ति

॥ इह विषयका तद्विषय विवेचन करणार्थं मालिङ्ग पत्र के वेदान्त-अङ्क में वेद का स्वरूप विचार नाम के लेख में लिखल हुआ है ।

मन्त्रार्थसम्बन्धिनी-अथर्ववेदनिरुक्ति



दशमी का निरूपण समाप्त हुआ । जब क्रमप्राप्त चौथे अर्थवेद का स्वरूप बतसाया जाता है । पूर्व के धेदशमी प्रकरण से यह ज्ञान लेना पड़ता है कि केवल वेदतत्त्व (वेदत्रयीरूप केवल अग्नि) सृष्टि करने में असमर्थ है । सृष्टि अग्नि-सोम के समन्वय पर निर्भर है । कारण सृष्टि संसृष्टिभाव से सम्बन्ध रखती है । एव संसृष्टि परस्पर में बिनातीय योपा वृषामाग पर निर्भर

है । योपा रयि नाम से, वृषा प्राण नाम से प्रसिद्ध है । इन्हें अक्सामरूप योनाथ से सीमित नयरूप यजुर्वेद प्राणामक बनता हुआ केवल 'वृषा' रूप है, अग्निमय है । आग्नेय-प्राणप्रधान (ब्रह्माग्निरूप अग्निप्राणप्रधान) यह वृषावेद सर्वथा अस्तंग है । ऐसी अवस्था में इस अस्तंग वेदप्रजापति से तब तक सृष्टि नहीं होसकती, जब तक कि 'योपा' नामक संसर्ग अमृतत्व (रयि) उत्पन्न नहीं होजाता । अतएव सृष्टिकामुक्त अग्निमय उस ब्रह्मप्रजापति को सब से पहिले पानी ही उत्पन्न करना पड़ता है । सृष्टिकामना से प्राण ध्रुम्ब होजाता है । प्रत्येक कामना फलसिद्धि पयस्त प्राणशोम का कारण बनी रहती है यह सर्वानुमृत विषय है । वही ध्रुम्ब प्राणमि संवर्ष के कारण अमरूप में परिणत होजाता है । इस का यह अर्थ नहीं है कि अमृतपति के अनन्तर प्राणमि रखा ही नहीं । यह कार्यकारणमात्र ऊर्णातन्तु (मकड़ी का जाला) के समान है । मकड़ी अपने एक प्रवेश से जास बनाती है । वही (व्याधिकरूप से) जास बनाती है, परन्तु उस का स्वरूप ज्यों का त्यों बना रहता है, जैसा कि स्वरूप नाशोत्पत्ति से पहिले था । इसी को "अमिमसत्ताक कार्यकारणमात्र" कहा जाता है । यही अवस्था कहा है । वेदप्राण का जो माग ध्रुम्ब हो जाता है, वह पानी बन जाता है, शेष माग ज्यों का तत्त्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है । इस प्रकार अगनाया के प्रमाण से शोम द्वारा सर्वप्रथम पानी उत्पन्न होता है । एक ही प्रजापति प्राण-प्राप मेद से दो मार्गों में विभक्त हो जाता है । मागमाग वृषा है, पुरुष है, पति है । अमृमाग योपा है, व्री है, पत्री है । इसी दम्पती

- १-छन्दोवेद-मूर्ति --- उन्मपम् → श्रुग्वेद
 २-रसवेद-मध्यस्थो वायुमयोऽग्नि-वस → यजुर्वेद
 ३-वितानवेद-महिममण्डसम् --- साम → सामवेद

मूलवद १

१-छन्दोवेद -(ऋक्)

१-विष्कम् - श्रुग्वेद

२-परिणाह - सामवेद

३-उदयम् - यजुर्वेद

तदित्य श्रुग्वेदे छन्दोवेदे वेदत्रयोपयोग

२-वितानवेद - साम)

१-मूकपूजमण्डसम् --- श्रुग्वेद

२-उत्तर-उत्तरमण्डसम् --- सामवेद

३-अल (मकुटिषा) रेखा --- यजुर्वेद

तदित्य सामवेदे वितानवेदे वेदत्रयोपयोग

३-रसवेद -(यजु)

१-उत्तरोत्तर इत्तीमवन्तो विष्कम्प्य - श्रुग्वेद

२-उत्तरोत्तर इदिमन्ति मयदहानि - सामवेद

३-तपोऽस्तपसे प्रतिष्ठिषानि वाक्-यजुर्वेद

प्राणमनांसि

तदित्य यजुर्वेदे रसवेदे वेदत्रयोपयोग

इति-त्रयीवेदानिरुक्ति

- एष त्रिवेदा तद्विषय विवेचन करपाणि मातृक पत्र के वेदान्त-प्रश्न के वेद का स्वरूप विचार मात्र के क्षेत्र में प्रियतम हुआ है।

पुरुष' आदित्यभ्य पर मा' इत्यादि नामों से व्यञ्जित किया जाता है, यही मौखिकतरंग है।
अक्षु साम इस यशुपुरुष की प्रतिष्ठा है। इसी प्रयत्निवा कय निरूपण करती हुई वाचिभुक्ति
आती है—

यदेतन्मण्डलं तपति—तन्मण्डलं यशु, ता अक्षुः, स अक्षुर्वा मोक्षः ।

अथ यदेतद्विदीप्यते, तन्मण्डलं यशु । तानि सामानि, स साम्ना लोकाः ।

अथ यय पतस्मिन्मण्डले पुरुषः, सोऽग्निः, तानि यजूंषि । स यजुर्वा लोकाः ।

सैषा अय्येन विद्या तपति" (श्रुत १०।५।२।१-२) ।

अक्षुसाम वयोनाथ है, यशु वय है। वस्तुपिण्ड का विश्वम्भ (व्यास) अक्षु
है। वस्तु के चारों ओर का घेरा (परिखाह) साम है। व्यास को त्रिगुणित करदेने से वस्तु का
घेरा बन जाता है। दूसरे शब्दों में वस्तुपिण्ड का घेरा वस्तुपिण्ड के व्यास से त्रिगुण हो जाता है,
इसी व्यापार पर साम का 'त्रिर्बं माम' (तीन अक्षु का एक साम—तीन व्यासों का एक
परिखाह) यह लक्ष्य किया जाता है। इस व्यास और परिखाह से वेदित वस्तुतरंग यशु है।
जिस प्रकार उतर में अक्षु प्रतिष्ठित रहता है, एवमेव यशु (वस्तुतरंग) अक्षुसाम रूप व्यास और
परिखाह में अक्षुमुक्त रहता है। इस मुक्तिमान को सदैव में रखकर ही यशु को वय (अक्षु)
नाम से व्यञ्जित कर दिया जाता है। वय शब्द अक्षु शब्द का ही पर्याय नहीं है, बल्कि कि प्र-
यत्नि में वय का अर्थ अक्षु किया है। अक्षुवर्ग की समता के कारण ही यशु को वय कहा
जाता है। यद्यपि जिस प्रकार पक्षर (पीत्रा) में रहने वाला पक्षी पक्षर से निकल कर
आकाश में उड़कर उड़कर चंचल रहता है, एवमेव अक्षुसामरूप पक्षर में प्रतिष्ठित रहने
वाला यशुमूर्ति यशु वितानमान से अक्षुसामरूप में चंचल किया जाता है, इस पक्षिरूप
साधन से ही इसे वय (पक्षी) कहा गया है। इस वय को धन में रखने वाले सीमित रखने
वाले आप्तनरूप अक्षु साम हैं, अतएव इन्हें 'वयोनाथ' (वय का धन करने वाला) कहा
जाता है। वयोनाथ और वय की समता 'यशुन' नाम से व्यञ्जित होती है। प्रत्येक वस्तु यशुन

क सिधुममात्र से प्रजा उत्पन्न होती है। प्रजापति की इस इच्छा का— “एकस्की न रमते, नद्वितीयैषैकस्तु—पतिश्च पत्नी च” इसादि रूप से अभिनय किया जाता है। इसी सुधि विज्ञान को स्वयं में रखकर मगधान् मनु कहते हैं—

यत्तदकारणमभ्यस्त नित्यं सदसत्तात्मकम् ।

तद्विद्युः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीत्यत ॥१०॥ (मनु १।११।)

तदाविशन्ति मृतानि महान्ति सह कर्मभिः ।

मनश्चापयैः मूर्ध्नैः सर्वमृतकृद्भ्ययम् ॥११॥ (मनु १।१२।)

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम् ।

सृष्ट्याभ्यो मूर्तिमात्राभ्य समयस्यभ्ययादृभ्ययम् ॥१२॥ (मनु १।१३।)

सर्वेषां तु सनामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।

वेद्यश्चेभ्य एषादौ पृथक् सत्त्वाश्च निर्ममे ॥१३॥ (मनु १।१४।)

सोऽभिष्याप शरीरात् स्वात् सिद्धस्तुषिषिषाः प्रजाः ।

अथ एव ससर्गादौ ताम्र बीजमवाधमत् ॥१४॥ (मनु १।१५।)

द्विषा कृत्वात्मनो देहमर्देन पुरुषाऽमवत् ।

अर्देन नारी तस्यां स विराजमद्यजत् प्रभुः ॥ १५ ॥ (मनु १।१६।)

उक्त मानव विज्ञान के अनुसार योषामा के मिथुन से सर्वप्रथम विराट् पुरुष उत्पन्न होता होता है दूसरे शब्दों में वह स्वयं ही इस सिधुममात्र से विद्युत् रूप बन जाता है। इस विद्युत् का संकल्प बालो जाकर स्वप्न होगा, पहिले अज्ञान का निवार करिए।

मूर्ध्ने के अक्षु-साम-यसु यह तीन बिन्दु बख्ताए हैं। इन तीनों को क्रमशः महदुक्त-महाप्रज-पुरुष इन नामों से व्यवहृत किया जाता है। उदाहरण के लिए सूर्यसिद्ध (मूर्ति-गेठा) महदुक्त है, सौरप्रकाशमण्डल (रश्मिमण्डल) महाप्रज है सूर्यकेन्द्र में रहनेवाला स्थिति-रश्मि गतिरूप प्राणायाम पुरुष है। इसी को ‘हिरण्यगर्भमजापति’ ‘हिरण्यमयपुरुष’ ‘बाह्यप-

पुरुष' 'मादित्यस्य परमा' इत्यादि नामों से व्यञ्जित किया जाता है, यही मौखिकतत्त्व है।
 ऋक्साम इस वस्तुपुरुष की प्रतिष्ठा है। इसी प्रतीतिचा कण निरूपण करती हुई वाचिकुक्ति
 होती है—

यदेतन्मण्डसं तपति—तन्मण्डपम्, ता ऋचः, स ऋचा लोकाः ।

अथ यदेतदचिदीप्यते, तन्महाव्रतम् । तानि सामानि, स साम्ना लोकाः ।

अथ य एव एतस्मिन्मण्डसे पुरुषः, सोऽमि, तानि यजूंषि । स यजुषां लोकाः ।

सैषा मध्येन विद्या तपति" (रुत १०।४।२।१-२) ।

ऋक्साम क्रोनोवाच है, यजु वय है। वस्तुपिण्ड का मिष्यम् (भ्यास) ऋक्
 है। वस्तु के चारों ओर का घेरा (परिण्हा) साम है। भ्यास को त्रिगुणित करने से वस्तु का
 घेरा बन जाता है। दूसरे शब्दों में वस्तुपिण्ड का घेरा वस्तुपिण्ड के भ्यास से त्रिगुना होता है,
 इसी आधार पर साम का 'त्रिचं माप' (तीन ऋक् का एक साम—तीन भ्यासों का एक
 परिण्हा) यह लक्षण किया जाता है। इस भ्यास और परिण्हा से वेदित वस्तुतत्त्व यजु है।
 जिस प्रकार उदर में अन्न प्रतिष्ठित रहता है, एवमेव यजु (वस्तुतत्त्व) ऋक्नाम रूप भ्यास और
 परिण्हा में अन्तर्भूत रहता है। इस मुक्तिमात्र को सद्य में रखकर ही यजु को वय (अथ) नाम से
 व्यञ्जित कर दिया जाता है। वय शब्द अन्न शब्द का ही पर्याय नहीं है, जिसा कि प्रा-
 चीनों में वय का अर्थ अन्न किया है। अन्नचम की समता के कारण ही यजु को वय कहा
 जाता है। अपि च जिस प्रकार पछार (पीअरा) में रहने वाला पछी पछार से निवृत्त कर
 भावना में इतर उभर संवरण करता रहता है, एवमेव ऋक्सामरूप पछार में प्रतिष्ठित रहने
 वाला अन्तिमर्षि यजु वितानमात्र से समहिमामपवृत्त में निवरण किया करता है, इस पक्षितरूप
 साधर्म्य से भी इसे वय (पछी) कहा गया है। इस वय को वचन में रखने वाले सीमित रखने
 वाले आस्तनरूप ऋक् साम हैं, अतएव इन्हें 'क्रोनोवाच' (वय का वचन करने वाला) कहा
 जाता है। क्रोनोवाच और वय की समष्टि 'यजुन' नाम से व्यञ्जित होती है। प्रत्येक वस्तु यजुन

है। वयुन में वय-वयोनाथ ने विभाग हैं वय यजु दे, वयोनाथ अक्ष्णाम है, अक्ष्णाम यजु में ओजप्रोत रहते हैं। इसी रहस्य को सत्य में स्मरण धृति करती है-

“ते यदा स्तुनते यत्पानुशसति, अथास्मिमेतवपद्रुते जुहोति। तदेनमेव रसोऽप्येति। न वै महाव्रतमिदं स्तुतं शते, इति पश्यन्ति। नो महाव्रतमिति। अपिमेव पश्यन्ति। आत्मा अग्निः। तदेनमेतेऽब्रम रसोमुत्वापीतं अक्ष्ण च साम य। तदुमे अक्ष्णामे यजुरपीतः” (स्त० १०।१।१।१५) इति।

इस से यह सिद्ध होजाता है कि केवल व्याप्तनरूप अक्ष्णाम सृष्टि करने में असमर्थ हैं। अक्ष्णामरूप व्याप्त परिणाम से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। व्याप्त मध्यरेखा है, परिणाम चारों ओर की रेखा है। यही रेखात्मक किंवा क्षेत्रात्मक एक पुर (सीमाना) है। इस पुर में प्रतिष्ठित यजुरमि ‘पुरि शते’ के अनुसार प्रकृत है, यही मधिकृषा है। मयुक्त अक्ष्ण साम सहजरी मात्र हैं। अक्ष्णामरूप अक्ष्ण से अक्ष्णित यजुप्रकृत ‘द्विजगत्’ है। यत्-योर अक्ष्ण हो ग्यों की समष्टि यजु है, ऐसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा। यत् माग वायु (प्राण) है, अक्ष्ण माग (आकाश) है। इस यत्प्रकृत प्राणवायु के व्याप्तार स अक्ष्ण अक्ष्णमाग ही घुम्न हो कर अक्ष्णरूप में परिणत होता है, ऐसा कि ‘सोऽपोऽसृजत पाप एव सोऽसृजत। पागेव साऽसृजत’ (स्त १।१।१।७।) इत्यमि अक्ष्णियों से स्पष्ट है। आग्नि घुम्न होकर पानी बन जाता है इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि परिष्कृत से अपवा वेगप्रसर से शरीरप्राणमि घुम्न हो जाता है तो उसी समय पसीने निकल पड़ते हैं।

शरीर में अनुत्पत्ति तीन प्रकार से होती है। परिष्कृत करने से पानी उत्पन्न होजाता है। शोक से पानी उत्पन्न होता है, एव प्रेम से पानी उत्पन्न होता है। परिष्कृतपानित पानी ‘मिन्दु’ कहलाता है, शेष दोनों शोकाक्ष्ण मेमाक्ष्ण माग से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों पानियों के अक्ष्णित एक बीजा स्थानात्मिक पानी निरंतर रोमक्ष्णों से निकलता करता है। मूल-मुखसाक्षा-वय-विज

आग्नि में जो अद्भुत है वह यहाँ स्थायिक पानी है। इस प्रकार अन्त्यात्मसत्त्वा में अद्युत्पत्ति की बात आये हैं। 'अग्निराप' इस सिद्धान्त के अनुसार यह चारों पानी अग्नि से ही उत्पन्न होते हैं। पानी इन चारों के स्वरूप में बड़ा अन्तर है। कायरूप अग्नि के अन्तर से मानना पड़ता है कि इन के फारगामि में भी अन्तर ही अन्तर होगा। प्रसंगोपात् यह अन्तर जान लेना भी अनुचित न होगा।

अग्निराप सत्य और यज्ञ मेद से दो मार्गों में विभक्त है। सत्याग्नि मौलिक अग्नि है, यज्ञाग्नि वैश्विक अग्नि है। विद्युदावस्था सत्याग्नि है, मिथ्यावस्था यज्ञाग्नि है। सत्याग्नि अमृतप्रधान है, यज्ञाग्नि मृत्युप्रधान है। याज्ञिक परिभाषा के अनुसार सत्याग्नि चित्तेभिर्वेद्याग्नि है, यज्ञाग्नि चित्त्वाग्नि है। 'यद्वा इ वै आत्मानो मर्त्यमासीर्धर्ममृत्तम' यह प्रसिद्ध है। मौलिक अग्नि मद्र (Physics) है, मिथ्याग्नि यज्ञ (Chemistry) है। मद्र ही यज्ञ की प्रतीति है—'यज्ञ इ वै सवस्य प्रतिष्ठा'। सुप्रसिद्ध यज्ञाग्नि (वेदाग्नि) ही सत्याग्नि है। 'यज्ञं कृत्वा सन्त्य वनवायवे' के अनुसार इस वेदाग्नि के आधार पर ही यज्ञाग्नि का विधान होता है। इस वेदाग्नि की अग्ने आकर तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। स्वयम्भू इस की प्रथम विज्ञासम्भूमि है, सृज्य इसी विज्ञासम्भूमि है भूविण्ड तीसरी विज्ञासम्भूमि है। एक ही सत्याग्नि तीन स्थानों में प्रतिष्ठित होकर मिथ मिथ नाम रूपों में परिणत हो रहा है। इन्हीं तीन विद्वत्तों के कारण सत्य मात्र 'त्रिमत्य' कहलाता है। स्वयम्भू में प्रतिष्ठित वेदाग्नि ब्रह्माक्षर के सम्बन्ध से ब्रह्माग्नि कहलाता है, सृज्य में प्रतिष्ठित यही सत्याग्नि सौर प्राणरूप देवताओं के सम्बन्ध से 'देवाग्नि' नाम से एक भूविण्ड में प्रतिष्ठित यही सत्याग्नि भूत सम्बन्ध से 'भूताग्नि' कहलाता है। प्रकृत्य वेदाग्नि स्वयम्भू प्राणमय है, अतएव ब्रह्माग्नि को 'प्राणाग्नि' कहा जाता है। यही मूल प्रकृति है, अतएव इसे 'प्राकृताग्नि' भी कहा जाता है। सृज्य वाक्मय है, अतएव देवाग्नि को 'देवाग्नि' कहा जाता है। वेदमय की प्रकृति इसी से होती है, अतएव इसे वाक्मय परिमाणानुसार 'वेदाग्नि' भी कहा जाता है। भूविण्ड अन्नमय है, अतएव भूताग्नि की 'अन्नाग्नि' कहा जाता है। भूविण्ड में ही पञ्चपशुप्राणों का निवास होता है, अतएव सृज्यसम्बन्ध से इसे

इन चारों अग्निषों के कार्य सर्वथा निर्यात हैं। निर्यात और प्रतिष्ठा यह दो काम सामान्य ब्रह्माग्नि के हैं। द्वारपरमाणुओं को एक स्थान पर बद्ध रखना निर्यात है, पदार्थ को संयोजित रखना निर्यात है। यह काम प्राणरूप ब्रह्माग्नि का है, अतएव प्राण को निर्यात कहा जाता है। प्रत्येक बस्तु में एक प्रकार का ठहराव होता है। पाषाणादि में यह ठहराव अधिक है। लव्हादि (कई-बड़ा आदि) में ठहराव कम है। मिश्र में और भी कम है। पदार्थों में तारतम्य से रहने वाला यह ठहराव ही प्रतिष्ठितत्व है। 'ब्रह्मैव सर्वस्य प्रतिष्ठा' के अनुसार प्रतिष्ठाधर्म ब्रह्माग्नि का ही है। प्रतिष्ठा और निर्यात ब्रह्माग्नि के साक्षात् दर्शन हैं। दूसरा है देवाग्नि। रूप और विकास यह दो धर्म सौर देवाग्नि के हैं। पुष्पकर्मिक आगे आकर निकसित होती है, स्थित जाती है, स्वस्थ मनुष्य का चेहरा स्थित रहता है। वस्तुमान का यह प्रसादमान ही विकास है, इसका प्रत्यक्ष इन्द्रप्रधान सौर अग्नि ही है। सारी प्रजा, सूर्योदय से निकसित होजाती है। रात्रि के तम से संकुचित पदार्थ सौर प्रकाश से स्थित पड़ते हैं। सौर इन्द्रमय अग्नि ही 'रूप रूप मधवा बोमयीति' के अनुसार सप्तरूप किं वा अनन्त रूपों (रंगों) का अभिधत्ता है। अतएव सूर्य को 'पृथिवी' कहा जाता है। रूप और विकास देवाग्नि के साक्षात् धर्म हैं। तीसरा है पार्ष्णि भूताग्नि। प्राण और विसर्पन इसके सामाजिक धर्म हैं। इस प्रकार के सोमों में एक सोम 'हृन्' नाम से प्रसिद्ध है। इस हृन् सोम की घन-तरस-विरस-गुण मेद से चार अस्त्राण हैं। यही चारों अस्त्राण विज्ञानमाया में क्रमशः शुभ-घन-परुष-धर्म इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इनमें हृन्सोम अस्त्राणसोम कहलाता है। पाषाणादि इन पदार्थों की स्वरूपनिष्पत्ति इसी अस्त्राणसोम से होती है। तरसोम तरसता का प्रवर्तक है। पानी-जल-आदि में इसी की प्रबलता है। जलु-प्राण-आदि में विसर्प, सोम की प्रधानता है। आत्मा में गुणसोम प्रतिष्ठित रहता है। अस्त्राणसोमप्रधान अस्त्राणसोम पदार्थों का प्रवर्तक करता है, तत्त्वसोममय बड़ी अग्नि पदार्थों को विस्फोट देता है। कर्पूर अग्नि की पात्र-रक्षा है, विमला हृन् कर्पूर अग्नि की विस्फोटावस्था है। अग्नि ही समाप्त करता है, अग्नि ही विसर्पन करता है, अग्नि कि 'अपां संयागे विसर्पन च तेज-संयोगात् (वे० ६०) से स्पष्ट

है। यह दोनों धर्म अस्मादाग्नि के हैं। जोषा है मित्र, स्थापन पश्चात्ति माम का वैश्वानराग्नि।
ताप और दाह यह दो इसके सामागिक धर्म हैं। गरमी मात्तुम होना—बहु को जला रातना
दोनों काम वैश्वानर के हैं। हम शरीर को जहाँ से छूते हैं गरम पाते हैं। यह वैश्वानर के साक्षात्
दर्शन हैं। पूर्वोक्त तीन सप्ताग्निषों में न ताप है, न दाह है। मौक्तिक अग्नि में ताप—दाह का
निवाग्न अस्माग है। ताप और दाह पर्ययाधीन है। समय से ही ताप उत्पन्न होता है, संसर्प
से ही दाह होता है। सप्ताग्नि निराकार है। उसमें संसर्प कथमपि सम्भव नहीं हैं। समय होता
है पार्ष्णि द्वाग्निषों में। इसी से ताप दाहसमस्त वैश्वानर उत्पन्न होता है। इस प्रकार इन
धर्मों से शुक्त चारों अग्नि विध का सकल संपादन कर रहे हैं।

अग्नि-प्रजापति

१-विपरयम्	}	अस्माग्नि स्थापयन्तु।	}	सप्ताग्नि (अव्ययिः)	}	धर्म है वे प्रजापतेरात्मनो धर्मस्वसीदन्तुसुखम्
२-प्रतिष्ठा						
१-मित्रसः	}	देवाग्निः—सौरः				
२-रूपम्						
१-पाकः	}	भूवाग्निः—पार्ष्णि				
२-विहपनम्						
१-तपः	}	यज्ञाग्निः—वैश्वानरः	}	यज्ञाग्नि (अव्ययिः)		
२-दाहः						

। इन चारों अक्षिपों से चार प्रशार का भिन्न भिन्न पानी उत्पन्न होता है । कारण पानी उ
त्पन्न करना अक्षि का क्षामाधिकर्षण है । सायम्भुव ब्रह्माक्षि से पारमेष्ठ्य अम्म नाम का पानी
उत्पन्न होता है । यक्षी पवित्रतम पानी मागीरथी का स्वरूपसमर्पक बनता है । सौर देवाक्षि से
मरीचि नाम का पानी (दिव्य पानी) उत्पन्न होता है । यक्षी दिव्यपानी यमुना जल का स्वरूप
समर्पक बनता है । पार्ष्णि मृगाक्षि से मर नाम का पानी उत्पन्न होता है, एवं आन्तरिक्ष चान्न
प्राणमय वैश्वानर से श्रद्धा नाम का पानी उत्पन्न होता है । इ ही चारों का स्वरूप क्लृप्तते हुए
अक्षि ऐतरेय पढ़ते हैं—

मात्मा वा इदमेक एवाय आसीत्मा यत् क्रिन्वान मिपत् । स ईषित सोकाम्नु
सृजा इति स ईषोऽसोऽकान्तसमत- अम्मो मरीचिपरमाय अदोऽम्मः परेष
दिव यौः पविष्टा । अन्तरित्वं मरीचय ।। पृथिवी मरः । या अमस्ताद्या आयः
(श्रद्धा वा आयः)” (ऐ० उ० १ खं० १-२-) इति ।

य० है आधिदैविक अणु की । पति । “यदेवेह तदमुष-यदमुष तदन्विह” के अनु-
सार उक्त चारों अक्षि हमारे शरीर में मौ प्रविष्टित हैं । एक यहाँ भी इन चारों से चारों पानी उ
त्पन्न होते हैं । किसी कार्य सिद्धि के लिए मनुष्य जब परिश्रम करने लगता है तो इस से साय-
म्भुव प्राणाक्षि शुष्म हो पड़ता है । प्रतिष्ठाभाष सिपित होने लगता है । अतएव परिश्रम के अ-
नन्तर पञ्चम माहम होने लगती है । प्राणाक्षि के निभरणशक्ति, और प्रतिष्ठाशक्ति के हास ही
का नाम पञ्चम है । इस परिश्रम से सबसे पहिले लडाट पर पसीने आते हैं जैसा कि अनुपद
में ही स्वेदवेदोत्पत्ति में बताया जागे बाता है । अमधिक परिश्रम से सारे शरीर में पसीने भूने
लगते हैं । प्राणाक्षि के तप से पसीने निकलते हैं, यक्षी कार्यसिद्धि की प्रथमभूमिका है । इसी
आधार पर लोक में “अमुकने अमुक कार्य के लिए पसीना बहाया है”-अनी । पसीने
की कमाई है’ ऐसी किंवदन्तिएं प्रचलित हैं । शिरोगुहा सायम्भुवी है । अतएव तदप्रतिष्ठ
ब्रह्माक्षि के चोम से दुर्बप्रथम लडाट में ही पसीने आते हैं ।

यदि मनुष्य प्रेमविमोह हो जाता है तो अंगु निवृत्त पड़ते हैं । इसी को 'प्रेमाशु' कहा जाता है । प्रेमाशु से अन्तर्मन में एक प्रकार का शक्ति का उदय होता है । यह सौगन्धि की, कृपा है । सौगन्धि बुद्धि का अनुमाहक है । बुद्धि जो मन साथ रहते हैं । मोदसोर अन्तर्मे पर्युक्त से मन पर अधिपति होता है । मन विवृत्त पड़ता है । यही मनोद्वेग अशुभरूप में परिणत होकर भावों से बहर निवृत्त पड़ता है । प्रेम कैसा—विश्व, पवित्र सात्त्विक । मनप्रधान प्रेम जहाँ दुःख का कारण है वहाँ बुद्धिप्रधान प्रेम आनन्द का कारण है । लौकिक विश्वप्रेम दुःख का प्रकर्षक बनता हुआ शोक में ही अन्तर्भूत है । तीमरा है पार्थिव भूताग्नि, किं वा पाशुनाग्नि । यही पशुति रुद्र है । यह अवशक्ति के अधिपति हैं । भूतगति हैं । रुद्राना इनका कामाधिकर्म है, जनक—'साँदोदीन् तदुरुत्स्य रुद्र-यम्' के अनुसार रोजकर्म के अधिपति यह पार्थिव भूतगति रुद्र नाम से प्रसिद्ध हैं । अवशक्त में (साँमारिक विश्वों में) अव्यक्त आनन्द रहने से मोह का उत्पन्न होता है । यह मोह विज्ञानशक्ति (सौगन्धि) को निवृत्त बनाता हुआ मन को उद्वेग बनाता हुआ सत्त्व से अव्यक्त प्रकृत पार्थिव भूताग्नि का अनुमाहक बनाता हुआ पार्थिवभूति को लुप्त कर जाता है । इस क्षोभ से जो रोद पानी उत्पन्न होता है यही शाकाशु नाम से प्रसिद्ध है । यदि यह पानी शरीर में ही रह जाता है तो वैश्व (पाण्डव) उद्वेग का अति रोग उत्पन्न होता है । दुःख के अव्यक्तिक क्षेप से यही रुद्र संसार के काय बन जाते हैं । जिसे रोग अन्तर्मे उसे बीमर के रोतेना चाहिये । स्व अनुपात करने चाहिए । इससे शरीर दलक हो जाता है । जो मनुष्य इन आशुओं को पी जाते हैं—वे अवश्य रोग बन जाते हैं । योपा वैश्वरूपिण है । मृदादि की उत्पत्ति इसी अग्नि से होती है ।

उक्त अग्निवर्षों से पाठकों को यह चिन्तित होगया होगा कि पानी अग्नि से उत्पन्न होता है । धीरे के अनन्तर वर्षों का आगमन प्रकृतिसिद्ध है । अग्नि में ताप है, पानी में ताप नहीं, रुद्र उदा है । वस्तुतः अग्नि ही तो पानी बना है अतएव पानी को ठंडा अग्नि (ठंडी आग) कहा जाता है । प्रकृतान्तर से विचार करिए । परिग्रह—मेघ—शोक मेघ से आभासमय में तीन ही प्रकार के पानी प्रचलनरूप से उत्पन्न होते हैं । बलादुर्बेद परिग्रहमय है । इसका

प्रमद स्थायम्बुज अग्नि है। शरीर में मूलधार से नामि पयः पृथिवीस्रोतः है, यही वसिष्ठगुहा है। हृत्प पक्व अन्नरिक्तस्रोतः है, यही उदरगुहा है। हृदय से वण्ट पयः सुप्तोतः है, यही पुरोगुहा है, यही सूप्तोतः है। मृतक बीषा पारमेष्ठ्यन्त्रोतः है, यही शिरोगुहा है, यही स्थाभू भगवन् प्रतिष्ठित है। इसी ब्रह्मप्रजापति की रक्षा से वैशाखस्थान 'ब्रह्मरन्ध्र' नाम से प्रसिद्ध है। परिधन से इनके बाक् माग पर आघात होता है पानी उतर आ जाता है। इसी का नाम पसीना है। इसी को हर्मन 'अम्म' कहा है।

सूय देवाग्निमय अतलाया गया है। इसी को शुक्राग्नि भी कहते हैं। महप्रकण्ड में 'चन्द्रम पन्थी' ग्रह नाम से सूय शुक्रग्रह नाम से प्रसिद्ध है। प्रेममन्द में एक शोक में दोनों में अग्नि शुम्भ होता है। इस से मन विभक्त जाता है। यद्यपि मनो स सभी इन्द्रियों से निकलता है, परन्तु इसका प्रधान विनिर्गम स्थान यन्त्र ही है। अतएव यन्त्र के हिन्दुको मानस (सोचभावा में 'मनस्य' नाम से प्रसिद्ध) कहा जाता है। अतएव दोनों पानी मन के द्वारा यन्त्र से ही बाहर निकलते हैं। मन चान्द्र है। चन्द्रमा सोम रसमय है अमूर्ति है। यदि पवित्र सोम अग्नि का इस पर आघात होता है तो चान्द्रमन टूट जाता है। इस टूटि में प्रेमका उद्रेक है। अतएव इसे 'प्रम स' कहा जाता है। इस रसका प्रसक्त कुछ पाँच भागों में विभक्त है। वे पाँचों रसना-क्याप श्रद्धा—वा पश्य—स्नेह—क्लाप—रति इन भागों से प्रसिद्ध हैं। इसका मनोस यदि गुरु-पिता—माता—अपेक्षजाता विश्वान्—तपस्वी—आदि पूर्वों की ओर जाता है तो इस परानुयोगिक—अथवाप्रतियोगिक प्रेम को 'श्रद्धा' कहा जाता है। यदि इसका मन पुत्र—सेवा—आदि द्रष्टों की ओर जाता है तो यह अपरानुयोगिक परप्रतियोगिक प्रेम वात्सल्य कहलता है। इन दोनों में एक का आसन ऊँचा है, एक का नीचा है। श्रद्धा में प्रेम करने वाला अवरकदा में है, जिन के साथ प्रेम किया जाता है, वे उबरकदा में हैं। वात्सल्य में प्रेम करने वाला उबरकदा में है, जिन के क साथ प्रेम किया जाता है, वे अवरकदा में हैं। दो अनिश्चितों का पारस्परिक प्रेम 'स्नेह' नाम से प्रसिद्ध है। यह प्रेम 'समानाधि योगिक समानानुयोगिक' है। यहाँ दोनों समान हैं। श्रद्धा—वात्सल्य—स्नेह तीनों प्रयोगों में प्रेम करने वाले भी वेतन हैं, एक

यदि मनुष्य प्रेमविमोह हो जाता है तो आत्मा निकल पड़ते हैं । इन्हीं को 'प्रेमासु' कहा जाता है । प्रेमासु से आत्मा में एक प्रकार का शक्ति का उत्पन्न होता है । यह सोपानि की, कृपा है । सोपानि बुद्धि का अनुमाहक है । बुद्धि और मन साथ रहते हैं । बीजसौर आत्मनः सर्वज्ञ से मन पर आधृत होता है । मन विभक्त पड़ता है । यही मनोवेग अशुक्ल में निहित होकर आत्मा से बहर निकल पड़ता है । प्रेम कैसा—विश्व, पवित्र, सात्विक । मनप्रधान प्रेम जहाँ हुआ का करता है, वहाँ बुद्धिप्रधान प्रेम आनन्द का बागस है । सौक्तिक विरूपेण दुःख का प्रकर्तक बनता हुआ शोक में ही अन्तर्भूत है । तीमरा है पार्ष्वि भूताग्नि, किं वा पाशुनाग्नि । यही पशुगति रुद्र है । यह अवशक्ति के अग्रगता हैं भूतगति हैं । इसीमा इनका कामाविन कर्म है, अतएव—'सोऽरोदीन् तद्रुद्रस्य रुद्र-सम्' के अनुसार रुद्रनक्षत्र के आधिपत्या यह पार्ष्वि भूतग्नि रुद्र नाम से प्रसिद्ध है । अवज्ञा में (सांसारिक विषयों में) अविधि आपत्ति रखने से मोह का उत्पन्न होता है । यह मोह विज्ञानशक्ति (सोपानि) को निर्विकृत बनता हुआ मन को सज्ज बनाता हुआ सदासीय सम्बन्ध से अवशक्ति प्रकृत पार्ष्वि भूताग्नि का अनुमाहक बनता हुआ पार्ष्विग्नि को लुप्त कर डालता है । हम सोम से जो रीढ़ पानी उत्पन्न होता है यही शोकासु नाम से प्रसिद्ध है । यदि यह पानी शरीर में ही रह जाता है तो वैशिल (पागल पन) राजपक्ष्य अरि रोग उत्पन्न हो जाते हैं । दुःख के आत्मनिक नेम से यही रुद्र सहाय के रूप बन जाते हैं । जिसे रोग आता हो उसे जीमर के रोसेना बांधिये । रुद्र अशुक्ल करने चाहिए । इससे शरीर दृढ हो जाता है । जो मनुष्य इन आत्माओं को पी जाते हैं—वे अक्षय्य रक्षि बन जाते हैं । बीजा वैश्वानरि है । मृदादि की उत्पत्ति इसी अग्नि से होती है ।

उक्त अग्निवर्षा से पाठकों को यह विदित होगया होम्य कि पानी अग्नि से उत्पन्न होता है । प्रीप्थ के अनन्तर वर्षा का आगमन प्रकृतिसिद्ध है । अग्नि में ताप है पानी में ताप नहीं, यह ठंडा है । वायु अग्नि ही तो पानी बना है अतएव पानी को ठंडा अग्नि (ठंडी, आग) कहा जाता है । प्रकाश्वर से विचार करिए । परिमन-प्रेम-शोक भेद से आपातसंस्था में तीन ही प्रकार के पानी प्रचानरूप से उत्पन्न होते हैं । सदात्त-प्रेम परिमनवर्ण्य है । इसका

है जैसा कि पूष की परात्परनिरुक्ति में स्तुताया जाचकर है। इन पाँचों ब्रह्मों की उत्पत्ति में आग्नेयज्ञा ही प्रधान कारण है। 'उसे एसी इच्छा ही क्यों हुई ! यह अनतिप्ररत है। हम भोजन क्यों करते हैं ! इसका उत्तर है—हमें भोजन की इच्छा होती है इसलिए। पर पु—भोजन की इच्छा क्यों हुई ! इस प्रश्न का उत्तर देते में हम असमर्थ हैं। अधिक से अधिक 'ईश्वरेच्छा' कहकर पीछा छुड़ासिया जाता है। जब हम हमारी इच्छा का ही उत्तर नहीं दे सकते तो ईश्वरेच्छा के सम्बन्ध में क्या कहा जासकता है। ईश्वरतत्त्व अनुमान सिद्ध है। क्रिया से (वहिर्य्यापा से) प्राण का अनुमान होता है, क्योंकि बिना प्राण (अन्तर्यामि—यत्न—वृत्ति) के वायुप्राण नहीं होसकता। प्राणप्राण बिना इच्छा के समर्थ नहीं है। संपूर्ण विश्व क्रियामय है। इसका संचालन प्राण से होरहा है। प्राण का उद्गम स्थान इच्छा है। साप ही में यह सब निर्मय हमारी इच्छा से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। अतएव मानना पड़ता है कि सृष्टिमय में जो कुछ वैचित्र्य उत्पन्न होता है, वह सब प्रजापति की इच्छा पर निर्भर है। वह जैसा जैसा चाहता है, वैसा वैसा ही बना रहता है। तभी तो 'इशावात्म्यमिदं सबन्ध' इस वाक्य को वषावत् परितार्थ होने का अवसर मिलता है। पूर्वोक्त जायादि पाँचों ब्रह्मों का आभारभूत आप उसी की इच्छा से उत्पन्न हुआ। वेद प्रजापति, किंवा वेदात्मिक प्रजापति क्रमना द्वारा अपने वेद के वाक् भाग से सर्व प्रथम पानी उत्पन्न करता है। पानी उत्पन्न कर 'प्रत्या विधिया सहाय प्राविष्ट' (शत० ६।१।१।) के अनुसार उत्पन्न आपो-मण्डल के गर्म में प्रविष्ट होजाता है। इससे मण्डल (मण्डल) का उदय होजाता है—'तत आपदं समवचत' इस प्रकार अप्रविष्ट प्रजापति आगे की सृष्टि क्रमना से प्रेरित होकर सृष्ट्युपयोगिनी 'मैं इन पानियों से ससार को अपने ऊपर पारय करूँ' यह क्रमना करता है। उसी क्षण ससकृम सससेकल्प प्रजापति की उक्त इच्छा से उस पानी में एक प्रकार का घृतिबन्ध (प्रतिष्ठा बन्ध) उत्पन्न होजाता है। यही प्रतिष्ठाबन्ध गोपवादि द्रवियों में 'पारवन्ध' नाम से व्यक्त हुआ है। अतएव मैं सातों ओरों को पानीने ही पारय कर रक्खा है। सीक सबकी प्रतिष्ठा है, सीक की प्रतिष्ठा आप है। आप पुरजन् ही तो सीकसृष्टि का अभिप्राय है—'सर्वमप्यु प्रतिष्ठितम्'।

ब्रिज के साथ प्रेम किया जाता है वे भी चेतन हैं । परंतु पुस्तक—मंत्रान—विद्यादि अन्य साधन संपत्ति के साथ जो हमारा प्रेम है उसमें केवल 'वाम' का विकास है । अथर्ववेद के साथ प्रेम करना ही काम है । उक्त चारों प्रेमों का यदि एक ही स्थान में समावेश हो जाता है तो—'रति' नाम के अपूर्वभाव का उदय होता है । रतिप्रेम के अधिकारी विष्णु में केवल दो ही हैं । श्री और ईश्वर इन दो के साथ ही रतिप्रेम प्रकट होता है । श्री को हम घर की अविद्यात्री समझते हैं । गुरुदेवी को हम मन्दा की दृष्टि से देखते हैं । साथ ही में पुत्रादिभक्त और हमारा वास्तव्यभाव भी रहता है । श्री एक सन्निध की भाँति उपलब्ध परामर्श देने वाली अविनाशिका है । सर्वथा अथर्व वेद के अथर्वानु, नासिका, मोह, अपोस पशुमूत्रा—नृपुष्पनि आदि के साथ मनुष्य का जो प्रेमाकर्षण है, वह कामरूप है । यही रति है । जब तक यह रति श्री के साथ है, तब तक संसार है बंधन है । यही रति यदि ईश्वर के साथ हो जाती है, जो कि रति भक्तप्रदाय में 'केवलाभक्ति' नाम से प्रसिद्ध है तो मुक्ति है । बंधन मुक्ति का वही रहस्य है । असादकशक्ति के आघात से जो पानी निकलता है, वही शोकाभ्र है । प्रकृतिमयबद्ध में इसी इच्छाशिवमय पानी से रम्य (घाँदी) का निर्माण होता है । आदीक के आसुओं से बनी है । इसी लिए—'बहिर्पि रम्यत न देयम्' यह आदेश है । बहिर् में यदि यन्मान रजत दक्षिणा दे देय तो एक वर्ष के भीतर भीतर वह महाप्रणय कर आया । इसी लिए रजतदक्षिणा का निषेध किया गया है । इस प्रकार अनेक दृष्टियों से पानियों की उत्पत्ति का विचार किया जा सकता है ।

यह तो हुई प्रासंगिक चर्चा । अब बसिए प्रकृत विषय की ओर । अमी केवल वेद मृत्त सायन्मुत्र प्रायमय यन्त्रादि का सामान्य है । अमि अत्र पम्पा है । इसका प्रदेश निष्कट है । इस पट्ट के बाह्य भाग से जो तत्त्व उत्पन्न हुआ वह अत्र न रहा अपितु व्यस्त होगया । पानी की बुद आप जहाँ भी जाँचेंगे, वह निष्कट प्रदेश में न रहकर चारों ओर फैल जायगी । इसी अर्थात् किंचिदप्यपिनिर्गम से यह उत्पन्न तत्त्व आप' नाम से व्यक्त हुआ है । वेदप्रणी के आत्मा से उत्पन्न इस आप' किंचिदप्यपि तत्त्व में आपा—पारा—आप—मीन—मृत मेद से पाँच प्रकार के वज्र उत्पन्न होते हैं । इन सबकी आवासभूमि महामाया नाम का वज्रमेद

पुरुषे इ वा अयमाद्रितो गर्भो भवति यद्वेतः । तदेतत् सर्वेभ्यो—

ज्जेभ्यस्तेजः समूतमात्मन्पेयात्मानं विमर्ति” (ऐ भा २।५।१।)

जायावसोऽपति के अनुसार ‘पे’ इन पानियों से उत्पन्न विन्ध में एवं प्रजा में अर्धरूप से व्याप्त होजाता है यह इच्छा होती है । इच्छा के अन्वयहितोत्तरकर्म में ही पानी में प्राणिमत्त उत्पन्न होजाता है । पानी की वाष्-वायु-सोम यह तीन अवस्थाएँ हैं । पैदावा इस अर्धरूपी का सामासिक धर्म है । संसार के इतर पदार्थों को व्याप जिस निष्क प्रदेष्ट में रख दोगे, वे उस स्थान से भागे नहीं जासकेंगे । परन्तु पानी-वायु-सोम में यह बात नहीं है । एक किन्तुमात्र पानी भी जहाँ गिरेगा वहाँ से भागे पैदा नामक प्रजापति किस रूप से विन्ध में व्याप्त हो रहे हैं ? इसका उत्तर यही पानी है । अर्धरूप से प्रजापति सब पर व्याप्त हैं वाष् से ही सब का संकरण कर रक्खा है । अतएव ‘सर्वमाद्रितो तस्माद्वायः’ “यद्वेतोव तस्माद् वाः” (यत् ० ५।१।१।०।) इत्यादि के अनुसार इस तत्त्व को— वाष्-वायु-सोम इत्यादि नामों से व्यवहार किया जाता है । अतएव की ईरा (रस) स्थिर नहीं है, खड़ी हुई है, अतएव व्याप्तिकर्ता है । इतरस का प्रसक्त ही व्याप्ति में प्रधान करण है । अतएव पानी को ‘सगित्-ईरा यस्य’ के अनुसार ‘सरित्’ कहा जाता है । सरित् ही ससिस नाम से प्रसिद्ध है । यद्यपि यह ठीक है कि यही पानी लोकरूप में परिरक्त होकर हुतमात्र को जोड़देता है, उस समय यह सरित् नहीं रहता । परन्तु लोकरूप के पहिले तो यह सरित् ही रहता है । वाष् की इती पूर्वावस्था को लक्ष्य में रखकर—‘वायो वा इदमये ससिसमेवास’ (यत् ० ११।१।१।१) यह कहा जाता है । ‘कस्यै देवाय इविपा विपेय’ (यत् ० ११।१) के अनुसार वेदमूर्ति अम्यक्त, अतएव अनिष्टक नाम से प्रसिद्ध प्रजापति ‘क’ नाम से व्यवहार होता है । यह क (अनिष्टक) प्रजापति पानी उत्पन्न कर सर्वत्र व्याप्त होता हुआ, दूसरे रूपों में पानी के कारण सर्वप्रजापति किया निरुक्त करता हुआ ‘असम्’ संपत्ति से युक्त हो जाता है । प्रजापति की कर्मला को ‘असम्’ बनाने वाला यही पानी है । अतएव “क (अनिष्टकप्रजापति) अत (सर्वमाद्रितो) करोति” इस म्युत्यपि से पानी को ‘असम्’ कहा जाता

आत्मन् को उत्पन्न करने के अनन्तर— मैं इन पानियों से सब कुछ उत्पन्न करता हूँ' इस
 शब्दा का उत्पन्न होता है। इस शब्दा से पानी में प्रजनन शक्ति आजाती है। सबभूत सत्ता
 एक सत्ता में रहने वाले परार्थमात्र की उत्पत्ति पानी से ही होती है। शुक्रतत्त्व उत्पत्ति का
 कारण है। शुक्र पानी का ही रूपांतर है। फेन पृथु सिफता-शर्करा अथ द्विरयं सब पानी
 से बने हैं। पानी ओषधि बना है, ओषधि शुक्र बना है। इस प्रकार प्रजासृष्टि का मूलोपादान
 भी पानी ही है, वैसा कि—छान्दोग्य की 'इति तु पञ्चम्यामाभुतावाप पुरुषस्य सोम
 मित' इत्यादि पञ्चाग्निव्या में स्पष्ट है। यह दूसरा तत्त्व ही जिस एक विश्वप्रजा की उत्पत्ति का
 कारण है अतएव 'जागेने वास्यां' इस निर्दिष्टन से इस तत्त्व को 'जायावत्स' कहा जाता है।
 विशुद्ध जायावत् तत्त्वक सृष्टि करने में असमर्थ है, जब तक कि यह अग्निरूप पुरुषवत् को
 अपनेमें प्रतिष्ठित न करले। जायरूप शुक्रमय नी माग्निव्या की प्रेरणा से उस अग्निये को
 अपने गम में प्रतिष्ठित कर लेता है। ऐसा अग्निसंज्ञित जाया पानी ही प्रजननधर्मा है। ली रूप
 जाया है सोम है। सोमवय जायावत् ही ली का उपादान कारण है। अग्नि पुरुष है। यही
 इस जायामात्र से जेष्ठित गम्यत शोचिन है, ली का (मर्मस्थ-फल) शोचित साक्षात् अग्निरूप है।
 यह जायामात्र से निरूपण है। अतः पुरुष के शुक्र को शोचिये। शुक्र सोमरूप जाया है।
 शुक्र में रहने वाली गर्मी पुरुष है। लीवत् पुरुष भी जाया है। ओषधिरूप आत्मन् सर्वप्रथम
 पुरुषशरीरस्य शुक्रमवच्छिद्य इती जाया में गम्यारण करता है। यही प्राणी का प्रथमजन्म कह-
 जाता है। पुरुष के समस्त शरीर का शुक्र पुरुषत्वकार को अपना आश्रय बनाकर ही शोचित
 में आहुत होता है। शरीर के जिस प्रदेश का शुक्र आहुत नहीं होता उत्पन्न प्रजा में उसी
 अङ्ग को जन्म रह जाती है। शुक्र द्वा। मत्ता के गम्यारण में प्राणी का प्रतिष्ठित होना इस का
 दूसरा जन्म है। १० मास के अनन्तर पृथिव्यावस्थ के प्रत्यक्षतसे गम का मूर्तित्व ही जन्म
 इस का तीसरा जन्म है। शीतलकृत सरारों से निर्मूलतात्मा बन जाता यौवा जन्म है।
 'चतुष्टय का इदं सद्यः के अनुसार इस चतुष्टय जन्म में प्राणी सर्वत्र भाग को प्राप्त होता है।
 ली रहस्य को सद्य में रहकर मूर्ति महीदास पढ़ते हैं —

पाँचवें अतवस है। इसी अतवस को 'परिश्रित' भी कहा जाता है। आपो वै परिश्रितः' (शत १।४।१।२ के अनुसार प्रत्येक पिण्ड इस अतवस से व्याक्रान्त रहते हैं। अत के उदर में मूर्ति प्रतिष्ठित रहती है। प्रत्येक पिण्ड को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रखना अतवस का मुख्य कर्म है। कस्तुपिण्ड सत्य है। वह अत से घिरा रहता है। स्वयं पिण्ड के भी प्रायक परमाणु अतवस हैं। इस प्रकार अन्तर्गतता अत पर ही सब का पर्यवसान हो जाता है। 'अत नात्पनि किञ्चन' यह सिद्धान्त प्रसिद्ध है।

इस प्रकार प्रमापति की इच्छा से वाक्यमय स्वायम्भुवानी में जाया-भारा आप भीवन अत यह पाँच कस उत्पन्न हो जाते हैं। इन पाँचों वस्तुओं से ही पाङ्कयप्रमापति का पाङ्क यज्ञ स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है। गोपयप्रमापति के आरम्भ में ही इन वस्तुओं का विवेचन हुआ है।

- | | |
|---|------------------------|
| १—"अग्निर्वा अहमिद सर्वं धारयिष्यामि यदिद किञ्च" →→→ इति 'पारा' | } सर्वमसु प्रतिष्ठितम् |
| २—"अग्निर्वा इद सर्वं जगयिष्यामि यदिद किञ्च" →→→ इति 'जाया' | |
| ३—"अग्निर्वा इद सर्वं व्याप्स्यामि यदिद किञ्च" →→→ इति 'आप' | |
| ४—"ऊर्क्-वा अपां रस । ऊर्क् जीवन्म्" →→→ इति 'जीवनम्' | |
| ५—"अत भूमिरीय किञ्च" --- --- --- →→→ इति 'अतम्' | |

- | | |
|---------------------------------------|---|
| १—"सर्वमसु प्रतिष्ठितम्"—इति—पारावसम् | } 'आपो वै सर्वे देवा । आप मानो वै जायते एताभ्यो देवताभ्यः' इति निगमो मक्षति । |
| २—"सर्वमद्रव प्रजापते"—इति—जायावसम् | |
| ३—"सर्वमापोमय जगत्"—इति—आपोवसम् | |
| ४—"आपोमय प्राण"—इति—जीवनवसम् | |
| ५—"अतं नात्पेति किञ्चन"—इति—अतवसम् | |

सबसे पहिले क्या पा ! उत्तर है वेदमय माण्डूक्यमूर्ति असत् नाम स प्रसिद्ध सप्तपुरुष पुरुषात्मकस्वयम्भु सत्य प्रमापति' । 'एकाकी न रहने तद्द्वितीयमेकत्वं पतिव्य पक्षीच'

है। उपर कमल नाम का एक पुष्प भी है। कमलपत्र ही पुष्करपत्र है, जैसा कि त्रयीवेद निरुद्धि में बताया जा चुका है। यह भी आपोमय है। यही ब्रह्मय अमिरुद्ध प्रजापति की पहिली प्रतिष्ठा है। अतः इसे मा 'कं—अम करोति' से कमल कहना अन्वय बन जाता है। सोकसृष्टि का अभिष्टाना पानी ही है। सोक-तु भुजने जने के अनुसार सोक का ही नाम मुक्त है। पानी ही सोक है, अतएव पानी को मुरान नाम से भी व्यञ्जन किया जाता है। बतलाना यही है कि पानी में आसिस्सृष्टि तीसरा 'आपोब्रह्म उत्पन्न होता है।

आपोब्रह्म के अनन्तर—'म इह पानियों से जीवन का संचार कष्ट-गदार्थों में जीवनीय गति हाव' इस इच्छा से पानी में बीया जीवनब्रह्म उत्पन्न होता है। वस्तु की स्वरूप में जो स्थिति है वही उस वस्तु का जीवन है। स्थितिरिच्युति का नाम ही मृत्यु है। ठीकी हुई वस्तु में जो गतिप्रवाह है वही जीवन का सूचक है। प्रतिष्ठितक के उच्छिन्न हो जाने से जिस समय गतिवत् उत्पन्न हो जाता है, उसी क्षण मृत्यु का साम्राज्य हो जाता है। इस मृत्युभय को रोकने काका यही आप्यप्रासरूप वायु है। यह कल्प्यायुक्त है, आपोमय प्राण ही कल्पाय (जीवन) का अभिष्टाना बनना हुआ आपोमय होने से 'साम्बसदाशिव' नाम से प्रसिद्ध है। यही शिव जीवनसत्ता की प्रतिष्ठा है। यही जीवनीय रस है। इसी के शिव 'पा व गिरनमो रमन्तव्य भाजयते इ म (यजु सं ११।२१) यह कहा जाता है। इस प्राण को जीवनसत्ता का परम समझने हैं। परन्तु वास्तव में अर्थात् जीवन जीवनीय रस ही जीवन का द्रव्य है। जब तक प्राण में वह रस रहता है, तभी तक जीवन है। मनुष्य १५ दिन तक अन्न के बिना जीवित रह सकता है, परन्तु पानी के बिना जीवन धारण करना असंभव है। नम न मरवाने में प्राण नहीं होती प्राण निश्चयन से मृत्यु होती है। इस प्राण का रस यही आप्यरस है। 'मात्माप्य पवनमिन्द्र पुरे माप्रति' (प्र उ ४।१) के अनुसार यह अर्थात् प्राण सत्ता मातृत्वात् रस है। इस प्रकार प्राण में जीवनीय शक्ति हावने का अर्थोवच ही 'जीवनब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है।

उत्पन्न होते जाते हैं, त्यों त्यों प्रजापति की—‘एकोऽहं बहुस्याम्’ यह कामना पूरी होती जाती है। यही इसका भूमाभा है, भूमाही आनन्द है। प्रसन्नचित्त निम्नभूमा प्रजापति के आनन्द के साक्षात् दर्शन हैं। इसी सारे रहस्य को सक्षम में रखकर सामयुक्ति कहती है—

“ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्, तस्य ह—एकमेव। तदेकत—महद्वै यच्च—तदेकमेव हरिम्, इत्याह मदेव मग्नात् द्वितीयं क्षेत्रं निर्मित—इति। तदस्य ग्राम्यत्, अम्यत्पत्, समत्पत्। तस्य आन्तस्य तत्तस्य सत्तत्तस्य सत्ताते इनेहो यन्नाप्रमनायत—तेनानन्दत्। तदब्रवीत्—महद्वै यच्च सुवेदमविद्यामह इति। तदब्रवीत्—महद्वै यच्च सुवेदमविद्यामह इति, तस्मात् सुवेदोऽभवत्। त वा एव सुवेद सन्तं स्वेद इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देशा भवन्ति प्रसन्नचित्पः। + + + + +। स भूयोऽग्राम्यत्, भूयोऽतम्यत्, भूय आत्मानं समत्पत्। तस्य आन्तस्य तत्तस्य सत्तत्तस्य सर्वेभ्यो रोमातेभ्यः प्रपक् स्वेदपारा प्रात्यन्दत्। तामिरनन्दत्। तदब्रवीत्—आभिर्वा अहमिदं सर्वं पारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं मनयिष्यामि यदिदं किञ्च आभिर्वा अहमिदं सर्वं—प्राप्स्यामि यदिदं किञ्च, इति। तदब्रवीदामिह० तस्मात् धारा अभवस्त आचक्षते धारात्, यन्नासु क्षिप्ते। तदब्रवीत्—आभिर्वा० तस्माद्वाया अभवत्तस्मात्तानां जायात्, यन्नासु पुरुषो जाप्ते, यच्च पुत्र पुत्राभनरकमेक्यततार तस्मात् प्राप्ति पुत्ररत्तत् पुत्रस्य पुत्र-त्वम्। तदब्रवीत् आभिर्वा० तस्माद्वापो अभवस्तदपामत्त्वम्। आनोति ह वै सर्वान् कामान् पान् कामप्ते” इति। (गोपप्राज्ञेय पूर्वभाग १ प्र०। १-२-आ०)

इति-अथर्ववेदानिरुक्तिः

मन्त्रार्थसम्बन्धी-वेदप्रकरणा समाप्त ।



के अनुसार सृष्टिक्रमना से उसने तप और भ्रम किया । इससे उसके प्राण में जोम उत्पन्न हुआ । जोम से दूसरे मित्वा नाम के बच्चे की सहायता से दूसरीबन्ध उत्पन्न होगी । उस दूसरी बन्ध का क्या नाम है ? उत्तर है 'सुवेद' । यदि कोई मनुष्य परिभ्रम करता है तो सर्व प्रथम उसके बजाट पर स्वेद [पसीमें] उत्पन्न होते हैं । अन्तर्गत परिभ्रम से सारे रोमनों से पसीमें बूने लगते हैं, जैसा कि पूर्व में कथनाया जा चुका है । इसी अभिप्राय से सृष्टि कहती है—

‘स मूयोऽश्राम्भवत्—मूयोऽतप्यत् । मूय आत्मानं संतप्यन्—

सर्वेभ्यो रामगर्तेभ्यः पृथक् स्वेदचाराः माभ्यन्दत्”—(गे० भा० पू० १।१) ।

स्वप्नमूर्जजापति से उत्पन्न इसी सुवेद का नाम 'अथर्ववेद' है । अथर्वत्वा ही अर्थ है । प्रसीवेद अग्निमये होने से उत्पन्न है । यह अप्वेद किंवा सोमवेद शान्त है । अग्निवेद ही आधिक्य रूप से पानी बबकर शान्त बन जाता है । यही इसका सुष्ठुमान है अतएव इसे 'सुवेद' (शान्तवेद) नाम से व्यकृत करना अवश्य बन जाता है । इसी सुवेद को परेष्वपि देवता अपनी स्वामानिक परोक्षभाषा में 'स्वेदवेद' नाम से व्यकृत करते हैं । स्वेद को पसीना कहा जाता है । यदि आप सीधी भाषा में अथर्ववेद का स्वरूप पूछना चाहते हैं तो इसका उत्तर है—आपके सजाट पर आए हुए पसीमें । स्वप्नजापति के स्वेद ही का नाम 'अथर्ववेद' है । त्रयीव्रत प्रथमज या यह दूसरा है । त्रयीव्रत अग्निमूर्ति है, यह आपोमूर्ति किंवा सोममूर्ति है । त्रयीव्रत वृषा है, यह योषा है । वह प्राण है, वह रपि है । यह है त्रिरन्तिसमस्त—इत्यती । इसके मिथुन भ्रम से सर्वप्रथम विराट् पुरुष उत्पन्न होगा, मिथुन से अग्रे की सृष्टि होगी । अन्तरूप योषातत्त्व, वेदत्रयीरूप वृषातत्त्व दोनों ही सृष्टि के प्रथम हैं एवं प्रथम को 'ब्रह्म' कहा जाता है । ऐसी अवस्था में हम उक्त दोनों तत्त्वोंको 'ब्रह्म' कह सकते हैं । एक वेदब्रह्म है एक सुवदब्रह्म है । त्रयीवेद ब्रह्म नाम का ब्रह्म है, अथर्ववेद सुवद नाम से प्रसिद्ध है । जैसा कि—‘ब्रह्म च वा इदमग्रे सुवद नाम्नाम्’ (चर्चिका १।१।१) इत्यादिसे स्पष्ट है । वह है जोमे अथर्ववेद का संक्षिप्त सिम्बल । सुवद में आगे जाकर पूर्वोक्त जाया बाणदि ब्रह्म उत्पन्न होते हैं । यही ब्रह्म आदित्य एवं मैतृनीसृष्टि के अनुप्राहक हैं । ज्यों ज्यों तबीन तबीन पदार्थ

उत्पन्न होते जाते हैं, त्यों त्यों प्रजापति की—‘यकोऽहं बहुस्याम्’ यह कामना पूरी होती जाती है। यही इसका भूयमात्र है, भूमाही आनन्द है। प्रत्यक्ष विभूमा प्रजापति के आनन्द के साक्षात् दशन हैं। इसी सारे रहस्य को सद्यमें रसकर सामधुति कहती है—

‘अहं ह वा इदमम आसीत्, सत्यं तु—एकमेव। तदेकत—महद्वै यच्च—तदेकमेवारिम, वृन्ताहं मदेव मग्मात्र द्वितीयं देव निर्मम—इति। तदम्यग्राम्यत्, अम्यत्पत्, सम्यत्पत्। तस्य भान्तस्य तत्तस्य सतत्तस्य ससाटे स्नेहो यदादर्शमवापत्—तेनानन्दत्। तमद्वीत्—महद्वै यच्च सुवेदमविदामह इति। तपदद्वीत्—महद्वै यच्च सुवेदमविदामह इति, तस्मात् सुवेदोऽमवत्। स वा एत सुवेद सन्त स्वेद इत्यावृत्ते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षप्रिया। + + + + +। स भूयोऽग्राम्यत्, भूयोऽत्पत् भूय आत्मान सम्यत्पत्। तस्य भान्तस्य तत्तस्य सतत्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्भेभ्य पूषक् स्वेदपारा’ प्रास्फुटत। तामिरनन्दत्। तदद्वीत्—आभिषा अहमिदं सर्वं प्रारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिषा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च आभिषा अहमिदं सर्वं—प्राप्स्यामि यदिदं किञ्च, इति। तपदद्वीदामिभ्य० तस्मात् पारा अमवस्त सायणां धाराव, यथासु ध्रिपते। तपदद्वीत्—आभिर्वा० तस्मात्तया अमवस्तजायनां जायत, यथासु पुरुषो जायते, यच्च पुत्र पुत्राभ्यन्तरकमेकत्रतत्तार तस्यात् आति पुत्रतत् पुत्रस्य पुत्र-त्वम्। तपदद्वीत् आभिर्वा० तस्मादापो अमवस्तदशाम्बरम्। आजोति इ वै सर्वान् क्रमान् यान् क्रमयते” इति। (गोपब्राह्मण पूर्वभाग १ प्र०। १-२-अ०)

इति-अथर्ववेदानिरुक्तिः

मन्त्रार्थसम्बन्धी-वेदप्रकरण समाप्त।



के अनुसार सृष्टिकामना से उसमें तप और भ्रम किया । इससे उसके प्राण में जोम उत्पन्न हुआ । जोम से दूसरे विष्णु नाम के अक्षर की सहायता से दूसरी वस्तु उत्पन्न होगी । उस दूसरी वस्तु का क्या नाम है ? उत्तर है 'सुवेद' । यदि कोई मनुष्य परिभ्रम करता है तो सर्व प्रथम उसके ललाट पर स्वेद [पसीने] उत्पन्न होते हैं । अन्धबिन्दु परिभ्रम से सारे रोमनों से पसीने भूने लगते हैं, जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

‘स भूयोऽभ्राम्यद्-भूयोऽतप्यत् । भूय आत्मानं सतप्यन्-
सर्वेभ्यो रामगर्तेभ्यः पृथक् स्वेदभाराः प्राच्यन्त’—(गे० ब्रा० पू० १।१) ।

तत्पद्मप्रजापति से उत्पन्न इसी सुवेद का नाम ‘अथर्ववेद’ है । अतएव ही अथर्व है । अथर्ववेद अग्निमय होने से अथर्व है । यह अथर्ववेद किंवा-सोमवेद शान्त है । अथर्ववेद ही आधिक्य रूप से पनीय बनकर शान्त बन जाता है । यही इसका सन्तुलन है अतएव इसे ‘सुवेद’ (शान्तवेद) नाम से व्यवहृत करना अनिवार्य बन जाता है । इसी सुवेद को परोक्षप्रिय देवता अपनी स्वामाधिक्य परोक्षमात्रा में ‘स्वेदवेद’ नाम से व्यवहृत करते हैं । स्वेद को पसीना कहा जाता है । यदि आप सीधी मात्रा में अथर्ववेद का स्वरूप पढ़ना चाहते हैं तो इसका उत्तर है—आपके ललाट पर आए हुए पसीने । तत्पद्मप्रजापति के स्वेद ही का नाम ‘अथर्ववेद’ है । अथर्वज्ञ प्रथमक या यह दूसरा है । अथर्वज्ञ अग्निमूर्ति है, यह आपोमूर्ति किंवा सोममूर्ति है । अथर्वज्ञ हुआ है, यह योगी है । यह प्राण है, यह रसि है । यह है निरवशिष्टा—दम्पती । इसके नियुक्त मात्र से सर्वप्रथम विराट् पुरुष उत्पन्न होगी किण्व से आगे की सृष्टि होगी । अक्षरूप योगात्मक वेदत्रयीरूप हुआतएव दोनों ही सृष्टि के प्रथम हैं एवं प्रथम को ‘ब्रह्म’ कहा जाता है । ऐसी अवस्था में हम उक्त दोनों दोनोंको ‘ब्रह्म’ कह सकते हैं । एक वेदब्रह्म है एक सुवेदब्रह्म है । अथर्ववेद ब्रह्म नाम का ब्रह्म है, अथर्ववेद सुब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है । जैसा कि—‘ब्रह्म च वा इदमग्रे सुब्रह्म नाम्नाय’ (तद्भिर्गजा १।१।१) इत्यादिसे स्पष्ट है । वह है जोमे अथर्ववेद का संक्षिप्त विवरण । सुब्रह्म में आगे आकर पूर्णतः आया पावति वह उत्पन्न होते हैं । यही वह अथर्ववेद एव मैतृयीसृष्टि के अनुग्राहक हैं । ज्यो ज्यो नीचे नीचे पदार्थ

की प्रधानता है। पानीयता प्राण में भी चारस्वरूपसमर्पक अन्नाद भाग (पार्थिव भाग) है, परन्तु अस्वरूपमात्रा में। इसी प्रायापाय पानी से गन्धेय पानी की स्वरूप निष्पत्ति हुई है, अतः पार्थिव पानियों की अपेक्षा गन्धेय पानी अस्तिमधुर है यह साधारण सोम है, अमृत है, वीक्षणीय रस है, दोष (कीटाणु) नाशक है। इसी अन्त मधुर अमृत रसभाग से मृगतत्त्व का विकास होता है। मर्जनशील तत्त्व ही मृग है। इस मृग की धन-तरस-विरस भेद से तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। अनावस्था आप नाम से, तरसावस्था प्रायु नाम से, एक विरसावस्था सोम नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे शब्दों में अनावस्थापन्न मृग आप, तरसावस्थापन्न मृग प्रायु, विरसावस्थापन्न मृग सोम नाम से व्यक्कृत होता है। आप तत्त्व का मधुररस ही सूत्रि का उपादान बनता है। अतएव इसे 'रेत' [उपादानद्रव्य-शुक्र] कहा जाता है। यही रेत वेदामि से सतत बन कर मृग रूप में परिणत होता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

‘ता अपाः स्रष्टाऽन्यत्तत, तामु स्या ह्यायामरयत् । तमस्येत्तमाणस्य स्वयं रेतोऽस्फुम्बत् । तदप्सु प्रव्यतिष्ठत् । तास्तत्रैवाभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, सम तपत् । ताः श्रान्तास्तप्ताः संतप्ताः सार्द्धमेव रेतसा द्रैषममवत् । तासां मन्या अन्यतरा अतिस्रपणा अपेया अभ्वाद्रूपा । ता अश्रान्ता रेत समुद्रं हस्ताऽतिष्ठत् । अपेतराः पेया स्वाद्विषः श्रान्तास्तत्रैवाभ्यश्राम्यत्, अभ्य तपत्, समतपत् । ताम्यः श्रान्ताम्यस्तप्ताम्या संतप्ताभ्यो यदेत आसीत्, तदभृष्यत् । यदभृष्यत् तस्माद् मृगः सममवत्, तदभृगोर्भृगुत्वम् । मृगुरिषं च सर्वेषु लोकेषु भाति य एष वेद’—(गो० पू० १।३-) इति ।
‘वापुरापरचन्द्रमा इमेते मृगवः’ [गो० पू० २।८] ।

उक्त मृगतत्त्व में पारमेष्ठ्य भाव्य प्राण [ब्रह्म] की प्रधानता रहती है। आपोमेय रेत ही मृग-रूप में परिणत होता है, अतएव ‘त ब्रह्मणो म्यमृह्णीत्, तस्माद् स मृगुवाकुरिषि’ (दे० भा० ३।३१) इत्यादि के अनुसार इसे ब्रह्मि (ब्रह्मपुत्र) माना जाता है। सप्तोमशक्ति से यही अर्चि [प्रकाश] रूप में परिणत होता है। दीपमिप्सा अग्निता है, दीपप्रमा मृग [जलदा हुआ

मन्त्रार्थ प्रकरणा



द्विकमुक्त मन्त्र के-इच्छा तप भ्रम से सुमनसतन्त्र में सर्वप्रथम माया धारा, आप, जीवन, मृत्यु, यह पाँच वस्तु उत्पन्न होते हैं, ऐसा कि पूर्वप्रकृत्य में कदापि न था। प्रतीयन प्रजापति का पहिला कार्य सुमनस पा, पञ्चवस्तोत्पत्ति इत्युक्त कार्य है। इच्छा-तप-भ्रम का विग्राम नहीं है। तीनों व्यापार निरन्तर होते रहते हैं। फलतः नए नए पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं। इच्छातपान्नि सृष्टि-अनुकम्भों से

आगे आकर मृगतत्त्व उत्पन्न होता है। उत्पन्न होने वाले आपोमय मन्त्र में चार बीर मधुर एवं दो रस उत्पन्न होते हैं। मधुररस आप का स्वरूपधर्म है एवं चाररस (सब्यरस) व्याप्ति धर्म है। पानी में दोनों कैसे हैं? इस प्रश्नसमाप्ति के लिए पसीने पर दृष्टि डालिए। पसीना सुषेद कि का सुमनस है। पसीने में ठण्ड दोनों रस हैं, परन्तु हमारे पसीने में सब्य रस की प्रधानता है। कारण हमारा शरीर पार्थिवमात्र प्रधान है एवं पृथिवी के मूल उपादानों में 'द्रुत' नाम से प्रसिद्ध चारमात्र की प्रधानता है। अतएव पार्थिव समुद्र चारप्रधान ही होता है। मधुररस अस्मत्प्रमाण है, अतएव प्रायः हमारा पसीना किसी वस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि अस्मधिक मात्रा से पसीना चूने लगता है तो उस में मधुररस अधिकमात्रा से संश्लिष्ट हो जाता है। वह किसी वृषास्नान में गिर कर सृष्टि का कारण बन जाता है। पोषाकूप हमारे पसीनों के साथ जब अमुक्त वृषाग्नि का सम्बन्ध होता है तो इस पोषा वृषा के मिथुनमास से पसीनों में सूक्ष्मक्रीडाया उत्पन्न हो जाती है, जिनका कि इंग्लीश एन्ड अफ्रीका माएन्डोसकोप (English) से प्रभाव दिया जा सकता है। राजाकार पन्नपुत्र के इन्ही संश्लिष्ट पसीनों से (अन्तर्गम में) सुप्रसिद्ध मन्त्रध्वज का जन्म हुआ था। इस प्रकार जीवप्रजापति के स्वेद में दोनों रस उत्पन्न होते हैं। अतएव तत्त्वप्रमाण ईश्वरप्रजापति में भी दोनों की सत्ता गहननी पड़ती है। अन्तर केवल इतना है कि कहां (ईश्वर में) मधुररस की प्रधानता है, चाररस अस्मत्प्रमात्रा में है। कारण स्पष्ट है। हमारे में पञ्चीकृत अस्माद (पृथिवी) की प्रधानता थी, उस में पञ्चीकृत प्रायः

वायु प्राण्य-अपान-म्यान-समान-उदान मेद से पञ्चधा विभक्त होकर रक्तदि संचार का कारण बनता है वही जोषा प्राणवायु है। साधारण मनुष्य जिसे वायु कहते हैं, जिसका खनिग्निय से हम प्रत्यक्ष करते हैं, जिसके आघात का अनुभव होता है, जिससे मेघ-जल-वृष्टादि विभूष-मान होते हैं वह वायु उक्त चारों भार्गव वायुओं से सर्वथा पृथक् तत्त्व है। इस सर्वानुभूत वायु को 'वात'(वात आत्रात मेपजम्) नाम से व्यवहृत किया जाता है। भार्गववायुचतुष्टयी प्राण रूपा है, यह वातवायु मौक्तिक है। भार्गववायु के साथ साथ ही एक अनिरावायु का विकास भी होता है। अग्नि से उद्भूत वायु का विकास होता है। उद्भूत से ४६ प्रकार के मरुवायु का विकास होता है—[मरुतो रुद्रपुत्रास], मरुवायु का विकार माकृत् है, यही वातवायु है। इसी को 'समीरण' कहा जाता है। इसी का हम प्रायश्च कर रहे हैं। वात वायु से सवधा विभक्त मौक्तिक भार्गव वायुओं में से प्राणवायु प्रजापति के पूर्वभाग में (पूर्वादिक् में) उक्त्यरूप से प्रतिष्ठित रहता है। यहाँ प्राणवायु का ज्ञानाग्रा है। यहाँ से निकल कर प्राणवायु सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होता है। अतएव पूर्वदिक्स्थ सूर्य के लिए 'आणः प्रजानामुदयस्येष सूर्य' [प्र० उ० १।८।] यह कहा जाता है। मातरिवा वायु दक्षिणदिशा में उक्त्यरूप से प्रतिष्ठित रहता है। यहाँ से निकलकर यह सर्वत्र व्याप्त हुआ पित्रवृष्टि का स्वरूप सदा दत्त बनता है। पश्चिमदिशा में पश्मान वायु उक्त्यरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इसी पश्मान के लिए— पश्मानो हरित आभिषेध' (शत० २।२।३।३।) यह कहा जाता है। एवं जोषा सन्ध्या उन्नरदिशा में उक्त्यरूप से प्रतिष्ठित रहता है।

उक्त चारों वायुओं में से पश्मान नाम का वायु सौर ब्रह्माण्ड में आकर रुद्रसर्ग से पश्मान-पावक शुचि यह तीन रूप धारण कर लेता है। भोरमूर्ति रुद्र के सम्मुख से यह तीनों वायु भोररूप में परिणत होते हुए भोरमूर्ति नाम से प्रसिद्ध होजाते हैं। एकादशमूर्ति पशुपति (महा-देव) की सोम आदि षाट् मूर्तिर शिष्य हैं प्रथमानादि तीनों रुद्रमूर्ति हैं भोरतनु है। पश्मान भूषिण्ड से सक्रान्त रहता है, पावक अमरिष में व्याप्त रहता है, एवं शुक्र नाम से प्रति-द्ध सूर्यनयनरूप पुषोक्त्य शुचि है। प्राणवायु हमें पूर्व से मिलता है, मातरिवा दक्षिण से,

सोम] है, इसी आधार पर 'अभिपिभृगु, सप्तमूर्ध, अत्रारेवमिरा सम्ममूर' (----) इसानि कहा जाता है। सोमशक्ति से ही यह पदार्थों का सहनन[संघात-एकीकरण]करता हुआ मन्त्रिस्त बनता है अतएव 'विश्व-गच्छति' इस निर्बचन से इसे 'भृगु' कहा जाता है। भृगु ही परेष्ठमाया में भृगु नामसे प्रसिद्ध है। संक्षेप इसका सामाविकर्म है। तरुण श्यापम भृगु को हमने बायु कहाया है। इस बायु की [मार्गशायु की] प्राण-पशमान-मातरिन्वा सविता यह चार अवस्थाएँ हैं। चारों के मित्त मित्त कर्म हैं। आसप्रधासत्तप प्राणशायु 'पशमान' है। यह पशमानशायु (Oxygen) और अम्मम नाम का प्रथम आर (Hydrogen) दोनों संसृष्ट होकर भूत पानी के उपादान बनते हैं, दूसरे शब्दों में पशमान और अम्ममके रासायनिक संयोगसे पीनेका पानी उत्पन्न होता है। यही पानी ध्रियमाख-मूर्च्छित होने से 'मर' [मरु-मी] नाम से प्रसिद्ध है। दूसरा है मातरिन्वा बायु। संज्ञेयमाया के अनुसार माता पिण्ड का नाम है पिता महिमामण्डल का नाम है। पिण्ड को पृथिवीशब्द से, महिमा को धु शब्द से व्यञ्जन किया जाता है। सभी पिण्ड पृथिवी हैं सभी महिमाएँ धी हैं। सुप्रसिद्ध पृथिवी की तरह सूर्य-ग्रहो-संयम्भू आदि सभी नियत पृथिवी हैं। जिस पर आप प्रतिष्ठित हैं उसी का नाम पृथिवी नहीं है अपितु वेदिष्ठ नाम पृथिवी है आधारभूमि का नाम पृथिवी है। वेदमूर्ति प्रजापति की प्रतिष्ठा का नाम पृथिवी है। इस परिभाषा के अनुसार स्वयम्भू-परमष्टी-मूय-चन्द्रमा-पृथिवी-यह पाँचों पिण्ड पृथिवी हैं, पाँचों ही पृथिवी होने से 'माता' है। इस माता के चारों ओर व्याप्त रहने वाला मागव बायु ही 'मातरिन्वा' है, जैसा कि हमने जाकर स्पष्ट होजायगा। सभी केवल यही समझ लेना पयाप्त होग्य कि पिण्ड के चारों ओर व्याप्त रहने वाला विपदलक्ष्यसम्यक एवं रक्षक मागव बायु ही 'मातरिन्वा' है। जो मागव बायु सांसारिक फलों को कायका/खमाव के लिए प्रेरित करता है, वह प्रेरित बायु ही तीसरा 'सविताबायु' है। बिना सविता बायु की प्रेरणा के कोई भी प्राण कोई भी वात गद्यमुमुक्त नहीं बन सकती। इसी आधार पर-'सविता के देवानां प्रसविता' यह कहा जाता है। एवं जिस बायु से विष के पदार्थ गतिशील बने हुए हैं, अल्पप्रमत्तता में जो

वायु प्राण-अपान-स्फान-समान-उदान मेद से पञ्चमा विभक्त होकर रक्तादि संचार का कारण बनता है वही चौथा प्राणवायु है। साधारण मनुष्य जिसे वायु कहते हैं, जिसका त्वग्निद्रिय से हम प्रत्यक्ष करते हैं, जिसके आवात का अनुभव होता है, जिससे मेघ-जल-वृष्टादि विभूयमान होते हैं वह वायु उक्त चारों मार्ग वायुओं से सर्वथा पृथक् तत्त्व है। इस सर्वानुभूत वायु को 'वात'(वात आवात मेघमम) नाम से व्यवहृत किया जाता है। मार्गवायुचतुष्टयी प्राण रूपा है, यह वातवायु मौखिक है। मार्गवायु के साथ साथ ही एक अग्निकाय का विकास भी होता है। अग्नि से यह वायु का विकास होता है। इस से ४२ प्रकार के मरुद्वायु का विकास होता है-[मरुतो रुद्रपुत्रास], मरुद् वायु का विकास मरुत् है यही वातवायु है। इसी को 'समीरणा' कहा जाता है। इसी का हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं। वात वायु से सर्वथा विभक्त मौखिक मार्ग वायुओं में से प्राणवायु प्रजापति के पूर्वभाग में (पूर्वादिक् में) उक्तरूप से प्रतिष्ठित रहता है। यहाँ प्राणवायु का ग्रहणाना है। यहाँ से निकलकर प्राणवायु सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होता है। अतएव पूर्वदिक्स्थ सूर्य के लिए 'प्राण' प्रमानामुदयत्येव सूर्य' [प्र० उ० १।८।] यह कहा जाता है। मातरिका वायु दक्षिणदिशा में उक्तरूप से प्रतिष्ठित रहता है। यहाँ से निकलकर यह सब्र व्याप्त हुआ विब्रह्मसृष्टि का स्वरूप संपादक बनता है। पश्चिमदिशा में पद्मपान वायु उक्तरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इसी पद्मपान के लिए— पद्मानो हरित मायिजेरा' (शत० २।२।१।१।) यह कहा जाता है। एवं चौथा सक्रिय उदरदिशा में उक्तरूप से प्रतिष्ठित रहता है।

उक्त चारों वायुओं में से पद्मपान नाम का वायु सौर ब्रह्माण्ड में आकर रुद्रसर्ग से पद्मपान-पापक-शुचि यह तीन रूप धारण कर लेता है। भोरमूर्ति रुद्र के सम्बन्ध से यह तीनों वायु भोररूप में परिणत होते हुए भोपमि नाम से प्रसिद्ध हो जाते हैं। एकऋतमूर्ति पशुपति (महादेव) की सोम आदि आठ मूर्ति पर शिष हैं पद्मानादि तीनों रुद्रमूर्ति हैं, भोरतन्त्र है। पद्मपान भूषिण्ड से सक्रान्त रहता है पापक अग्निरिच में व्याप्त रहता है, एवं शुक्र नाम से प्रसिद्ध सूर्यमण्डसरूप पुत्रोक्तस्य शुचि है। प्राणवायु हमें पूर्व से मिलता है मातरिका दक्षिण से,

पश्चिम से, एव समिता उत्तर में मिश्रता है। चारों वायु मार्ग हैं चारों का उत्पत्ति स्थान [सूर्य से ऊपर] वायोमय परमेष्ठिमण्डल है। वहां से सौम्यपद्धत में आकर उक्त दिशाओं में क्रमशः उच्च रूप से प्रतिष्ठित होकर उक्त वायु रोहसी त्रैलोक्य के स्वरूपसंग्रहक बनते हैं।

प्राण-व्यवधानादित्वाचै वायु सोम व्याप तीनों युग हैं। इस युग से आगे आकर अन्धकार प्राण का विकास होता है। पानी का जो माग युगरूप में परिणत होने से रोग रह जाता है वही 'अप-अर्वा-परिशिष्यते' के अनुसार 'अपर्वा' कहलाता है। यही परिशिष्ट अपवा-माग आगे आकर अग्नि रूप में परिणत होता है। तात्पर्य यह है कि पानी में हमने मधुर अपर चार में से दो रस बतलाए हैं। इन में मधुररस युगरूप में परिणत होता है। रोग चारमाग अपर्वा कहलाता है। अप पानी को जमीन पर डाक दीजिये उसका सोमप्रधान मधुर रस तो सूर्यप्रमण्डल मधुप्रिय (सोमप्रिय) इन्द्रप्राण द्वारा आकर्षित होकर पुच्छोक में गिरा आया इसी को पानी का सूचना कहते हैं। पानी के वाष्परूप में परिणत होकर उड़ानों से जमीन पर एक सुफेर सा अन्धकार रह जाता है। यह साक्षात् चार है। मृत् में चार विशेष मात्रा में रहता है, अन्धकार-रसमें चारमाग अधिक मात्रा में रोग रहता है। मधुररस मधुर रूप पुच्छोक के सहायीय आकषण से पुच्छोक में गिरा जाता है चारमाग चारप्रधान पृथिवी के आकर्षण से यही रह जाता है। इसी परिशिष्ट चार का नाम 'अपर्वा' है यही अपर्वा अग्नि का जनक है। दूसरे स्थलों में वाष्प पानी का मधुमाग युग का जनक है, चारमाग अपर्वा की प्रतिष्ठा है। मधुररस एव चाररस युग-और अपर्वा नहीं है अपितु इन रसोंमें रहनेवाला माग युग और अपर्वा है। प्रत्यक्ष प्राप्ति के स्वरूप में दोनों रस हैं। इन में मधुररस-वर्धमान माग प्राण तो पुच्छोक में जाता रहता है एवं चारसावर्धमान अपर्वाप्राण यही इसी के साथ रहजाता है। मनुष्य के बन्नों में रहने के मकल में जहां जहां वह मनुष्य जाता है उन उन स्थानों में अन्धकारप्राण अनुशयकरूप से व्याप्त रहता है। इसी अपर्वासूत के आधार पर दार्शनिक लोग हस्तप्रयोग करने में समर्थ होने हैं। प्राणियों में आनवासी (कृत्वा) इस अपर्वा

प्राण का परिचाया है। जिस रास्ते से चोर भागता है, उस रास्ते में उसका अपर्णाप्राण अनु-
 शयरूप से प्रतिष्ठित होता जाता है। कुत्ता अपनी प्रायेन्द्रिय से अपर्णाप्राण को पहिचानती
 है। चोर का पता लगा लेता है। अपर्णाप्राण का अंगिष्ठ से सम्बन्ध है। आग्नेय अंगिष्ठ रुधिर
 में व्याप्त रहता है। इस रक्त सम्बन्ध से एक ही अपर्णासूत्र सदानभारा में प्रतिष्ठित होता हुआ
 जमन-अरणाश्री का सक्तमक बनता है। अपर्णासूत्र द्वारा एक की अविच्छिन्नता सारे मरुभरों
 में व्याप्त हो जाती है। यह निरुकारसूत्र यद्यपि धर्मबन्धुओं से नहीं दिखलाई पड़ता, परन्तु
 इसके कार्य में इसकी सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। आपका कोई सम्बन्धी आपसे पान्थी
 कोस पर रहता है। यदि उस पर कोई विपत्ति आती है तो तत्काल आपका हृदय व्याकुल हो
 पड़ता है। यह उसी अपर्णासूत्रसम्बन्ध की महिमा है। विदेशस्थ भृगु यदि आपके पाद
 करता है तो आपके हिकका (हिक्की) बहने लगती है। उसके नाम से ही हिक्की बह
 जाती है, यह अनुभूत विषय है। छोटे बच्चों का मन अपर्णा सूत्र सोम की प्रधानता से कोमल रहता
 है। एवमेव सौम्य स्त्री का भी अपर्णाप्राण निर्बल रहता रहता है, अतएव बच्चों एवं स्त्रियों पर
 हस्ताप्रयोग अधिक एवं शीघ्र सफल होता है। (देखिए शत० १४।६।७।१।)।
 अपर्णा अग्नि की विश्वसम्मूर्ति है अतएव अग्नि की पथवाङ्मुरा नाम से भी व्यवहृत किया
 जाता है। एक चोर भृगु है दूसरी चोर अग्नि है मरु में अपर्णा है। मरुपतित अपर्णा
 का प्रसरणरूप से अग्निरा के साथ गौडरूप से भृगु के साथ सम्बन्ध है। अतएव तत्सम्बन्धित-
 म्याय से दोनों को अपर्णा मानलिया जाता है। भृगु-अग्निरामक यह अपर्णा सुमन है। यह
 उस वेदमूर्ति तस की सबसे पहिली मस्तान है अथेष्ट पुत्र है। शयीवे की प्रणिष्टा न भृगु है
 न अग्नि है अपि तु समष्टिरूप अपर्णा है, इसी अग्निप्राय से धुनि कहती है—

यथा देवानां प्रथमं मरुभूतं विश्वं कृत्वा मुनिरग्रे गोत्वा ।

स प्रथमविद्यां सविद्यामग्निष्ठापथर्थाय अष्टपुत्राय वाह (मुण्डक० १।१।१॥)

+ इस विषय का विवर विदेवन अद्विजानाम्पार्यत प्राचीनविज्ञान में देखना चाहिए।

अमर्षी रूप है, क्षार है। इससे अगिरा का विकास होता है, अगिरासे अग्नि का विकास होता है। उपर मृग स्नेह तत्त्व है मधुररस है। अमर्ष की प्रतिष्ठा यही मृगवेद है। अतः मृग को हम सोमवेद की प्रतिष्ठा कह सकते हैं। परन्तु आग्नेयी अथवात्रयी त्रयीवेद की प्रतिष्ठा बनती है। दूसरे शब्दों में त्रयीवेद अस्त्यत्रययुक्त अग्नि, वायु, आदित्य त्रैविध्य अग्निरा पर ही प्रतिष्ठित है। अग्निवेद की प्रतिष्ठा अग्निद्वय अग्निरा ही बन सकता है।

ऊपर कहाया गया है कि मध्यपतिन अमर्षी दोनों में अन्तर्भूत है। अतएव परमार्थतः मृग अग्निरा यह दो तत्त्व बच जाते हैं। एक मधुप्रधान है तो दूसरा क्षार प्रधान है। सीधी माया में एक (मृग) मीथ्र पानी है तो दूसरा (अग्निरा) खारापानी है। जिस मृगदेह में मृग की प्रधानता रहती है वहां क्षारादि का पानी मीथ्र होता है। एवं वहां अग्निरा की प्रधानता रहती है वहां खारापानी मिश्रता है। दोनों ही आपोमूर्ति होनेसे 'मृग' हैं, मृग ही अतः है अग्निरा भी अतः है। आपोमय (मृगअग्निरामय) परमेष्ठी अतः है - 'मृगमन मरमेष्ठी'। कबि पार मेष्ठ मण्डल में मृग और अग्निरा दोनों आपोमय होते हुए अतः ही हैं, परन्तु अग्रे जाकर [तीरन्मण्ड में जाकर] अग्निरा असुररूप में परिणत होजाता है। मृग [आप-वायु-सोम] सदा अतः प्रधान ही रहता है। अतः अग्निरा सदा का प्रमन बनता हुआ सत्यमूर्ति है। मृग अतः है। सत्यमू प्रजापति के तप से उत्पन्न होने वाले यही अतः सत्य (मृग-अग्निरा) अहोरात्र के परिणतारूप सूर्यसंसारमक सूर्य के जनक हैं। यही दोनों 'मर्युब' नाम से प्रसिद्ध रोदसी समुद्र के, एवं वातावृषीरूप रोदसीमैत्रोमय के जनक हैं। इसी अतःसत्यविज्ञान को ब्रह्म में रखकर भुति कहाती है-

मृदं च सत्यं चामीन्द्रात्पसोऽन्यतापतः ।

ततो रात्र्यजापत ततः समुद्रो मर्युष ॥ १ ॥

समुद्राद्गन्धर्वादि सन्तरवरो घमापतः ।

अधोरात्रि विद्रवद्विजस्य पिपतो यगी ॥ २ ॥

सूर्याभन्त्रमसौ भाता यथापुर्नमकल्पयत् ।

दिश च पृथिवीं चान्तरिक्षमयो स्यः ॥ ३ ॥

[अक् सं० १० म० । १२० सूक्त । इति ।

अपर्वा को हमने ब्रह्मा का ज्येष्ठ पुत्र कहा है । यही अपर्वा अग्नि यम-आदित्य रूप में परिणत होकर भू भुव-स्व इन तीन लोकों का प्रवर्तक बनता है । यही 'रोन्सीधाम' है । यह 'अप-अर्वाक्' रूप अपर्वा से उत्पन्न हुआ है अतएव रोदसी को 'अममधाम' 'अन-रार्थ्य' आदि नामों से व्यक्त किया जाता है । अपर्वा से उत्पन्न होने वाला अग्नि-यम-आदि स्वरूप प्रथीवेद दूसरा वेद है । यही वेद सौरसत्या का स्वरूपसमर्पक बनता हुआ 'गायत्री मात्रिक' नाम से प्रसिद्ध होता है । प्रथीविद्या को साय लेकर आपोमय समुद्र में प्रविष्ट होने वाला पुरुष प्रजापति सर्वप्रथम इस अग्निप्रथीवेद को उत्पन्न करता है । जिस की अपेक्षा स्वा यन्मुब्रह्मनिश्चित वेद प्रथमज एव हमारी सौरसिखोकी की अपेक्षा यह वेद सर्वप्रथमज है । ब्रह्मनिश्चित वेद पुरुषाभिनामृत पुरुषस्वरूपसमर्पक बनता हुआ अपौरुषेय वा, परन्तु यह ग्वय० वेद इस वेदमूर्ति पुरुष प्रजापति से उत्पन्न होने के कारण पौरुषेय है । शिरण्यमण्डलस्य प्रथी-भन जिस सूर्य को आप देख रहे हैं, हमारे ब्रह्माण्ड में सब से पहिले इन्ही शिरण्यममगगान् का प्रादुर्भाव होता है । इसी सौरवेदत्रयी की उत्पत्ति का क्रम बतलाती हुई वाचिधृति कहती है—

“तस्यां (अपौरुषेयवेद) प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत । सोऽपोऽस्य सत राश एव (वेदराश एव) मोक्षात् वागेन साऽसृज्यत । सोऽका मयत आम्पोऽदृम्योऽपिमजायेयेति, सोऽनया (अपुरुषविषया) ब्रह्मया विषया सहायः प्राविशत् तत आर्यै समवसत । तदभ्यष्ट शत-अस्त्रिति । अस्तु-भूयोऽन्तु-इत्यत्र तदब्रवीत् । ततो ब्रह्मैव मयममसृज्यत ब्रह्मवे विद्या-[गायत्रिमात्रिको वेदः]”

[शत० ६।१।१।१०]।

जमीनवाही की प्रजाति का पहिला प्रस्थान है। अनन्तर क्रमशः पोषाण्ड यशोण्ड, रेतोऽण्ड मे' से तीन अण्ड और उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार एक ब्रह्म चार अण्डों में परिणत होकर सबम्' बन जाता है। चारों अण्डों की समष्टि ही एक रोन्सी ब्रह्माण्ड है। इसी का नाम सौरमण्डल किंवा सौरभिन्नोक्ती-(सौरप्रगद) है।

सायमुद्र वैश्वरूप्य [महिमागण्डक] ज्योम (परमाकाश) नाम से पारमेष्ठ्य वैश्वरूप्य समुद्र नाम से व्यपन्न होता है, एवं सौर वैश्वरूप्य ब्रह्माण्ड नामसे प्रसिद्ध है। यह ब्रह्माण्ड उस आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में बुद्बुदरूप से प्रतिष्ठित है। एवं पारमेष्ठ्य समुद्र सायम्बु क वैश्वरूप्य में (परमाकाश में) बुद्बुदरूप से प्रतिष्ठित है। जिसे ज्योम का अभिधत्ता ब्रह्मनि-भस्तिवेदावच्छिन्न स्वयम्बू है, समुद्र का अभिधत्ता सुब्रह्मावच्छिन्न परमेष्ठी है, एवमेव इस ब्रह्माण्ड के अभिधत्ता गायत्रीमात्रिकवेदावच्छिन्न मगवान् सूर्यनारायण हैं। यह ब्रह्माण्ड के प्रथम अभिधत्ता हैं। इन्हीं का निरूपण करती हुई मुक्ति बजती है।

हिरण्यगर्भ' समपर्वताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत् ।

स तावान् पृथिवीं धामुतेषा कस्मै देवाय हविषा विधेय ॥

पद्य • सं० १२।४)

सबप्रथम वेदमयस्वयम्बु प्रथम का आविर्भाव होता है। अनन्तर उसके बाग्भाग में आपोमय मृगश का आविर्भाव होता है। मृगश शुद्ध एवं अगिरामय है। आप-वायु-मोन पृथु हैं अपिपमादिस अगिरा है। पृथु की समष्टि आप है। इनमें से आपोमय अगिरा स गायत्रीमात्रिक वेद उत्पन्न होता है। अगिरा स उत्पन्न यह वेदतत्त्व सूर्यरूप में परिणत होकर उसी मृगश्रिगोमय अप्समुद्र में प्रतिष्ठित हो रहा है। वेदमय सस स्वयम्बु का पहिला अनन्तर पानी है। इस आप का पहिला अनन्तर गायत्रीमात्रिक नाम

• इस विषय का विस्तृत विवेचन हिरण्यगर्भविष्णुमूलक पुराणयोगनिष्पन्न विज्ञानमन्त्र में देखना चाहिये।

का सत्यवेद है” यह पूर्व के सन्दर्भ से मभीमति सिद्ध होजाता है । साथ ही में यह भी सिद्ध होजाता है कि “आपोमय परमेष्ठी अतः है । अतः में ही सारा सत्यविश्व प्रतिष्ठित है अतः परमेष्ठी का कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता” । इसी विज्ञान को सत्य में रहकर निम्न लिखित धृतिवचन हमारे सामने आते हैं—

१-“तद्यत् तत् सत्यमाप एव तत् । आपो हि वै सत्यम् । अप एव तस्य
[ग्रहानिश्चितवेदसत्यस्य] अग्रमकुर्वन् । तस्माद्यदपः यन्ति
अयेद सर्वं जायते यदिदं किं” (शत ७ ब्रं । १ । १ । ६ । क.) ।

२-“अतमय परमेष्ठि अतं नात्येति किंचन ।
अते समुद्र आरित अते मूमिरिय त्रिता ॥ ”

३-“आपो भृग्वङ्गिरोरुपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् ।
अन्वरेते प्रयोमदा भृग्वङ्गिरस त्रिताः ॥ ”

४-“आप एवेदमग्र आसुः । ता आपः सत्यं [गायत्रीमात्रिकमदसत्यं] अद्य
व्यत । सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिः, प्रजापतिर्वैश्वानरं ते देवा सत्यमित्यु-
पासते । तदेतत् अत्यन्तं सत्यमिति । स इत्येकमद्वयं त्रीत्येकमद्वयं, अपित्येक-
मद्वयम् । प्रथमोक्तमेद्वये सत्यं मध्यमेद्वयं तदेतद्वयं सत्येन परिगृहीतं
सत्यमयमेव भवति । तद्यत् तत् सत्यमसौ स आदित्याः” ।

[शत० १४ ब्रं० । ८ । ६ । १-२]

ब्रह्म-वेद-अग्नी-अपि-सर्व भूमिभार्यक हैं । सुप्रब्रह्म-सुभेद-अयम्-सोम यह सब
भूमिभार्यक हैं । मन्त्रोपास एतत्-अनेनत् तत्त्व बही ब्रह्मनिश्चित वेद है । पूर्वप्रतिपादित
अतुल्य मार्गव शायुषों में से अत्यन्त मातरिषा ही मन्त्रगता मातरिषा है । इसी मातरिषा से
आप की उस अनेनदेनरूप ब्रह्म में आदिति होती है । इसी से सारे विश्व का स्वरूप सुगन्ध
होना है । ‘आप’ तत्त्व का स्वरूप निर्वचन होनुका । संभव है आप ‘आप’ के स्वरूप विस्तार

से भवका गये होंगे । अतः इस प्रकार से जो पोड़ी देर के लिये यही छोड़ दीजिये, एक मल पर चढ़ि बाधिये ।

पूर्व प्रतिपादित मन्त्रार्थ सम्बन्धी वेदप्रकरण से विद्व पाठकों को यह मलौमति मिलित होगी होगा कि अग्निमसित सायम्भुव त्रयीवेद का यजु माग ही सृष्टि का मौलिक तत्त्व है । अक्साम सहकारी मात्र हैं । यजु पुरुष है, अक्साम अनुसक्त हैं, केवल सन्दोरूप है । अक्सामानविक्षुब्ध यजुर्वेदविद्या—कर्ममप अम्पयपुरुष की विक्रसमूर्ति है, अतएव इसे 'पुरुष' शब्द से व्यञ्जित किया जाता है । यह यजुपुरुष द्विप्रभ की समष्टि है । वस्तुतः इस का नाम 'यजु' है । 'मूराकागो सरस्वत्यां पिशाच्यां यजने स्त्रियाम्' इस कोश के अनुसार 'जू' शब्द आकाश का वाचक है, एवं यह शब्द वायु का वाचक है । यह वायु चतुर्धा विभक्त पञ्चम मातरिबा आदि मार्गवायु, एवं वातवायु आदि से सर्वथा भिन्न वस्तु है । यहाँ का वायु शब्द अपि नाम से प्रसिद्ध असत् प्राण का वाचक है । यह यत्वरूप प्राणवायु विद्युद् गतिरूप है, यही अम्पय के कमभाग का विक्रस है, गुरुत्व आकाश विद्युद् विधितरूप है यही अम्पय के विषामाग का विक्रस है । 'यथाकाशगतो निग्य वायुः सर्वप्रगो महान्' (गी ---) के अनुसार विधितरूप आकाश एवं गतिरूप वायु निग्य अविनाश्वत हैं । पिशा, मियनि, आकाश वाक्, जू, यह सब शब्द अविभक्त हैं । कर्म, गति वायु माय्य, यत्, यह सब शब्द अविभक्त हैं । यत्-बीर जू इन दोनों त्रयों की समष्टि 'यजु' है । यही 'यजु' शब्द परोक्षविष देवताओं की परोक्षमाया में 'यजुर्वेद' नाम से प्रसिद्ध है । इसी यजुर्वेद का निश्चय करती हुई बानिमुक्ती कहती है—

'अथ वाक् यजुर्वेदोऽयं पश्यते । एष हि यजुर्वेदं सर्वं मनयति । एतं यन्तमिदं मनु मजायते तस्माद् वापुरेव यजुः । अप्येषाकागो जू, यदिदमन्तरि सप्त । एतं आकाशमनु मवने । तदेतद्यजुवापुरेव, अमन्तरिचक्ष, यत्तव, जूच । तस्माद्यजुः । +xx। तदेतद्यजुर्विदुसामयाः मतिष्ठितव अक्षु सामे बहनः' (यत् १० का । १ । २ । १२ ।) नि ।

यत् और नू दोनों ही अमृत-मृत्यु मेद से दो दो मातों में विभक्त हैं। अमृत नू अमृता काश है, अमृत यत् अमृत प्राण है। मर्त्य नू मर्त्याकाश है, मर्त्य यत् मर्त्यप्राण है। मर्त्य की प्रसिद्धा अमृत है। अमृताकाश इन्द्र नाम से प्रसिद्ध है, अमृतप्राण प्राण नाम से प्रसिद्ध है। मर्त्याकाश वाक् नाम से, मर्त्यप्राण वायु नाम से प्रसिद्ध है दोनों अविनामृत हैं। अमृता काशरूप इन्द्र, और प्राण से देवसृष्टि होती है, मर्त्याकाशरूप वाक् (जिसे इन्द्रपत्नी भी कहा जाता है), एव मर्त्यवायु से मृतसृष्टि होती है। देव और मृत दोनों सृष्टियों के उपादान अभिन्न हैं अतः देव-मृत का अविनामात्र सिद्ध होजाता है। गौतम प्रधानता की अपेक्षा से 'इय देवता' इय मृतम्' यह मेद व्यवहार प्रचलित है। वस्तुतः न देवता मृत के बिना रहता एव न मृत देवता के बिना प्रतिष्ठित रहता। इस प्रकार अपनी मर्त्यकता से मृतसृष्टि का, अमृत कता से देवसृष्टि का अभिष्टता बनता हुआ अकृतामात्रसिद्धम यत्पुरुष ही सब कुछ बन रहा है—'युद्धप एवेदं सर्वम्'।

उपनिषदों का समन्वय करने वाले व्याख्याताओंमें सम्प्रगत 'मातृगिन्वा' वायु को सूत्र वायु' समझ है। कबना नहीं होगा कि वैज्ञानिक पदार्थों के पृथक्करण को न समझने के कारण कैसी कैसी भयङ्कर भ्रम होजाती हैं। सूत्रवायु तो इमाग यत् नाम का 'मातावायु' है। इसी को सूत्रात्मा कहा जाता है। 'वायु र्मे गौतम नत् सूत्रम्' शत० १४ वं ६। ७। १।) से आपम्पुत्र वेदमूर्ति सूत्रवायु ही अभिष्टित है। सूत्रात्मा स्वयम्भू का मनोत्ता है, (देखिए ई० वि० भा० १८६ पृ०)। प्रज्ञा-विष्णु-इन्द्ररूप इदमाश्रितों की समष्टि अन्तर्गामी है, अभिष्टित की समष्टि, किं वा सोमगर्भित अभिष्टित सूत्रात्मा है। अभिष्टित है। यही सूत्रसत्य है। उपर मातरिरय मातृगिन्वायु रूप बनता हुआ परमेष्ठी का मनोत्ता है।

युक्ते विषय का उपादान होने से प्रसन्न है। इसमें दो कसाए हैं अतएव यह द्विष्टा का सहकरी इसी से उत्पन्न होने वाला सुवेद सुप्रसन्न है। यत् अहिर के अकृता मातों से यह सुप्रसन्न आप वायु सोम मग्नि यम आदिय एव ६ भावों में विभक्त है। अमृत इम

‘वापन्नम’ को हम ‘पद्मन्न’ नाम से व्यञ्जित कर सकते हैं। द्वित्रय के सम्बन्ध से सब कुछ उत्पन्न हुआ है। द्वित्रय का (मर्या) वायुमग (इन्द्रपत्नी) उसी प्राणरूप वायु के व्यापार से पानी बना है। यही पानी अम्म है, वाष्पममक है। अम्मएव पाश्चात्तमौक्तिक सूत्रिक्रम में इसे ‘वायु’ कहा गया है। ‘अप्रेराप’ यह सिद्धान्त सर्वविदित है। एव—‘वह्य वा एतस्याग्नेवागेवोपनिषत्’ [उत्त १० अं । १ । १ । १] के अनुसार अर्घ्यवाक्का वाक् (इन्द्रपत्नी) वाक्कात् जलादि है। यही तो प्राणव्यापार से घुस्य होकर अम्मरूप वाष्पममक पानी के रूप में परिणत हुआ है। ऐसा कि—‘वागेव साद्यन्वय’ इत्यादि रूप से पूर्व में स्पष्ट कर दिया गया है। इस वायुमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में इसी के अङ्गिगमाग से देवाग्नि नाम से प्रसिद्ध गायत्रीमन्त्रिक अग्नि उत्पन्न होता है। यही पौरुषेय वेदाग्नि है, यही सूर्य है, ‘अवीमयाय त्रिगुणात्मने नमः’। सौर रश्मिर् ‘मरीचि’ नाम से प्रसिद्ध है। इनके वर्षणसे मर पानी उत्पन्न होता है। मूर्च्छित मरीचि अग्नि ही मर पानी है। सौराग्नि से उत्पन्न यही पानी आगे जाकर क्रमशः वाप-फेन-घृत-सिकता-शर्करा-अरमा-अप-हिरण्य रूप में परिणत होता हुआ भूपिण्ड का अस्तित्वमय बनता है। इसप्रकार वह एक ही मूल-[मयाकाश-मर्यावाक्] वाक् (वाक्का) वायु, अग्नि, पानी मिट्टी इन पाँच रूपों में परिणत हो जाता है। पाँचों मूल वाक्मय है। तभी तो—‘अथो वागेवेदं सद्यम्’ (ऐ० अ० १ । १ । ६) वाचीमा विन्वायुवनान्पयिता’ (तै० अ० २ । ८ । १) यह कहना बर्तार्य होता है। प्रजापति (पोछगी) ठीक वेद का आत्मा है। शब्दतन्मात्ररूप अम्मएव शब्दनाम से व्यञ्जित वेदवाक् उस आत्मप्रजापतिरूप ब्रह्मा के निवास है यही वेद वाक् व्यञ्जक है यही निच का मूल है। इसी वेदमूला, अम्मएव वेदमयी सृष्टि का निरूपण करते हुए अग्नि कहते हैं—

‘वस्माद्वा एतस्माद्वत्तम आकाशः सम्भूतः । आकाशादवायुः,
वायोरग्निः । अप्रेरापः । अद्भ्याः पृथिवी’ [तै० उ० २ । १]।

षाट्कोशिकमिदसर्वम्

१-१-अक्षर	प्राणमय	पोढशीप्रजापति	← 'आत्मा'
२-१-यत-गर्भितो जू-	स्वयम्भूः	→	आकाश (आकाश)
३-२-आपोमयं सुप्रसन्न-	परमेष्ठी	→	वायु (वायु)
४-३-अपीपन-	सूर्यः	→	आग्नि [तेज]
५-४-मुच्छ्रिता आपः-	चन्द्रमा	→	आपः [जल]
६-५-पृथ्वी-	पृथिवी	→	पृथिवी [पृथिवी]

शरीरम्

‘अनेमदेकम्’, इत्यादि मन्त्र यजुर्ब्रह्म का निरूपण करता हुआ इसी आत्मन्वी प्रजापति का विरसेपण करता है। यजुर्ब्रह्म का अनेकत्व भाग सोपाधिक विषयभाग है, एतत् भाग सोपाधिक कर्मभाग है। ब्रह्मचर्यरूप विषयकर्ममय अम्यय ही यजु है। इस यजुर्ब्रह्म की व्याप्ति कहाँ तक है? उत्तर है ‘मायावत्त’। जहाँ तक मायी महेश्वर व्याप्त है, वहाँ तक वेदतत्त्व व्याप्त है। तभी तो उसे ‘विदिमूर्ति’ शब्दसे व्यक्त किया जाता है। जहाँ तक मायी अम्यय व्याप्त है, वहाँ तक तत्त्वप्रकृतिभूत अक्षरमक्षर व्याप्त हैं। सुतरां आत्मक्षर के प्राणरूप विषयक्षर से सप्त पञ्चीकृत प्राणपञ्चमन के विपर्यय वेदपुराण की सत्ता वहाँ तक सिद्ध हो जाती है। इस मायावत्त को सामने रखिए, मन्त्र का अर्थ कीजिए, स्थितिगतिकृपा सारी वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जायगी।

सत्ता में गतिरूप अम्ययगति, अवयवीगति, उम्ययगति मेद से तीन भागों में विभक्त है। रपधक की गति उम्ययगति है। रप का पहिया (अवयवी) भी चरहा है, एवं पहिये के अवयव भी चरहे हैं। कुक्षार के चक्र [चाक्र] की गति अवयवीगति है। चक्र चर भी नहीं चलता, अवयव चर भी नहीं चरते। पूर्वदिश परित्यागपूर्वक उत्तरदेश का सयोग करना ही

गति है। वह अपने निष्ठा कीलक से अणुमात्र भी नहीं बँध रहा। वह एक स्थान पर ही रहता हुआ बस रहा है। वह क्या घूम रहा है, उस के अवयव घूम रहे हैं। एव भरतकृत चक्र की गति अवयवीगति है। हम टेन में बैठे हुये बस रहे हैं। हमारे अवयव नहीं बस रहे अपि तु हम (अवयवी) बस रहे हैं। इन तीनों गतियोंमें से प्रकृतमन्त्र केवल अवयवगति का निरूपण करता है। मायाशक्तिप्र वेदमन्त्र ईश्वर सर्वथा स्थिर है। बृहत् सत्त्व है। एव ईश्वरशरीर में प्रतिष्ठित पञ्चमयत् पदार्थ पदार्थों के परमाणु परमाणु गतिशील हैं। व्यापकदृष्टि से सत्त्व सर्वथा स्थिर है अवसररूप से सक्रिय है। स्पष्टदृष्टि से सब अस्थिर हैं। यदि व्यक्तिमात्र को झोड़कर आप विश्व को अपनी दृष्टि में लावेंगे तो वह आपको सबथा स्थिर दिखसकें देगा, व्यक्तिमात्र को सामने रखने से वही गतिशील मिलेगा। अवयवी स्थिर है, अवयव चल हैं, यही तात्पर्य है।

आप्त मूर्धियों की दूरदर्शिता का जब हम विचार करने लगते हैं तो हमें आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। निगूढतम विषय अध्यात्मविद्या के स्वरूप को व्यापक पश्चिमानुगृही कठिन समस्या है, अधियोंमें व्याख्यातिक (सीकिक) दृष्टान्तों द्वारा उसे इतना सरल बना रक्खा है कि उसे समझने में एक बालबुद्धि भी सहज में ही समर्थ होजाय। कुम्भकार (कुम्हार) सोरमाया में 'प्रजापति' नाम से प्रसिद्ध है। प्र-उदगराद्यविशृण्वय पात्रों का निर्माण करने वाले, वरुण से शत्रु मनुष्य का अधियोंमें 'प्रजापति' नाम रक्खा, जो कि प्रजापति शब्द त्रिसुक्त विवाता वाता (ईश्वर) का वाचक है। साधारण दृष्टि से विचार करने पर कुम्भकार की इस प्रजापति सत्ता में कोई विशेष महत्त्व नहीं माह्रुम होता। परन्तु जब इस सत्ता का सूक्ष्मेष्टर किया जाता है तो प्रतीत हो जाता है कि कुम्भकार वास्तव में प्रजापति का वास्तव है। वैसी स्थिति सुविनिर्माया ईश्वर प्रजापति की है ठीक वैसी ही स्थिति इस प्रजापति (शब्द) की है। अन्तिमोद्यमक्रिया में कुम्भकार मिट्टी दण्ड चक्र, घूम, भूषण, पानी यह सात वन वरुण अवस्थित हैं। इस कारणसमष्टि से अन्तर्गत उत्पन्न होता है। इन में सुषिरण कुम्भकार एवं चक्र [चक्र] का आधार है। कुम्भकार भी जमीन पर बैठता है एवं चक्र भी कील के आधार पर भूषणपर रहता है। कुम्भकार निमित्तकारण है, प्रद बनाने वाला है। सुत्र-दण्ड

असमवायिकारण है, मिट्टी उपादान कारण है, पानी सहकारीकारण है। कुम्हार मिट्टी में पानी आसकर उसको पिन्दिमान बनाकर पिण्ड बना देता है। अनन्तर चक्र के समीप स्थित स्थान पर बैठकर चक्रपर मृत्पिण्ड रख देता है। अनन्तर कीलक से बद्ध चक्र को दाय से बड़े वेग से घुमाता है। घूमते हुए चक्र पर रखे हुए मृत्पिण्ड में हस्तकीशक्त से अपने बौद्धभट [खयालीघट] का आकार देता जाता है। थोड़ी देर में घट उत्पन्न होजाता है। निर्माण होने के अनन्तर सूत्र [बोरी-अथवा बीर-बिपका] से घट को चक्र से छुटक कर मृष्टष्ठपर सूत्रों के छिए रख देता है। सूत्र जाने पर अग्नि द्वारा उसे पकाता है। अग्नि सम्बन्ध से घट का विनाश हो जाता है। अग्नि सब से पहिले घट के मृत्परमाणुओं को विशकलित कर डालता है। इस अग्निविशकलन से परमाणुओं की सन्धि में प्रतिष्ठित पानी धूम धनकर उत्क्षालित हो जाता है। इसी विशकलन प्रक्रिया का नाम म्यायदशनानुसार 'घटव्यस' है। पानीको विकल कर संधिस्थानों में स्वयं अग्नि अन्तर्ग्राम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित होजाता है। इस अग्निसंभान से रत्नपरमाणु दशन के शब्दों में ध्वस्तघट पुनः सहित होता हुआ परिणत बन जाता है। इस प्रकार इस पिठरपाक के अनन्तर घट सत्त्वामा संपन्न हो जाता है। घट का स्वरूप [आकार] समी को निहित है। ऊपर की ओर गोलाकार मुख होता है, मध्य में विपुसोदर होता है, पैदा उबड़ हुआ होता है, यह तो हुई इस [कुम्भकार] प्रजापति की सृष्टि अब अक्षिण उबड़ [ईश्वर] प्रजापति की ओर।

अक्षरतत्त्व कुम्भकार [निमित्त कारण] है। पञ्चकीशक्तक अव्ययवस्तु मृष्टष्ठ [आत्मवस्तु] है। पूर्णतः स्रग्वास ही सूत्र है। पञ्चवेद चक्र है। इसी बद्ध का घर मर्त्यमाग धिष्टी [उपादान] है। प्रजापति की धुक्नीति दण्ड है, इसी को 'अक्षदण्ड' कहाजाता है। सुपसिद्ध आपोवस्तु पानी [सहकारी कारण] है। विद्यमानि में [किन्द मे] यह पञ्चवस्तु बद्ध है। इस की स्थिति ठीक कुम्हार के चक्र वैसी है। चक्र सूत्र ही घूम रहा है, परण्ड समुदाय [अवयव] सर्वथा स्थिर है। इस चक्र पर प्रजापति धरवेदरूप मृत्पिण्ड रखता है। यह धरवेद का ही इमार

सुप्रसिद्ध ग्यस्त्रीमात्रिकवेद है। यही वेद आगे जाकर षट्स्वरूप में परिवर्णित होकर है। भू-भुव-स्वः तीनों लोकों की समष्टि एक घट है। यही त्रिचर्मूर्ति षट् रूपों में 'उष्मा' नाम से प्रसिद्ध है। मूलेक इस का भुम्भ (पैश) है, मुखोक्त उदर है सुलोकोत्तमिन् रूप मुख है। एक संस्कार पण्य इस घट में अग्नि ग्वस्ता रहता है। अनन्तर उस का चपन होता है। त्रैलोक्यरूप उष्मा (घट) के परमाणु परमाणु में अग्निनिधि हो जाती है। यही त्रिभिः संवित्पानों से पाप मार्गों में विभक्त हो जाता है। त्रिभिः से षट् सर्वात्मना समस्त हो जाता है। इसी प्राजापत्य षट् का विगुराण बनाती हुई अग्निहोत्ररूपेण कहती है—

१-‘इमे वै लोका उस्ता’ [श० ७ ५.२।१७]

२-‘प्राजापसमेतत् क्रम यदुस्ता’ [श० ६। १। १३]

[शत० १।७।१।१३॥ ७।१।२।२॥ १।२।२।२॥]

प्राजापति से निर्मित सारी पारिवर्ष प्राजा षट्स्वरूप में परिवर्णित होकर ही प्रतिष्ठित हो रही है। इस प्रकार कुम्भकारसृष्टि एवं प्राजापत्यसृष्टि दोनों समानवर्गी हैं। इसी तृप्तिरूप के मिश्रण के लिए ध्रुवियों में कुम्भकार की ‘प्राजापति’ सत्ता रहती है। सप्त मार्कण्डेयों कुम्भकार के चक्र से प्रवृत्ति का स्वरूप पक्षिपानते हुए कुम्भकार को अपना गुह्य मानता था। सबभूत जो स्वरूप इस प्राजापति के चक्र में है, वही स्वरूप इस पञ्चभूत का है। वह ग्रेट है तो ‘सर्वत’ पारिवर्षाद् ‘वत्’ के अनुसार यह भी वर्तुलवृत्त है। वह पूरता हुआ समुद्राद्य रूप से स्थिर है तो यह भी अचपकष्टता एतत् बनता हुआ समुद्राद्यवृत्त बननेवाला है। मानो हमारा यह (कुम्भकार) प्राजापति उस (ईश्वर) प्राजापति के साथ हाथा कर रहा है। इसी आशय पर यही की ‘यद्यना निर्मातृस्त्रिभुवनविधातुश्च क्रमश्च’ यह सूक्ति प्रवर्णित है।

ऐसे न बचने बाबा आक, भीर बचने बाबा अचपन एक ही स्थान पर हैं, इसी प्रकार न बचने बाबा नू भीर बचने बाबा यत् दोनों का एक ही मिश्रण पर समावृत्त है। त्रिभिः त्रिभिः दो मिश्रणों का अभिष्टता चक्र ऐसे एक है, एतत् यत् चक्र नू के दो-दोनों पर भी पञ्च

महा एक है। वह एक ही तरह जू की अपेक्षा से सर्पणा अनेजद है, पर की अपेक्षा से बड़ी एजद है। बड़ी एजद है, बड़ी अनेजद है। वह मन से भी ज्वीय [विद्य दौकने बाबा] है। आधिमौलिक जगत् में तेज करने बाबा बायु है। आध्यात्मिक जगत् में बायु से भी शीघ्रगामी मन है। इन दोनों में बड़ी गति आई हुई है। जिस पदप्राण के आगमन से बायु और मन जब शीघ्र गामी बन जाते हैं तो उस पद के गतिवेग का क्या कहना है। वह तो स्वयं गतिरूप ही है। इस स्वयंगति की गतिमान् बायु और गतिमत् मन कैसे समझ कर सकते हैं। मन में इन्द्र विद्युत् है, विद्युन्मय गतिशील है। मन में प्रतिष्ठा ब्रह्म [स्थिति भाग] की अमरता ही मन की दृष्ट-गति में मुख्य का है। उभर वह शुद्ध गतिरूप होता हुआ सधमुच मनसो ज्वीयः' है बात यथार्थ में यह है कि अनेजदेजद की समष्टि से आध्यात्मिक एवं आधिमौलिक प्रपञ्च का निर्माण होता है। फलतः आधिमौलिक एवं आध्यात्मिक पदार्थों में [प्रत्येक में] स्थिति-गति दोनों भावों की सदा सिद्ध हो जाती है। आप जितने भी गतिमान् पदार्थ देख रहे हैं, विश्वास कीजिए (गतितात्पर्य से) उनमें कोई बहुत स्थिति अन्तर है, जितने भी स्थितिमत् पदार्थ हैं उन सबमें (स्थिति के तात्पर्य से) गति अन्तर है। विशुद्धगति-और विशुद्धस्थिति रूप पदार्थ न आधिमौलिक जगत् में है न आध्यात्मिक जगत् में। कारण इनका उदात्तान् स्थितिगति की समष्टि है। कहीं स्थिति तरंग प्रधान है तो कहीं गतितरंग। पागु हैं प्रत्येक में दोनों। यदि स्थिति में से गति को सर्पणा निवृत्त दिया जाता है तो वह स्थिति गतिरूप में परिणत हो जाती है। एवमेव यदि गति में से स्थिति सर्पणा निवृत्त जाती है तो वह गति स्थिति रूप में परिणत हो जाती है। उदाहरण के लिए ५ मनुष्य अपने घर से ठीक नियत समय पर एक साथ बगीचे के लिए रवाना होते हैं। इनमें कुछ आत्मी तो जल्दी पहुँच जाते हैं, कुछ देर न पहुँचते हैं। इसका क्या कारण? उत्तर यही होगा कि जो शीघ्र चला वह शीघ्र पहुँच गया, जो मन्दगति से चला वह देर से पहुँचा। इसका अर्थ यह हुआ कि जिसने जल्दी जल्दी पैर उठाए वह जल्दी पहुँचा, एवं जिसने धीरे धीरे पैर उठाए वह देर से पहुँचा। निष्कर्ष यह हुआ कि जिसने अपने पैरों में स्थिति कम रखी एवं गति अधिक रखी वह जल्दी पहुँचा,

त्रिसर्गे गति कम रखी एव स्थिति अधिक रखी वह वेत्ते पहुंचा । इस स्थिति—गति के तार तम्य से गति में व्यंतर होगया । मान लीजिए एक व्यक्ति जहां बेचेर में पहुंचा वहां दूसरा व्याप घटे में, तीसरा १५ मिनट में, तीसरा पांच ही मिनट में पहुंच गया । लीजिये चौथा आठवीं दो मिनट में ही पहुंच गया । आश्चर्य—पांचवां तो एक ही मिनट में जा पहुंचा । एक मिनट में पहुंचने वाला ऐसे वेग से चला कि उसने कब पैर रक्खा, कब उठया यह अनुमान लगाना ही कठिन होगया । वह ठहरता सा न दिखाई देकर चसतासा ही दिखाई दिया । फलत यह सिद्ध होगया कि अपने घर से एक मिनट में पहुंचने वाले व्यक्ति की गति (चाल) में स्थिति (ठहराव) बहुत कम थी, तभी तो वह एक मिनट में पहुंच गया । कल्पना कर लीजिये, जिस व्यक्ति स्थिति में नियत स्थान पर पहुंचने में एक मिनट जायगा, यदि वह अज्ञास्थिति भी उस की गति में से निकाल दी जाय तो क्या होगा । ऐसी स्थिति में उसे एक मिनट भी न जायेगा अपि तु एक क्षण में ही वह वहां पहुंच जायगा । एक क्षण में नहीं पहुंचेगा, अपि तु जिस क्षण में वह घर रहेगा उसी क्षण में वहीं में मिलेगा । इस प्रकार स्थिति के सर्वथा निवृत्त जाने से उसकी गति स्थितिरूप में परिलक्षित होजायगी । क्या ऐसा होना समझ है ? नहीं । स्थितिगति दोनों की समष्टि से उत्पन्न होनेवाले मनुष्य में (मनुष्योपस्थित पदार्थमात्र में) शुद्धगति नहीं रह सकती । उस में अवश्य ही स्थिति रहती है । ऐसा तब तो केवल वह प्रजापति ही हो सकता है । मनु में योही बहुत स्थिति है, परन्तु उस विशुद्धगति में स्थिति के व्यापगतिक अवयव से वह भी छटाव नहीं है, तभी वह एक ही क्षण में यहां—वहां—ऊपर—नीचे—सर्वत्र उपस्थित हो जाता है । प्रजापति के स्थितिरूप अवयव व्यापक इसी गतिरूप के क्षण में रहकर—‘मनसो जयीय’ कहा गया है ।

एक पुस्तक मेज पर रखी हुई है । पुस्तक स्थिति (ठहराव)—भाव से व्याकल्पित है । परन्तु निश्चय कहता है कि व्याप इसे चसती हुई समझिए । स्थितिरूप से प्रतीयमान पुस्तक एक ही क्षण में चारों ओर जा रही है । यह गतिसमष्टि ही एक दूसरी गति से अवच्छिन्न होती हुई स्थितिभाव में परिवर्तित हो रही है । व्याप पूर्व में बैठे हैं । पुस्तक व्यापसे परिचय रखी हुई है ।

यदि त्माप-पुस्तक को अपनी ओर खींचेंगे तो पुस्तक की पश्चिमागति निकल जायगी । दूसरे शब्दों में जबतक पश्चिमदिशागति को आप पुस्तक में से निकाल न देंगे, तब तक पुस्तक पूर्व की ओर न आसकेगी । इस प्रकार स्थित पुस्तक में से गति के निकाल देने से पुस्तक की स्थिति गतिरूप में पाणित होजायगी । निदर्शन मात्र है । संसार में जितने भी स्थिर पदार्थ हैं, वे निरन्तर चारों ओर चल रहे हैं । यदि चारों ओर की गति निकाल दी जायगी तो पदार्थ की स्थिरता स्वयं उल्लङ्घित होजायगी । वह पदार्थ गतिर्म में स्थिति हो जायगा । इस निदर्शन से बतसाना यह कि विशुद्धस्थिति एक विशुद्धगति उस मुसलमान का ही स्वरूप है । यद्यपि सत्ता-दृष्टि से उसे भी विशुद्धगति, स्थितिरूप नहीं माना जासकता । कारण दोनों तत्त्व अस्मिता भूत हैं । तथापि विश्व और उस के पार्यव्य समझने के लिए बौद्धजगत् में उस की विशुद्धता की भावना की जासकती है । इसी बौद्धप्रत्यय को सदैव बना कर अर्पिते—‘मनसो जयीय’ यह कहा है । इस से बतसाना केवल यही है कि सम्पूर्ण विश्व में उसके वैसा तो बही है ।

पूर्ववचनानुसार बही ओपेक्षिणी देवसृष्टि का प्रकृतिक है । देवता प्राणधन है । प्राण स्वयं गतिरूप अवश्य है । परन्तु इस का विकास सूर्य में होता है । देवता भी इतर पदार्थों की तरह एक पदार्थ है । वस्तु गतिरूप प्राण की प्रधानता रहने पर भी इन में स्थिति का आत्मन्तिक समान ज़ही माना जासकता । जब प्रजापति के पश्चात् उत्पन्न होने से प्राणधन देवताओं में आधिक्य से स्थिति विद्यमान है तो प्राण की प्रधानता से दौकसे हुए भी बंका उस पूर्वप्रतिष्ठ (पूर्वमर्त्य) प्रजापति को केने प्राप्त कर सकते हैं । अर्थात् प्राण में इन्द्रिय देवता हैं । मुख्य-प्राण का विकास ही इन्द्रिय हैं । आत्मा इन्द्रिय में प्रतिष्ठित है । इसी आत्मप्रकाश इन्द्रियदेवताओं में जाता है । इन्द्रियों के द्वार बहिर्मुख हैं । ऐसी अवस्था में प्राणेश्वरमूर्ति प्रधानमन से संपादित इतस्तु सांसारिक विषयों की ओर अनुभावन करने वाले इन्द्रियदेवता उस पूर्वमर्त्य आत्मतत्त्व को प्राप्त करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं । वह पूर्व है, यह पर है । इसी रहस्य को सत्य में रसकर उपनिषत् कहती है—

जिसमें गति कम रखी एव स्थिति अधिक रखी वह वेरसे पहुँचा । इस स्थिति—गति के तार तन्म से गति में अन्तर होगया । मान लीजिए एक व्यक्ति जहाँ घनेमर में पहुँचा वहाँ दूसरा व्याज बंटे में, तीसरा १२ मिनिट में, तीसरा पाँच ही मिनिट में पहुँच गया । लीजिये चौथा व्याजमी दो मिनिट में ही पहुँच गया । आश्चर्य—पाँचवाँ तो एक ही मिनिट में आ पहुँच । एक मिनिट में पहुँचने वाला ऐसे वेग से चला कि उसने कब पैर रखा, कब उठया यह अनुमान लगना ही कठिन होगया । वह ठहरता सा न दिखाई देकर चसतासा ही दिखाई दिया । फलत यह सिद्ध होगया कि अपने घर से एक मिनिट में पहुँचने वाले व्यक्ति की गति (चाल) में स्थिति (ठहराव) बहुत कम थी, तभी तो वह एक मिनिट में पहुँच गया । कल्पना कर लीजिये, जिस अल्पस्थिति में निरुक्त स्थान पर पहुँचने में एक मिनिट जायगा, यदि वह अल्पस्थिति भी उस की गति में से निकलने दी जाय तो क्या होग । ऐसी स्थिति में उसे एक मिनिट भी न लगेगा अपितु एक क्षण में ही वह वहाँ पहुँच जायगा । एक क्षण में नहीं पहुँचेगा अपितु जिस क्षण में वह घर रहेगा उसी क्षण में अग्नि में मिलेगा । इस प्रकार स्थिति के सर्वथा निकल जाने से उसकी गति स्थितिरूप में परिणत होजायगी । क्या ऐसा होना समझ है ? नहीं । स्थितिगति दोनों की समष्टि से उत्पन्न होनेवाले मनुष्य में (मनुष्योत्पत्ति पदार्थमय में) शुद्धगति नहीं रह सकती । उस में अन्तर ही स्थिति रहती है । ऐसा तत्त्व तो केवल वह प्रजापति ही हो सकता है । मन में योही बहुत स्थिति है, परन्तु उस निशुद्धगति में स्थिति के आत्यन्तिक अभाव से वह भी ठहराव नहीं है, तभी वह एक ही क्षण में यहाँ—वहाँ—ऊपर—नीचे—सर्वत्र उपस्थित हो जाता है । प्रजापति के स्थितिरूप अतएव व्यापक इसी गतिरूप के कारण में रहकर—‘मनसो जमीय’ कहा गया है ।

एक पुस्तक मेज पर रखी हुई है । पुस्तक स्थिति (ठहराव)—भाव से व्याकृत है । परन्तु निश्चय कहता है कि आप इसे चलाती हुई समझिए । विचरक से प्रतीयमान पुस्तक एक ही क्षण में जहाँ चोर जा रही है । वह गतिसमष्टि ही एक दूसरी गति से व्यक्त होती हुई स्थितिभाव में परिणत होती है । आप पूर्ण में बैठे हैं । पुस्तक आपसे परिचय रखती हुई है ।

यदि आप-पुस्तक को अपनी ओर खींचें तो पुस्तक की पश्चिमगति निकल आयेगी । दूसरे शब्दों में जबतक पश्चिमदिशगति को आप पुस्तक में से निकाल न देंगे, तब तक पुस्तक पूर्व की ओर न आसकेगी । इस प्रकार स्थित पुस्तकमें से गति के निकाल देने से पुस्तक की स्थिति गतिरूप में पायित होजायेगी । निदर्शन मात्र है । संसार में जितने भी स्थिर पदार्थ हैं, वे निरन्तर चारों ओर चल रहे हैं । यदि चारों ओर की गति निकाल दी जायगी तो पदार्थ की स्थिरता सर्वथा उत्पन्न होजायेगी । वह पदार्थ गतिकर्म में निहित हो जायगा । इस निदर्शन से बतलाना यह कि विशुद्धस्थिति एवं विशुद्धगति उस मूलब्रह्म का ही स्वरूप है । यद्यपि सत्ता इष्टि से उसे भी विशुद्धगति, स्थितिरूप नहीं माना जासकता । कारण दोनों तत्त्व अविनाश्य हैं । तथापि विश्व और उस के पारम्य समझने के लिए बौद्धब्रह्म में उस की विशुद्धता की मानना की जासकती है । इसी बौद्धब्रह्म को सत्य बना कर अग्नि—‘मनसो जनीय’ यह कहा है । इस से बतलाना केवल यही है कि सम्यक् विश्व में उसके वैसा तो बही है ।

पूर्ववचनानुसार बही ज्योतिर्मयी देवसृष्टि का प्रकर्षक है । देवता प्राणधन है । प्राण स्वयं गतिरूप अवस्था है, परन्तु इस का विकास सूर्य में होता है । देवता भी स्वर पदार्थों की तरह एक पदार्थ है । अतः गतिरूप प्राण की प्रधानता रहने पर भी इन में स्थिति का आत्यन्तिक अभाव नहीं माना जासकता । जब प्रजापति के पश्चात् उत्पन्न होने से प्राणधन देवताओं में वायिकरूप से स्थिति विद्यमान है तो प्राण की प्रधानता से बोलते हुए भी देवता उस पूर्वप्रतिष्ठ (पूर्वमर्त्य) प्रजापति को केमे प्राप्त कर सकते हैं । अप्यहमप्य में इन्द्र देवता हैं । मुख्य-प्राण का विकास ही इन्द्र है । आत्मा हृदय में प्रतिष्ठित है । इन्द्र काहमप्रकट इन्द्रियद्वयों में आत्मा है । इन्द्रियों के द्वार बहिर्मुख हैं । ऐसी अवस्था में प्राणेश्वरमूर्ति प्रधानमन से संपादित इतस्तत् सांसारिक विषयों की ओर अनुभावन करने वाले इन्द्रियदेवता उस पूर्वमर्त्य आत्मतत्त्व को प्राप्त करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं । वह पूर्व है, यह पर है । इसी रहस्य को सत्य में रसकर उपनिषद् कहती है—

पराधि स्वानि व्यतृण्य स्वयम्भूस्तस्यात् पराऽपरयति नान्तरात्मन् ।
कश्चिदीरः प्रत्यगात्मानमैतदादृष्टचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

(कठ० उ० २।१।१)

इसी अभिप्राय से—‘नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्पन्’ यह कहा गया है। यह इन्द्रिमातीत है, इन्द्रियगम्य है, यही तात्पर्य है।

आत्मा हृदय में है, देवता उससे पर है। तो क्या देवता [इन्द्रियों] और देवताओं के विषय में (मोक्षरूपदायों में) आत्मा नहीं है ? इसी प्रश्न के समाधान को सत्य में रखती हुई मूर्ति आगे जाकर कहती है—‘तद्यापतोऽम्यानलेति तिष्ठत्’। देवता उसे पकड़ कैसे सकते हैं, जब कि वह स्वस्थान में बैठ बैठा ही दौड़ लगाने वाले देवताओं के आगे से आगे प्रतिष्ठित रहता है। अनेकत्व इच्छा वह तिष्ठत् है, एवम् इच्छा देवताओं का अस्तित्व करने वाला है, ऐसा कि पूर्व में स्थिति-गति का तात्पर्य बनाने हुए कहा जा चुका है। वह सर्वथा व्यापक है। उस के आशय में सब कुछ प्रतिष्ठित है, परन्तु वह किसी में प्रतिष्ठित नहीं है। ‘न त्वहं नेपुते मयि’। उस का तात्पर्य यह है कि आनेय आचार के बिना नहीं रह सकता, किन्तु आचार स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहसकता है। उसे आनेय की अपेक्षा नहीं होती।

अनेक के सारे प्रपञ्च का निष्कर्ष यही हुआ कि “महामायापच्छिन्न ईश्वरस्वरूप यजुर्मन्त्र मी ईश्वरवत् महामायापच्छिन्न होता हुआ व्यापक है।” यह मूलवेद मन्त्र का निश्चित है। इसी अभिप्राय से मूर्ति कहती है—

‘एव मा अरेऽस्य महतो भूतम्य [मन्त्रेश्वरस्य] निश्चितमेतद्यजुर्वेदा
यजुर्वेदः सामवेदः + + + अर्त्ययतानि सवाणि निश्चितानि”

[श० १४।१।४।१०] : नि ।

महतोभूत यही भाषी मन्त्रेश्वर है। तन्मूर्ति वेद स को स्थान प्राप्त नहीं है। वह एक स्वयम्भूतवत् कहा हुआ महावत् [अमरवत्] है। उस का एक भाग सवाणि है। एक

आत्मनिक बर है। यही यजुर्वेद नाम का विज्ञानप्रजापति है। इसी का निरूपण करते हुए मन्त्र के तीन पाद हमारे सामने आते हैं। विद्यनिर्माण आप की आहुति से होगा। यह इस प्रजापति का चौथा पाद है। तीन पाद विद्यके आधार किन्तु विद्यार्थी हैं। इस निम्न सिद्ध-विपाक्षिभूति विज्ञान को राज्य में रखकर मन्त्रद्वय अपि ने तीन पादों से तो विशुद्ध ब्रह्म का निरूपण किया है, एव एक [चौथे] पाद से विद्य का निरूपण किया है। यही तो मन्त्र का मन्त्ररत्न है यही वेदवाणी का उत्कर्ष है।

“अनेभ्योऽनसो गवीषो, ननेभ्यो आप्सुमन् पूर्वमर्पत् ।

तदावतोऽन्यानस्पति मिषत् ॥”

उक्त विपान्मन्त्र सृष्टि के मूलाधार का निरूपण करता है। सृष्टि ससृष्टिमात्रपर निर्भर है। ससृष्टि ही यह है, एक में दूसरे का आहुत होना ही यह है, अग्नि में सोम का आधान करना ही यह है। इसी विद्यात्मक यज्ञपाद का निरूपण करता हुआ निम्न स्थित षट्पदाद हमारे सामने आता है—

“तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति”

विश्व नामक यजुर्वेद के जूमाग से तप-धम-धारा पश्यन् नाम का अमृत [सुब्रह्म] उत्पन्न हुआ यह कहा जा चुका है। प्रकरणसंगति के लिए केवल यही समझलेना पर्याप्त होगा कि पार्य की उत्पत्ति में [चाहे वह चेतन हो, या अचेतन] योनि, रेत, रेतोषा इन तीनों मातृ की अपेक्षा रहती है। रेत उत्पत्ति का कारण है उपादान कारण है। परन्तु विशुद्ध रेत सृष्टि करने में असमर्थ है। अन्य प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर ही यह प्रजनयिता बनता है। नीच ही वह बनता है, इसमें कोई संदेह नहीं। परन्तु भूगर्भ में प्रतिष्ठित हुए बिना वह प्रजनन क्रम में असमर्थ है। इस प्रकार ओ प्रथम वस्तु का उपादान बनता है—यह तो रेत है, एव

निरैतोनिरैतोनिर में प्रतिष्ठित होकर यह अपनी प्रजनशक्ति को निरक्षित करने में समर्थ होता है, यह प्रतिष्ठामूर्ति योनि है। बीजरूप रेत भी है, योनिरूप भ्रूण भी है। परन्तु फिर भी काम नहीं चलता। बीज को मृगम में बाधनेवाला तीसरा पदार्थ [क्या—बीजप्रममकरने वाला] और होना चाहिए। यही तीसरा तत्त्व रेत का योनि में आधान करता हुआ—‘रैतोपा’ नाम से प्रसिद्ध है। वैजयन्त में अग्नि योनि है, सोम रेत है, आहुति देने वाला अर्धभू रैतोपा है। रेत का आधाया योनि में रेत का आधान करता है, तदनन्तर ही प्रजासृष्टि किंवा पदार्थोत्पत्ति होती है। सृष्टि का मुक्त द्विगुण प्रजापति सृष्टिनिर्माण करता चाहता है। सृष्टिप्रक्रिया में रेत—रैतोपा—योनि तीन भाग अपवृत्त हैं। इतर प्रजापति के पास सिधम अपने आप के (प्रजापतिरूप यक्षम के) दूसरी वस्तु का अभाव है। इस अभाव की पूर्ति के लिए (कामना की कृपा से) उसे अपने आपको प्रसू—सुप्रसू इन दो रूपों में परिणत होना पड़ता है। एक भाग से यह प्रसू बनता है, एक भाग से सुप्रसू बनता है। प्रसू यक्षु है, सुप्रसू आप है। यक्षु अग्नि है, यही योनि है। आप सोम है, यही रेत है। सुप्रसिद्ध मार्ग मातरिषा नामक वायु रैतोपा है। आहुतिरूप आपो—प्रसू में आप—वायु—सोम—अग्नि—यम आदि यक्ष ५ भाग बतलाए गए हैं। इन में अगिरा नामक, यम वायु—‘यमा ने प्रसूसानस्यष्टे’ (यत् ७।१।१।१) के अनुसार [इन्द्रप्रमिषम्] सृष्टि का प्रवर्तक नहीं, अपि तु निवर्तक है, निष्कर्षक है। सृष्टि सिधम से होती है। सिधम वायु यही मार्गवायु है। इसकी प्राय—पञ्चमूल—मातरिषा—संविता इन चारों अवस्थाओं का पूर्व में निरूपण किया जा चुका है। इन चारों में विषयस्वरूपसमर्पक मातरिषा वायु ही आपरूप रेत का आधान करता है। पूर्व प्रतिज्ञानुसार मातरिषा के सम्बन्ध में कुछ कड़मा आवश्यक हो गया है।

माता पृथिवी का नाम है, पृथिवी शब्द पिण्डमूल का उपलक्षण है, यैतौ कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। प्रत्येक पिण्ड अग्निमय है। यह अग्नि विसृति चित्तेनिधेय मेद से दो भागों में विभक्त है। विसृतिमग्नि से वस्तुपिण्ड बनता है, चित्तेनिधेय से वस्तिर्पिण्ड का स्वरूप सम्पन्न होता है। इन दोनों में विसृतिपिण्ड को संकितमापानुसार ‘पृथिवी’ कहा जाता है, एवं चित्तेनिधेयपिण्ड को दिव्यप्राण के समावेश से ‘पुम्भोक’ कहा जाता है। इस प्रकार प्रत्येक

वस्तु में पिण्डपृथिवी महिमायौ इन दो भागों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। समिता, प्राण, पञ्चमान इन तीनों मार्गवायुतत्त्वों का महिमामण्डल से सम्बन्ध है। महिमामण्डल में तीनों प्राणवायु व्याप्त होकर पिण्ड पर अनुमद करते हैं। इधर महिमा का विकास त्रिखण्ड के आनीन है। बिना पिण्ड के महिमा नहीं, एव बिना मातरिषा के पिण्ड नहीं। माता [पृथिवीरूप पिण्ड] के चारों ओर व्याप्त रहने वाला स्थिर वायु ही मातरिषा है। पिण्ड निर्माण करना, निर्मित पिण्ड को स्वस्वरूप में सुरक्षित रखना यह दोनों कार्य मातरिषा के हैं। आपोमय समुद्र में आपोमय वायु के प्रवेश से पानी का भाग घन हो जाता है। घनावस्थापन यही पानी 'अर्पागर' [पानी की घर-मसारा] नाम से प्रसिद्ध है। यह घन परमाणु भूपिण्ड के उत्पादन बनते हुए पार्थिवपरमाणु नाम से व्यवहन होते हैं। इसी के लिए—'अद्रव्यः पृथिवी' यह कहा जाता है। यह अद्रव्यपरमाणु, किंवा पार्थिव परमाणु उस आपोमय समुद्र में अतःस्वरूप से इतस्ततः व्याप्त रहते हैं। उस परिस्थिति में यही मातरिषावायु (जो कि ईश्वर प्रजापति का अवयव रूप होने से साक्षात् प्रजापति है) बसता है वह समुद्र में फैले हुए उन पार्थिव परमाणुओं का संकलन कर—उन पर व्यवहारा हुआ उन्हें पिण्डरूप में परिणत कर देता है। एकत्रसाव-श्लेदेन संकलित सब परमाणुओं को संकलित करना इसका पहिला काम है, संकलित कर पिण्डावस्थापन उस पदार्थ के चारों ओर घेराव होना इसका दूसरा काम है। यदि मातरिषा वायु एक ही समय में चारों ओर से परमाणुओं का संकलन न करे तो दूसरी ओर से परमाणु इतस्ततः निकल जाय। ऐसी अवस्था में पिण्डस्वरूपनिर्माण अर्थात्तव होजाय। चूंकि यह मातरिषा वायु एक ही काल में पृथ्वपरमाणुओं का चारों ओर से संकलन कर उस संकलित मातापस पिण्ड के चारों ओर स्थिररूप से व्याप्त होजाता है, अतएव इसे 'वराह' कहा जाता है। "हृण्ते- (सहस्रान्ते) इति वराः, अद्भुति-इति-वराः, परमासौ अद्भुतेति वराहः" वराह शब्द का यही निर्वाचन है। इस महाविषय में स्वप्न-परमेष्ठी-स्य-अग्रमा-पृथिवी यह पांच महापिण्ड माने जाते हैं। परिभाषा के अनुसार ज्ञानज्योतिर्मय सब पिण्ड स्वप्न नाम से, अज्योतिर्मय सब पिण्ड परमेष्ठी नाम से, स्वज्योतिर्मय सब पिण्ड सूर्य नाम से परज्योतिर्मय सब पिण्ड

अथमा माम से, एव रूपज्योतिर्मय सब विषय पृथिवी नाम से प्रसिद्ध हैं । सप्तसोमप्रमक विष में अर्त्तस्मय विषय हैं । मधुप्रविण्ड ही अर्त्तस्मय हैं । इन सब विण्डों की जाति ए उक्त प्रकार से पांच ही हैं । अतः यथायावत् विण्डों का स्वरूप परमेष्ठी यदि पांच महाविण्डों में अन्तर्भाव समझना चाहिये । पाँचों विण्डों का स्वरूप इसी मातरिका नाम के बराहवास से संभव हुआ है । यदि प्रजापति बराह रूप धारण न करते तो आपोमय समुद्र में परमाणु रूप से प्यस पांचों की भूमि पर सदा के लिए पानी में डूबे रहते । इसी बराह की कृपा में भूमि पर का उद्धार होता है । अतएव पृथिवी को बराह की पानी माना जाता है । स्वप्न भूयि यदि पाँचों भूमि पर का स्वरूप भिन्न भिन्न है, अतएव तत्स्वरूप सम्यक्, तत्संदिग्ध बराह भी पञ्चमा भिन्न होता हुआ पांच स्वरूप धारण करलेता है । ये पाँचों बराह क्रमशः आदिबराह यज्ञबराह, भैरवबराह ब्रह्मबराह, एमूपबराह इन नामों से प्रसिद्ध हैं । विरह का आदिपर्व स्वप्न है, अतएव तत्सम्बन्धी बराह 'आदिबराह' नाम से प्रसिद्ध है । 'तस्मिन्मयो मातरिकावापानि' इस मन्त्र-मया का मातरिका पारमेष्ठन 'यज्ञबराह' है । यज्ञ का प्रवक्तृ विष्णु अक्षर है । इस की भिन्नभूमि यही परमेष्ठी है । अतः विष्णुमय परमेष्ठी को हम अक्षर ही यज्ञमूर्ति कहने के लिए तत्पर हैं । यदि च-अग्नि में सोमाहुति होना ही यज्ञ है । अग्नि अंगिरा है, सोम अमृता है । दोनों परमेष्ठी के मनोता हैं । स्वप्न का प्रकाशिक रूप त्रयीवेद ही वाक्मात्र से आपोमय (सूक्त-विशेष) यज्ञ कहता है, जैसा कि 'सैषा त्रयीविद्या यज्ञः' इत्यदि से स्पष्ट है । इसी सब कारणों से हम परमेष्ठी को यज्ञमयय मानने के लिए तत्पर हैं ।

प्रजापति का प्रजापति सर्वप्रथम आपोमय पारमेष्ठनपञ्च को ही उत्पन्न करता है । यज्ञात् प्रजा का निर्माण करता है । इस आपोमय यज्ञात् को विषय रूप में परिणत करनेवाला मातरिका 'यज्ञबराह' नाम से प्रसिद्ध है । परमेष्ठी के अन्तर स्वरूप से प्रेरक, परन्तु सोम्य हृति से ज्योतिर्मय बना हुआ विष का केन्द्रमूल खेत सूर्य है । इस का अक्षरक वायु 'खेत-बराह' नाम से प्रसिद्ध है । प्रकृति में अग्नि होता है, वायु अक्षर्य है, आग्नि अक्षर्य

है, एक चन्द्रमा प्रज्ञा है। इसी प्रज्ञात्मक चन्द्रमा का स्वरूपसमर्पक मातरिराज 'ब्रह्मवराह' है। भूमियुद्ध का स्वरूपसमर्पक वराह 'एमुपवराह' नाम से व्यक्त होता है। 'एमुप' शब्दमें 'मा-इम-वसु' यह तीन लिप्य है। ईम भूमियुद्ध की ओर इशारा है, मा-मासमन्तात् मावका बोधक है, वसु म्यासि का सूचक है। 'वह इस के वारों ओर बस रहा है' एमुप का 'यही' अर्थ है। इसी पार्विण वराह का स्वरूप मतसाती हुई कुत्ति कहती है—

१ 'ता (प्रादेशमाधी (पृथिवी) एमुप इति वराह उल्लापान ।

सोऽथ्यः पतिः प्रजापतिः । (यत् १।१।२।११)'

'स वै वराहो रूप कृत्वा उपन्यमज्जत् । (ते १।१।२।११)'

मातरिजा पाषों का सामान्य नाम है, आदिशराह, यज्ञवराहादि विशेषनाम हैं। वराह वायु रूप है। वायु अन्तरिक्ष की वस्तु है। जैसे पृथिवी में दधिरस (धनरस) का साम्राज्य है, दुस्रो में अधिरस का साम्राज्य है, परमेष्ठी में अमृत (सोम) का साम्राज्य है, एकमेव अन्तरिक्षगत वायु में घृतस (तालरस) की प्रधानता है— 'घृतमन्तरिक्षस्य' (यत् -----) । पृथिवी वायुप्रायःप्रधान घृत सभी प्राणियों में रहता है, परन्तु इस की अतिमात्रा 'शुकर' नाम के पशु में ही रहती है। शुकर पशु उस वायुरूप आभिदैमिक वराह की साक्षात् प्रतिमा है। जिस प्रकार क्षत्रप प्रजापति का आकार कूर्म (वज्रुमा) है, एकमेव वराहप्रजापति का अन्तार शुकर पशु है। अतएव इतर पशुओं की अपेक्षा शुकर में वर्षी (घृत) अतिमात्रा में उपलब्ध होती है। सब से अधिक घृत इसमें रहता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर कुत्ति कहती है—

"अधी (पार्षिवाधी) इ वै देवा घृतकुम्भ मयेगयाञ्जुता, ततो—

वराहः सम्बभूव । तस्माद् वराहो मेदुरा, घृतादि सम्भूतः"

(यत् १।१।२।१२)

पार्षिण अग्नि रुद्र है। यह क्रौञ्च [मय्यु] मूर्ति है, इसी में घृतावृत्ति होने से शुकरपशु उत्पन्न होता है। उग्रसूयवत् में दीक्षित राजा वराहीवपानत् [शुकरवर्म के वृत्ते] पहिन्ता

है । 'पयसो वा एष मनुष्येन्द्राहः' [तै० ब्रा० १।७।१।४]— 'पराहः क्रोधा' [ग्रे० श्र पृ० २।२।] के अनुसार शूकर साक्षात् क्रोध की मूर्ति है । दो शेरों के बीच में से शूकर निर्भीक निकल जाता है, परन्तु दो शूकरों के बीच में से शेर नहीं आसकता । उस ब्राह्म के स्वरूप ज्ञान के लिए श्रुतियों ने निदान किया के आधार पर उस की व्याप्ति शूकर जैसी बना जाती है । वह ब्राह्म वायु भूषण से सज्जन रहता है । यही वृत्ति तत्त्वप्रतिवृत्तिभूत इस शूकर पशु की है । शूकर जब आवेश में आकर चलता है तो अपने शृंग से जमीन को कुदे दता हुआ भगाटे के साथ सू-सू-करता हुआ आगे बढ़ता है, यही वायु का व्यापार है । दोनों की समान वृत्ति है । पाठक यह सुमकर आश्चर्य करेंगे कि राजपूताने में होमवासी सुप्रसिद्ध वृत्तिहसीरा के दूसरे दिन होने वाली ब्राह्मरीक्षा में जो मनुष्य ब्राह्म बनता है वह वृत्तिह की तरह सीरा घूमता हुआ नहीं चलता, अपि तु जमीन पर लौटता हुआ सरपट चलता है । क्यों कि जिस की स्थिति में यह सीरा होती है, वह ब्राह्म वायुका प्रजापति इसी तरह चलते हैं । आपोमय मण्डल असुरप्राण की आवासभूमि है । परमाणुरूप पृथिवी किसी समय इन असुरों के अधिकार में थी परन्तु आगे जाकर इस ब्राह्म प्रजापति की कृपा से भूमिबद्ध अप्सुमुद्र से निकल कर सप्तसरावर्णिज सौरदेवताओं के अधिकार में आगम्य है । ब्राह्म प्रजापति असुरों के द्वेषी हैं देवताओं के उपकारक हैं । अतएव असुरप्राणतिभूत यवन दिव्यप्राणोपकारक ब्राह्मप्रजापति की प्रतिवृत्तिभूत शूकरपशु को द्वेषमुद्र से देखते हैं । भूमिबद्धपर जो सबमाग रहता है उसे अपनी पावनशक्ति से नष्ट करते रहना ब्राह्मवायु का स्वाभाविक धर्म है । इसी ब्राह्मवायु के लिए 'पशते' कहा जाता है । अतएव तत्त्वप्रतिवृत्तिभूत शूकरपशु सबमाग का [विष्ठादि का] नियन्त्रण किया करता है । पार्थिव भौतिक भाग से अन्त्यज्यादि की सृष्टि होती है । यही ब्राह्म प्रसिद्धि है । अतएव शूकरपशु और अन्त्यज [महतर-मग्नि] की एक वृत्ति है, सबविशेषन दोनों का समान धर्म है । शूकरपशु का पावन विशेषतः इन्हीं के धर्म में होता है । इस प्रकार से यहां हमें यही कहना है कि विघ्ननिर्मल का प्रधान कारण रेत का आवास करने वाला पिण्डसृष्टि का प्रकर्तक मार्गविशेष वायु ही—'मातरिन्वा' है । 'मनेन्द्रदेह' योनि है, 'अपः' रेत है । 'मातरिन्वा' रेतोपा है, जैसा कि आगे जाकर शब्द होमागम्य ।

पूर्व में हमें पुरुष ब्रह्माग्नि को पुरुष कहा था एवं सुक्तरूप आण को स्त्री कहा था । आज इससे ठीक विपरीत कहते हैं । अग्निरूप अब स्त्री है, आपोमय सुक्तरूप पुरुष है । वह अग्निपुरुष भी बन रहा है, यह सुक्तरूपी पुरुष बन रही है । इस वैपरीत्य का प्रत्यक्ष अनुभव मनुष्य समाज में किया जासकता है । आप जिन्हें मनुष्य कहते हैं, वे सब स्त्रिए हैं, एवं जिन्हें भी कहते हैं, वे सब पुरुष हैं । इसी रहस्य का प्रतिपादन करते हुए महर्षि दीर्घतमा कहते हैं—

स्त्रियं सतीम्तां च मे पुंस आहु पश्य^१ क्षयमात्रं नि चेत्तदन्मः ।

कविर्यः पुत्रं स ईमाचिकेत यन्ता विजानात् स पितृष्वितासत् ॥

श्रुत् सः १ मण्डल, अस्पृशनीयसूक्त १५४, १५ म० ।

सर्वश्री सायणाचार्यने उक्त मन्त्र के व्याख्यात्मक और आध्यात्मिक पक्ष वेद से दो अर्थ किए हैं । अधिदैवतपक्ष में सौररश्मियों की प्रभुत्वता मानी है । रश्मियों पर ही अर्थ बटाया है । एवं व्याख्यापक्ष में निरस्तसमाप्तोपाधिक विशुद्ध आत्मा व साय अर्थ का सम्भव किया है । श्वर वेद के प्रसिद्ध व्याख्याता यास्कमुनिने मन्त्र को आत्मगति परक समझाया है । इस मन्त्र से हम जिस अर्थ का विमर्शन कराने वाले हैं उसका किसी भाष्य से सम्बन्ध नहीं है, वह अप सतन्त्र अर्थ है । सायणाचार्य में जो अर्थ किए हैं उनके सम्बन्ध में भी हमारी यह विप्रतिपत्ति है कि वहाँ पदार्थों का विज्ञानदृष्टि से निरूपण नहीं हुआ है । केवल शब्दावली पर विग्रह हुआ है । इस कथन से हम अपने येद्रेमी पाठकों को यह सूचित करना चाहते हैं कि उपसम्भ वेदभाष्य कर्मकाण्ड की दृष्टि से मले ही उपयोगी हों, परन्तु विज्ञानदृष्टि से भाष्यार्थ अनुपयुक्त एवं अनर्थापत्ति से प्रतीत होते हैं । उदाहरण के लिए अमरशब्द को लीजिए । अमरशब्द का शासक ग्रन्थों में 'अमरमिति द्वयत्वरम्' यह निर्बचन हुआ है । भाष्यकारने 'अत उपाकपक्षरं, नपिसेकपक्षरम्' यह निबचन किया है । विचार कीजिए क्या यह निर्बचन ठीक है । अत्-और नम्-अक्षर हैं इस सचविदित विषय के लिए गभीरगया बुद्धिने—'अमरमिति-

इषत्वरम्' कहा हो—यह बात नहीं जचती । अथर्व ही मुक्ति किन्ती गूढ़ अथर्व के सूचित करती है । हमारी इष्टि से यहाँ दो अक्षरों से अग्नि एव सोम अग्निप्रेत हैं । पञ्चाक्षरों में ब्रह्मा विष्णु—इन्द्र—यह तीन अक्षर सहचारी हैं अग्नी सोम यह दो अक्षर सहचारी हैं । अग्नि की विक्रमसमूहि सूर्य है, सोम की विक्रमसमूहि चन्द्रमा है । सूर्यचन्द्ररस के सम्बन्ध से अन्न का निर्माण होता है । यह अन्न ओषधि—वनस्पति मत् से दोमागों में विभक्त है । ओषधियों में सौर अग्नि गोख रहता है, चान्द्रसोम प्रधान रहता है, अतएव यह मनोकथ्य कर्षक हैं , अतएव चन्द्रमा को ओषधियों का पति कहा जाता है , चन्द्रमा ही मन का अविघाता है । एवमेव वनस्पतियों में चान्द्रसोम गोख सौर अग्नि प्रधान रहता है । अतएव वनस्पति ए बुद्धिर्बिक मान्नी जाती हैं सूर्य ही बुद्धि का प्रवर्धक है । इसप्रकार ओषधि—वनस्पतिरूप उभयविध अन्न में तारतम्य से अग्नि—सोम दोनों अक्षरों की सत्ता सिद्ध होनाती है । मुक्ति का वदय इन्हीं दो अक्षरों की ओर है, न कि आराधनद्वय विहित अतु—वीर नम् अक्षरों की ओर । यही द्रव्य उपर्युक्त मन्त्राय की है । यद्यपि विषय अत्राकृत है तथापि शैबी के परिचय के लिए रेतोजा प्रकरण के सम्बन्ध से उक्त मन्त्र का वैज्ञानिक अथ पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है ।

उक्त मन्त्रार्थ के सम्बन्ध में आत्मविषयिणीभावना, रश्मिविषयिणीभावना शुक्र विषयिणीभावना इन तीन भावनाओं की प्रधानता है । प्रकृत में शुक्रविषयिणी भावना का ही सम्बन्ध है, अतः सूचीकृत्यह न्याय से पहिले सवेष से आत्म० रश्मि० भावना का ही निरूपण करण्य जाता है ।

१—आत्मविषयिणीभावना

आत्मविषयिणीभावना के सम्बन्ध में आपकी ब्रह्मात्मा वैवात्मा, मृतात्मा इन तीन आत्मविकर्षों को सामने रखना पड़ेगा । स्वायम्भुवब्रह्मात्मा को ब्रह्मात्मा कहा जाता है, सौर

१—इस विषय का निरूप विवेचन उत्तरव विज्ञानमार्ग के प्रथम वर्ग में उपरबद्ध ब्राह्मणमार्ग में वैद्यन्य आदिसे ।

आत्मा देवात्मा है एव पार्थिवआत्मा भूतात्मा है। सपनिषद् में सायम्मुत्र आत्मा की प्रचानता है, निगमशास्त्र [श्रुक्—यजु साम नाम से प्रसिद्ध वेदग्रन्थों] में सौरआत्मा की प्रचानता है, एव आगमशास्त्र में पार्थिव भूतात्मा का निरूपण है। मौक्तिक सौरपदार्थों का निरूपण करने वाला श्रुग्वेद है, यौगिक सौरपदार्थों का निरूपण यजुर्वेद है, एव सौरपदार्थों का पार्थिवपदार्थों के साथ सम्बन्ध रहस्य धृत होने वाला वेदविभाग सामवेद है। यह त्रयीविद्या निगमशास्त्र है, इस की प्रतिष्ठा देवात्मा है। केनोपनिषद् में इन तीनों का विस्तार से निरूपण होने वाला है। अतः प्रकृत में इनके नाम मात्रों का उल्लेख कर दिया है। यहाँ (केनोपनिषद् में) 'ब्रह्म इ देवेभ्यो विनिर्द्ध्य' 'भूतेषु भूतेषु निविश भीराः यह कहा गया है। इनमें ब्रह्म' ब्रह्मात्मा है, 'देवेभ्यः' देवात्मा का सूचक है एव 'भूतेषु भूतेषु' भूतात्मा का सूचक है।

अभ्ययपुरुषात्मनश्चतुर्गुणसाधकभस्वरपुरुष ब्रह्मात्मा है यही औपनिषदपुरुष कि वा औपनिषदात्मा है। अभ्ययप्रायरूप अग्नीप्राय के समवाय से जिस अग्नीप्राय का उदय होता है, वह इतर प्राणों का (हस्मियप्राणों का आत्मा है इसी का नाम देवात्मा है। यही नैगमिक आत्मा है। जो जिसका उक्त—ब्रह्म—साम होता है, वही उसका आत्मा कहसकता है। यही आत्मा भूतात्मा है। इसी को आगमिकआत्मा कहा जाता है। इन तीनों में से प्रकृतमन्त्र औपनिषदात्मा (ब्रह्मात्मा) का ही निरूपण करता है।

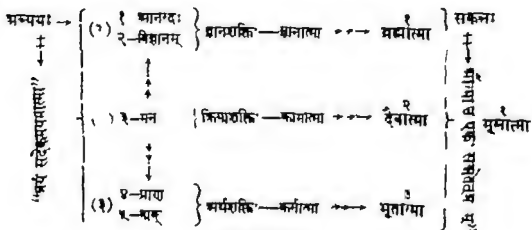
उक्त तीनों आत्मविधर्ष एकमात्र अभ्यय पुरुष की विभूति है। वही ब्रह्मात्मा है, वही देवात्मा है, वही भूतात्मा है—'मत् परतरं नान्यत्'। अभ्ययपुरुष की आनन्द—विज्ञान—मन—प्राय—वाक् यह पांच कलाएँ बतसाई गई हैं। इन पाँचों के आत्मैकविज्ञान मन्त्र प्रायवाक्य यह तीन विभाग हैं। प्रथम विभाग ज्ञानप्रधान ज्ञानात्मा है, दूसरा विभाग काम (इच्छा) प्रधान कामात्मा है, तीसरा विभाग कर्मप्रधान 'कर्मत्मा' है। ज्ञानात्मा ज्ञानशक्तिप्रधान है, कामात्मा क्रियाशक्तिप्रधान है, कर्मत्मा अपशक्तिप्रधान है, इसी को अमात्मा भी कहा जाता है। व्याख्यान का नाम अर्थ है। अम की ही व्याख्या होती है। यह विभाग मौक्तिक विभाग है।

इसी अभ्यस्यपुरुष से भागे जाकर अक्षर और आत्मक्षर का विकास होता है। महात्माय के सम्बन्ध से इन्द्रियवत् रूप अक्षरक्षर का विकास होता है, ऐसा कि पुरुषनिष्ठिक में विस्तार से बताया जा चुका है। अभ्यवात्मा का कर्मात्मा प्राणबाह्यम क्तसाया गया है। इस पर कामरुमा रूप मन का भी अनुग्रह रहता है। अतएव अभ्यस्यकर्मत्मा मन-प्राण-बाह् मेद से त्रिकस बन जाता है। कर्मत्मा का योगाग ज्ञानशक्तिपन होता हुआ ज्ञानात्मा है, प्राणमाग क्रिया शक्तिपन होता हुआ कामात्मा है एवं बाह्माग् अर्थशक्तिपन होता हुआ कर्मत्मा है। इस प्रकार अभ्यस के केवल कर्मात्मा में भी मन-प्राण-बाह् मेद से उक्त तीन आत्माओं का योग सिद्ध हो जाता है। इसी विभाग ज्ञानात्मा का है। आनन्द विज्ञान को ज्ञानात्मा कहा है। जिस प्रकार मम्पतिन कामरुममन का कर्मात्मा रूप प्राणबाह् पर अनुग्रह होता है, एवमेव आनन्द विज्ञान रूप ज्ञानात्मा के साथ भी मन का सम्बन्ध होता है। ऐसी स्थिति में अभ्यस का ज्ञानात्मा योगाग आनन्द-विज्ञान-मन मेद से त्रिकस बन जाता है। आनन्द गुह्य ज्ञानमूर्ति बनता हुआ ज्ञानात्मा है, विज्ञान क्रियामय होता हुआ कर्मात्मा है, मन अर्थों की व्यापारमूर्ति बनता हुआ कर्मात्मा है। इस प्रकार अभ्यस के केवल ज्ञानात्मा में भी आनन्द-विज्ञान-मन मेद से उक्त तीनों आत्माओं का योग सिद्ध हो जाता है। तीसरा है मम्पतिन कामरुम मन नाम का कामात्मा। जिस प्रकार अभ्यस के आनन्द विज्ञान रूप मन माग के साथ एवं प्राणबाह् रूप कर्म माग के साथ मम्पत्य मन का सम्बन्ध रहता है एवमेव मम्पत्य मन पर भी ज्ञान-कर्मात्मा दोनों का अनुग्रह होता है। ज्ञानात्मा के सम्बन्ध से (आनन्द विज्ञान के सम्बन्ध से) मन में काम (कामना इच्छा) का उदय होता है। 'ज्ञानमन्या मदेदित्ता' यह सिद्धांत सर्वसम्मत है। कर्मात्मा के (प्राणबाह् के) सम्बन्ध से मन में आश्रय का उदय होता है। मम्पत्य मन काम व्यापार के सम्बन्ध से दृश्य हो पड़ता है, यह योग ही किया है। इस प्रकार केवल मन में ही काम-विशेष-व्यापार इन तीन वृत्तियों का उदय हो जाता है। ज्ञानागुह्यीत काममयमन ज्ञानात्मा है कर्मागुह्यीत व्यापारमय मन कर्मात्मा है, विशेषरूपका वही मन कामात्मा है। इस प्रकार काम विशेष-व्यापार के सम्बन्ध से केवल मम्पत्य कामात्मा रूप मन में भी उक्त तीनों आत्माओं का योग सिद्ध

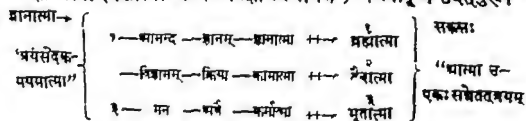
हो जाता है । स्वयं पञ्चकक्ष क्रम्यय त्रेधा विभक्त है । इस की प्रत्येक कक्षा पुन त्रेधा-त्रेधा विभक्त है । यही त्रिपाद्विभूति है । इस विभूति का मूलस्तम्भ आत्मा का त्रिबुद्भाव है जैसा कि पुरुषात्माधिकरण के मनप्राणबुद्ध के त्रिबुद्भाव की व्यापकता" प्रकरण में विस्तार में बतसाया जा चुका है ।

महामायावच्छिन्न - निष्कलो - मायी - अव्ययपुरुष - सर्वालम्बनम्

अध्वययात्मा-त्रिपात् (त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुष)



१- ज्ञानात्मा (ब्रह्मात्मा आनन्दविज्ञानमनोमय) “त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुष ”



२-कायात्मा (देवात्मा-कामचित्तेपावरणमय) 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्तपुरुषः'

काया-मा →	१-कामः — कामम् — कामात्मा ++ →	ब्रह्मात्मा	} सकलः ‘मा-मा उ एक- समेतवचनम्’
‘अये सदक मयम रमा’	२-चित्तेपा — चित्तेपा — चित्तेपात्मा ++ →	देवात्मा	
	३-पावरणम् — पावरणम् — पावरणम् ++ →	भूतात्मा	

३- कर्मात्मा (भूतात्मा मनप्राणवाङ्मयः) ‘त्रिपादूर्ध्व उदैत्तपुरुषः’

कर्मात्मा →	१-मनः — मनम् — मानात्मा ++ →	ब्रह्मात्मा	} सकल ‘मात्मा उ एकः समेतवचनम्’
‘अये सदक मयम रमा’	२-प्राण — क्तिपा — कर्मात्मा ++ →	देवात्मा	
	३-वाक् — वाक् — भूतात्मा ++ →	भूतात्मा	

कर्मात्मा अर्थात् पुरुष कर्मात्मा अर्थात् पर प्रतिष्ठित है, कर्मात्मा का आश्रयन मानात्मा है। मानात्मा सुखि का आश्रयन है, कर्मात्मा सुखिवादी है, कर्मात्मा (प्रकृतिक) सुखिवादी है। इस कर्मात्मा का आगे भावत अर्थात् और आत्मवचन अर्थात् प्रकृति पर अनुग्रह होता है। कर्मात्मा की मानमयी फलोक्ता सत्वरूप से (अभ्यन्तरिक से) प्रतिष्ठित रहती है, दूसरे शब्दों में अभ्यन्तरिक मानप्रधान होता हुआ मानात्मा है, मानात्मा है। प्राणवचन का अर्थ पर अनुग्रह होता है इससे अर्थात् क्तिपावचन हुआ देवात्मा मानात्मा है। वाक्वचन का अनुग्रह आत्मवचन पर होता है इससे अर्थात् भूतात्मा मानात्मा है। अर्थात् मान-प्राण-वाक् अर्थात् अर्थात् मानात्मा है अर्थात् देवात्मा भूतात्मा है। पुरुष की इसी विमुक्ति है।

१-अभ्ययपुरुष (ज्ञानम्) - ज्ञानप्रधानो मनोमय - ज्ञानात्मा - - - - - अक्षरमात्मा

२-अक्षरपुरुष (क्रिया) - क्रियाप्रधान प्राक्प्रलय-कामात्मा - - - - - देवात्मा

३-आत्माक्षरपुरुष (अर्थ) - अर्थप्रधानो वाक्प्रलय-कर्मात्मा - - - - - मृतात्मा

अभ्ययपुरुष पुरुष है प्रमापति है । अक्षर और क्षर इसकी प्रमा है । अक्षरप्रमा देवता है, क्षरप्रमा मृत है । देवतानि च मृतानि च' यह प्रसिद्ध है । देवितानि देवात्मा है, मृतानि मृतात्मा है, अथ अभ्यय प्रमात्मा है । योगमाया सम्बन्ध से दैवत अक्षर, और मोक्षक्षर दोनों की पाँच पाँच कक्षाएँ हो जाती हैं, भिन्नका कि विराट् निरूपण पुरुषनिरूपण में हो चुका है । इन तीन आत्माओं में अभ्यय प्रधान आत्मा है अक्षर एव क्षर विद्य है , दोनों की समष्टि विपुरुष पुरुष है । अभ्यय पुरुष है अक्षर अमृत है क्षर मृत्यु है । इन्हीं तीन कक्षाओं का निरूपण करती हुई यत्न कुति करती है—

पुरुष एवेदं सर्वं यत्तुमृत यच्च भाभ्ययम् ।

उतामृतस्वरूपेशानो यदभेनातिरोहति (यस्य स० ३१।४) ।

मन्त्र का पूर्वभाग अभ्यय पुरुष का निरूपण करता हुआ कहता है कि आगे का सारा प्रपञ्च पुरुष विभूति से व्याप्त है । पुरुष ही अक्षर बना है, क्षरीक्षर बना है । अमृत का अधिष्ठाता अक्षर है, एव जो अमृत से प्रवृद्ध होता है वह क्षर है । अक्षर पुरुष के लिए जहाँ 'न मेघति न कृष्यति' कहा जाता है, वहाँ क्षर के लिए 'यदभेन-प्रतिरोहति' यह कहा गया है । अर्पण कक्षाभेदों के कारण अक्षर और क्षर पुरुष भी पुरुषवत् विपादविभूति से युक्त होना पड़ेगा । अक्षर अभ्यय की ज्ञानकक्षा से अनुगृहीत होता हुआ ज्ञानात्मा, किंवा प्रमात्मा है । इन्द्रा विष्णु (दोनों अक्षर) अभ्यय की क्रियाकक्षा से अनुगृहीत बनकर कामात्मा, किंवा देवात्मा है । अग्नीषोमाक्षर अभ्यय की अर्थकक्षा से अनुगृहीत होकर कर्मात्मा किंवा मृतात्मा है । इसी प्रकार प्राणक्षर अ० वा स अनुगृहीत होकर ज्ञानात्मा (प्रमात्मा) है, आपवाक्क्षर क्रिया से अनुगृहीत कामात्मा [देवात्मा] है एव अमावाक्षर अर्थानुगृहीत कर्मात्मा [मृतात्मा] है । इस प्रकार अक्षर और क्षर में भी पूर्वोक्त तीनों आत्मविभूतियों का योग हो रहा है ।

अक्षरपुरुषस्त्रिपात्

१	१-आत्मा] ज्ञानम् — ज्ञानात्मा ++ → ब्रह्मात्मा	} त्रिपादसूत्र उद्देश्यपुरुषः
२	२-इन्द्र	{ क्रिया — क्रियात्मा — देवा मा	
३	३-विष्णु		
४	४-अग्नि	{ कर्म — कर्मात्मा — मृतात्मा	
	५-सोमः		

क्षरपुरुषस्त्रिपात्

१	१-प्राण]	ज्ञानम् — ज्ञानात्मा	—	ब्रह्मात्मा	}	"त्रिपादसूत्र उद्देश्यपुरुषः"
२	२-आप		{		क्रिया — क्रियात्मा		
३	३-वाक्	{		कर्म — कर्मात्मा	—		
४	४-अक्षरम्		{	अक्षरम् — अक्षरात्मा			
५	अक्षरम्	{		अक्षरम् — अक्षरात्मा	—		

अव्यय, अक्षर, अक्षरमेव से पुरुषत्रयरूप वह पुरुष विश्व में चेतन, अचेतन, अचेतन मेव से तीन विभागों में विभक्त हो रहा है। चेतनमृष्टि उसका पहिला विभक्त है, इसका प्रधान अविद्यता अक्षरविशिष्ट अव्ययपुरुष [ज्ञानात्मा] है। अचेतनमृष्टि इसका दूसरा विभक्त है, इसका अविद्यता अव्ययपक्षविशिष्ट अक्षरपुरुष [कर्ममात्मा] है। एव अचेतनमृष्टि तीसरा विभक्त है। इसका अविद्यता अव्ययपक्षविशिष्ट अक्षरपुरुष [कर्ममात्मा] है। चेतनमृष्टि में अक्षरज्ञा, एव अक्षरज्ञ का सहयोग है, अचेतनमृष्टि में इन्द्राविष्णु अक्षर, एव आप-आक्षर का सहयोग है। एवं अचेतन मृष्टि में आग्निहोमअक्षर, एव अमानादक्षर का सहयोग है। चेतनमृष्टि ब्रह्ममृष्टि, किंवा अक्षरमृष्टि है। अचेतनमृष्टि देवमृष्टि किंवा प्राणमृष्टि है। एव अचेतनमृष्टि भूतमृष्टि, किंवा अक्षरमृष्टि है। जैसा कि निम्नलिखित तात्पर्यार्थों से स्पष्ट हो जाता है।

१-ज्ञानात्मा-अव्यय-ज्ञानेन-चेतनमृष्टि — ३- ब्रह्ममृष्टि

२-कर्ममात्मा-अक्षर-अक्षरमेवाचेतनमृष्टि — ४- देवमृष्टि

३-कर्ममात्मा-अक्षर-अक्षरमेवाचेतनमृष्टि — ५- भूतमृष्टि

पोहरीपुरुषस्त्रिपाद



१-ज्ञानात्मा-अव्यय-ज्ञानेन चेतनमृष्टि — ३- ब्रह्ममृष्टि

२-कर्ममात्मा-अव्यय-अक्षरमेवाचेतनमृष्टि — ४- देवमृष्टि

३-कर्ममात्मा-अव्यय-अक्षरमेवाचेतनमृष्टि — ५- भूतमृष्टि

अक्षरपुरुषस्त्रिपाद



१-ज्ञानात्मा-अक्षर-ज्ञानेन चेतनमृष्टि — ३- ब्रह्ममृष्टि

२-कर्ममात्मा-इन्द्राविष्णु-अक्षरमेवाचेतनमृष्टि — ४- देवमृष्टि

३-कर्ममात्मा-आग्निहोम-अक्षरमेवाचेतनमृष्टि — ५- भूतमृष्टि

अक्षरपुरुषस्त्रिपाद

- ४
- | | |
|--|--------------------|
| १—ज्ञानात्म — प्राण — ज्ञानेन चेतनसृष्टि — छ- ब्रह्मात्मसृष्टि | } चरपुरुषस्त्रिपाद |
| २—कामात्मनो—अन्धबौ—कामेनार्द्धचेतनसृष्टि — छ- देवात्मसृष्टि | |
| ३—कामात्मनो—अन्धबौ—कामेनार्द्धचेतनसृष्टि — छ- भूतात्मसृष्टि | |

इमं तीन सृष्टियों का ज्ञानो जाकर सृष्टरूप में स्वयम्—सूर्य—पृथिवी इन तीन पिण्डों में विकास होता है। स्वयम् चेतनसृष्टि का आसम्भन है, अतएव प्रवत्कारम्भ में हमने ब्रह्मात्मा को आवम्भु ब्रह्मा कहा है। सूर्य अर्द्धचेतनसृष्टि का आसम्भन है, अतएव देवात्मा को सीरआत्मा कहा है। पृथिवी अचेतनसृष्टि का आसम्भन है, अतएव भूतात्मा को पार्थिवआत्मा कहा है। स्वयम् ब्रह्म है, सूर्य देव है, पृथिवी भूत है। यह सृष्ट आत्मविषयों की चरम अक-
सानभूमि है।

- | | |
|--|----------------------------|
| १—ब्रह्म—स्वयम्—ज्ञानमयो—मनोमय — ज्ञानात्मा — छ- ब्रह्मात्मा | } त्रिपादूर्ध्व तदैवपुरुषः |
| २—देव—सूर्य — क्रियामय प्राणमय — कामात्मा — छ- देवात्मा | |
| ३—भूतम्—पृथ्वी — अर्थमयी — बाह्यमयी — कामात्मा — छ- भूतात्मा | |

- | |
|---|
| १—पञ्चकलाव्यय—त्रिकलाव्यय—ब्रह्म—प्राणमय—इशवम्भु ब्रह्मा — छ- ब्रह्मात्मा |
| २—पञ्चकलाव्यय—पञ्चकलाव्यय—इन्द्राव्यय—आपोमय — सीर आत्मा — छ- देवात्मा |
| ३—पञ्चकलाव्यय—त्रिकलाव्यय—अग्नीमय—अन्धबौ—पार्थिव आत्मा — छ- भूतात्मा |

- | | |
|---|-----------------------|
| १—चेतनाप्रधान—पुरुष—चेतनपुरुष | } 'पुरुष एवेद सर्वम्' |
| २—अर्द्धचेतनाप्रधान—पुरुष—अर्द्धचेतनपुरुष | |
| ३—अचेतनप्रधान—पुरुष—अचेतनपुरुष | |

सम्बन्ध से ही इसे 'सत्त्ववितस्विकाय' कहा जाता है। यही निरवेधर है, यही ब्रह्मात्मा है। इस विधिरूप की उपासना करना, निरन्तर उसके व्यापक स्वरूप का चिन्तन करते रहना आत्मविकास का मुख्य हेतु है। इससे आत्मज्ञान का उदय होता है, कारण यह आत्म आनात्म्य बनता हुआ मनप्रधाना चेतनसुद्धि का अभिधत्ता है।

हिरण्यगर्भोपासना सूर्यमूला उपासना है। सूर्य स्वयं हिरण्यगर्भ है। सौरभूमिपण्डस हिरण्य है। इसके गर्भ में सूर्य प्रविष्टित है। हिरण्य के चारों ओर भास् और वाक् का स्वर है। सतत सूर्यपान से अप्यात्मगत देवप्राण सबस बनता है। आत्मज्ञानोपकारिणी विद्यासुद्धि का उदय होता है। कारण यह आत्मा काश्यात्मा (दैत्यात्मा) बनता हुआ प्रत्यक्षप्रधाना अर्द्धभूतनसुद्धि का अभिधत्ता है।

अश्वत्थोपासना पृथिवीमूला है। "बह एक रतम्भ पृथक्त्वं खडा है, बह शान्त है, भवन्न है" इस प्रकार से विष्णु की हृदय (ससारहृदय) दृष्टि से भावना करनें वांछे के आत्म में अथ शक्ति का उदय होता है। अर्पणारा क्रिया पर अधिकार करता हुआ उपासक ज्ञानतरंग प्राप्त करनें में समर्थ होजाता है।

यही तीनों उपासनाएं भोक्तारोपासना, उद्गीथोपासना प्रमोचोपासना माय से भी व्यवहन हुई हैं। सूर्यभूमूला सर्वभूतान्तरोपासना भोक्तारोपासना है, जैसा कि श्रुति कहती है—

'भोमित्येतत्परमिदं सर्वम्। तत्सोपस्थानं भूतं भवद् मधिप्यदिति सर्वभोक्तार एव। यथान्यत् मिहसात्मीत तदप्योक्तार एव' (माण्डूक्य उ० १)।

"एतद्दे सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोक्तारः" [प्र० उ० १]।

सूर्यमूला हिरण्यगर्भोपासना उद्गीथोपासना है, जैसा कि "य एवासौ तपति तमुद्गीथं मुपासीत" (का० उ० ३।३।१) इत्यादिरूप से साध है। एवं तीसरी पृथिवीमूला अश्वत्थोपासना प्रमोचोपासना है। प्रमोचोपासना यह भी पणन रहना चाहिये कि इत उद्गीथोपनिषत् सूर्यभूमूला भोक्तारोपासना (सर्वभूतान्तरोपासना) का निरूपण करती है, जैसा कि 'भो पृथग्भूतं पूर्णमिदम्'

इस आत्म के मासगाठ से सिद्ध है । कठोपनिषत् पृथिवीमूला प्रणवोपासना (अधोपासना) का निरूपण करती है, जैसा कि 'कर्ष्यमूषोऽनाकूलात् एषोऽवस्थ' सनातनः' (कठ० ६।१।) इत्यादिसे स्पष्ट है । एष मुण्डकोपनिषत् सूक्ष्मा उद्गीषोपासना (विरूपणोपासना) का निरूपण करती है, जैसा कि 'तदन्तरसं [प्राज्ञः] मन्त्रेषु कर्णादि कणयो यन्मपश्यत्' [मु० १।२।१।] 'येनामरं पुरुषं वेद सखम्' [मु० १।२।१२।] "यत्र पठतत्र सूया" [मु० २।१।६।], "विरूपमये परे कोठे विरज प्रज्ञ निष्कनम्" [मु० २।२।६।] यदा पश्य परयेत रुमवयम्" [मु० ३।१।३।] 'बृहत् तदिष्यमभिन्तकपम्" [मु० ३।१।७।] "स्वयं जुह्वन् एकां वि श्रद्धया" [मु० ३।२।१०] इत्यादि कर से स्पष्ट है । तीनों ही उपासनाओं का सत्य अभिमत है । सपन्म को मूल मानकर पृथिवी तक व्याजाना ओंकारोपासना है । पृथिवी को मूल मानकर सपन्म तक चले जाने प्रणवोपासना है । सूर्य को मूल मानकर एष पृथिवी एव उपर सपन्म तक चले जाना उद्गीषोपासना है । प्रणव भी ओंकार है, उद्गीष भी ओंकार है । जो प्रणव है वही उद्गीष है, जो उद्गीष है वही प्रणव है । इष्टिकोष में वेद है, पठत तीनों आत्मव्यति से अभिमत हैं । इसी अभिमतता को सत्य में रखकर साम्योद्यमप्रति कहती है—

“अथ स्तुतु य उद्गीष स प्रणव, यः प्रणव स उद्गीष इति ।

अर्तो वा आदित्य उद्गीषा, एषः प्रणवः—भोम । इत शेषे स्वरभेति”

(मु० उ ३।११) ।

ओंकारोपासना अर्धोपासना है, उद्गीषोपासना अक्षरोपासना है, प्रणवोपासना सरोपासना है । कारण अर्धव्य वा स्वरानुव्र ज्ञा पर अक्षर का सौराग्र पर, अक्षर का पार्थिव्य अभि पर अनुपपन्न है, जैसा कि पूर्व की तात्त्विकताओं से स्पष्ट बन दिया गया है । इन तीनों उपासनाओं में प्रणवोपासना मूलतया से सम्बन्ध रखती हुई कर्मकाण्ड है, उद्गीषोपासना दृष्ट-रूपा से सम्बन्ध रखती हुई उपासनाकाण्ड है, ओंकारोपासना ज्ञातया से सम्बन्ध रखती हुई ज्ञानकाण्ड है । गीता इसी उपासना को प्रधान मानती है । कर्म का सम्बन्ध बाह्यम मूलतया के साथ है, उपासना दक्षता की ही होती है, ईश्वर अनुपास्य है, केवल ज्ञानगम्य है ।

- १-सर्वभूत-गतरात्मोपासना—(स्वयम्भूमृता-त्रयामोपासना-स्योकारोपासना)-ज्ञानकण्डम्
 २-हिरण्यमर्गोपासना—(मृषमृता—दैवामोपासना-उद्गीषोपासना)-उपासनाकण्डम्
 ३-अथ योपासना—(पृथिवीमृता—भूतामोपासना प्रकृष्टोपासना)-कर्मकाण्डम्

औपनिषत्काल में उपासना का यही क्रम था । परन्तु फलसम्पत्तिक्रम से ज्यों ज्यों मानव समाज का षोडशगुण निबल होता गया त्यों त्यों वह प्राकृतिक तत्त्वों की उपासना में शिथिल बनता गया । अतएव पुराणयुग में उस तीनों उपासनाएँ प्रतिमोपासना रूप में परिणत हो गई । इस का यह अर्थ नहीं है कि प्रतिमोपासना अव्यक्तिक है । स्वयम्भू-सूर्य पृथिवी भी तो उन्हीं की प्रतिमा हैं । पृथिवीपर दृष्टि रखनी जाती है, मनोयोग आत्मापर रहता है । सूर्यविम्ब प्रतिमा है, इस पर दृष्टि रखनी जाती है, तद्वायु प्यान सपञ्चपरक आत्मा पर किया जाता है । निरुक्त से अनिरुक्त पर पहुँचना ही तो प्रतिमोपासना है । मृत्यु के सदय बनाकर मृत्यु पर पहुँचना ही प्रतिमापूजन है । “दृष्टि अयपर-मह्य अय पर” इसी का तो नाम उपासना है । किंतु वह अमृत की उपासना तो बन ही नहीं सपनी । उपासना मृतग्रस्त, किंवा मूर्च्छि की ही हो सकती है । कोई प्राकृतिक पृथिवी-मृषपिण्ड आदि मूर्तियों की उपासना करता है तो अत्यन्त राक्षस साधारण अधिभारी पृथिवी के प्रत्यक्षरूप पाषाणदि की प्रतिमा को ही मगयतासपना का साधन मानता है । सत्य एक है, प्रकृति में भेद है । पुराणों में किसी नस्ल का दिव्य पद्वति का अनुसरण नहीं किया है अपि तु जो उपासना वे (उपनिषद्) में आरीक्षण से है उस अधिभारी का की शिथिलता से अज्ञ का रूप दे दातना है, जसा कि निम्न विनिव बपन में स्पष्ट है ।

१- तन्नेदृष्टिः तानेपाठनम् । २- अर्धपाठनम्, अर्धपाठनम् । ३- अर्धपाठनम् अथ तानेपाठनम् ।

• इस विषय का विवर विवेचन नीचे विवरण में है ।

अध्वन्यस्याग्नेमस्य निगुणस्य गुणा मनः ।

उपासकानां सिद्धयर्थं ब्रह्मस्यो रूपरूपिणा ॥

जो कम उक्त तीनों उपासनाओं का था, वही कम यहाँ रक्खा गया है। ब्रह्म ही उपासक यह जानते हैं कि आर्यशत में उपासना के मुख्यतः दो मार्ग बताये हैं। प्रथम पश्चिमा स्तम्भ है तथापि दूसरा स्तम्भ है। पीपल-वट-तुलसी-केला आदि वृक्षों की उपासना की जाती है। भगवद्भक्ति, भगवत् प्रतिमाओं की उपासना की जाती है। यह प्रथमोपासना साधार-नित्यभारत में दो मार्गों में विभक्त है। शास्त्रप्रामोपासना नियन्त्रोपासना है। इत्य-पत् उर-वदटादि शरीर अथवापुत्र मूर्तियों की आराधना साधारोपासना है। इस प्रकार शास्त्रप्रामोपासना, प्रतिमोपासना, वृक्षोपासना में से पौरुषिक उपासना तीन मार्गों में विभक्त है। चेतनवृत्ति सदा अर्द्धेन्द्र होती है, वृक्ष नहीं होती। पुरुष [मनुष्य] चेतन है, वह अर्द्धेन्द्र है। आये अर्द्धेन्द्र से इसका निर्माण हुआ है। इस उपासना में प्रथम का स्वरूप पुरुषाकार जैसा बनाया जाता है। यही सुप्रसिद्ध प्रतिमोपासना पश्चिमी सर्वभूतास्तवोपासना है। अर्द्धचेतनोपासना शेष प्रामोपासना है, यही शिवोपासना है। शास्त्रप्रामोपासना के केन्द्र में मुख्य रक्ता है। ऊपर का रूपस्तर सफेद है। सूर्य सूर्य की प्रतिमा है। शास्त्रप्राम सफेद शिरःपार्श्व है। तीसरी अथवापासना वृक्षोपासना है। शास्त्रप्रामोपासना का बड़ा महत्व मान्य गया है। इसमें तीन भाग हैं। कृष्णभाज, रश्मिभाज, सूर्य भेद से शास्त्रप्राम विभक्त है, विभाज पुरुष है। ऊपर का कृष्णभाज साक्षात् सफेद प्रकाश है, रश्मिभाज विद्युत् है, केन्द्रस्थ सूर्यसंभाज शिव है। त्रिमूर्ति की समष्टि शास्त्रप्रामोपासना है।

प्रमाणान्तर से विचार करिए—

विद्य में आत्म के तीन प्रमाण विद्यते हैं। पश्चिमा उदासीनभाव है, दूसरा महतिभाव है तीसरा विकृतिभाव है। उदासीनभाव 'अमृतम्' है, महतिभाव 'महा' है, विकृतिभाव 'गुण' है। 'न तस्य कार्य करण च विद्यते' के अनुसार अमृतस्वरूप उदासीनभाव कार्यकारण हीन है, प्रकृति नहीं है बिल्कुल निर्गुण है। कार्य, कारण कार्यकारणहीन भेद से एक ही पुरुष

तीन भागों में विभक्त हो रहा है। इस विषादविभूति का पूर्वके अमृतान्मसम्भाप्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। अबतक जिन तीन आत्मविवर्तों का विविध रूप से दिग्दर्शन कराया गया है, उस सारे आत्मप्रपञ्च को 'अमृतम्' समझिए। जमी ब्रह्म के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है। पोङ्गीपुरुष में ही ब्रह्म प्रकरण से तीन आत्मविवर्तों का भोग बताया है। ब्रह्म-देवात्म-मूलात्मसमष्टिरूप पोङ्गीपुरुष अमृतभाव है, इसीको ब्रह्मात्मा समझिए। यही विश्वासम्भन उदासीनभाव है। प्राणादि पाँच विकार स्वरूप पञ्चप्रकृति ब्रह्मभाव है, यही देवात्मा है। वाक्—आप—अग्नि की समष्टि विभूति भाव है, यही शुक्र है, यही मूलात्मा है।

- | | |
|--|----------|
| १- पोङ्गी पुरुष — उदासीनभाव — अमृतम् ++ → ब्रह्मात्मा — (ज्ञानात्मा) | } 'तदेव' |
| २- पञ्चकृतय — प्रकृतिभाव — ब्रह्म ++ → देवात्मा — (क्षमात्मा) | |
| ३- तिस्रो विभूतयः — विभूतिभाव — शुक्रम् ++ → मूलात्मा — (कामात्मा) | |

उपर्युक्त इन तीनों आत्माओं के निम्नलिखित सङ्गस समझने चाहिए—

- १- "अव्ययपुरुषात्तन्मन चरपुरुषसापकोऽचरपुरुषः" — ज्ञात्मा (औपनिषद्आत्मा)
- २- 'वाक्मयमाणाङ्गीमायसमभावे योऽयमङ्गीमायः' } देवात्मा (नैगमिकआत्मा)
स इतरेषा मायानामात्मा
- ३- "यस्य यदुक्तं ब्रह्म च साम, तत् तस्यात्मा" — मूलात्मा (आध्यात्मिकआत्मा)



जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में बताया गया है—“स्त्रियः सतीः०” इत्यादि मन्त्र अभ्यस-अक्षर-स्वरूप पोङ्गीपुरुष नाम के औपनिषद् ब्रह्मात्मा का ही निरूपण करता है। यह ब्रह्मात्मा वस्तुतः की है, फिर भी “अव्ययपुरुष, अचरपुरुष, चरपुरुष” इत्यादि रूप से इसे पुरुषशब्द से व्यञ्जित किया जा रहा है, अक्षर आत्मा को पुरुष बताया जा रहा है। इसी विपरीत व्यवहार का दिग्दर्शन करती हुई मुद्रा करती है—

‘स्त्रियः सतीस्तां च मे पुंस आहुः’

“ओ बहुत खिंर है, महर्षि लोग उन्हें मुझे पुरुष मतका रहे हैं” यही अक्षरार्थ है। अक्षरार्थ की कैसे है ? यदि वह सैर है तो उसे पुरुष क्यों कहा जाता है ? इस रहस्य को आखों बाधा देकर सकता है, अक्षर का अर्थ इस रहस्य को क्या समझ सकता है— ‘परमदत्तबान् न बिभ्रदप’। अर्थात् जो मुदिमान हैं, बहानिक हैं वे ही अपनी विज्ञानदृष्टि से उक्त रहस्य को समझ सकते हैं। साधारण मनुष्य इस गुण व्यवहार के रहस्य को कल्पना नहीं समझ सकते हैं। वह रहस्य क्या है ! उसे कौन समझता है ! मन्त्र का उत्तर भाग इसी प्रश्न का समाधान करता है।

क्षेत्र में बीज की आकृति होती है। इस से पुत्रोत्पत्ति होती है। क्षेत्र की अधिष्ठात्री मन्त्र है। माता के गर्भ में ही पुत्र जन्म लेता है। सम्पूर्ण विश्व उस आत्मनापति का पुत्रस्थानीय है, विश्व उसी के गर्भ में जन्म लेता है, वही निश्चयोनि है, विश्व का क्षेत्र है। योनिरूप क्षेत्रस्थानीय, अतएव आत्मपुरुष विश्व पुत्र की ‘माता’ बनता हुआ सचमुच ‘स्त्री’ है। श्री भी एक नहीं तीन तीन—अम्बय, अक्षर, ओर क्षर। पिता रेतोपा होता है, रेत की आकृति देते वाला है। आत्म में वही रेतोर्भावित है, अतएव पितास्थानीय बनता हुआ वह पुरुष शब्दसे भी मन्त्र बन होता है। पुरुष भी एक नहीं तीन तीन—अम्बयपुरुष, अक्षरपुरुष, क्षरपुरुष। निश्चयोनि रक्षा वह श्री है, रेतोपाच्छया वह पुरुष है, रेतच्छया वही पुत्र है। वही माता है वही पिता है, वही कुमार है, वही कुमारी है। इसी अभिप्राय से कृति—सृति करती है—

“त्वं श्री, त्वं पुमानसि, त्वं कुमारं च त्वं कुमारी” ।

“नैव श्री न पुमानेव नचैवायं नपुंसकः ।

यद्यश्चरीरमाद्यते तेन तेन स पुरुषते ॥’

“त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव पिता त्रिविधं त्वमेव ।

त्वमेव मधुश्च सखा त्वमेव सर्पं यमं क्षेत्रं च ॥”

जो अवस्था में पुत्र [अक्षर] होता हुआ भी कवि [आत्मतत्त्ववेत्ता] है, वही उक्त रहस्य को जानता है। ऐसा कवि पुत्र [प्रतिष्ठा की दृष्टि से] अपने पिता का भी पिता है। अर्थात् सोन

में वृद्ध पितास्वामीय मनुष्य पूज्यदृष्टि से नहीं देखा जाता, अपि तु उसी का पुत्र यदि आत्मसंभनवाता है तो दोनों की उपस्थिति में पुत्र ही पिता [पूज्य] दृष्टि से देखा जाता है। केवल मास सुफेद होने से ही एक व्यक्ति वृद्ध नहीं कहलाता। यदि एक सकल जवान है, और साप ही में विद्वान है तो उसे वृद्ध कहा जाता है। आयुदृष्टि वृद्धत्वका कारण नहीं है। बयोवृद्ध श्रुत नहीं कहलाता, अपि तु विषावृद्ध ही बयोवृद्ध कहलाता है, एव वही लोक में पूजित होता है। इसी अमिप्राय से भगवान् मनु कहते हैं—

न तेन वृद्धो मयति येनास्य पसित गिर ।

यो नै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ (मनु)

विद्वानात्मा उस आत्मप्रजापति का विद्वान पुत्र है, कवि है। वही तो उक्त रहस्यको जान सकता है। सचमुच आज आर्यावर्त धृति के—‘कवियाः पुत्राः स ईमाधिकृत’ इस आदर्श को भूल गण है। वृद्धि के मरु कर्मान् भारतमें उपयोग—मूर्ख व्यक्तियों का समादर कर रक्खा है, योग्यों को हेय समझ रक्खा है। प्राचीन युग में क्या होता था ? इसके सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थ में एक बड़ा सुन्दर आशयान उपलब्ध होता है। अंगिरा महर्षि के बराज अतएव ‘आंगिरस’ नाम से प्रसिद्ध, अकस्मात् में बहुत छोटे (शिशु) पुत्र मन्त्रनिर्माता थे, साक्षात्कृत धर्म थे। एकबार देवसभा में अपने पिता के साथ यह बैठे हुए थे। वहाँ किसी कार्य से अपने पिता का आवाहन करते हुए इनके मुख से—“पुत्रका” [हि छोटे बच्चे] यह सुनते ही पिता अप्रसन्न होगये, और बोले कि अरे ! तू हमारा पुत्र होकर हमें ‘पुत्रका’ कह रहा है। तू धर्म कर रहा है। उसने उत्तर दिया कि वास्तव में पिता मैं हूँ कारण मैं मन्त्रनिर्माता हूँ। अन्त में देवताओंमें भी इसी पणका समर्पण किया।

१—यहाँ विद्वान् पुत्र का ईश्वर का पुत्र बतलाया गया है। विश्व के सभी परार्थ ईश्वर के पुत्र हैं, यह आर्यावर्त की विशिष्ट भावना है। आत्मस्वामी महात्मा ईश्वरकीर्ति ही वाद को मथानता दी है, जो कि आर्यत्वका का ही एक माह है।

“गिर्युर्वा-मागिरसो मन्महता मन्महदासीत् । स पितृन् पुत्रका इति-
ब्राम्हणयत् । तं पितरोऽमुबन्-मपर्म (करापि) यो न पितृन्-‘पुत्रका’
इसाम-अयसे । सोऽप्रवीत्-मह बान मितास्मि यो मन्महत्-इति । (ते-
पितर-‘पुत्रोचरे-अअदधानाः) देवानपृच्छन्त । ते देवा बामुबन्-एप बान
पिता, यो मन्महत्-इति । तद् स- (गिर्युराग्निरसः)- ‘अययत्’ इति ।

(ताण्ड्यभा० १३।३।२४) ।

महत् मन्त्रों बिना के अभिप्राय से ही ‘पितृपितासत्’ यह कहा है । यह है काम-
सम्बन्धी प्रथम अथ का सङ्क्षिप्त हिन्दुत्व । अब सूर्यप्रतिमास्थिनी माधना का हिन्दुत्व
कहा जाता है ।

इति-आत्मविषयिणीभावना ।

१

१ —रश्मिविषयिणीभावना

विकसितस्य सूर्य-हिरण्यगर्भप्रजापतिः । प्रजापति में आत्मा, प्राण, परा यह तीन कहाए
निय प्रसिद्धि रखती हैं । आत्मा भाग आत्मा है, योति भाग प्राण है, गौ भाग परा है । परी
तीन सूर्य के मनोत्र हैं—(देखिए ई उ मि भा २०१ पृ) । आत्मा भाग आत्मा की निरवस-
भूमि है, योति भाग देवता की निरवसभूमि है, एक गौ भाग भूत का जनक है । त्रैलोक्य में ब्रह्म
स्थूल है, सब का जनक सौर गौतर है । प्रजापति रूप देवताओं का विकास सौरयोतिभाग
से हुआ है । इन सब प्राणियों के आत्मा का आधार आत्मा भाग है । इन तीनों में आत्मा

‘सुव्यप्राण’ है, अग्नीप्राण है। इसी को ‘परोरन्ताप्राण’ कहा जाता है। इसी को सद्य बना कर—‘योऽसात्रादित्ये पुरुष सोऽहम्’ यह कहा जाता है। इस आत्मप्राण को—‘आदित्यस्य पर मा’ इस नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। ज्योतिष्मन् प्राणरूप देवता है। यह अग्नि-सोम भेद से दो मार्गों में विभक्त है। आग्नेयप्राणावच्छिन्न सौरसान्निध्यमि दाहक है, सौम्य प्राणावच्छिन्न पारमेष्ठ्य आर्गवसोम दाहक है। दोनों का समन्वितरूप ज्योति है। व्याप सूर्य में जो प्रकाश देख रहे हैं, वह अग्नि-सोम का समन्वित रूप ही है। स्थूलभूत पशुरूप है।

१—आत्मा— आयु (आत्मा) →→→	परोरन्ताप्राण	} सौरसत्त्वा
२—प्राण — ज्योति (देश) →→→	आग्नेय-सौम्यप्राणी	
३—पशु — गो (भूतानि) →→→	स्थूलभूतानि	

इन तीनों में हिरण्यगर्भ नाम से प्रसिद्ध आत्मरूप परोरन्ताप्राण के आधार पर ही आग्नेय-सौम्यप्राण प्रतिष्ठित हैं। इस अग्नि और सोम के सम्बन्ध से विभक्त सौरआत्मा भी दो मार्गों में विभक्त [वत्] होजाता है। आग्नेयप्राणवच्छेदेन वही हिरण्यगर्भ प्रजापति पुरुष है, कारण अग्नि को पुरुष माना गया है। एव सौम्यप्राणवच्छिन्न वही प्रजापति स्त्री है, सोम को ही स्त्री माना है। इस दम्पति के मिथुनमास से दशप्राणमूर्ति विराट् पुत्र उत्पन्न होता है। सौररश्मि एवमपि अग्निसोममयी हैं, परन्तु प्रधानता सोम की ही है। कारण सोम ही आहुत होकर ज्योतिर्मय बनता हुआ रश्मिरूप में परिणत हो रहा है। रश्मिमात्र साक्षात् जलता हुआ सोम है। सोम स्त्रीरूप है। अतएव हम कहसकते हैं कि सौररश्मिमण्डल स्त्रीमयबल है। परन्तु आश्चर्य है कि मी किरण—मयूख—उल्ल इत्यादि रूप से इन्हें पुरस्त्रात्मक शब्दों से व्यवहृत किया जाता है। कारण स्पष्ट है। इस रश्मि को इनका कमिपुत्र जानता है। अर्थात्—अग्नि सोम के मिथुनमास से उत्पन्न होने वाले विराट् का स्वरूप देखिए—वहाँ व्यापको स्त्री—पुरुष दोनों मास उपलम्ब होंगे। विराट् ज्योतिर्मण्डल है, ज्योति सोमनग्य है। सोम मृगु है, मृगु कवि है। मृगुसोम ही अग्नि में आहुत होकर भिाट् पुत्ररूप में परिणत हुआ है, इसी भागवतत्व को सद्य में रत्नकर अधिपति विराट्पुत्र को ‘कवि’ शब्द से व्यवहृत किया है। अग्निसोम

मिरदुपुत्र के पिता माता हैं। मिरदुज्योति ही उन दोनों के व्यक्तीभाव का कारण है। यदि ज्योतिव्याग उत्पन्न न होता तो—मृग्य में 'मयी और सोम वा तत्त्व हैं' इसका पता ही न लगता। यही कवि का परिज्ञान है। अपने माता पिता का अभिप्रेतक मिरदुपुत्र अक्षर्य ही पिता का भी स्थित [अभिप्रेतक] है। स्वनिश्चयन बहुनिश्चयन, कि वा पाण्डुरपुरुषनिश्चयन है। जो पाण्डुर पुरुषनिश्चयनवत्ता [सर्वविज्ञानवत्ता] हैं, वेही यह समझ सकते हैं कि रश्मियों के स्वरूप होने पर भी उन्हें पुरुष क्यों कहा जाता है। यही मन्त्र का दूसरा अर्थ है। अतः तीसरे प्रधान अर्थ की ओर आपका ध्यान अनिवार्यतः विराम जाता है।

इति-राश्मिविषयिणीमावना

२

३-अथ शुक्रविषयिणीमावना

अतः अग्नि में अपघन सोम की आहुति होना यादिकसूचि है, चेतन अग्नि में चेतन सोम की आहुति होना मधुमीसूचि है। अग्नि में घृण्यहृति अह्निकसूचि है, शोथेष्ट में रुधिरहृति का होना मधुमीसूचि है। उक्त मन्त्र प्रधान रूप से मधुमीसूचि का ही रहस्योद्घाटन करता है। मन्त्राय का उपक्रम करते हुए कहा गया था कि सत्तार में जितने पुरुष हैं, सब वास्तव में शिव हैं। स्वरूप होने पर भी उन्हें (पुरुषों को) पुरुष कहा जाता है। एवं जितनी भी शिव हैं, वे वास्तव में पुरुष हैं। पुरुषरूप होने पर भी उन्हें (स्त्रियों को) स्त्री कहा जाता है [दण्डि ६० वि० भा० पृ० १८१]। विज्ञानपरिभाषा के अनुसार अग्निजन्म को पुरुष कहा जाता है, मोक्षजन को स्त्री कहा जाता है, यह निर्विवाद सिद्ध है। यह अग्नि और सोम आत्मा और शक्ति के दो भागों में विभक्त रहता है। पुरुष के मोक्षजन शरीर का निर्माण अग्नि से होता है, एवं स्त्री का मोक्षजन शरीर का निर्माण सोम से होता है। अग्नि की प्रविष्टा

दक्षिणादिक् है, सोम की प्रतिष्ठा उत्तरादिक् है। अतएव स्त्री को नामा कहा जाता है। पुरुष दक्षिणाङ्ग है, स्त्री पुरुष का नाम भाग है। अग्नि शरीर में दक्षिणपार्श्व आग्नेय है, नामपार्श्व सोम्य है। पुरुष का शरीर अग्निप्रधान होने से वक्त्र होता है, स्त्री का शरीर सोमप्रधान होने से कोमल होता है। पुरुष कर्कराज्य है, स्त्री कोमलराज्य है। इस प्रकार इस शरीर रचना की अपेक्षा से आग्नेयशरीरप्रधानपुरुष पुरुष है सोम्यशरीरप्रधानास्त्री स्त्री है। इस दृष्टि से पुरुष को पुरुष कहना, एवं स्त्री को स्त्री कहना न्यायसंगत है, यथार्थ है। परन्तु आत्मदृष्ट्या उक्त सौक्तिक व्यञ्जहार असंगत है। आत्मदृष्टि से अग्नि स्त्री का आत्मा बन रहा है, सोम पुरुष का आत्मा बन रहा है। स्त्री का आत्मा (प्रतिष्ठाभाव) शोणित (रुधिर) में प्रतिष्ठित है, पुरुष का जीवनीय रस शुक्र है। शोणित अग्निप्रधान है, शुक्र सोमप्रधान है। स्त्री-पुरुष-मनुष्यक सीनों स्थियों का शुक्र शोणित सम्बन्ध के सारतम्य से सम्बन्ध है। शुक्र शोणित दोनों परस्पर अविनाशूत हैं। शुक्र साक्षात् सोम है, शोणित साक्षात् अग्नि है। सोम शीतप्रधान है, अग्नि उष्णप्रधान है। एक आर्द्र है, दूसरा शुष्क है। सर्दी, आद्र, सोम, शुक्र, योषा, रवि सब अग्निनार्थक हैं। गर्मी, शुष्क, अग्नि, आर्षण, वृषा, प्राण सब अग्निनार्थक हैं। सम्पूर्ण मौक्तिक विषय इन्हीं दोनों का (अग्नि-सोम का) समन्वित रूप है, जैसा कि श्रुति कहती है—

“द्वय वा इदं न तृतीयमस्ति शुष्कं चैवार्द्रं च। यत्क्षुष्कं तदाग्नेयं,
यदार्द्रं तदा सोम्यम्” [शत० १। ६। १। २१।]

सत्रप्रमथन यही अग्नीषोम प्रजासृष्टि के उपादान करते हुए शुक्र-शोणित नामसे व्यवहृत होते हैं। सोम्यशुक्र स्त्री है, आग्नेय शोणित पुरुष है। यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि अग्नि अपनी आत्मा सोम्य पर पटुण कर अपोमय सोमरूप में परिणत होनाता है, एवमेव सोम अपनी अन्तिम प्रतिष्ठा पर पटुण कर अग्निरूप में परिणत होनाता है। सोम सक्रोचवयम्

१ सोम्यं शुक्रम आर्द्रवमाग्नेयम् । इत्येवामप्यत्र सूक्तानां सान्निध्यं अस्मन्मनुष्यादिभिरपि परस्परवैकल्यात्, परस्परपुनराद्य, परस्परपुनरपेक्षात् ” (समुत् ३ अ० १)।

है, अग्नि विक्रमसधर्म है। सक्रोच की चरमावस्था विक्रम की जननी है, विक्रम की चरमावस्था सक्रोच की जननी है। अग्नि सेवतन्त्र है, सोम स्नेहजन्य है। सीमा से अतिक्रान्त स्नेह तेज की [इन्द्रमय की] उत्पत्ति का कारण बन जाता है, सीमा से उत्क्रान्त सेव स्नेहरूप में परिणत हो जाता है। दो मित्रों का नि सीम स्नेहमय कमी कमी इन्द्रमात्र (चैरमात्र) का उत्पादक देखा गया है, एवं दो शत्रुओं का नि-सीम इन्द्रमात्र [चैरमात्र] कमी कमी स्नेहमात्र (मिश्रता) का उत्पादक देखा गया है। नि सीमता [अति] स्वरूप का घात करने वाली है। प्रत्येक वातु ससीमा में प्रतिष्ठित रहती हुई ही अपनी स्वरूपरक्षा करने में समर्थ होती है। हाँ तो प्रकृत में अग्नि सोम का विचार प्रक्रान्त है। अग्नि केन्द्र से निकसकर बाहर प्रविष्टी होकर आया करता है, इधर सोम प्रविष्टी से केन्द्र की ओर आया करता है। अग्नि परमाग्नि है, सोम अन्तर्माग्नि है। एक जाता है, एक आता है। एक प्रेति [गच्छति] है, दूसरा आगच्छति है।

जाते हुए अग्नि में आता हुआ सोम आहुत हो रहा है। इसी एति-प्रेतिरूप अग्नीसोमात्मक यज्ञ से सारे पदार्थ साकरूप से प्रतिष्ठित हो रहे हैं। गमन विसर्ग है, आगमन आदान है। आगमन विसर्ग ही अग्नीसोमात्मक यज्ञ है। अग्निताम्र का वस्तुविण्ड से सम्बन्ध है, कजरण अग्नि मल है, एवं सप्त सप्त सङ्ख्य सखरीरी ही होता है। सोम का विण्ड की महिम्यारूप अन्तरिक्ष से सम्बन्ध है। कजरण सोम अन्न है उच्चर अन्तरिक्ष मी अन्नरूप परमेष्ठी है। अन्न सोम में पिपडाबन्धुम, विन्ध विण्डरूप अग्नि सत्तल आश्रयत रहता है, इसी व्यापार पर-‘अग्ने मुमि रिय भिता’ यह कहा जाता है। विराहस्तनयम अग्नि को पिपडाकूप में परिणत करने वाला, सक्रोचमय यही सोम है। जलन सोममय अग्नि में आहुत होता रहता है, तभीनाक अग्नि प्रगल्भ रहता है। प्रगल्भ अग्नि को वाङ्मय परिमाया में ‘सैमिड्याग्नि कहते हैं। एति-प्रेति रूप सामिपेतिषो से आगमनविसर्गरूप सपथ द्वारा अग्नि समिद्ध रहता है। अतएव यज्ञकर्म में-‘द्विष मे निचान्वाह [यज० १ ब्र० २। १। ४।] के अनुसार सामिपेती मन्त्रों से अग्नि को

† इह विराहका वैदिक विवेचन रा३पम विद्याब्रह्मण्य के अधिनर्तक शास्त्र में देवता चरित्र।

समिद्ध करने का विधान है । वात पदार्थ में यह है कि अग्नि अग्निरामूर्ति है, सोम अग्निरामूर्ति है । अग्निरा की अग्नि-वायु-आदित्य यह तीन अवस्थाएँ हैं । अवस्थाप्रयुक्त अग्नि हृदय से फैलता हुआ आगे जाता है । अग्नि की तीनों अवस्थाएँ निरस्तित होते होते जब चरम दशा पर पहुँच जाती हैं तो तीनों अग्नियों की गति विपरीत हो जाती है । आत्यन्तिक विशकसन से ऊष्माभाव प्रकृतक प्रविशगन्धन टूट जाता है, अग्नि शान्त हो जाता है । अग्नि की यह शान्तावस्था ही विपरीत गति का आग्रय होती हुई सोम नाम से व्यञ्जित होने लगती है । सोम आप-वायु-सोम इन तीन भागों में विभक्त है । तीनों क्रमशः वेद्य की ओर आते रहते हैं । जबतक केन्द्रविन्दु पर तीनों नहीं आ जाते, तबतक तो तीनों को प्रतिष्ठित रहने के लिए प्रमाण धरातल मिल जाता है । परन्तु उपविन्दु पर आने से तीनों को एक बिन्दु पर ठहरना पड़ता है । इससे तीनों में घर्षण हो जाता है । घर्षण होते ही शान्तावस्था नष्ट हो जाती है ; उष्मावस्था उत्पन्न हो जाती है । इसी का नाम अग्नि है, इसकी गति बढ़स जाती है । प्रकृत में इस अग्नीसोमगन्धा से हमें केवल यही बतलाना है कि अग्नि का विष्णु से सम्बन्ध है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि एक ही जल में आप खोलता हुआ पानी भरवा दीजिये । उस पानी के [ऊष्म की ओर] निकलने के लिए सूक्ष्मतम क्षिप्रबाह्य एक फन्ना लगा दीजिए । उस में से निकलता हुआ पानी खण्ड खण्ड रूप में परिखल हो जायगा । इन जलकणों को आप शेतल पावेंगे । कारण जब तक विष्णु या, तबतक अग्नि पानी में प्रतिष्ठित था । विषमयज्ञ के नष्ट होते ही अग्नि विशकसन की पराक्रम पर पहुँच कर सत्यमात्र (विष्णुमात्र) से श्रुत होना हुआ अन्तरूप में । परिखल हो जाता है । पूर्वप्रतिपादित मातरिजा के निकषणानुसार विष्णु का नाम पृथिवी है, महिमा पृथ्वी है । विषमयज्ञ पृथिवी से निकलकर अग्निपथवी पृथ्वी महिमा मयइस की ओर आता काली है । अग्नि की इसी स्वाभाविक गति को खरप में रखकर महर्षि कहते हैं—

इत एत उदाहरन् दिवः पृष्ठान्पारुहन् ।

ममूर्जयो यथावधि यामहिरसो ययुः ॥

अग्नि एव तत्र है तो भृगु स्नेह तत्र है । यही गर्मी-सर्दी है । सर्दी पराकाष्ठा पर पहुँचकर अग्नि अती हुई वृष्टादि को जल डालती है । इतर पराकाष्ठा पर पहुँची हुई गर्मी गर्मी (पानी) बन जाती है । संप्रगताग्नि [अग्नि] शोकभृत् का अन्तक है, यह पूर्व की अग्नि-वर्धन-निरुक्ति में विस्तार से बताया ही जा चुका है ।

++
उक्त कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि अग्नि की परमावस्था सोम है, एव सोम की परमावस्था अग्नि है । स्त्री के आत्मरूप शोणित में प्रवृद्धसोम (अग्नि) है, इस लिए स्त्री आत्मरूप पुरुष है । पुरुष के आत्मरूप शुक्र में प्रवृद्धअग्नि [सोम] है, अतएव पुरुष अद्वैतरूप स्त्री है । प्रकाशान्तर से यों समझिए—शुक्र अन्तर से अन्तर है । अन्त आत्मसोम से बनता है, अतः शुक्र साक्षात् सोम है, सोम साक्षात् स्त्री है । यह शुक्ररूप से पुरुष की प्रतिष्ठा बना हुआ है । इस प्रतिष्ठाचक्षि से शुक्रमय पुरुष सोममय बनता हुआ वास्तव में स्त्री है । एक बात और—सोमरूप, अन्तर स्त्रीरूप शुक्र पुरुष में प्रतिष्ठित है, अतएव पुरुष स्त्री की अन्तर्मात्रिया करता है, जैसा कि अतुल्य में ही स्पष्ट होमँगा है । अग्नि से शोणित का निर्माण होता है, अतः शोणित साक्षात् अग्नि है । अग्नि साक्षात् पुरुष है । यह शोणितरूप से स्त्री की प्रतिष्ठा बना हुआ है । इस प्रतिष्ठाचक्षि से शोणितमयी स्त्री अग्निमयी बनती हुई वास्तव में पुरुष है । अग्निरूप, अतएव पुरुषरूप शोणित स्त्री में प्रतिष्ठित है, अतएव स्त्री पुरुष की अन्तर्मात्रिया करती है ।

स्त्री की प्रजननशक्ति आर्चन में प्रतिष्ठित है । यह आर्चन मंगल नाम से प्रसिद्ध आग्नेय पुरुषमय के अग्नेय प्राय से शुक्र है । आर्चनान्तर मन्त्रप्रद रक्त (वात) है । रुधिर में जो लाली एव गर्मी है, वह मन्त्रप्राण की ही महिमा है । मन्त्रप्रद मन्त्रराशि में आता हुआ उक्त कहलाता है । अतएव मांगलिक आर्चन में प्रतिष्ठित आग्नेयकथन 'मन्त्रप्रद' नाम से प्रसिद्ध है । मन्त्रप्रद अग्निमय काम है । दूसरे शब्दों में स्त्री के अन्त में अग्निमूर्ति पुरुष कैय है, अतएव स्त्री का पुरुषत्वमता होती है । पुरुष की प्रजननशक्ति शुक्र में प्रतिष्ठित है । शुक्र [वीर्य-

१. इस विषय का विस्तार विवेचन-राशयविज्ञानमाध्य के प्रथमवर्ष में द्रव्य है ।

रेत] शुक्र नामसे प्रसिद्ध सौम्य स्त्रीत्वह के सौम्यप्राण से युक्त है। शुक्रग्रह श्वेत है, अतएव तन्मय शुक्र भी श्वेत है। शुक्रग्रह मीनराशि का भोग करता हुआ उच्च का कहलाता है। अतएव शुक्ररूप शुक्र में प्रतिष्ठित सौम्यकाम 'मीनपञ्चम' नाम से प्रसिद्ध है। मीनपञ्चम सोम-मय काम है। दूसरे शब्दों में पुरुष के काम में सोमशक्ति रधी पैठी हुई है, अतएव पुरुष की रधी कामना होती है।

सोम शक्तितात्व है, सोम सम्बन्धी अग्नि शिबतरव है। शिबतरव शक्तिकाममय है, शक्तितात्व शिबकाममय है। शिव शक्ति पर प्रतिष्ठित है, शक्ति शिव की अनुगमिनी है। सम्पूर्ण विश्व शिव-शक्तिमय है। कहने को दो तत्त्व हैं, जो शिव (अग्नि) है वही शक्ति (सोम) है, जो शक्ति है वही शिव है। निष्कर्ष वही हुआ कि शुक्र-शोणित द्रवि से संसार की स्थिर पुरुष हैं, पुरुष स्थिर हैं। यह स्त्री-पुरुष का दूसरा युग्म है।

यह एक नियत सिद्धान्त है कि जिस वस्तु का बाहर का घरातक गरम होता है, उसका अन्त-पृष्ठ ठंडा होता है, एव जो बाहर से ठंडा होता है, उसका अन्त-पृष्ठ गरम होता है। प्रकृति का निरीक्षण कीजिये। शीतर्तु में प्रकृतिमण्डसरूप बहिर्भरातक में सर्दी रहती है, एव अन्त-पृष्ठरूप प्राणियों के शरीर में गरमी का साम्राज्य रहता है। शीतकाल में हमारा जठराग्नि प्रदीप्त रहता है। मुख में से धूम निकलता रहता है। इसी प्रवृत्त अग्निवत् से हम शरीर पर कम्ब-सादि को आसानी से सठाने में समर्थ होजाते हैं। इसी प्रवृत्त अग्नि की कृपा से अन्न अधिक खाया जाता है। इस प्रकार बाहर जहाँ ठंड है, भीतर गर्मी है। ग्रीष्मकाल में ठीक इससे उल्टा होजाता है। प्रकृति में गर्मी का साम्राज्य है, परन्तु प्रकृतिगर्मिण्य अस्थायाम में सर्दी की प्रभानता है। वही शीतमाग पसीमा बनकर बाहर निकलता करता है। अग्निवत् क्षीण रहता है, अतएव हम निरुक्त रहते हैं। शीतकाल में जिस अग्नि के की कृपा से जहाँ हम दो दो तीन तीन कम्बों को ओढ़ने में समर्थ बन जाते थे, वहाँ ग्रीष्मकाल में अग्नि की कृपा से एक मासुसी चर का भी भार सहन नहीं करसकते। इस प्राकृतिक स्थितिसे प्रकृत में होने यह

मत्तमाना है कि पुरुष शरीर से आग्नेय है। इसका यदि पृष्ठ अग्नि प्रधान है। अतएव पुरुष
 स्त्री पर अति अधिक श्रेष्ठ होता है। परन्तु अन्तःपृष्ठरूप इसका शुक ठा है। अतएव भाग
 जाकर इसका श्रेष्ठ शक्ति होता है। शरीर की अपेक्षा आग्नेय बस धन होता है। अतएव
 शरीरसापेक्ष श्रेष्ठ स्त्री नहीं रहता। उधर स्त्री का शरीर सौम्य है। उसे श्रेष्ठ नहीं मान्य।
 सौम्यशरीरपक्ष स्त्री निबद्ध है, अथवा है। परन्तु भीतर शोणितरूप अग्नि है। प्रथम तो
 स्त्री को श्रेष्ठ आशय ही नहीं यदि आत्ममात्र पर आश्रित होने से स्त्री का आग्नेय शक्ति पक्ष
 भी फिर कुण्ठ नहीं है। अतएव स्त्री इत प्रसिद्ध मानी जाती है। यही अवस्था वास्तव की है।
 १३ कय तत्र कथा का १६ कय तत्र पुनः का शरीर सौम्य रहता है। अतएव आग्नेय है। अन्तः
 एव स्त्री इतएव शक्ति भी प्रसिद्ध है। अग्निसोम के इस गर्भविज्ञान की अपेक्षा से स्त्री
 पुरुष का एक तीसरा युग्म धार कनजाता है। स्त्री का शोणित आग्नेय है, इसलिये स्त्री पुरुष
 है यह कहा गया है। शोणित का ऊपर का पृष्ठ अथवा ही आग्नेय है। परन्तु इस अग्निसोम
 शोणित के गम में प्रतिष्ठित प्रजननक्रम का मुख्य अभिप्राय 'सूय' सौम्य है। इस सौम्य
 सूय की अपेक्षा से स्त्री अन्तःपृष्ठरूप स्त्री ही है। सद्यत में उसे पुरुष का ही आश्रय सेना
 पकता है। पुरुष का शुक सौम्य है, इसलिये पुरुष स्त्री है। शुक का ऊपर का स्तर वास्तव
 में सौम्य है। इस सौम्यपक्ष के गम में प्रतिष्ठित प्रजननक्रम का मुख्य अभिप्राय 'सूय' शक्ति पर
 भाषानुसार आग्नेय है। इस आग्नेय सूय की अपेक्षा से पुरुष अन्तःपृष्ठरूप पुरुष ही रहता है।
 इस तीसरी धारा को आधार मानते हुए ही लोक में—'यमी स्त्री स्त्री ही रहेगी पुरुष
 पुरुष ही रहेगा' यह किन्दन्ती प्रचलित है। स्त्री की अन्तिम प्रतिष्ठा सोम ही है, पुरुष की
 अन्तिम प्रतिष्ठा अग्नि ही है। स्त्री सौम्या ही है पुरुष आग्नेय ही है। सौम्य शुक के गम में
 आग्नेय पुरुष प्रतिष्ठित है, आग्नेय शोणित के गम में सौम्य स्त्रीसूय प्रतिष्ठित है। यदि शुक
 प्रकट है तो शुकप्रतिक्रिया से तद्गर्भित आग्नेय पुरुष प्रकट बनता हुआ पुत्रोपनि का कर्तव्य
 बनता है। यदि आश्रय प्रकट है तो तद्गर्भित सौम्य स्त्रीसूय प्रकट बनता
 हुआ कर्तव्यपति का कर्तव्य बनता है। यदि दोनों का सममिथुनभाव होता है तो नपुंसक

प्रजा उत्पन्न होती है। यदि केवल शुक्र शोषित का समन्वय होता है, (यदि तत्काल भ्रूणों का जो कि स्त्री-पुरुष विज्ञानशास्त्र में योया-इया नाम से प्रसिद्ध है मिथुन नहीं होता) तो ऐसा मिथुनभाव व्यप जाता है। आयुर्वेद का उक्त सिद्धान्त तभी ठीक होसकता है, जब कि सौम्य शुक्र में आग्नेय भ्रूण, एव आग्नेय आर्तव में सौम्यभ्रूण की सत्ता मानसी जाती है। कारण अग्नि से ही पुरुष का विकास समभव है। इसी रहस्य को सद्य में रखकर प्राणाचार्य कहते हैं—

आपिकये रेतस पुस कन्पास्यादार्चवाधिके ।

नर्पुसकं तयो सान्धे यथेच्छा परमेवरी—(मातृप्रकरण) ।

अग्नि भी देवता हैं, सोम भी देवता हैं। देवता त्रिसत्य होते हैं। देवताओं का प्रत्येक कार्य त्रिमास्यक होता है। तीन व्यापारों से देवता स्वर्ग्यसिद्धि में समर्थ होते हैं। पूर्व कथना नुसार प्रजोत्पत्तिकर्म में तीन व्यापारों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। तीन मिथुनों से मिथुन कर्म संपन्न होता है। प्यान दीर्घिपे—प्रजोत्पत्ति के लिए पहिले पुरुष स्त्रीगमन करता है। अभी दोनों के शरीरों का संयोग है। पुरुष शरीरापेक्षया आग्नेय बनता हुआ पुरुष है, स्त्री शरीरापेक्षया सौम्य बनती हुई स्त्री है। इस प्रयत्नाक्रमण में सञ्जुक्त पुरुष (पुरुष का आग्नेय शरीर) स्त्री (स्त्री के सौम्य शरीर) की ओर जा रहा है। इस प्रथम मिथुनकर्म से संपन्न द्वारा वास्तविक वैधानर अग्नि उत्पन्न होता है। इस अग्निपरिताप से पुरुष के स्वाज्ञ शरीर में म्यात शुक्र अग प्रत्यग से निकलकर पुत्रीमूल बनकर अधोभाग द्वारा स्त्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित आग्नेय आर्तव में आहुत होता है। यह शुक्रशोषित का मिथुनकर्म दूसरा कर्म है। इस में शुक्र सोम है, शोषित अग्नि है। शोषित में शुक्र की आहुति क्या हो रही है, अग्नि में सोम की आहुति हो रही है। यही आप्पारिमक यज्ञ है। इस द्वितीय कर्म में स्त्री पुरुष पर आक्रमण कर रही है। कारण स्पष्ट है। शुक्र ही तो शोषित पर आक्रमण कर रहा है। शुक्र सौम्य होने से सञ्जुक्त स्त्रीरूप है, एव शोषित आग्नेय होने से वास्तव में पुरुष है। और आगे बढ़िए ।

० इस विषय का विस्तृत विवेचन शतपथ विज्ञानशास्त्र के द्वितीय कर्म में निकल चुका है।

शोणित में रहने का सोम्य भूणपर (स्त्रीभूण पर) शुक्र में रहने का आग्नेय भूण (पुंभूण) आक्रमण करता है। यह अन्तिम मिश्रण है। इस में जिस की प्रधानता रहती है, उसी भूण का विजय होना है। इस अन्तिमभूण में पुरुष ही (पुंभूण ही) स्त्री पर (स्त्रीभूण पर) आक्रमण करता है। प्रथमक्रमण में पुंभूण प्रधान, मध्यमक्रमण में स्त्री प्रधान, चरमक्रमण में पुरुषप्रधान, इस प्रकार दोनों ओर से पुरुषप्रतिष्ठा की भित्ति से मध्यस्था स्त्री की स्तम्भ रूप स्थापना हो जाती है। जो इतनी इस प्राकृत निष्पत्ति का उद्भव कर लेते हैं, वे अपने साप साप स्त्री के स्वरूप को भी नष्ट कर देते हैं। उक्त तीनों आक्रमणों में मध्यमक्रमण से (शोणित-शुक्र की दृष्टि से) सबभूष संसार की सब स्त्री पुरुष हैं, एक संसार के सब पुरुष स्त्री हैं। उक्त मन्त्र इसी मध्यस्थिति का निरूपण करता है।

अध्यात्मसंस्था

“पुरुष एवेद सर्वम्”	१	१-आग्नेयशरीरियुक्त पुरुष-पुरुष	}	पुरुषत्रिपदनुभाषि-प्रथमक्रमण पुरुषप्रधान०
		२-सौम्यशरीरियुक्त स्त्री-स्त्री		

२	१	१-सौम्य शुक्रम-स्त्री	}	स्त्रीपुरुषद्विपदनुभाषि-द्वितीयक्रमण स्त्रीप्रधानम्
		२-आग्नेयमाचक्षु-पुरुषः		

३	१	१-शुक्रान् आग्नेय-पुंभूण-पुरुष	}	पुरुष त्रिपदनुभाषि-तृतीयक्रमण पुरुषप्रधान०
		२-शो. ग. साम्य स्त्रीभूष-स्त्री		

उक्त तीनों द्विपदियों में से मध्य के शुक्रशोणितभाव को रूप में रखकर यदि कहते हैं—

स्त्रियः सतीर्त्वा न मे पुंस प्राहुः

इस रहस्य को व्यक्त करने की एक सज्जा है, क्योंकि का अर्थ इस रहस्य को क्या जानें। जो विद्वान् कामरुति के ‘मकर-मीन’ संकल्प को समझना है, वही यह जान सकता है कि शुक्र

वास्तव में श्रीकाममय है, शोणित वास्तव में पुरुषकाममय है। वह वृत्तय समन्वये वाला व्यक्त है कविपुरुष। वह इस श्रीमात्र को जानता हुआ सचमुच अपने पिता का भी पिता बन रहा है। मृग्य और अमित्रा का रहस्य जानने वाला पुत्र ही कवि है। ऐसा विद्वान् अपने पिता से भी अधिक प्रतिष्ठित माना जाता है। विद्वान्‌रूप के अनुसार कवि का अर्थ है मृगतत्त्व। आप-बायु-सोम को ही मृगुत्तम कहते हैं। पुत्रोत्पत्ति शुक कवि आह्वति से होती है। सोममय शुक ही अग्नि शोणित में सुत (अभिपुत्र-आहुत) होकर पुत्ररूप में परिणत होता है। शुक में जो घनता है वह पानीका माग है, शर्कराभाग सोम है, अग्निमात्र बायु है। इस प्रकार शर्करा (सोम) प्रधान शुक में आप-बायु-सोम तीनों तत्व प्रतिष्ठित हैं। ऐसी अवस्था में हम शुक को अत्रय ही 'मृगु' कह सकते हैं। मृगु ही कवि है। यह कवि (मृगु रूप शुक) पुत्ररूप में परिणत होता है, अतः शुक को अत्रय ही 'कविपुत्र' कहा जा सकता है। शुक सोमप्रधान होने से पुत्ररूप में परिणत होता है, श्वर सोम की है, अतएव तद्रूप पुत्र (पुरुष) को हम अत्रय ही श्री कहने के लिए तैयार हैं। इसी अग्निमात्र से—'कविपुत्र स इवाचिकेन' (जो पुत्र कवि है वह इस रहस्य को जानता है) यह कहा गया है। कन्यासत्ताम में शोणित की प्रभावता रहती है—'कन्याम्यान्तस्यधिके'। कविपुत्र (शुकस्य पुरुषभूष) ही श्रीभूष (शोणित भूष) के साथ सम्यक्त होकर श्रीमात्र का कारण बनता है। सोम ही अग्नि की धार जाता है। कल्पोभादक अतएव श्रीरूप शोणित भूष का सम्यक् परिणता शुकभूष ही है। इसी अग्निमात्र से आगे जाकर भुक्ति कहती है—'यस्ता विमानाव' (कविरूप जो पुरुषभूष स्त्री भूष को जानता है)। तिसप्रकार स्त्रीमरूपसमर्पक स्त्रीभूष आग्नेय शोणित में प्रतिष्ठित रहता है, एतदेव पुरुषरूपसमर्पक पुर्भूष साम्यशुक में प्रतिष्ठित रहता है, यह पूर्व में कहा जा चुका है। शुक का आधान करने वाला पुरुष 'पिता' कहलाता है। इस पुरुष पिता का पुत्र शुक है। पुत्ररूप शुक ही पुर्भूष का उत्पत्तिक बनता है। पुर्भूषद्वारा शुकवृत्ति देने वाला पिता माता के गम में [ध्वनी स्त्री के गम में] स्वयं जग्य होता है, अतएव 'जायते पिता स्वय-अस्या' इस निषेधन से स्त्री को 'जाया' कहा जाता है। अत्रने पुर्भूष से उत्पन्न होने का नाम

अब यह वायु शुक्र को दो भागों में विभक्त कर देता है तो यमत्र सन्तान उत्पन्न होती है । रेत को योनि में, सुब्रह्म को ब्रह्म में, सोम को अग्नि में, शुक्र को शोषित में आहित करने के कारण ही यह वायु 'मातरिश्वा' कहलाता है । माता स्त्री है, पिता पुरुष है । वायु शुक्र के चारों ओर घेष्टित होकर ही शुक्र की आहुति देता है । सोमप्रचामशुक्र कीरूप बनता हुआ सबसुख 'माता' है । अतएव—“मातरि (शुक्रे) अयति (अप्याप्नो भवति)” इस व्युत्पत्ति से शुक्र आधाता इस रेतोषा वायु को 'मातरिश्वा' कहना व्याप्त्युक्त होता है । रेत अपने आप योनि में सिक्त नहीं होता, अपि इ वायु द्वारा ही यह सिक्त होता है । क्षीपुरुष के मिथुनमग्न से अग्नि प्रकट होनाता है । अग्नि के लुप्त होते ही शरीरगत वायुबाहिनी नाडियों [धमनियों] में भर हुआ वायु स्थान च्युत होता हुआ अग्नि से सतत शुक्र को स्वस्थान से च्युत कर देता है । वायु के प्रत्याघात से ही शुक्र गतिमत् बनता हुआ शोषित में आहित होता है । इस अप्यात्मसंस्था के साम अविदैवत की समस्त का विचार कीजिए । गर्माशयगत रुधिर को अग्नि समभिर, इसी को वेद समभिर । वेद वेदि पर ही तो प्रतिष्ठित रहता है । माता ही तो वेदि है । द्वित्रिणापरपयायक अनेकदेवत् पशु को ब्रह्म समभिर । शुक्र को सोम समभिर, इसी को सुवेद समभिर, इसी को पद्मनापरपयायक 'आप' [सुब्रह्म] समभिये । शुक्र के चारों ओर घेष्टित मार्गवायु को 'मातरिश्वा' समभिये । इन्हीं तीनों को क्रमशः योनि-रेत-रेतोषा समभिये । ब्रह्मरूप योनि में आपरूप रेत की वायुरूप रेतोषा मातरिश्वा द्वारा आहुति होती है । दूसरे शब्दों में मातरिश्वा आपतरव की मध्य में आहुति देता है, इसी से गर्माधानपूर्वक प्रभोत्पत्ति होती है । यह है अप्यात्मिक प्रभोत्पत्तिक्रम । जैसा आप यहां [अप्यात्म में] प्रत्यक्ष कर रहे हैं, ठीक वही रिपति यहां [अविदैवत में] समभिये—“यदेवेह तदमुम” ।

१-योनि	—	आपकम् [आग्नेयम्]	→	→	→	पशुर्ब्रह्माग्नि [ब्रह्म]	} ततः प्रभोत्पत्तिः
२-रेत	—	शुक्रम् [सौम्यम्]	→	→	→	पद्मसोम [आप]	
३-रेतोषा	—	वायु [अनुष्णाशीत]	→	→	→	मार्गवायु [मातरिश्वा]	

रेतोवा भिन्न का पिता (अमदाता-अभिम्पन्नक) वास्तव में कवि पुत्ररूप शुद्ध ही है। एक ओर पुत्ररूप है, दूसरी ओर पिता है। मध्य में पुत्र्याभिधायक कविपुत्र नामक शुद्ध है। यदि वह पुत्र न होता तो पुत्ररूप कभी सत्यरूप में परिणत नहीं हो सकता था। दूसरे शब्दों में यह रेतोवा पिता कभी जाय में जन्म नहीं लेसकता था। पिता के जाय में जन्म का हेतु पुत्रशुद्ध है, अतएव हम इसे अत्रय पिता का भिन्न (पुत्ररूपरूप पिता का भी अभिम्पन्नक) कह सकते हैं। इसी रहस्य को छंद में रखकर 'सपितृविधानत' "यह शुद्धरूप कविपुत्र पिता [प्रतिष्ठातिरूप पुत्ररूप] का भी उत्पादक एक अभिम्पन्नक वस्तु हुआ पुत्ररूप बनने पिता का भी पिता बन गया" यह कहा गया है। यह है अत्रयसम्बन्धिनी तीसरी शुद्धविषयविधान का सविम निर्णय।

इति-शुद्धविषयविधानमावना ।

३



प्रासङ्गिक पद्या समाप्त हुए। अब पुनः प्रकृत विषय का उपसृष्टि किया जाता है। उप-मित्र के चतुस पद्य का उपक्रम करते हुए रेत-रेतोवा-योनि उत्पत्ति कर्म में इन तीन भागों का समावेश बनाया गया है [देखिए ई. वि० भा० १७७ पृ०]। इन तीनों में रेत ओर योनि दोनों स्थिर हैं, रेतोवा गतिशील है। यही अविदेवसत्या में कहा—'मातरिन्वा' नाम से व्यक्त होता है, वहाँ अत्रयसत्या में वही 'एवयामरुद्' नाम से प्रसिद्ध है। योग प्राणप्रधान की का अत्रिमय शोणित योनि है, वृषाप्राणप्रधान पुरुष का सोममन्त्रशुद्ध रेत' है। यह व्यावृत्ति द्रव्य है, जाय तन है, सुकल है। की का रक्त व्यावृत्ति का स्थान है, अत्रि है तन है। इस तद्रूप योनि में सुकल की व्यावृत्ति होती है। व्यावृत्ति देने बासा गद्य है।

• इति विषय का निरुद्ध विवेचन मासुदीयसूक्त विज्ञानमाम्य में देखना चाहिए।

यदि यह वायु शुक्र को दो भागों में विभक्त कर देता है तो यमज सन्तान उत्पन्न होती है । रेत को योनि में, सुव्रज को ब्रह्म में, सोम को अग्नि में, शुक्र को शोणित में आहित करने के पारश्व ही यह वायु 'मातरिश्वा' कहलाता है । माता स्त्री है, पिता पुरुष है । वायु शुक्र के चारों ओर वेष्टित होकर ही शुक्र की आहुति देता है । सोमप्रधानशुक्र स्त्रीरूप बनाता हुआ सप्तसुप्त 'माता' है । अतएव—“मातरि (शुक्रे) अपति (व्याप्तौ मपति)” इस व्युत्पत्ति से शुक्र आघाता इस रेतोषा वायु को 'मातरिश्वा' कहना न्यायसम्मत होता है । रेत अपने आप योनि में स्थित नहीं होता, अग्नि व वायु द्वारा ही यह स्थित होता है । स्त्रीपुरुष के मियुनमय से अग्नि प्रवृत्त होनाता है । अग्नि के लुप्त होते ही शरीरगत वायुव्याहिनी माहियों [धममियों] में मग्न हुआ वायु स्थान स्थित होता हुआ अग्नि से सतत शुक्र को सस्थान से स्थित कर देता है । वायु के प्रव्याघात से ही शुक्र गतिमत् बनता हुआ शोणित में आहुति होता है । इस अप्यात्मसत्त्वा के साथ अविदैवत की समता का विचार करिए । गमाशयगत रुधिर को अग्नि समझिए, इसी को वेद समझिए । वेद वेदि पर ही तो प्रतिष्ठित रहता है । माता ही तो वेदि है । द्वित्रिज्ञापरपयायक अनेजदेवत् यजु को ब्रह्म समझिए । शुक्र को सोम समझिए, इसी को सुवेद समझिए, इसी को पद्मज्ञापरपयायक 'आप' [सुव्रज] समझिये । शुक्र के चारों ओर वेष्टित मार्गिकवायु को 'मातरिश्वा' समझिये । इन्हीं तीनों को क्रमशः योनि-रेत-रेतोषा समझिये । ब्रह्मस्य योनि में आपरूप रेत की वायुरूप रेतोषा मातरिश्वा द्वारा आहुति होती है । दूसरे शब्दों में मातरिश्वा आपतरव की ब्रह्म में आहुति देता है, इसी से गर्भाधानपूर्वक प्रजोत्पत्ति होती है । यह है आप्यात्मिक प्रजोत्पत्तिक्रम । जैसा आप यहाँ [अप्यक्षर में] प्रत्यक्ष कर रहे हैं, ठीक वही रिपति यहाँ [अविदैवत में] समझिये—“यदेवेह तद्रसुत्र” ।

- | | | | | | | |
|----------|-------|----------------|-------|-----------|---------------|---------------------|
| १-योनि | आप | आप | आप | पुत्रसामि | [ब्रह्म] | } ततः प्रजोत्पत्तिः |
| २-रेत | शुक्र | [सौम्य] | पद्म | सोम | [आप] | |
| ३-रेतोषा | वायु | [अनुप्याशीत] | भगवन् | वायु | [मातरिश्वा] | |

अनैजत्—एनतरूप ब्रह्म यक्षुरभिर्मूर्ति कलातु हुआ ययपि पुरुष है, परन्तु यह निबधप्रवा का पोनेस्मानिय होने से स्त्री कहा जा सकता है। एन सुक्क सोमरूप होने से ययपि स्त्री है, परन्तु शुक्रस्मानिय होने से (रेतस्मानिय होने से) यह पुरुष नाम से अन्कृत किया जा सकता है। त्रयीविद्याक ब्रह्म से आप् उल्लभ हुआ। त्रयीविद्या के साथ वह आपके गर्म में प्रविष्ट होगया। यह पहिला आक्रमण है, महिला मिथुन है। ब्रह्माभिरूप पुरुष सुक्कसोमरूप स्त्री पर आक्रमण कर रहा है। आगे जाकर अग्न्यात्मकमानुसार मातरिया द्वारा वह आप (शुक्र) उस ब्रह्म (योनि) के साथ संगत होता है। यह शुक्र-योनि का दूसरा मिथुनकर्त्त है। आगे जाकर आप्गल पुभूषरूप त्रयप्रीमात्रिक नाम के केनाभि, एन ब्रह्मर्मित सुक्कसोमरूप स्त्रीसूक्ष्म दोनों का मिथुन होता है। यही तीसरा आक्रमण है। इस से मिथुनमात्र सर्वात्मना सम्पन्न हो जाता है, एन तत्काल विराट्पुरुष गर्म में आजाता है। यह विराट् इस दम्पती की पहिली सन्तान है।

अविदेवतसस्था

- १-ब्रह्माभि (आपि —पुरुष) { ब्रह्म आपोऽभि-अनुवाकति } प्रपम्यक्रमय ब्रह्म (पुरुष)-
 २-आपः (सोमः—स्त्री) { (पुरुष शिवमनुवाकति) } प्रधानम्

- १-आप (सौम्य शुक्र—स्त्री—रेत) { आप-अभिमनुवाकति } द्वि आक. आप् (स्त्री) प्र
 २-आभि (आग्नेयमर्षण-पुरुष—योनि) { (स्त्रीपुरुषमनुवाकति) } भामम्

- १-अग्निगर्भितोऽग्निवेदनपुभूषोऽभि —पुरुष) { अग्निवेद-सोमवेदमनुवाकति } दृ आ वेद(पु)-
 २-अग्निगर्भित-सोमवेद (स्त्रीसूक्ष्म सोम—स्त्री) { (पुरुष शिवमनुवाकति) } प्रधानम्

“ततो विराडजायत”

‘अनेजदेकं मनसो अभीय’ इत्यारि मन्त्र तीनों रिपतिषों में से मध्यस्थिति का ही निरूपण करता है । अग्निमूर्तिब्रह्म योनिरूप से अस्थान में प्रतिष्ठित है । इस में मातृरिधा द्वारा आपरूप रेत की आकृति होती है । दोनों के [अग्नि और आप के] मिश्रण से विराट् पुरुष उत्पन्न होता है , ऐसा कि—‘तस्यां स विराजमस्रप्रत् प्रमुः’ इत्यारि रूप से कहा जा चुका है ।

ब्रह्म-आप के मिश्रणमात्र से उत्पन्न अपूर्वभाव में ब्रह्म और आप के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? वे दोनों पृथक् पृथक् थे, दोनों का समन्वितरूप विराट् है । अक्ष-सामावच्छिन्न ब्रह्म ब्रह्म है । इस में यत्-ञ् (एजत्-अनेजत्) दो विभाग हैं । इस प्रकार अक्ष-साम यजुर्मूर्तिब्रह्म अक्ष-साम-यत्-जु मेद से कृतकत्त हो जाता है । दूसरा आप्तरत्त है । इस की भृगु-अक्षिरा मेद से आप-जोयु-सोमै-मैमि-यैम-मैदित्य यह ९ कक्षाएँ हैं । संमूय १० कक्षाएँ हैं । दशकत्त की समष्टि दश अक्षर की समष्टि है । छन्दोविज्ञान के अनुसार दशअक्षर छन्द को ही ‘विराट्’ [दक्षिणविराट्] कहा जाता है । यही विराट् सूर्यरूप से हमें प्रसन्न दिखाई दे रहा है । सूर्य आपोमय है, इसी लिए तो—‘अपांगम्मन्त्सीद्’ यह कहा जाता है, एव अग्निमयत्त तो स्पष्ट ही है । यदि सूर्य में पानी न होता तो सूर्य अणुमात्र में संसार को मलम कर डालता । साय ही में यदि सूर्य में अग्नि न होता तो साय संसार समुद्रगर्भ में विलीन हो जाता, ऐसा कि प्रतिदिन ऋण होता हुआ किसी युग में [कल्पान्त में] निःशेष बनता हुआ सौर अग्नि विशुद्ध आप का साम्राज्य रखता हुआ प्रलय का अभिघाता बन जायगा । इसी अप्-अग्नि मूर्ति विराट्सूक्ष्मरूप [हिरण्यगर्भप्रजापति] से आगे की सारी सृष्टिएं होती हैं, ऐसा कि निम्न लिखित श्रुतियों से स्पष्ट है—

१—विश्वकर्म हरिणं जातवेदस परायण व्योतिरेकं तपन्तम् ।

सहस्ररश्मिः शतधा वर्धमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य ॥

[परगोपनिषद् १।८]

२—विबो रुक्म उरुपद्मा उदेति दूरे धामन्तरिक्षिधानमानः ।

नूनं जना सूर्येण प्रसूता भयभयानि कृयन्मपांसि ॥

[श्रुक् सं० ७ म० । ६१ सू० । ४ म०]

३—विषं देवानामुदगाद्यसुमित्रस्य यक्षस्याधेः ।

मानायावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥

[यजु सं० १३।४६]

मन्त्र और सुमन्त्र दोनों सम्पन्न थे, पहिला मन्त्र यही सत्योक्तिर्देन हिरण्यगर्भनाम से प्रसिद्ध निरुद् पुरुष है । हिरण्यगर्भमिषा के उपासक मन्त्रि विष को सूर्यमूष ही मानते हैं, जैसा कि—‘मुण्डकोपनिषदविज्ञानमाध्य’ में विस्तार से निरूपित है । इस निधुनमात्र से मन्त्र का उदय होता है, यही मन्त्राण्ड सूर्य का मन्त्ररूप है, जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है । इसी मन्त्राण्ड को सत्य में रक्ष कर स्मृति कहाँती है—

तद्वराहमममदैर्म सहस्राद्यसमममम् ।

तस्मिन्ने स्वयं प्रजा सर्वसोकपितामहः ॥ (मनु० १।१) ।

सयम्नू मन्त्र—इस सूर्य के पिता हैं । सूर्य हम सब के पिता हैं । तभी तो मन्त्रा को पिता मन्त्र [बाबा] कहा गया है । निरुद् पुरुष को रूपों गर्भ में बीजरूप से प्रतिष्ठित रखने वाले, रत—योनि—रेताभाकरूप उस दम्पतीमात्र का ही ‘अनेश्वरकम्’ इत्यादि मन्त्रों में निरूपण हुआ है । ‘अनेश्वरक मनसो मनीषो नैनदेशा आप्नुवन् प्रवमपद’ ‘तदावतोऽन्यानत्वेनि विष्टव यह मन्त्रभाग योनि का निरूपक है, ‘तस्मिन्ने’ यह भाग रेत का निरूपण करता है, एवं ‘मातरिणा दधाति यह मन्त्र योग रेताभा का निवेदन करता है । वेदमन् ईश्वर समुदायरूप से सर्वथा अनेश्वर है, अनेश्वरद्वारा मन से भी जनीय है । इस प्रकार किसी कारणवत् (गन्ती) गन्ति निमग्नान्त [विपतिरूप] केमप ईश्वर [सबभूतान्तरात्मा] बृहत् स्तम्भ कहा है । साय विष इस पूर्वपुरुष से पूछ है । विपतिप्रतिस्मरिरूप सर्वभूतायक, किन्तु मायाबद्धिभर इसी तन्त्र

को हमने यजुर्वेद कहा है। वेदग्रन्थों में ऋग्वेद महोक्त है, सामवेद महाघृत है, यजु ऋषि है, ऋषा है, योनि है। इसी यजु के पुरुष मयबाष् भाग से पद्मरूप आपोत्रस उत्पन्न हुआ है। जहातक यजुर्वेद व्याप्त है, बहीतक आपोत्रस व्याप्त है। दोनों समामायतन हैं। महा मायाबन्धित्व सिद्धाकर्ममय उस व्यापक क्षराक्षरविशिष्ट अम्यय पुरुष [पोडरीपुरुष] का बिम्ब अपने सामने रखिए। इस पर पहिछा वेदग्रन्थीरूप ब्रह्मस्तर समम्भिर, दूसरा पद्मरूप सुब्रह्म स्तर समम्भिर। साय ही में तीनों की व्याप्ति समानप्रदेश में समम्भिर। साय ही में यह भी स्तर रखिए कि उत्तरउत्तर स्तरों में पूर्व पूरस्तर निम्न प्रतिष्ठित हैं। 'मनेजदेकम्०' से पहिछा उपनिषद्भाग विशुद्ध पोडरीपुरुष का निरूपण करता है, 'मनेजदेकम्' इत्यादि मन्त्र सिद्धा-कर्ममय दूसरे ब्रह्मस्तर का निरूपण करता है, एव आगे का—'सर्पर्गात्०' इत्यात्मक तीसरा अविस्तर तीसरे सुब्रह्मस्तर का निरूपण करता है। ब्रह्मपुरुष से उत्पन्न सुब्रह्मरूप [अव्यय] की पुरुष पर प्रतिष्ठित भी, पति पत्नी का सम्बन्ध था, परन्तु बहिर्याम सम्बन्ध था, दोनों के शरीर मात्र मिले हुए थे। ऐसे योगरूप बहिर्याम सम्बन्ध से विरबोत्पत्ति असम्भव थी। अतएव आगे जाकर मातरिषा द्वारा दोनों का अन्तर्गमन सम्बन्ध हुआ। इन दोनों के मिलित भाव से जो अपूर्ण तत्त्व उत्पन्न हुआ, वही—'शुक्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ। पूर्वमें हमने इस अपूर्णमात्र को 'विराटर्ष्य' कहा था एव यहां शुक्र को अपूर्णभाव यत्सामा जारहा है। इसमें विरोध नहीं समझना चाहिए। कारण 'शुक्र' ही स्य का जन्मदाता है। शुक्रवत्स्या का अर्थिक प्रवेश ही आगे जाकर स्यरूप में परिणत होता है। अतएव—'तद्वाऽएव एव शुक्रो य एव तपति' वषट्प तपति तेनैव शुक्रः' [शत० ४२।१।१।] इत्यादि रूप से स्य शुक्र नाम से प्रसिद्ध है। अतएव ग्रहविद्या के अनुसार जहां अश्रमा को 'मन्थी' कहा जाता है, वहां सूर्य को 'शुक्र' कहा जाता है। सौराभि ही अपने प्रवर्णार से ग्रीष्म ऋतु का अधिष्ठाता बनता है, अतएव ग्रीष्म ऋतु को भी [सूर्य सम्बन्ध से] 'शुक्र' कहा जाता है। अष्टमास 'शुक्र' है, आपात्मास 'शुवि' है। [वेदिर शत० ४।१।१।५]। विराट् स्य को छोड़ दीजिए। अग्नी विराट् शब्द से केवल शुक्र का ग्रहण कीजिए। त्रयीव्रत एव आपके अन्तर्गमनरूप याग सम्बन्ध से

जो अपूर्वमात्र उत्पन्न हुआ, वही विश्व का उपादान बनता हुआ [शुक्र-साम-यत्-ग-वाप-वायु-सोम-अग्नि-यम-आदिभ्यः मेदः से दशाक्षर बनता हुआ] विराट्शुक्र नाम से प्रसिद्ध हुआ। जहाँ तक [महामायातक] ब्रह्म-सुब्रह्मस्तर स्पष्ट थे, वही तक दोनों की सम्मिश्रित अवस्था-रूप विराट्शुक्र स्पष्ट हुआ। यही पहिला अव्यक्त सप्तम्भू है। सत्सीम कीर असीम [विश्व मायाबन्धुन होने से पर्यार्यतः असीम] मेद से सप्तम्भू दो प्रकार का है। अतएव महान् की उत्पत्ति नहीं होती, तब तक पुण्डरीर सप्तम्भू का उदय नहीं होता। महदुत्पत्ति से पहिले अपनी सत्ता रखने वाला शुक्रवर्ति सप्तम्भू व्यापक है, महामायाबन्धुन बनता हुआ एक है। इस ब्रह्म विश्वव्यापक ब्रह्म सप्तम्भू के उदर में महान् की जन्म से उत्पन्न होने वाली अनन्त योगमायामें से अनन्त पुण्डरीर सप्तम्भू प्रादुर्भूत होते हैं, जिनका निःशब्दशून्य आठवें मन्त्र में बताया जाया है। जो किसी समय दिव्यता था, वही मातारिषा द्वारा परब्रह्म [वाप] से निधुनमात्र को प्राप्त होता हुआ 'शुक्र' कहलें से जाता है। शुक्र कथ पदार्थ है ? इस प्रश्न का उत्तर है पदार्थसंगमित यत्तुवत्तम्। विश्व के उपादान कारण ही की शुक्र कहलें हैं। इसमें वेद-सुबेद दोनों हैं। दोनों का निधुनमात्र ही विश्व का उपादान बनता है, अतएव इस निधुनरूप को हम अक्षरप ही 'शुक्र' शब्द से व्यञ्जन कर सकते हैं। यही व्यापक अव्यक्त सप्तम्भू है। यही अव्यक्त नामे जाकर व्यक्त महदुत्पत्ति में परिणत होकर विश्व का प्रथम-प्रतिष्ठा पदार्थ बनता है, वैसा कि शिबु ब्रह्म से शब्द है—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सत्ता ममनन्त्यहरागमे ।

राष्ट्रपागमे प्रतीयन्ते तत्रैवाव्यक्तमेषके ॥ (गी० ८।१८)

यही अव्यक्त महदुत्पत्ति के सम्बन्ध से अव्यक्तरूप में परिणत होजाता है। इस व्यापक अव्यक्तवर्ति व्यापकशून्य से सृष्टि निर्माण होता है।

शरीर पर दृष्टि दानिज । सर्वज्ञ शरीर में व्यापक सभी शून्य प्रजोपति का कारण नहीं बनता। अक्षरविश्व शून्य ही होने में व्यापक होकर प्रजोपति कारण बनता है। यही अव्यक्त

यहां समझिए। मन्त्राभावावच्छिन्न ईश्वरशरीर शुक्लमय (मल सुप्रसन्नमय) है। जैसे मिश्र मिश्र शुक्ला-
 द्रवियों से मिश्र मिश्र (पुनः कथ्यादि) प्रजापत्य उत्पन्न होती हैं, एवमेव ईश्वर शरीरमें व्याप्त शुक्ल
 की मिश्र मिश्र व्याधृतियों से मिश्र मिश्र प्रजा की उत्पत्ति होती है। ईश्वर की प्रजा के
 १-स्वयम्भू (पुण्डरीरस्वयम्भू) २-परमेष्ठी, ३-सूर्य, ४-चन्द्रमा, ५-पृथिवी यह पाँच
 विभाग हैं। पाँचों की समष्टि एक विश्वप्रजा है। ऐसी अनन्त प्रजापत्य (अनन्त मिश्र) उस में
 उस के मिश्र मिश्र शुक्ल प्रदेशों से उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार शुक्ल मेद से अनन्त विश्वप्रजाओं
 की उत्पन्न कर वह अनन्तविद्याविद्यात्म बन जाता है। ईश्वरत्व 'शुक्ल' रूप में कैसे परिष्कृत हो
 जाता है ? प्रकृत मन्त्र इसी का समाधान करता है। एवं यह शुक्ल मिश्र मिश्र प्रजाओं को कैसे
 उत्पन्न करता है ? पुण्डरीर प्रजाओं का क्या स्वरूप है ? इन सब प्रश्नों का समाधान 'स पर्य्य
 गात्' इत्यादि मन्त्र करता है। स्वयम्भू ब्रह्मसत्य है। प्राकृतिकप्राप्त की विश्वसमृद्धि होने से
 इसे 'प्राकृतात्मा' कहा जाता है। महाद्वारक मय्यक्त मिश्र का अभिधाता यह स्वयं ब्रह्म है।
 इसी दृष्टि से इसे 'ब्रह्मकात्मा' कहा जाता है। ब्रह्मकात्मा में यही ब्रह्मकात्मा 'शान्तात्मा'
 नाम से प्रसिद्ध है—(देखिए कठोपनिषद् १।३)। यही ब्रह्मसत्याक्षर, स्वयम्भू, ब्रह्म-
 कात्मा, शान्तात्मा आदि विविध नामों से प्रसिद्ध पहिला प्राकृतात्मा है। जब महानात्मा
 ब्रह्म से प्रसिद्ध दूसरे प्राकृतात्मा की ओर निम्न पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

इति मन्त्रार्थप्रकरणम्

अव्यक्तात्माधिकरणे-

विश्वविश्वात्मनो -सम्बन्धाधिकार

(अमृतात्मना सह ब्रह्मसत्यस्य सम्बन्धनिरूपणम्)

ब्रह्म-कर्मणोः सम्बन्धः



१ तदजति तमैवसि तद्दूरे तद्व्यक्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तद् सर्वस्य बाह्यत ॥ १ ॥

} ब्रह्म कर्मस्वप्न

२ यस्तु सत्वाणि भूतानि-आत्मन्येवानुपरम्यति ।

सर्वभूतेषु आत्मानं ततो न विदुर्गुप्सते ॥ २ ॥

} कर्म ब्रह्मस्वप्न

३ यस्मिन्सत्वाणि भूतानि-आत्मैवाभूद्विज्ञानतः ।

तत्र को मोहः कः शोकः एकस्मिन्नुपरम्यत ॥ ३ ॥

} प्रक्षेत्र कर्म





ब्रह्मकर्मसम्बन्धनिरुक्ति



अप्यपुरुष प्रकृति को आगे कर के ही विचिनिमाय में समग्र होता है। प्रकृति विशिष्ट, (अत एव) सृष्टिप्रवर्तक अव्यय पुरुष के ब्रह्म और कम यह दो प्रधान विस्त हैं। आत्मन्द-विज्ञान-मन का समुच्चय ब्रह्मभाग है, मन-प्राण-वाक् का सममितरूप कर्मभाग है। दोनों निष्प सहचारी हैं। ब्रह्म-कर्ममय अव्यय से (प्रकृति द्वारा) उत्पन्न विश्व में भी ब्रह्म-कर्म (ज्ञान-क्रिया) इन दो तत्वों का ही साम्राज्य है। प्रत्यक्ष करने पर भी आप ज्ञान कर्म के अतिरिक्त तीसरी वस्तु प्राप्त नहीं कर सकते। विश्वात्मा में ब्रह्मभाग विकसित रहता है, विश्व में कर्म की प्रचामता रहती है। अत एव विश्वात्मा को 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया जाता है, एवं विश्व को 'कर्म' नाम से पुकारा जाता है। इस मेद व्यवहार का मूल कारण यही है कि अव्ययात्मा का सृष्टिस्थाहीभाग मन प्राण-वाक्मय है। मन रूपों का उक्त-ब्रह्म-साम है, प्राण कर्मों का (क्रियाओं का) उक्त-ब्रह्म-साम है, एवं वाक्मय नामों का उक्त-ब्रह्म साम है। नामरूपकर्म की समष्टि ही विश्व है। अव्ययात्मा के कर्मभाग को आसम्बन्ध मानकर शब्दतन्मात्रा द्वारा ही विश्व का निर्माण हुआ है। इस कर्मप्रधान विश्व के ब्रह्म-शुक्र-विश्व यह तीन विस्त हैं। अव्ययप्रधान चोदशी सर्व अप्रमत् कि वा अप्रमत्तात्मा है। उपनिषद् के आरम्भ में (पृ० ११) एवं प्राञ्जल-व्यधिकरणान्तर्गत वेदनिरुक्ति की प्रकरणसंगति में (पृ० स० ४।१५) उपनिषद् का जो विषय विभाग बताया गया है, आप उसे दूसरी तरह से देखिए। कर्मनिर्मित ब्रह्म (चोदशी पुरुष) के अप्रमत्-ब्रह्म-शुक्र-विश्व यह बार विस्त हैं। यही अतुल्याब्रह्म है, जिसका कि पूर्व के अतुल्याब्रह्मनिरूपणाधिकार में वित्तर से विस्तरण बताया जा चुका है। प्रकरणान्तर से ईशोपनिषद् इन्हीं चारों ब्रह्म विस्तों का निरूपण करती है। मन्त्रत्रयात्मक प्रथम प्रकरण (पुरुषात्म्याधिकरण) अमृत नाम से प्रसिद्ध विशुद्ध चोदशीपुरुष का निरूपण करता है। 'अनेम देवं मनसो जयीय' यह मन्त्र ब्रह्म नामसे प्रसिद्ध अव्यय तत्व का निरूपण करता है।

स पपगाञ्जुकम्' इत्यादि मन्त्र शुक्ल नाम से प्रसिद्ध विहृतीत्यन्तर स्पष्टतया का निरूपण करता है, एव 'सपर्यगात्'० से आगे का साध प्रकरण विरह नाम से प्रसिद्ध वैज्ञानिक ज्ञान का प्रतिशान्न करता है। इन चारों विधियों में अमृतात्मा निरक्षमा है, विश्वका आधार है विश्वसाक्षी है पुरुष है। अन्न [अप्यक्त] मूलप्रवृत्ति है। शुक्ल विहृति है। विहार विध है। पुरुष-प्रवृत्ति-विहृति-विकार-ही अमृत-ब्रह्म-शुक्ल-विरह हैं। इन चारों में पुरुष ज्ञानप्रधान बनता हुआ अन्न है, प्रवृत्ति-विहृति-विकार यह तीनों विरक्त कर्मप्रधान बनते हुए कर्मरूप ही हैं। यद्यपि निरक्ष केवल विकारसम का ही नाम है। तथापि विहृतिरूप शुक्ल ही इसका उपागम कारण बनता है। एव अमृतत्व विध उपादान कारणरूप शुक्लसत्ता से ही सत्ता युक्त बन रहा है। कारण काय से अभिन्न है, विकार विहृति से अभिन्न है। अतएव विहृति काय शुक्ल को विकारसमरूप विध में ही अन्तर्मूल मानसिद्धा जाता है। तीसरा है प्रवृत्तिरूप अन्न मात्र। अप्यक्त प्रवृत्ति ही अ्यक्त विहृति (शुक्ल) को उत्पन्न कर विध की मूल जननी बनती है। प्रवृत्ति की अप्यक्तात्मता ही तो अ्यक्तमात्र में परिणम होकर शुक्ल (उपागम) बनती है। अतः इस प्रवृत्तिरूप अन्तर्मात्र ब्रह्म का विहृतिरूप अ्यक्त शुक्ल में अन्तर्भाव मान लिया जाता है। प्रवृत्ति को विहृति से पूर्ण नहीं दिया जासता विहृति को निरक्ष से पूर्ण नहीं माना जासकता।

प्रवृत्ति कर्त्री (निमित्तकारण) है, विहृति उपादाकारण है वैज्ञानिक निरक्ष अमृतत्व है। चौथा स्वअमृतात्मा प्रवृत्ति-विहृति-विकार इन तीनों का आत्ममय बनता हुआ सर्वोत्तमत्व है। यह अमृत कारणार्थक है। यद्यपि मूलप्रवृत्ति से विकार करने पर अमृत अमृतात्मा में भी (योद्धी पुरुष में भी) अक्षय-अक्षय-आमक्षय-अक्षयशुद्धिविरह इस अमृत से उत्पन्न कारणमा अक्षय की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इस विभाग में आमय अमृत है, अक्षय अक्षय (अप्यक्त प्रवृत्ति) है, आमक्षय शुक्ल (आवृत्ति) है, एव ब्रह्म-शुद्ध-विरह समष्टि वैज्ञानिक अमृत है। दूसरे अक्षयों में अमृत अमृतत्व है, अक्षय निमित्तकारण है, आमक्षय उपागमकारण है, एव ब्रह्म-शुद्ध-विरह ही अक्षय अमृत है, तथापि अक्षय निरक्ष के अक्षयत्वमात्र के विचार उप

स्थित होने पर इस क्रम को प्रधानता नहीं दी जा सकती । 'सर्वं सर्वाणि भूतानि' के पतु सार मौक्तिकरिष भव्यय-भवर की कारकता से पृथक् ही मानना पड़ता है । यह ठीक है कि आत्मकारकता ही परमकारकता है, तथापि स्थूलद्रष्टि से हम पोथरीरूप भव्यतत्त्वा को कमकरणातीत ही कहेंगे । इस प्रकार पतुप्याद्वय के सम्बन्ध में आत्मा-विरव मेद से दो विर्ग्य होजाते हैं । आत्मा भी पतुप्याद है, व्रज भी पतुप्याद है । दोनों की समष्टि अद्यक्षर गायत्री ब्रह्म है । अतएव ब्रह्मविद् ब्राह्मण गायत्री से ही विरव वर निर्मल मानते हैं ।

पुरुष-अकृति विरुति सब कुछ गायत्री के उदर में समाविष्ट है । गायत्री पतुप्याद व्रज की विभूति है । 'सर्वाणि इ वा छन्दांसि चतुरुवराणि' के अनुसार गायत्री के आरम्भ में चार पाठ (अक्षर) थे, परन्तु विरवोदति के अनन्तर पतुप्याद आत्मब्रह्मभी गायत्री अद्यक्षरा बन जाती है । इसी ब्रह्मविभूति की प्राप्ति के लिए ब्रह्मविद् ब्राह्मण ब्रह्ममुहूर्त्त में पूर्वामुमुख सदैव हो कर गायत्रीब्रह्म वर स्मरण किया करते हैं । गायत्री ही सब कुछ है । इसी रहस्य को उदय में उल्लेख ब्रह्मन्दोप्य प्रति पड़ती है—

“गायत्री वा इदं सर्वं-भूत-यदिदं किञ्च । पार्थै गायत्री । मानवा इदं सर्वं भूतम् । गायति य प्रापते य । + + + + +
तावानस्य बहिषा ततो व्यापार्य पूरुष । पादोऽस्य सर्वा भूतानि,
त्रिपादस्यामृतं दिवि । यद्वैतद् ब्रह्म इति, इदं वान तत् योऽय-
बहिषा पुरुषादाकाशः । यो वै स बहिर्षो पुरुषादाकाशः-अयं वाव
स योऽयमन्तः पुरुष आकाशः । यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः —
अयं वान स योऽयमन्तः हृदय आकाशः । तदेतत् पुष्यं अग्रवर्ति,
पुष्यमवर्तिनीं त्रिर्यं समेत य एष वेद” इति ।

[ब्रह्मन्दोप्योपनिषद् १ प्र १० सं)

गायत्रब्रह्म

“आत्मात्मा के गायत्री । गायत्री का पूरे सर्वम्”	{ १-१ अन्ययपुरुष — पुरुष — अमृतम् (आत्मन्वनम्) } { २-२ अक्षयपुरुष — प्रकृति — ब्रह्म (निमित्तकारणम्) } { ३-३ आत्मन्वापुरुष विहृति — शुक्लम् (उपादानकारणम्) }	} आत्मा १ चतुष्पादब्रह्म	} “गायत्री ब्रह्म”
	{ ४-४ { अक्ष (१) } { शुक्लम् (२) } { विश्वम् (३) }		
	{ विकारसंघ-विश्वम् (वामपक्षम्) }		
	{ विश्वम् (३) }		
— १७ —			
	{ ५-१ पाञ्चशीपुरुष — पुरुष — अमृतम् (आत्मन्वनम्) } { ६-२ अक्षयपुरुष — प्रकृति — ब्रह्म (निमित्तकारणम्) } { ७-३ शुक्लम् (उपादानकारणम्) — विहृति — शुक्लम् (उपादानम्) } { ८-४ विश्वम् (व्यापककारणम्) — विकारसंघ-विश्वम् (वर्ष्यम्) }	} आत्मा (पुरुष) २ चतुष्पादब्रह्म	} “गायत्री ब्रह्म”
	{ विश्वम् (३) }		
	{ विश्वम् (३) }		
	{ विश्वम् (३) }		

— १७ —

दोनों ब्रह्म विकर्ता में से इशोपनिषत् में प्रधान यदि किन्तु विकर्ता पर है। यह पाठक स्वयं विचार करें। उन्हें उपनिषत् के नाम से ही यह विशिष्ट होनाफा कि उपनिषत् की प्रधानतया दूसरे विकर्ता पर है। ईश शब्द मौक्तिक विरह की अपेक्षा रखता है। पाञ्चशी पुरुष आत्मा है। अक्ष-शुक्ल-विहृति की समष्टि इस अर्थमा ब्रह्म स्वीकृत है। इस आत्मन्वा की मान ईश किन्तु इतर है। आत्मन्वा अमृतभाग है, शरीर(मात्र) प्राकृतभाग है। दूसरे शब्दों में आत्मा पुरुष है, शरीर प्रकृति है। ईश उपनिषत् प्रकृतिपुरुष का ही निरूपण करती है। अतएव इस उपनिषत् में हमने पुरुषात्माभिकरण-प्राकृतारमाभिकरण यह दो ही अभिकरण रखे हैं। साथ ही में पुरुषात्माभिकरण का शीर्षक (हेतु) ‘अमृतारमा रक्षा है, प्राकृत कर्तव्य का

‘प्राकृतवात्मा’ यह शीर्षक रक्खा है। सामान्य दृष्टि से सारी उपनिषद् के दो ही विभाग हैं। आरम्भ के तीन मन्त्रों की समष्टि पुरुषविभाग व आगे के (अनेजदेक—से आरम्भकर तुम चर्कि विधेम पयस्त) १५ मन्त्रों की समष्टि प्रकृतिविभाग है। प्रकृति की आगे आकर प्रकृति विकृति विकारसंब (ब्रह्म-शुक्र-विश्व) यह तीन अवस्थाएं होनाती हैं, अतएव दूसरा विभाग तीन भागों में विभक्त हो जाता है। ‘अनेजदेक०’ इत्यादि चतुर्थमन्त्र प्रकृति के ब्रह्मविकर्ष का निरूपण करता है। ‘सपर्यगात्०’ इत्यादि आठवां मन्त्र प्रकृति के शुक्रविकर्ष का निरूपण करता है। एव आगे के (अन्वे तमः० इस २ मन्त्र से आरम्भ कर ‘नम चर्कि विधेम’ इस १८वें मन्त्रतक) १० मन्त्रों की समष्टि प्रकृति के विश्वविकर्षभूत वैकारिकसंघ का निरूपण करती है। इस प्रकार १ (४ मन्त्र), १ (८ मन्त्र), १ (१ से १८ तक) इस क्रम से प्रकृतिके ही तीनों विकर्षों का निरूपण हुआ है। उपनिषदुपदेश जीवात्मा (अध्यात्म) से सम्बन्ध रखता है। जीवात्मा देवसत्त्व नाम से प्रसिद्ध है। जीवदेवसत्त्व की प्रतिष्ठा ईश्वरीय देवसत्त्व है। यह दोनों ही देवसत्त्व विश्व के पृथिवीपर्व पर प्रतिष्ठित हैं। देवसत्त्व अग्निरूप है। सोम अग्नि का जीवत्त्व है। सूर्य इस देवसत्त्व का आराम है। सूर्यरूप विश्व (व्यक्त विश्व) देवसत्त्व की सूक्ष्मप्रतिष्ठा है। सोमस्य चन्द्रमा जीवनीय रस है, जीवन का साधन है, पृथिवी आधार है। इस प्रकार व्यक्त विश्व में सूर्य-चन्द्रमा-देवसत्त्व-पृथिवी यह चार विकर्ष होजाते हैं। सूर्य भी अग्नि है, देवसत्त्व भी अग्नि है, पृथिवी भी अग्नि है, मध्यस्थित सोमरूप चन्द्रमा भी अग्नि से ही गृहीत है। विश्व के लिए ‘अग्नीषोमात्मकं जगत्’ यह कहा जाता है। इन में अग्निक्त्वा सूर्य-देवसत्त्व-पृथिवी इन तीन भागों में विभक्त है। चौथी सोमक्त्वा है। इसप्रकार अग्नीषोमात्मक विश्वके सूर्यादि चार विकर्ष होजाते हैं। चारों की समष्टि को हम (अन्नसोम को अन्न अग्नि के गर्भ में मानते हुए) अग्निगण्ड से व्यकृत कर सकते हैं। समष्टिरूप से विश्व सोमगर्भित अग्नि है, व्यष्टिरूप से वही सूर्य-चन्द्रमा-देवसत्त्व-पृथिवी इन चार भागों में विभक्त है। सूर्य व्यक्त विश्व का आरम्भस्थान है, पृथिवी अन्तिमस्थान है। मध्यमे चन्द्रमा और देवसत्त्व प्रसिद्ध हैं। इन चारों व्यष्टियों का अन्ततोगच्छ समष्टिरूप अग्नि पर अवस्थान है। इस क्रमसे २ मन्त्रात्मक चौथे विवरणकरण के

अष्टमंशर पांच प्रकरण हो जाते हैं। सूर्यमकरंश-चन्द्रमकरंश देवसत्यमकरंश-शुक्रिणीमकरंश
अग्निमकरंश इन प्रकरणों में ३ मन्त्र (११० ११) सूर्यकला का, ३ मन्त्र (१२ १३ १४)
चन्द्रकला का, ३ मन्त्र (१५ १६ यह दो मन्त्र पूरे एवं तीसरे १७ वें मन्त्र का 'वायुरनिमग्न
तम्' यह एक चरण) देवसत्यकला का, पाँच मन्त्र (१७ वें मन्त्र के शेष तीन चरण)
शुक्रिणीकला का, एवं एक मन्त्र (अष्टमंशका मन्त्र) समष्टिरूप अग्नि का निरूपण करता है, जैसा कि
विषयविष्णुग्रन्थान में उद्धृत कर दिया गया है।

यपि इस अप्रासंगिक जवाब से पाठक दुष्प्रसन्न होकर होंगे। परन्तु हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि यह सोमनाथ उन के लिए उपनिषद्ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करदेगा। अन्तिम समग्ररूप से निषयनिर्माण की ओर बढ़ते हुए अपना सोम और ब्यापार।

उपनिषद् को व्यात्मन्वी ईश्वरप्राज्ञापति का निरूपण करते हुए तद्विरुद्ध व्यात्मन्नीत्या का निरूपण करता है। ईश्वरसंस्था पुरुष और प्रकृतिभेद से दो भागों में विभक्त है। विश्वसंस्थ से पुरुष को अपने स्वभावात् को भागे रहना पड़ता है। स्वयं पुरुष भी व्यप्य-अक्षर पर भेद से ज्ञाता विभक्त है, एवं व्यप्य का कर्मभाग भी मन-प्राण वायु भेद से ज्ञेया विभक्त है। इन में मन व्यप्यप्रधान है, अक्षर प्राणप्रधान है, वायु वायुप्रधान है, यह है ईश्वरविभक्ति। व्यप्यात्म गीत्या में व्यप्यपुरुष मन स्वभावात् से भोगों का, प्राणरूप अक्षर ज्ञेय का, वायुरूप पर व्यप्य

● 'सूर्योदयप्रमो' का अर्थ है। यही लक्षणका विषय के प्रसंग है। अथवा शीतो में १ ३ मिनट तक समय कम रहता है।

+ देवराज सत्य है सत्य निष्कल है। अष्टम अंग को देवराज निष्कल के लिए तीन मन्त्र रखे गये। प्रोटीन मन्त्र नहीं अंग ११ लकारो मन्त्र। १० के अंग के तीन पात्र दुधिरि में तुल्य होगए। काय दुधिरि देवराज को प्रतिष्ठा है। त्रिगुण से वह बलिष्ठ रहती है। अंग १२ अष्टम अष्टम से वह देवराज से बलिष्ठ होती है। जैसा कि सत्यराज में पाकर राज होनाका। इसी तरह को अष्टम में पाकर तीन बारों में १० का निष्कल हुआ है, एक पात्र का देवराज अष्टम में अष्टमों है।

का साक्षी बनता है। इसी योग-कर्म-आवरणसाक्षी त्रिरूप पुरुष का निरूपण क्रमशः आरम्भ के तीन मन्त्रों में हुआ है। यही पहिला मन्त्रप्रयात्मक पुरुषात्माधिकार्य है। (अस्तुतम्)।

दूसरा विवर्त है प्रकृति। प्रकृति का पहिलारूप है-यजुर्गर्भमित द्वित्ररूप प्राणमय यजुर्गर्भ। यही अण्पात्म में अण्पयन्तात्मा नाम से प्रसिद्ध है, यही ईश्वरसंस्था में स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध है। आरम्भ में यह एकाकी था। यही आगे जाकर शुक्रलिकस का कवरा बनता है। 'अनेमदेकम्' इत्यदि चौथा मन्त्र इसी त्रिरूपित पर निरूपण करता है। (ग्रह)।

प्रकृति का दूसरा विवर्त शुक्र है। द्वित्रगर्भित (यजुर्गर्भित) आपोमय सुतस का ही नाम 'शुक्र' है। यह अण्पात्म का व्यक्तावस्था है। यही विकृतिमय है। अभिदेदत में यह परमेष्ठी नाम से, अण्पात्म में यही महानात्मा नाम से प्रसिद्ध है। 'सपयगात्' इत्यदि ८ वां मन्त्र इसी शुक्रविवर्त का निरूपण करता है। (शुक्रम्)।

प्रकृति का तीसरा विवर्त है-अग्नीप्रोमात्मक विष। विष की प्रथम विकासभूमि सूर्य षडमा है, जैसा कि 'सूर्या चन्द्रमसौ भाता दया पूर्वमकल्पयत्-विष च पृथिवीं भान्त-रिचमयो स्मः' इत्यदि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। सूर्य अग्नि है, षडमा सोम है। सूर्य ही अपन प्रथम अग्नि से पृथिवी को उत्पन्न करता हुआ आकाशपृथिवीरूप में परिणत होता है। सूर्य सु-सोक है, पृथिवी पृथिवी है, मध्यस्थ सोमविवर्त अन्तरिक्ष है। इस त्रैलोक्य की समष्टि है 'महापण्ड' है, यही निरव है। पृथिवी विषय विष अग्नि पृथिवी है, पृथिवी का ही प्राणमि देवसस्य है। यह देवसस्य पृथिवी पर प्रतिष्ठित है। इस क्रम से सावित्राग्नि-सोम-देवसस्य-गायत्राग्नि-मेद से अग्नीप्रोमात्मक विष चतुर्वर्ग बनजाता है। सय का मूल धरातल एक सप्तामि है। आगे के १० मन्त्रों से इसी पञ्चम विवर्त अग्नीप्रोमात्मक विष का निरूपण हुआ है। (देखिये ई० वि० भा० ८७ पृ०)। इस पुरुष प्रकृति का अवरपाणीय सर्वात्मन-पुरुष अखण्ड परात्पर तत्त्व है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए उपनिषद् के उपक्रमोपसंहार में 'मो पूर्णमद्' इस रूप से शान्तिपाठ किया है। परात्पर व्यापक होने से सबका शान्त है। यही शान्ति का अभिप्राय है।

प्रकृत प्रकरण सम्बन्ध का निरूपण करता है । सम्बन्ध के सम्बन्ध में मन्त्रसम्बन्धिनी सम्बन्ध विज्ञासा सम्बद्ध है । अतः एव प्रसंगोपात् मन्त्रसम्बन्ध का सिद्धान्त करना पड़ा । पुनः प्रकृत का अनुसरण लिया जाता है ।

यद्यपि अभी विश्व का स्वरूप नहीं बतलाया गया है । कारण अभीयोगात्मक विश्व का उपादान शुद्धस्वरूप व्यक्त नहीं है, इस की मूलप्रवृत्ति अव्यक्त ब्रह्म है । 'अनेमदेकम्' से इस का निरूपण हुआ है । फिर भी ब्रह्म ही निरव की मूलप्रवृत्ति है । 'प्रकृतिः कर्त्री' के अनुसार यही व्यक्तावस्था में आकर विश्वरूप में परिणत होने लगी है । जब निरव की मूलप्रवृत्ति का निरूपण होगा तो एक प्रकार से निरव का निरूपण होगा । अनेमदेकम् के अनन्तर ही अग्निर्ब्रह्म-कर्त्ता (पुरुष-प्रकृति) के सम्बन्ध का निरूपण करना उचित समझा है । इस प्रकार में ब्रह्म शब्द शोणरीपुरुष का वाक्य है, कर्मशब्द निरव (निरव), विवृति (शुद्ध) गर्भित अव्यक्त ब्रह्म का वाक्य है । इस कर्ममय, अतएव कर्म नाम से (कर्त्री नाम से) प्रसिद्ध इस अव्यक्त ब्रह्म का विकास उस पुरुषब्रह्म से (पुरुष ब्रह्म के कर्ममात्र से) हुआ है । अपनी व्यापकता से वह अव्यक्त ब्रह्म का ब्रह्म (उपादान) बना है । अतएव सृष्टिकर्त्तृत्व की अपेक्षा से उसे हम अवरूप ही ब्रह्म कह सकते हैं । 'तत्सद्वा तदेवानुभाविशत्' के अनुसार शरीरात् अव्यक्त ब्रह्म को उत्पन्न कर वह शोणरीपुरुष (अव्यक्तमा) इसके गर्भ में प्रविष्ट हो गया है । दूसरे शब्दों में भौतिक कर्मका निरव में वह अव्यक्त ब्रह्म प्रतिष्ठित हो रहा है । ऐसी परिस्थिति में यह प्रश्न उपदिष्ट होता है कि इस ब्रह्म (आत्मा) का इस कर्म (निरव) के साथ क्या सम्बन्ध है ? कता सम्बन्ध है ? दूसरे शब्दों में आत्मब्रह्म कर्मविशेष में किस सम्बन्ध से प्रविष्ट होकर निरव-निवेश-निष्पादक आदि नामों से प्रसिद्ध हो रहा है ? प्रकृत तीनों मन्त्र इसी सम्बन्ध विज्ञासा को शान्त करते हैं ।

दशमशास्त्रमें ब्रह्म-कर्म का सम्बन्ध ६ प्रकार से माना है । कही सम्बन्ध 'पञ्चविकल्प' नाम से प्रसिद्ध है । ब्रह्म कारण है, निरव कारण है । शोक्तों हम कर्म-कारणशब्दों के सम्बन्ध में सक्रिय पाते हैं । कर्म-कारणसम्बन्ध अनेक प्रकार से उपलब्ध होता है । उदाहरण के

लिए कुछ एक कार्यकरणभावों का विचार कीजिए । निमित्त कार्यकरणभावों का निरूपण करते हुए अभियुक्त कहते हैं—

हेतुनिमित्त प्रकृतिश्च भोनि पारब्धमुत्ते प्रमनोदमनी तथा ।

विमर्तसंचारिरसप्रवाहिकप्रकृत्यसंपूर्ण समवायिका मताः ॥

१—दीपशलाका से दीपक जल उठता है । दीपशलाका कारण है, इससे प्रगल्भित दीपशलाका कार्य है । इन दोनों का सम्बन्ध 'हेतुसम्बन्ध' है । इसे ही 'प्रवक्तृ' सम्बन्ध भी कहा जाता है । कैसा विस्मयपूर्ण सम्बन्ध है । कारण का कायरूपमें परिणत होनामा उपादान सम्बन्ध है । यहाँ कारणरूप दीपशलाका कार्यस्वरूप साधक बनती हुई भी सत्य दीपशलाका नहीं बनती, यही विस्मयकता है ।

२—वायु में एक प्रकार का नोदनावस (प्रेरणामस) पैदा जाता है । नोदना कार्य है, वायु कारण है । इसी वायुनोदना से पृष्ठादि में कम्प होता है । मेघों का सबरण होता है । यह कार्यकारणसम्बन्ध नैमित्तिक किंवा निमित्तसम्बन्ध नाम से प्रसिद्ध है ।

३—आकाश में पक्षी उड़ रहे हैं । सर्प दहन (कण्ट) करते हैं । मृगशाक (हरिण के बच्चे) उड़का करते हैं । पुण्य में से गन्ध निकला करवा है । यहाँ पक्षी—सर्प—मृगशाक—पुण्य यह चारों क्रमशः उड़ना—दहन—उड़कना—गन्ध इन चार कार्यों के कारण हैं । इनका पारस्परिक सम्बन्ध 'प्राकृतिक' (सामयिक), किंवा प्रकृति (समाग) सम्बन्ध कहा जाता है ।

४—शब्द से शब्द पैदा होता है । आप आपने मुख से जो शब्द बोलते हैं, उसका आकाश में सर्वत्र व्याप्त वाक्समुद्र में आघात होता है । आघात होते ही वाक् समुद्रमें उष्णरित शब्दाकारकणित सहर उत्पन्न होजाती है । एक सहर के आघात से आगे दूसरी सहर, इसीसे तीसरी सहर, तीसरी से चौथी, पाँचवी इस प्रकार बीबियों की भाँट बन जाती है । यही प्रतिध्वनिभाव है । पक्षी सहर अन्य व्यक्ति के कामपर पहुँच कर शब्दोत्पत्ति का कारण बन जाती है । इसी के लिए—'शब्दोद्भवाः शब्दोत्पत्तिः' यह कहा जाता है । आप जो शब्द सुनते हैं वह उक्त बीबियाँ

से अन्य व्यक्ति के मुस से बोले हुए शब्द से उत्पन्न हुआ है। तेज से तेजका निकलन होता है। शब्द से साम का स्वरूप सम होता है। यहाँ शब्द तेज-शब्द कारण हैं शब्द-तेज-साम काय हैं। इन कायकारणों का सम्बन्ध 'योनि' नाम से प्रसिद्ध है। इसीको साम्प्रतिक सम्बन्ध भी कहा जाता है।

१-ओ मनुष्य शीघ्र चलता है, उसकी गति में वेग उत्पन्न होता है, इसी अभिप्राय से शीघ्र गमी के लिए 'बड़ बड़े वेग से जा रहा है' यह कहा जाता है। वेग-कथ है, गति कथारु है। गति ही वेग की सूचना देती है। अमरस के अनन्तर रस, रस के अनन्तर अस्व, इस क्रम से सात पातुओं का विकास होता है। गति-अमरस कारण हैं, वेग-सन्तपातुक्रम-कार्य हैं। यह सम्बन्ध 'मारम्भ' नामसे प्रसिद्ध है। इसीको 'सांस्कृतिक सम्बन्ध' कहा जाता है। इसी आधार पर "यह सत्कार की बात है, उस का मारम्भ ही ऐसा था" यह किंवदन्ती मणसित है।

६-स्तब्ध से तेज उत्पन्न होता है, हिमासय से गङ्गा उत्पन्न होती है, दूध से घृत निकलता है, पाषाण से मूर्ति निकलती है, गुहा से सिंह निकलता है। यहाँ स्तब्ध-हिमासय-दूध पाषाण-गुहा कारण हैं। तेज, गङ्गा, घृत, मूर्ति, सिंह कार्य हैं। यह सम्बन्ध 'बृद्धमय' किंवा 'प्रौढमानिक' नामसे व्यक्त होता है। इस सम्बन्ध में आचरणभग को ही कारणता है। स्तब्ध में से तेज गया उत्पन्न नहीं होता, अग्नि वृ स्तब्ध में पहिले से तेज है। केवल आचरण व्य रण है। इस आचरण का नाम ही 'तिल' है। आचरण को बटा दीजिए, तेल प्रकट होजायगा। हिमासय गङ्गा का आचरण है। दूध घृत का आचरण है। पाषाण मूर्ति का आचरण है। गुहा सिंह का आचरण है। नई बात उत्पन्न नहीं होती, अपि तु पहिले से विद्यमान बात आचरणनाश से प्रकट होजाती है। यही प्राधानिक इतिन (संस्थान) का सत्त्वप्रय-वाद सिद्धान्त है। बात यथार्थ है। यदि ऐसा न हो तो पानी में से भी घृत निकल सकता है। दूध से तेल निकल सकता है। एक बृहत्कथ पाषाण में सभी वेक्यकों की प्रतिमाएँ पहिले से

प्रतिष्ठित हैं। शिखरी नई मूर्ति नहीं बनाता, अपि तु वह पापाख्यस्थित मूर्ति के बहिरावरण को हटा देता है। शिखरी जिन मूर्तियों का स्वरूप जानता है, उन्हीं का स्वरूप पापाख में से वह निकाल सकता है। स्थान रहे—यदि शिखरी अपने शिखरात्रों से (टांकी हथोड़े से) मूर्ति पर प्रहार कर देगा तो मूर्ति नष्ट हो जायगी। मूर्ति को बचा बचा कर ही उसे बाहर का आकाख हटाना पड़ता है। आवरण के आत्यन्तिक हटा देने से पापाख्य प्रसिद्ध प्रकट हो जाती है। इसीका नाम सत्कामना है। जो वस्तु है, उसी की उपसन्धि होती है—यदिस्मा दुपमभ्येत। यदि पापाख में मूर्ति पहिले से न होती तो सहस्रशिखरी भी पापाख की मूर्ति नहीं बना सकते थे। यदि शिखरी ही पापाख को मूर्ति का रूप देता है तो क्यों नहीं वह पानी की मूर्ति बना लेता। इसी अभिप्राय से 'नासतो विद्यते भावो नामासो विद्यते सत' यह कहा जाता है। यही प्रतिमापूजन की अनान्यता एवं वैदिकता है। इसी उद्भव सम्बन्ध को 'मायिकसम्बन्ध' कहा जाता है। बिना मया नहीं बनता, अपि तु आकाशकारण के भग से प्रकट होता है।

७ मृमि से अक्षुर उत्पन्न होता है। प्राणियों से मोदना बल (प्रेरक बल) का उदय होता है। रुद्र से ताप उत्पन्न होता है। पुरुष से पुत्र उत्पन्न होता है। मन्त्री से जास उत्पन्न होता है। यहाँ मृमि—प्राणी—रुद्र—पुरुष—मन्त्री कारण हैं, अक्षुर—मोदना—ताप—पुत्र—जास फल हैं। इन का सम्बन्ध 'उद्भवसम्बन्ध' कहलाता है। इसे ही 'मायिकसम्बन्ध' भी कहते हैं। यहाँ प्रभव बल (कारण बल) माय नहीं है, केवल प्रभव का एक देश प्रभव से पृथक् होकर कार्यरूप में परिणत होता है। साध मृमिण्ड अक्षुर नहीं बनता, साध शुक्र पुत्र नहीं बनता। सारी मन्त्री जास नहीं बनती। अपितु मृ—शुक्र—मन्त्री का एक प्रदेश ही अक्षुर—पुत्र जासरूप में परिणत होता है। इसी को सांयानिकसम्बन्ध भी कहा जाता है।

८—आठवां विवर्त सम्बन्ध है। अविठनपरिणामपाद् ही विवर्त नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्म बिना बन गया है। ब्रह्म की अस्तित्व का नाम ही बिना रख दिया है। अथवा विवर्त ब्रह्म से पृथक् पदार्थ नहीं है। ब्रह्म ही विवर्त रूप से प्रतीत होता रहा है। विवर्त साक्षात् ब्रह्म है। यही

प्रसन्निकर्षण है। इसी को प्रातिमासिकविषर्ष कहते हैं। मिरब प्रसन्नकृत सत्ता नहीं रखता। मिरब की केवल माति है। सत्ता प्रसन्न की ही है। अथवा सत्ताप्रसन्न का ही मिरबरूप से गान हो रहा है। असातवक क्षितिजवृत्त का भी इस प्रातिमासिक विषर्ष में ही व्यक्तर्भाव है।

६-संगोष्ठ में मन्परेखा विपुलवृत्त है। जिस पर भूमिण्ड सूप के चारों ओर परिक्रमा सम्पन्न है, वह वृत्त जगन्तिवृत्त नाम से प्रसिद्ध है। तत्तत्तारापुञ्जों में निम्न मेघ-वृष-मिथुनादि राशि राशिगति है। नक्षत्रों से नक्षत्र पुरुषों का स्वरूप बना हुआ है। यह सब कल्पनिक जगत् है। आकाश में कोई वास्तव में गोष्ठ वृत्त नहीं है, जगन्तिवृत्तरूप कोई सबक नहीं बनी हुई है। राशिपों की कोई प्रतिमाएँ नहीं हैं। केवल कल्पना है। कल्पना से वृत्तादि कल्पित हैं। यही विकल्प कि वा वैकल्पिक सम्बन्ध है।

१०-हमारा मन नहीं नष्ट करणनाए किया करता है। अपने अन्तर्जगत् में विभिन्न विभिन्न स्वरूपों की याचना किया करता है। यही मनोराग्य है, इसी को 'प्रेक्षिकसम्बन्ध' कहा जाता है।

११-वृष से पुण्य-पक्ष उत्पन्न होते हैं। सौम्य से विह (अंग) उत्पन्न होता है। शरीर से केन्द्र छोड़ उत्पन्न होते हैं शुक्र उत्पन्न होता है। यह सब 'भौपपादिक सम्बन्ध' हैं।

१२-तैल से सौ उत्पन्न होती है। शुक्र शरीररूप में परिखल होता है। शय से रासी बमती है, पत्र (कागज) बनते हैं। अगार से मांस उत्पन्न होता है। वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी उत्पन्न होती है। यहाँ कारण (प्रकृति) अपने स्वरूप से व्युत्पन्न होता हुआ कल्प (सिद्धि) रूप में परिखल हो रहा है। सकृपात्तराह रूप यही सन्कल्प परिखामी कि वा परिखाधिक नाम से प्रसिद्ध है।

१३-पानी से भौपधिय, भौपधियों से शुक्र उत्पन्न होता है। यही रसानुवृत्तिक कि वा रसवाही सम्बन्ध है।

१४-मित्रवा-सुग-आसन्न-यह सब कार्य सांघोदिक सम्पत्तापी सम्बन्ध में व्यक्तम्प हैं।

- १५—पानी में रहकर, मिट्टी में घट, तम्बु से पट, शक्की से कपाट, सर्प से कटक, तेज-
अग्नि-अमलका क्रमिक विकास इन सब का औपादानिक किंवा उपादान सम्बन्ध में अन्तर्भाव है।
- १६—अग्नि से पानी का गरम होजाना, रुद्र से ताप होजाना, सुवर्ण का पिघल जाना,
इत्यादि सांक्रामिक सम्बन्ध हैं।
- १७—सृष्टिक्रमविधि पर जपापुष्प का राग, यह आक्रमिकसंचारी सम्बन्ध है। इसी को
आभिजायिक सम्बन्ध कहा जाता है।
- १८—ऊर्ण (मकड़ी) की नाभि से तम्बु उत्पन्न होता है। मकड़ी कारण है, मकड़ी से उत्पन्न जात
कार्य है। इसी प्रकार पुरुष से केश सोम उत्पन्न होते हैं। पुरुष कारण है, केशसोम कार्य है।
पृथिवी कारण है, ओषधि वनस्पति कार्य हैं। पिता कारण है, पुत्र कार्य है। धृतिवत् कारण
है, वृत् कार्य है। इन पाँचों ही कारणों का उपादानभाव से सम्बन्ध है। उपादानकारण
त्वेन पाँचों की कारणता यद्यपि समान प्रतीत होरही है, परन्तु सूक्ष्म विचार करने से पाँचों
का पार्ष्वय स्पष्टरूप से प्रतीत होने लगता है। पहिले ऊर्णनाभि को ही धीरे-धीरे। मकड़ीकी
नाभि से उत्पन्न होनेवाला जास अपने प्रभव (मकड़ी) से पूषक् नियतस्थ रहता है। साप
ही में आगे जाकर यह जास अपने प्रभव (मकड़ी) में सीन भी हो जाता है। इस प्रकार अपने
प्रभवका आश्रय न लेना, प्रभव से पूषक् रहना अन्तर्गत प्रभव में ही सीन होजाना, यह एक
प्रकार का कार्यकारणभाव है। ऊर्णनाभि में प्रभवानाशम्भनत्व, प्रभवपूषक्चरत्व,
प्रभवविनयनत्व यह तीन कोटि हैं।

केशसोम पुरुष से उत्पन्न होकर पुरुष में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। जादे की तरह पुरुष से
पूषक नहीं रहते। साप ही में यह अपने प्रभव पुरुष से पूषक् भी होजाते हैं। इस प्रकार
यहां प्रभवसम्भनत्व, प्रभवानाशम्भनत्व दोनों भव हैं। जास की तरह इनका 'प्रभव में विसर्जन
नहीं होता। ओषधि वनस्पति प्रभव (पृथिवी) में आश्रित हैं, आश्रित होती हुई सतत
रूप से ऊपर की ओर बढ़ती हैं, यही इनका पूषक्चरत्व है। इन्हें काट कर छेक दीजिए,

मित्र भी इनका आसम्भन प्रियिनी ही रहती है। मन्त्री का आस में यह बात नहीं है। यदि उसे अलग कर दिया जायगा तो मन्त्री इसका आसम्भन न रहेगी। यहाँ प्रत्येक दशा में प्रियिनी ही आसम्भन है। मन्त्री का आस जैसे मन्त्री से प्रपक्व होता है, ओपनि वनस्पति प्रशीरमृत प्रियिनी से कभी प्रपक्व नहीं हो सकती। इनका नियमन प्रियिनी में ही होता है। मन्त्री में निखलन अभिखयन दोनों धर्म हैं। यहाँ केवल नियमन ही है। प्रपक्वत्वरण आस और ओपनियों में समान है। पुरुष से उत्पन्न केरासोम में अग्रसम्भनत्व-अनासम्भनत्व दोनों धर्म थे, मन्त्री में अनासम्भनत्व ही था, प्रियिनी में अग्रसम्भनत्व ही है। साथ ही में केरासोम में प्रमद-मिसपनत्व है ही नहीं। ओपनि वनस्पतियों में प्रमदमिसपनत्व ही है। मन्त्री के आस में निखलनत्व अभिखयनत्व दोनों धर्म हैं इस प्रकार तीनों में कुछ न कुछ अन्तर है। पिता पुत्र के कार्यकारणभाव में तीनों से निखलनता है। यहाँ पुत्र अपने प्रमद (पिता) में आसम्भित नहीं है। इसका निखलन भी मित्र में होता है। परन्तु आस-ओपनि-केरासोम-पुरुषत्व-पद्मा मित्र से प्रपक्व नहीं है। बन्धि से निखलन उत्पन्न होते हैं। यहाँ भी उत्पादन कार्यकारणभाव सम्भन है परन्तु यह पाँचों से निखलन है। दीपशलाका से अन्य दीपक आस पड़ता है। शलाकामि कारण है, परन्तु शलाकामि का पद किञ्चित् अशुभ भी दीपक में प्रविष्ट नहीं होता। कुम्भकारण निमित्त कारणता का भी ऐसे स्वर में समावेश नहीं होता एवं मृदुपत्रक उत्पादन कारणता भी नहीं समी जासकती है। ऐसा निखलन सम्भन है।

उपप्लव कुछ एक उदाहरणों से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि कार्यकारणभाव किन्ती एक ही नियम पर प्रसिद्धि नहीं है। यदि ऐसा होता तो विश्व के सारे पदार्थ समानधर्मा होते। सबका उत्पादन तब एक है, इसमें कोई सन्देह नहीं। केवल सम्भन की निखलनता, एवं प्रपक्वता से पदार्थों में वैविध्य उत्पन्न होता है। अतएव सृष्टि का पयस्तान कार्यकारणों के सम्बन्धों पर ही गतना पड़ता है।

- १-प्रमथासम्बन्धनाय
२-प्रमथविसयनत्वाविसयनत्व
३-प्रमथपृथक्त्व
—०—

} “यथोर्गनाभिः स्रजते स्रजते च” १

- १-प्रमथासम्बन्धनाय
२-प्रमथविसयनत्व
३-प्रमथपृथक्त्व
—०—

} “यथा पृथिव्यस्मोपपद्यः सम्भवन्ति” २

- १-प्रमथासम्बन्धनाय
२-प्रमथविसयनत्व
३-प्रमथपृथक्त्व
—०—

} “यथा सत् पुरुषात् केनोत्तमानि” ३

- १-प्रमथानासम्बन्धनाय
२-प्रमथविसयनत्व
३-प्रमथपृथक्त्व
—०—

} “यथा पितुः पुत्रः” ४

- १-प्रमथासम्बन्धनाय
२-प्रमथविसयनत्व
३-प्रमथपृथक्त्व
—०—

} “यथा सृष्टिकातो षट्” ५

- १-प्रमथासम्बन्धनाय
२-प्रमथविसयनत्वाविसयनत्व
३-प्रमथपृथक्त्वाविसयनत्व
—०—

} “यथा मुटीप्यान् पात्रकादिस्फुलिङ्गाः प्रमथन्ते” ६

उपयुक्त कुछ एक निश्चयों से पाठकों को निश्चित हो गया होगा कि विश्व में कवयककरण-
मात्र अनेक भागों में विभक्त हैं। ऐसी अवस्था में—‘एकस्मिन् धर्मस्थि विरुद्धनानाकोट्यन-
गादिद्वान् संशयः’ इस श्रव्य के अनुसार कवय द्वाघ और कार्य क्रम के सम्बन्ध में निश्चय-
का होना स्वाभाविक होता है। प्रकृत में केवल ‘पञ्चविकल्प सम्बन्ध’ की ही प्रशंसा है।
इस पञ्चविकल्प सम्बन्ध के आगे जाकर १२ विवक्षित हो जाते हैं। इन १२ में का ४-१-५
यह श्रम है। चार स्वरूपसम्बन्ध हैं, चार पर्याप्तव्यक्तित्व सम्बन्ध हैं, पांच दान्यामक्तिव्यक्तित्व
सम्बन्ध हैं। तैरहों का पञ्चविकल्पों में अन्तर्भाव है। इसी पञ्चविकल्प सम्बन्ध को—‘अभिन्न
सत्ताकार्यकारणमात्रसम्बन्ध’ कहा जाता है। उदाहरण के लिए एक मिट्टी के घड़े पर
छवि काटिए। मिट्टी से बना क्या है, यह सभी को विदित है। मिट्टी कवरण है, बना कार्य
किंवा कर्म है। मिट्टीरूप काटने से उत्पन्न घटरूप कार्य का मिट्टी के साथ क्या सम्बन्ध है ?
अथवा मिट्टी का घड़े के साथ क्या सम्बन्ध है ? (काय का कवय के साथ, कवरण का कवय
के साथ क्या सम्बन्ध है?) यह विचार कीजिए। मिट्टी घट की प्रतिष्ठ है। मिट्टी को छोड़ कर
घट कथमपि स्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। ऐसी परिस्थिति में हम कह सकते हैं कि
यह मिट्टी में है, यही प्रथम सम्बन्ध है। साथ ही मैं घटराश्ट्रिक मिट्टी घट को सोचकर नहीं
रह सकती। मिट्टी का जो भाग घट कहलाता है, वह स्वरूप सृष्टिका सचमुच घट के विना
नहीं रह सकती। घट के नष्ट हो जाने पर मिट्टी अवश्य रहेगी, परन्तु घटराश्ट्रिक मिट्टी न
रहेगी। घटकरारूप मिट्टी ठीकी तक है। जब तक कि घट का आकार विद्यमान है। ऐसी परि-
स्थिति में हम कह सकते हैं कि मिट्टी घड़े में है, यही दूसरा सम्बन्ध है। घट एक स्वतन्त्र
पदार्थ है, मिट्टी एक स्वतन्त्र पदार्थ है। यदि घट और मिट्टी एक ही वस्तु होते तो—‘घटमानय’
(घटा सामो) इस भाषा से मिट्टी भी साह जा सकती थी, एवं ‘मिट्टी सामो इस भाष्य से
सृष्टिकर का भी आलम्ब हो सकता था, परन्तु ऐसा होता नहीं। घटराश्ट्रिक से घटा ही साह जाता
है, सृष्टिकर शब्द से मिट्टी ही साह जाती है। अतः हम कह सकते हैं कि
मिट्टी घड़े से भिन्न है, यही तीसरा सम्बन्ध है। घट के परमाणु बूट जाएँ, सृष्टिकर

किं कर्मण्य विध के न रहमें पर भी अस ससकृप से विना विरह की अपेक्षा के प्रतिष्ठित रहता है, परन्तु कर्म (विरह) विध से अभिन्न है । कारण कर्म (विध) अस कारण के बिना सर्वथा अस्तुपन्न है । अस में कर्म अभ्यस्त है । यही असकर्म का पक्षिकल्प सम्बन्ध है । यह इसमें है । यह उसमें है । दोनों अभिन्न हैं । यही यह है । यह इससे भिन्न है, यह उससे अभिन्न है । उस में यह भास रहा है ।

- १-अस कर्मस्यम् ++----->कारण कार्यस्यम्
 २-कर्म असस्यम् ++----->कार्य कारणस्यम्
 ३-असकर्मणी भिन्ने ++----->कार्यकारणे भिन्ने
 ४-असौव अस ++----->कारणमेव कार्यम्
 ५-अस कर्मत् पृथक् } कारण कार्यवत्पृथक् }
 कर्म तु अपृथक् } ++----->कार्य तु कारणवत्पृथक् }
 ६-असणि कर्ममस्तम् ++----->कारणे कार्यमस्तम्

“कर्मत्वकर्मस्य, मकर्म कर्मसत्,
 मिश्रद्वयं तत्, तदभिन्नमद्वयम्
 अकर्म मिथेत न कर्म मिथेत,
 ऽप्यासोऽप्येवे स्यादिति पङ्-
 चिकल्पनाः ।”
 (श्रीगुरुप्रसीतसंरासतदुष्प्रेरवाद)

इन ६ श्लो सम्बन्धों में प्रकृत में तीनों मन्त्रों द्वारा प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ इन तीन सम्बन्धों का निरूपण हुआ है । ‘तद्वजति०’ इत्यादि मन्त्र ‘अस कर्मस्यम्’ इस प्रथम सम्बन्ध का निरूपण करता है । ‘यस्तु सर्वाणि०’ इत्यादि मन्त्र ‘कर्म असस्यम्’ इस द्वितीय सम्बन्ध का निरूपण करता है । एवं ‘यस्मिन्सर्वाणि’ इत्यादि मन्त्र ‘असौव कर्म’ इस तृतीय सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है । ६ श्लो सम्बन्धों में से उक्त तीन सम्बन्ध ही प्रधान हैं । अत मुक्तिने इन्हीं को विशेष माना है । तीनोंमें से प्रथमसम्बन्ध का निरूपण करता हुआ निम्नलिखित मन्त्र हमारे सामने आता है—

तदेजति तन्नैजति तदद्वेरे तद्वन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यत ॥१॥ (६० ५ म०) ।

संसारि एवम् को प्रधान मान रहे हैं । सांसारिक के लिए वह आत्मतत्त्व दूर से दूर है, मुक्तात्मा के लिए वही समीप में समीप है । सांसारिक की दृष्टि में वह आत्मतत्त्व भीतर गुपा हुआ है, मुक्तात्मा के लिए वह प्रकट है । योगियों की दृष्टि में जो सत्य है, सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में वह असत्य है । सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में जो सत्य है योगी उसे मिथ्या समझ रहे हैं । एक ज्ञानमय ब्रह्म के अनुयायी ब्राह्मण हैं, एक कर्ममय ब्रह्म के अनुयायी क्षत्रिय हैं । एक आस्तिकार्थी है, दूसरा नास्तिकार्थी है । एक विष्णुवर्त्म के अनुयायी कर्माठ हैं, दूसरे शिववर्त्म के अनुयायी बानी हैं । एक सांख्यमतानुयायी हैं दूसरे योगमतानुयायी हैं । इस प्रकार 'सोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ' के अनुसार लोक में दो विभिन्न निष्ठाएँ प्रचलित हैं ।

१-तदेवम् ॥ —————> ब्रह्मात्मनेऽभिदुषे कर्मणि दधि (विद्यानुयायी)-कर्म }
२-तन्मैत्रिम् ॥ —————> ब्रह्मात्मने विदुषे ब्रह्मणि दधिः (आत्मनुयायी)-ब्रह्म }

१-तद्दूरे ॥ —————> ब्रह्मात्मनेऽभिदुषे कर्मणि दधि (विद्यानुयायी)-कर्म }
२-तद्विदुषे ॥ —————> ब्रह्मात्मने विदुषे ब्रह्मणि दधि (आत्मनुयायी)-ब्रह्म }

१-तदन्तरस्य सर्वस्य ॥ —————> ब्रह्मात्मनेऽभिदुषे कर्मणि दधि (विद्यानुयायी)-कर्म }
२-तद्विदुषे सर्वस्य ॥ —————> ब्रह्मात्मने विदुषे ब्रह्मणि दधिः (आत्मनुयायी)-ब्रह्म }

सर्व विदित इन दोनों निष्ठाओं के नेदवाद का निराकरण करती हुई मुक्ति कलती है कि दोनों को पूरक समझना ब्रह्मण है । वही विद्या है, वही विद्यात्म्य है । वही एवम् है, वही अनेकत्व है । वही दूर है, वही समीप है । वही सबके भीतर है, वही सब के बाहर है । अभावे ब्रह्ममय कर्ममाग से वह पक्ष है, कर्ममयैत ब्रह्ममाग से वह अवलम्ब है । १० ग० कर्मदृष्ट्या वह दूर है, १० ग० ब्रह्मदृष्ट्या वह समीप है । १० ग० कर्मदृष्ट्या वह भीतर प्रकीर्ण

विशेषरूपा भावना गढ़ हो जाती है। ऐसी अपुक्त बुद्धि बुद्धि ही नहीं है अविद्यामात्र है। बुद्धि ज्ञानसाधिका है, ज्ञानप्रकटकर्ता बुद्धि का संक्षेपार्थ है। जब सत्स्वरूप स्वयं इन्द्रियों के स्वरूपबर्ण ही नहीं रहा तो बुद्धि का रहना न रहने के सम्यक् है। इसी अविद्यामात्र से मगबान् कहते हैं—

नास्ति बुद्धिरपुक्तस्य न चापुक्तस्य भावना ।

न चाभाषयतः शान्तिरगान्तस्य कुतः सुखम् ॥ (गीता २।३६) ।

विषयबुद्ध्या बुद्धि अविद्यामात्र की वनकर आत्मस्वरूप को आवृत कर देती है। ऐसा ही आत्मा (मनुष्य) अहङ्कारमात्र कहलाता है। ऐसा मनुष्य कभी सत्कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। इसे कभी आत्मविषयिणी मित्रासा ही नहीं होती। “आत्मा-यत्न-गच्छोक्त-देवता सब होग है” ऐसे सुतर्कों की यह आशयसूचि बना रहता है। रहते हुए चित् (आत्मज्ञान) के आत्मस्वरूप से यह अविद्या बन रहा है। सांसारिक विषयों को ही यह अहङ्कारमात्र सुखसाधन समझता है। इसी अहङ्कारमात्र के लिए ‘सर्वज्ञानविमूर्धांस्तान् विदि नृपानवेतसः०’ यह कहा गया है। ऐसे अहङ्कारमात्र का कर्मरूप, अन्तर्गत सर्वथा एजद्रूप (परिणतमयीन अविद्या) निज ही प्रधान आशय है।

ठीक इसके विपरीत विज्ञानों में विद्यासमुचित निष्ठात्म कर्म द्वारा आत्मस्वरूपों का द्वारा आवरुद्ध करते हुए प्रवृद्ध ज्ञानाग्नि से संश्लिष्ट आत्मस्वरूपों को गढ़ करते हुए सिद्ध बुद्धिप्रेम प्राप्त कर लिया है ऐसे सिद्धावस्थापन योगी कहलाते हैं, यही मुक्तयोगी हैं। इनकी दृष्टि उस अनेकवक्त्र रूप ब्रह्ममात्र पर ही रहती है। एक क्षीर में मुक्त योगी हैं कहलाते हैं। दूसरे क्षीर में अहङ्कारमात्र हैं। एक ज्ञानमग्न के उपासक हैं शक्तिस्वरूप के अनुयायी हैं। दूसरे कर्ममय निज के उपासक हैं, गतिहीन अविद्या सांसारिक विषयों में रत हैं। प्रहज मन्त्र इन्हीं दोनों को सत्य बना कर कहता है कि “जो सत्ता है तब की दृष्टि में वह तत्त्व बनता है। जो मुक्तता है, तबकी दृष्टि में वह तत्त्व सबथा अविद्याही है। अर्थात् मुक्तता अनेकवक्त्र को मुख्य समझते हैं

ससारी एवम् को प्रपन्न म्यन रहे हैं । सांसारिक के लिए वह आमतौर पर दूर से दूर है, मुक्तात्मा के लिए वही समीप में समीप है । सांसारिक की दृष्टि में वह आत्मतत्त्व भीतर सुपा हुआ है, मुक्तात्मा के लिए वह प्रकट है । योगियों की दृष्टि में जो सत्य है, सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में वह असत्य है । सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में जो सत्य है योगी उसे मिथ्या समझ रहे हैं । एक ज्ञानमय ब्रह्म के अनुयायी प्राप्त हैं, एक कर्ममय धर्मरूप विषय के अनुयायी भ्रमणक हैं । एक आस्तिककर्मी है, दूसरा नास्तिकपण है । एक विशुद्धकर्म के अनुयायी कर्मठ हैं, दूसरे विशुद्ध ज्ञान के अनुयायी ज्ञानी हैं । एक सांख्यमतानुयायी हैं दूसरे योगमतानुयायी हैं । इस प्रकार 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ' के अनुसार लोक में दो विभिन्न निष्ठाएं प्रचलित हैं ।

१-तदेवमिति ++ —————> प्राकृत्यात्मनेऽभिदुषे कर्मणि दृष्टि (निश्चानुयायी)-कर्म }
 २-तन्नैवमिति ++ —————> कृत्यात्मने निदुषे ब्रह्मणि दृष्टि (आत्मानुयायी)-ब्रह्म }

१-तत्पूरे ++ —————> प्राकृत्यात्मनेऽभिदुषे कर्मणि दृष्टिः (निश्चानुयायी)-कर्म }
 २-तद्वन्तिके ++ —————> कृत्यात्मने निदुषे ब्रह्मणि दृष्टिः (आत्मानुयायी)-ब्रह्म }

१-तदन्तरस्य सर्वस्य ++> प्राकृत्यात्मनेऽभिदुषे कर्मणि दृष्टि (निश्चानुयायी)-कर्म }
 २-तत्सर्वस्य बाह्यत ++> कृत्यात्मने निदुषे ब्रह्मणि दृष्टि (आत्मानुयायी)-ब्रह्म }

सर्व विदित इन दोनों निष्ठाओं के भेदबाद का निराकरण करती हुई भुक्ति कब्रती है कि दोनों को पूषक समझना अज्ञान है । वही विषय है, वही निश्चाल्य है । वही एवम् है वही अनेकत्व है । वही दूर है, वही समीप है । वही सबके भीतर-है, वही सब के बाहर है । अथात् ब्रह्मर्षिर्मित कर्ममाग से वह ब्रह्म है, कर्मर्षिर्मित ब्रह्ममाग से वह अथर्व है ॥ अ० ग० कर्मदृष्टया वह दूर है, क० ग० ब्रह्मदृष्टया वह समीप है । अ० ग० कर्मदृष्टया वह भीतर प्रतीत

होता है, क० ग० मत्प्रपत्ता बही सबत्र प्रत्यक्ष है । प्रपत्ता भी बही है कर्म भी बही है । बही ज्ञान है, बही योग है । जो ज्ञानयोग है, बही कर्मयोग है- "एकं सारूपं च योगं च यः पश्यति स (एव तात्त्विकभार) पश्यति- (नाम्नी मेदशरी)" । द्वितीय अर्थ में इसी भाष्य का स्पष्टीकरण है ।

१



तीसरे हैं विषेया-या । जिस प्रकार कमठ अकृतात्मा, एव ज्ञानी कृतात्मा कहलाते हैं एवमेव व्यासक को विषेयात्मा कहा जाता है । सिद्ध-साम्य दोनों अवस्थाओं से वृषक् सौमिक कर्मों में रत अकृतात्मा है, साम्यदशा से युक्त मनुष्य विषेयात्मा है, इसी को 'युजानयोगी' 'भारुहस्य' 'निष्ठासु' इत्यादि शब्दों से व्यञ्जित किया जाता है । सिद्धदशा में बही विषेयात्मा कृतात्मा कहलाने लगता है । इसी को- 'युक्तयोगी' 'कृतकृत्य' आदि नामों से व्यञ्जित किया जाता है । परम वैदिक श्रुतार्थित सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्यश्री में इन्हीं उक्त तीन विभागों को मायादिक-जीव, मायादिकजीव, पुष्टजीव भेद से इन नामों से व्यञ्जित किया है । कृतात्मा युक्तयोगी (जिनपर मगधन् का अनुग्रह हो चुका है) पुष्टजीव कहलाते हैं- "मगधन्नुग्रह पोषः" । जन्ममास्यप्रसाह में इतस्तत् मुक्कने वाले शास्त्रविमुख पयाजात जीव- 'मायादिक' कहलाते हैं । यही पणभज कहलाता है । एव मगधन्नुग्रहक उपधिमात्र की प्राप्ति के सिद्ध जो शास्त्र-अर्थका का अनुगमन करते हुए सिद्धोक्त्या को प्राप्त करने में पणशील बने रहते हैं, वे ही 'मायादिकजीव' हैं । मगधन्नुग्रहकपोष के सम्बन्ध से ही उक्त सम्प्रदाय 'पुष्टिमार्ग' नाम से 'मसिद्ध' है ।

- १-ब्रह्मात्मा—(युक्तयोगी) — सिद्धावस्थापन—पुष्ट — (मनोमयमार्ग)—ज्ञानी
- २-त्रिवेपात्मा (युञ्जानयोगी) — साध्यावस्थापन — मार्गादिक (प्राणमयमार्ग)—उपासक
- ३-अहोत्तमा (यथाज्ञात मनुष्य) लक्ष्यभूतावस्थापन—प्रायश्चित्त (वाक्मयमार्ग)—कर्मठ



उपासना मध्य की वस्तु है। इस में ज्ञानकर्म दोनों का सम्बन्ध है। इसी को युद्धियोग कहा जाता है, जिस का कि दिगुत्थान प्रथमार्योपसंहार में बताया जा चुका है। प्रस पर दृष्टि रखते हुए कर्म करना ही युद्धियोग है। प्रस अकर्म है, कर्म कर्म है। अकर्म में कर्म समझिए, कर्म में अकर्म समझिए। कर्म को अकर्म में प्रतिष्ठित समझने हुए कम करने से कर्मजनित क्लेशमूला भावस्थिति नहीं होती। ऐसा कम अनन्त होता है। इसी अभिप्राय से मध्ययन् कहते हैं—

प्रसयपात्राय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।

लित्पते न स पापेन पक्षपप्रमिश्राम्मसा ॥ (गी० ५।१०) ।

उक्त दृष्टि से कममार्ग में प्रवृत्त होनेवाला पुरुषभेद ही 'त्रिवेपात्मा' कहलाता है। इस की दृष्टि दोनों पर है। कर्मदृष्टि से वह उसे एवम् कर, अतःप्रविष्ट समझता है, प्रसदृष्टि से वह उसी को अनेकद-समीप-सर्पत्र भ्याप्त समझ रहा है। इस अभिसमाप्ति से आगे आकर त्रिवेपात्मा—'यप्रसवस्य सर्पमात्मनामूत्' इस युक्ति का अधिकारी बनता हुआ सिद्धावस्था पर पहुँच जाता है। रागद्वेष नष्ट हो जाता है, अज्ञेयमूलक प्रज्ञानन्द प्राप्त हो जाता है। प्रवृत्त मध्य इसी भाव का निरूपण करता है।

पोडरी पुरुष का अप्रमत्तमान विषयमात्र संसार में स्थितिरूप से, एव कर्ममात्र गति रूप से प्राप्त दृष्ट है। विशदयता वह स्थितिरूप है, आत्मदृष्टता वह विषय—कर्ममय है। स्थिति गतिरूप 'युजुर्वद्' है। तत्त्वज्ञान, अतएव वेदमूर्ति नाम से प्रसिद्ध पोडरीवृक्ष स्थितिगतिरूप से ही विश्व में भ्याप्त हो रहा है, ऐसा कि 'अनेकदेकम्' इत्यादि मध्यममय में विस्तार से

वतसाय जातुक्त है। यपि स्थितिस्थिति तमप्रकाशपद परस्पर में अवगत विरुद्ध हैं, फिर भी दोनों का एक ही बिन्दु पर सम्मेलन हो रहा है। कैसे? इसके लिए उसी पूर्व परिचित प्राज्ञावलोकन (कुम्हार के पाक) पर ध्यान रखिए। कुम्हार के हस्तस्वरूप हस्त के निचे पण द्वारा दण्ड के आवात से स्थिर करिकर पर प्रतिष्ठित रहता हुआ चक्र प्रबल वेग से घूमने लगता है। परमाणु परमाणु गतिशील हैं। इस प्रकार वह चक्र घट्टों चकता रहता है। परन्तु आश्चर्य है कि घट्टों चकते रहने पर भी वह अपने निश्चित स्थान से विचलित नहीं होता। इस सब भी चक्र को देखते हैं, उसी निश्चित स्थान पर पाते हैं। यह रहा है, इस लिए वो चक्र 'प्रति' है। साथ ही में स्थानावस्थास्थ स्थितिस्थितिस्थिति स्थितिस्थिति के आवात से-नैति' यह भी मानना पड़ता है। इस प्रकार दोनों विरुद्ध धर्म एक ही चक्र में सम्मिलित हैं। एक मनुष्य अपने घर से दस मिनिट में विन्दोरिवा गाउन पहुँचता है। यदि वह स्थान पर ही खड़ा रहता तो उसे गतिशील नहीं कहा जा सकता था। अपने स्थान से हटने पर ही उसका स्थिर-गति' (जाता है) का प्रयोग होता है। एक मनुष्य अपने स्थान पर ही खड़ा हुआ हाथ दिखा रहा है। इसके लिए लोक में-“अमुक मनुष्य अपने स्थान पर खड़ा हुआ निरन्तर हाथ दिखा रहा है” यही तो कहा जाता है। यही आप स्थिति-स्थिति दोनों भावों का प्रसङ्ग कर सकते हैं। मनुष्य विचलित नहीं चल रहा है, इसलिए 'नैति' का सम्मेलन है। अवस्थास्थिति हाथ चल रहा है, इसलिए 'प्रति' का सम्मेलन है। समुदाय स्थिर है, अवस्था चकता है। दोनों विरुद्ध धर्मों का आश्रय एक ही मनुष्य है। यही परिस्थिति यहाँ पर समझिए। अज्ञान ज्ञानगुणा सर्वथा 'नैति', अज्ञान से सर्वथा अवलोकन। कर्मगुणा सर्वथा 'प्रति'—पदार्थ से सर्वथा चल। अज्ञान का समझ ही ईश्वर है-‘तदेतत् तन्मैति’।

कुम्हार का चक्र घूम रहा है उसे आप देख रहे हैं। घूमते हुए चक्र की ओर विन्दु अभी अभी आपके सामने की सीढ़ि पकड़ मारते ही वह दूर से दूर उस क्षण में चली गई एवं जिस चक्रविन्दु को आप अपने से दूर समझते थे, वह अभी अभी इस क्षण में आपके समीप आ गई। सचमुच प्रतिविन्दु दूर से दूर है, समीप से समीप है-‘तद्दूरे तद्गतिके’।

धूम्रा इत्यादि गतिशील अपने परमाणुओं के भीतर से भीतर है, बाहर से बाहर है । बाहर भीतर बिबर देखो उघर चक्र ही चक्र है । पूर्वोक्त शुक्लजल भी ऐसा ही है—‘तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यत । बह्वृताद्य कुम्भकार के सांकेतिक चक्र के साथ असीमित अक्षचक्र की तुलना करना सर्वथा असंगत है । यह गतिविधि तो—‘रामरावणयोर्पुद्गं रामरावणयोरिव’ के अनुसार अनुपमेय (सासानी—अद्वितीय) है । जितनी स्थिति आप समझ सकते हैं, वह उससे भी शीघ्रतर है । आपके लिए यह अविश्व है, अप्रमेय है, अनिर्वचनीय है । एकमात्र तत्त्व सत्य से आप उसे जान सकते हैं । “उस की गति यति ऐसी होगी, अमुक के सदृश होगी” इस प्रकार उसका स्वरूप सत्य बालेमा आपके लिए सर्वथा असंभव है ।

विशुद्ध आत्मापेक्षया जल स्थिर है, विशुद्ध वर्मापेक्षया चर है । वेदवैद्या जू अवस्थित जल स्थिर है, यदबन्धेदेन चर है । वह स्थितितत्त्व उस गतितात्त्व के बाहर भीतर सब ओर व्याप्त है । यद्यपि स्थितितत्त्व गति भी स्थिति के बाहर भीतर सब ओर विद्यमान है, परन्तु दोनों में स्थितिरूप रसतात्त्व ही प्रधान है । अतएव ‘तत्-तत्’ इस रूप से उठी की बाहर—भीतर—दूर—समीप बतलाया गया है । स्थिति आधार है, गति आधेय है । आधार की प्रधानता से भी उसी का अन्तरान्तरीमात्र मानना उचित होता है । अपि च प्रत्यक्ष स्थितितत्त्व कारण है, विश्व रूप गतितात्त्व कार्य है । कारण प्रथमसत्ताक है, इसलिए भी अन्तरान्तरीमात्र में कृति के तत् शब्दवाच्य जल की ही प्रधानता दी है । स्थिति आधार है, गति आधेय है, इसका यह कार्य नहीं है कि पुस्तक मेघपर रखी है । टेबिल पुस्तक का आधार अवरय है, परन्तु टेबिल पुस्तक के नीचे के मातृमात्र से संचित है । पुस्तक के बाहर भीतर टेबिल नहीं है । परन्तु यहाँ का आधारधेयमात्र ऐसा नहीं है । यहाँ यदबन्धेदेन स्थिति है, तदबन्धेदेन गति है । पानी में संचित शर्कराकण्डू वैसा आधारधेयमात्र है । पानी आधार है, शर्करा आधेय है । परन्तु दोनों मिलकर एकरूप बन रहे हैं । पानी के परमाणु परमाणु में शक्ता व्याप्त है, शर्करा के अणु अणु में पानी व्याप्त है । यदबन्धेदेन पानी व्याप्त है, तदबन्धेदेन शर्करा व्याप्त है । ऐसा ओतप्रोत-आध्यात्मिक आधारधेयमात्र ही प्रकृत में अविभक्त है ।

‘मोत’ हो रहा है। साथ ही मैं एजति, दूरे, सर्वस्य वाह्यत, इत्यादि वाक्य ‘कर्मब्रह्म में प्रीति है’ इस गितीय सम्बन्ध की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। मन्त्र का ‘सदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य वाह्यत’ यह उत्तर भाग ही सम्बन्ध का निरूपण करता है। अतः इस मन्त्र का प्रधान अर्थ पूर्व के ‘अनेनैकम्’ मन्त्र में बताया गए ब्रह्मकर्मोत्पन्न शुद्धस्वरूप का ही ‘तदेकमिति तन्मैकमिति’ इत्यादि रूप से स्पष्टीकरण है। मन्त्रों में आमिता (पुनरुक्ति) दोष नहीं माना जाता। ऐसी अवस्था में निष्कर्ष यह निकला कि ‘सदेजति०’ इत्यादि मन्त्र ता पूर्व मन्त्रप्रतिपादित अर्थ का स्पष्टीकरण करता है, एवं ‘यस्तु सर्वाणि भूतानि’ ‘यस्मिन्सर्वाणि भूतानि०’ इत्यादि दो मन्त्र ब्रह्मकर्म के सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हैं। इन दोनों उत्तर मन्त्रों में यस्तु सर्वाणि० यह ६ टा मन्त्र तो आत्म के—‘ब्रह्म कर्मस्वप्-कर्म ब्रह्मस्वप्’ इन दो सम्बन्धों का निरूपण करता है, एवं ‘यस्मिन्सर्वाणि०’ इत्यादि मन्त्र ‘ब्रह्मैव कर्म’ इस चौथे अमेद सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है।

५



आत्मा ब्रह्म है, इस का यह अर्थ नहीं है कि उसमें कर्म नहीं है। विन्य कर्म है, इस का यह तात्पर्य नहीं है कि इस में ब्रह्म नहीं है। दोनों में दोनों हैं, दोनों दोनों हैं। केवल प्रज्ञाप्रतापप्रधानता में तात्पर्य है। आत्मा में ब्रह्म (ज्ञान) भाग प्रधान है, इसलिये उसे ब्रह्म कहा है। निज में कम प्रधान है, इसलिये इसे कर्म कहा है। आत्मा ज्ञानप्रधान होता हुआ सुसूक्ष्म है। इस का कर्मबन्धुओं से प्रत्यक्ष नहीं होता। भौतिक विरत ही दृष्टि का विषय बनता है। पश्चिमे हमारी दृष्टि स्पष्ट निज पर, दूसरे शब्दों में कर्मभाग पर आती है, अनन्तर (विज्ञानप्राप्त) तदन्तः प्रविष्ट आत्मतत्त्व पर दृष्टि आती है। इसी स्पष्ट-सूक्ष्मभाव के ज्ञान को प्रधान मानकर स्पष्टाक

अतिन्याय से प्रकृत मन्त्र पहिले कर्म को अज्ञ में अनुस्यूत बतलाता है, अनन्तर अज्ञ को कर्मत्व बतलाता है । इन्हीं दोनों सम्बन्धों का निरूपण करता हुआ निम्नलिखित मंत्र हमारे सामने आता है—

यस्तु सर्वाणि भूतानि—आत्मन्येवानुपश्यति (कर्म ब्रह्मस्यम्)
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न भिजुगृप्सते । (ब्रह्म कर्मस्यम्)

(ईशोपनिषद् ६ मन्त्र)

मन्त्र का पृथक् 'कर्म ब्रह्मस्यम्' इस द्वितीय सम्बन्ध का एक उच्चारण—'ब्रह्म कर्मस्यम्' इस प्रथम सम्बन्ध का निरूपण करता है । 'सर्वाणि भूतानि' कर्म है 'सर्वभूतेषु चार्यान् अज्ञ है । जो (आत्मवत्त्वेण) सम्पूर्ण भूतों (बिम्ब) को आत्मा (ब्रह्म) में ही अनुगत दस्तता है एवं सारे भूतों में आत्मा को प्रतिष्ठित समझता है, वह कभी किसी से घृणा नहीं करता" यह है मन्त्र का अर्थार्थ ।

जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में बताया गया है, उक्त मंत्र दोनों सम्बन्धों का निरूपण करता हुआ प्रधानरूप से 'कर्म ब्रह्मस्यम्' इस दूसरे सम्बन्ध का ही निरूपण करता है । यस्तु सर्वाणि भूतानि 'सर्वभूतेषु' इत्यादि रूप से मूल मन्त्र को ही प्रधानता दी गई है । 'तेजसि' इत्यादि मन्त्र 'तत्' रूप से जहां अज्ञ को प्रधान मान रखा है, वहां यह मन्त्र मूल-भाग को प्रधान रूप बना रखा है । प्रत्यक्-पराक् मेर से अज्ञ के दो विस्तीर्ण हैं । प्रत्यक्-प्रत्यक् 'आहम्' है, पराक्-अहम् 'तम्' है । एक अस्मत्त्वबोधन्य नियम अज्ञ है, दूसरा पुष्पत्वबोधन्य नियम अज्ञ है । नियम प्रत्यक् है, नियम पराक् है, बाहर है । पुष्पत्वबोधन्यप्रत्यक्प्रत्यक् नियम नियम तमप्रत्यक्प्रत्यक् परस्पर में अस्मत्त्व निरूपण हैं । प्रत्यक्प्रत्यक् ज्ञानप्रधान है, पराक्प्रत्यक् कर्मप्रधान है । हम और नियम यही दोनों क्रमशः प्रत्यक् पराक् अज्ञ हैं । हम (आत्मा) भीतर हैं, नियम बाहर हैं । हम ज्ञानप्रधान हैं, नियम कर्मप्रधान हैं । ज्ञान प्रकरण है, क्योति है ।

कम अप्रफरा है, धारण है। इस प्रकार सौमिक मनुष्यों की दृष्टि में दोनों ब्रह्म परस्पर में
 भ्रमन्त विरुद्ध हैं। यह विरुद्ध दृष्टि ही निन्द्यास्तुतिभाव की जननी है। स्तुतिभाव का आत्मी-
 यता से सम्बन्ध है। निन्द्याभाव का परभाव (अनात्मीयता) से सम्बन्ध है। सत्सार (सत्सारी मनुष्य)
 अपने को ओर अनुगत रहता है, पराए की ओर विमुख रहता है। अनात्मीय बस्तु से घृणा
 करता है। आत्मीय से प्रेम करता है। विष्टा से मनुष्य घृणा करता है, क्योंकि इस की दृष्टि में
 यह अनात्मीय है। इस प्रकार कर्मरूप विषय, एव प्रत्यक्ष रूप आत्मा को भिन्न भिन्न समझने
 वाला मनुष्य सत्सार में वित्तनों ही से राग करता है, वित्तनों ही से द्वेष करता है। अनुकूल
 वेदनीयता में रागका, प्रतिकूल वेदनीयता में द्वेषका उदय है। दोनों में बभ्रवसा आसक्ति है।
 आसक्ति दुःख का कारण है। स्तुति भी शोक का कारण है, निन्दा भी शोक का कारण है।
 यह निन्दा-स्तुतिभाव सभी तक रहता है, जब तक कि आत्मा और विषयों में भेदबुद्धि रहती है।
 द्वेष सभी तक है, जब तक कि वह उसे अनात्मा (अपने से भिन्न) समझता है। एवमेव स्तुति
 भी परभाव से ही सम्बन्ध रखती है। यदि उसे यह निश्चित होना कि मैं उसमें हूँ, वह मुझमें
 है, हम दोनों एक ही कारण के द्विदस हैं भेद स्वरूप उस पर प्रतिष्ठित है, वह मुझ में प्रति-
 स्थित है तो ऐसी परिस्थिति में रागद्वेषमूलक स्तुतिनिन्द्याभाव का अवसर ही नहीं आता। जब दोनों एक
 दूसरे की प्रतिष्ठा हैं तो कौन बड़ा, कौन छोटा, कौन निम्न, कौन उच्च, कौन निन्दक,
 कौन स्तोता। इसी निन्द्यामूलक पुनिसितभाव का निराकरण करती हुई, ब्रह्मकर्म दोनों में परस्पर
 अनुमारा अनुग्रहकता का निरूपण करती हुई स्तुति कहती है कि—“तुम सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में
 समझे, एव सम्पूर्ण भूतों में आत्मा को समझे। कर्मरूप विषय के जहाँ जहाँ में आत्मरूप ब्रह्म
 को व्याप्त समझे, एव ब्रह्म में सर्वत्र काम पड़े अनुस्यूत समझे। यदि तुम आत्मा और विश्व
 के इस अज्ञेयप्रोतसम्बन्ध को व्यवसायबुद्धि से समझ गये तो तुम्हारा शोकमूलक निन्द्यास्तुति
 भाव से राग के लिए पुनः राग दोगया—‘ततो न विजुगुप्सते’। स्तुतिभाव से आत्मा में शोक
 का उदय होता है। यह शोक ही अशान्ति का कारण बनता हुआ आत्मगतन का प्रवक्तृ बनता
 है। निन्दा द्वेषमूला है, स्तुति रागमूला है। एवं पूर्व बयनानुसार रागद्वेष का अपने पाए से

साधक है। जहाँ—‘यह अपना है यह पराया है यह भाव है, वही रागद्वेष है। दोनों ही मोह के उत्पादक हैं। जब तक मोह युक्ति है तब तक रागद्वेष है। जबतक रागद्वेष है, तब तक मोह है। जबतक मोहमिश्रण युक्ति है तब तक युक्ति क्लृप्त है। क्लृप्त युक्ति ध्यानशून्या है। ध्यानशून्या युक्ति निवृत्त बनती हुई मन पर अधिकार रखती हुई मन की स्वतन्त्रता का कारण बन जाती है। स्वतन्त्र मन सङ्गोपरूप आत्मस्मिन्मात्र का प्रवर्तक है। आसक्ति क्लमना की जननी है। क्लमना क्रोध का कारण है। क्रोध संनोह का विनाश है। संनोह स्मृतिभ्रंश का जनक है। स्मृतिभ्रंश बुद्धिनाश का कारण है। बुद्धिनाश आत्मपतन का कारण है। यही आत्मपतन है, जिसका कि पुरुषात्माधिकरण के आचरणतन्त्र में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। इस आपत्ति से बचने का उपाय है—बुद्धि की स्वतन्त्रता। तन्त्र रागद्वेषमूक मोह का परिणाम अपेक्षित है। तन्त्र रागद्वेषमूक ब्रह्म-कर्म की निवृत्तीयता का परिणाम आचरणक है। तभी परम शान्ति सिद्ध होगी है।

ज्ञान-कर्म को निष्ठाकर देखिए तभी आनन्द है। ज्ञान की कर्म में उपासना कीजिए, कर्म की अकर्मरूप ज्ञान में उपासना कीजिए। ज्ञानपूर्वक कर्म कीजिए, कर्म को ज्ञान के आश्रित बनाइए, कर्मशून्य ज्ञानसंपत्ति प्राप्त कीजिए। यही बुद्धिमाननी है, इसी को बुद्धियोग कहते हैं। यही निःश्रेयसशून्या है। इसी श्रेयार्थ का स्वीकृत करती हुई शार्ङ्ग उपासित करती है—

कर्मण्यप्यस्य य परयेत्, अकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स पुक्तः कृतनकर्मकृत् ॥ (गी० ४। १८)

६



पूर्व फल से साधारण मनुष्यों को हैतव का भय हो सकता है। ‘कर्म को प्राप्त में देखो, प्राप्त को कर्म में देखो’ यह भय ब्रह्म-कर्म इन दो तरफों की सच्चा सिद्ध करते हुए

प्रतीत हो रहे हैं। जब तक दैत है, समतक कम्प है जबतक कम्प है, तबतक भय है—
 'द्वितीयाद् धै मय मयति'। जबतक भय है तबतक अशान्ति है— 'यदुदरमन्तर
 मुरुते, अय मय मयति' से किसी को दैत का भय न हो जाय नस अशान्तिमूलक इसी दैतभय का
 उन्मूलन करती हुई बुद्धि कहती है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि, आत्मैवामृदुविजानत ।

तत्र को मोह क शक एकत्वमनुपश्यत ॥

(ईशोपनिषद् ७ मंत्र)

अभ्यास द्वारा बुद्धियोग (निष्कर्म कर्मयोग) का साधन करते करते जिस समय आत्म-
 साक्षात्कार हो जाता है उस समय उस शुक्त योगी के लिए सारा प्रपञ्च आत्मा ही बन जाता
 है। ऐसी अवस्था से युक्त उस ज्ञानी के लिए कहां शोक है, कहां मोह है। 'यदुदरमन्तर
 मुरुते, अय मय मयति' के अनुसार जबतक दैत है तभीतक भय है। एकत्व व्यापकता का
 मूल है। व्यापकता में कम्प नहीं है। एक वस्तु का अन्य स्थान की ओर झुकना ही तो कम्प
 है। व्यापकत्व से अतिरिक्त कोई स्थान नहीं है, जहां कम्पम को अवकाश मिले। ऐसी परिधि
 ति में आत्मा में स्थानान्तरित्व भय कैसे हो सकता है। 'इदं वा इदं वा' इस नानामात्र से
 मोह होता है। विषय का वैचित्त्य ही मोह है। मोह से निवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। कर्मा
 कर्मनिवेकता मारी जाती है। इस प्रकार मोह के साथ साथ ही शोक का उदय होता है।
 इस शोक-मोह से छुटकारा पाने का उपाय है—अदैतभाव की उपासना। इसी से मोहकसिस
 का नाश होगा। बुद्धि में विषय का उदय होगा, तभी शोकनिवृत्ति होगी, जैसा कि स्मृति
 कहती है—

पदा से मोहकसिस बुद्धिर्भसितरिप्यति ।

तदा गन्तासि निर्भेद श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ (गी० २।४२)

साधक है। जहाँ—‘यह ध्यान है यह पराधा है यह मान है, वहीं रागद्वेष है। दोनों ही मोह के उत्पादक हैं। जब तक मोह मुझ है तब तक रागद्वेष है। जबतक रागद्वेष है, तब तक मोह है। जबतक मोहमिश्रित मुझ है तब तक मुझ बन्धुपत है। बन्धुपित मुझ ध्यानशून्य है। ध्यानशून्य मुझ निवृत्त बनती हुई मन पर अधिकार रखती हुई मन की सबलता का कारण बन जाती है। सबल मन सङ्गोपेयक आत्मस्थिति का प्रवर्धक है। आसक्ति कायना की जननी है। कायना श्रेय का म है। श्रेय संनोद का पिता है। संनोद स्मृतिभण का प्रवर्धक है। स्मृतिभण मुद्रिताश का कारण है। मुद्रिताश आत्मवृत्त का कारण है। यही आत्मबल है, जिसका कि पुरुषात्माधिकरण के आधारस्थान में निरुद्ध से निरूपण किया जा चुका है। इस आधार से बचने का उपाय है—मुझ की स्वरूपरक्षा। तदर्थ रागद्वेषमूक मोह का परिष्कार अपेक्षित है। तदर्थ रागद्वेषमूक ब्रह्म-कर्म की निवृत्तिप्राप्ति का परिष्कार आवश्यक है। तभी परम शान्ति मिल सकती है।

ज्ञान-कर्म को निराकर देखिए तभी आनन्द है। ज्ञान की कर्म में उपासना कीजिए, कर्म की अकर्मरूप ज्ञान में उपासना कीजिए। ज्ञानपूर्वक कर्म कीजिए, कर्म को ज्ञान के आश्रित बनाइए, कर्मज्ञान ज्ञानसंपत्ति प्राप्त कीजिए। यही मुद्रिमानी है, इसी को मुद्रियोग कहते हैं। यही नि श्रेयसपन्था है। इसी औत्तार्य का राखी करण करती हुई स्मार्थी उपनिषत् कहती है—

कर्मण्यप्यक्रम यः परयेत्, अक्रमयि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स पुक्ता कृत्स्नकर्मकृत् ॥ (गी० ४। १८)

६



पूर्व कथन से साधारण मनुष्यों को हेतु का भ्रम हो सकता है। ‘कर्म को ब्रह्म में देखो, ब्रह्म की कर्म में देखो’ यह अक्षर ब्रह्म कर्म इन दो तर्कों की सहा सिद्ध करते हुए

प्रतीत हो रहे हैं। जब तक हैत है, तबतक कम्प है जबतक कम्प है, तबतक भय है—
 'द्वितीयाद् नै भयं भवति'। जबतक भय है तबतक भयान्ति है— भयान्तस्य कुत सुखम्'।
 पूर्वनिरूपणशैली से किसी को हैत का भय न हो जाय वस भयान्तिमूक इसी हैतभय का
 सम्मुखन करती हुई भूति कहती है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि, आत्मैवाभूद्विज्ञानत ।

तत्र को मोहः कः शक एकत्वमनुपश्यत ॥

(ईशोपनिषत् ७ भद्र)

अन्यास द्वारा बुद्धियोग (निर्याम कर्मयोग) का साधन करते करते जिस समय आत्म
 साक्षात्कार हो जाता है उस समय उस युक्त योगी के लिए सारा प्रपञ्च आत्मा ही बन जाता
 है। ऐसी अवस्था से युक्त उस ध्यानी के लिए कहाँ शोक है, कहाँ मोह है। 'यदुदरमन्तरं
 कुर्वते, भयं भयं भवति' के अनुसार जबतक हैत है तभीतक भय है। एकत्व व्यापकता का
 मूल है। व्यापकता में कम्प नहीं है। एक वस्तु का अन्य स्थान की ओर झुकना ही तो कम्प
 है। व्यापकता से अतिरिक्त कोई स्थान नहीं है, जहाँ कम्पन करे आवश्यक मिले। ऐसी परिस्थि-
 ति में आत्मा में स्थानभ्युतिरूप भय कैसे हो सकता है। 'इदं वा इदं वा' इस नानाभाव से
 मोह होता है। चित्त का वैचित्र्य ही मोह है। मोह से निवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। कार्य
 स्वर्णनिवेकता मारी जाती है। इस प्रकार मोह के साथ साथ ही शोक का उदय होता है।
 इस शोक-मोह से छुटकारा पाने का उपाय है—अद्वैतभाव की उपासना। इसी से मोहकसिद्धि
 का कार्य होगा। बुद्धि में निषा का उदय होगा, तभी शोकनिवृत्ति होगी, जिसा कि स्पष्टि
 कहती है—

यदा ते मोहकसिद्धिं बुद्धिभ्यतिविरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्बद्ध श्रोतव्यस्य सुतस्य च ॥ (गी० २।२२)

सम्बन्ध है। जहाँ—‘यह अपना है यह पराया है यह भाग है, वही रागद्वेष है। दोनों ही मोह के उत्पादक हैं। जब तक भेद बुद्धि है तब तक रागद्वेष है। जबतक रागद्वेष है, तब तक मोह है। जबतक मोहमिश्र बुद्धि है तब तक बुद्धि वस्तुपिप्त है। कथपित्त बुद्धि ध्यानशून्या है। ध्यानशून्य बुद्धि निश्चय बनती हुई मन पर अधिकार रखती हुई मन की सबसत्ता का क़ायल बन जाती है। सबस मन सहयोगरूप आसक्तिभाव का प्रवर्धक है। आसक्ति कर्मन्ता की जननी है। कर्मन्ता क्रोध का का स है। क्रोध संमोह का पिता है। संमोह स्मृतिभय का जनक है। स्मृतिभय बुद्धिनाश का कारण है। बुद्धिनाश आत्मपतन का कारण है। यही आत्मबाध है, जिसका कि पुरुषात्माधिकरण के आश्रयतन्त्र में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। इस आपत्ति से बचने का उपाय है—बुद्धि की स्वतन्त्रता। तदर्थ रागद्वेषमूक मोह का परित्याग अपेक्षित है। तदर्थ रागद्वेषमूक ब्रह्म-कर्म की निवृत्तिप्राप्ति का परित्याग आवश्यक है। तभी परम शान्ति सिद्ध सकती है।

ज्ञान-कर्म को मिटाकर देखिए तभी आनन्द है। ज्ञान की कर्म में उपासना कीजिए, कर्म की अकर्मरूप ज्ञान में उपासना कीजिए। ज्ञानपूर्वक कर्म कीजिए, कर्म को ज्ञान के आश्रित बनाइए, कर्मद्वारा ज्ञानसंपत्ति प्राप्त कीजिए। यही बुद्धिमान्नी है, इसी को बुद्धियोग कहते हैं। यही नि श्रेयसपन्था है। इसी श्रोतव्य का स्वामी करण करती हुई स्मार्त्त उपनिषद् कहती है—

कर्मस्यकर्म यः परयेत्, अकर्मणि च कर्म यः।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स पुक्तः कृत्स्नकर्मिव ॥ (गी० ४। १८)

६

पूर्व कथन से साधारण मनुष्यों को हैत का भ्रम हो सकता है। ‘कर्म को ब्रह्म में देखो, ब्रह्म को कर्म में देखो’ यह अगर ब्रह्म कर्म इन दो तथ्यों की सच्चा सिद्ध करते हुए

प्रतीत हो रहे हैं। जब तक दैत है, तबतक कम्प है जबतक कम्प है, तबतक भय है—
‘द्वितीयाद् वै भयं भवति’। जबतक भय है तबतक भयान्ति है— भयान्त्यस्य कुत सुखम्’।
पूर्वनिरूपणशैली से किसी को दैत का भय न हो जाय यस भयान्तिमूलक इसी दैतभय का
उन्मूलन करती हुई मुक्ति कहती है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि, आत्मैवाभूद्विजानत ।

तत्र को मोह क शाक एकत्वमनुपश्यत ॥

(ईशोपनिषत् ७ मन्त्र)

अन्यास द्वारा बुद्धियोग (निष्काम कर्मयोग) का साधन करते करते जिस समय आत्म
साक्षादकर हो जाता है उस समय उस युक्त योगी के लिए सारा प्रपञ्च आत्मा ही बन जाना
है। ऐसी अवस्था से युक्त उस ज्ञानी के लिए कहां शोक है, कहां मोह है। ‘यदुदरमन्तर
कुर्वते, भयं भयं भवति’ के अनुसार जबतक दैत है तभीतक भय है। एकत्व व्यापकता का
मूल है। व्यापकता में कम्प नहीं है। एक वस्तु का अन्य स्थान की ओर झुकना ही तो कम्प
है। व्यापकत्व से अस्तिरिक्त कोई स्थान नहीं है, जहां कम्पन की व्यवस्था मिले। ऐसी परिस्थि-
ति में आत्मा में स्थानमयिरूप भय कैसे हो सकता है। ‘इद् वा इद् वा’ इस नानामात्र से
मोह होजाता है। निष्ठ का वैचित्त्य ही मोह है। मोह से विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। कार्य
कार्यविवेकता मारी जाती है। इस प्रकार मोह के साथ साथ ही शोक का उदय होजाता है।
इस शोक-मोह से छुटकारा पाने का उपाय है—अद्वैतभाव की उपासना। इसी से मोहकसिस
का नाश होग्य। बुद्धि में विषा का उदय होगा, तभी शोकनिवृत्ति होगी, जैसा कि स्पष्टि
कहती है—

यदा ते मोहकसिस बुद्धिर्भ्यंतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्बेद श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ (गी० २।२२)

सम्बन्ध है। जहाँ—‘यह अपना है वह परमात्मा है यह भाव है, वही रागद्वेष है। दोनों ही मोह के उत्पादक हैं। जब तक ये भुद्धि है, तब तक रागद्वेष है। जबतक रागद्वेष है, तब तक मोह है। जबतक मोहमिश्रित भुद्धि है तब तक भुद्धि बसुपत है। बहुपित भुद्धि ध्यानशून्य है। ध्यानशून्य भुद्धि निवृत्त बनती हुई मन पर अधिकार रखती हुई मन की सबलता का कारण बन जाती है। सबल मन सङ्गोपरूप ध्यानकिमात्र का प्रवर्धक है। आसक्ति कामना की जन्मी है। कामना क्रोध का कारण है। क्रोध संमोह का विधा है। संमोह स्मृतिभ्रम का जनक है। स्मृतिभ्रम बुद्धिनाश का कारण है। बुद्धिनाश आत्मव्रतन का कारण है। यही आत्मव्रत है, जिसका कि पुरुषात्माधिकार के आचरणतन्त्र में विस्तार से निरूपण किया जा-
सकता है। इस आपत्ति से बचने का उपाय है—भुद्धि की स्वरूपरक्षा। तदर्थ रागद्वेषमूलक मोह का परित्याग अपेक्षित है। तदर्थ रागद्वेषमूलक ब्रह्म-कर्म की निजासीमता का परित्याग आवश्यक है। तभी परम शान्ति निवृत्त सकती है।

ज्ञान-कर्म को निवाकर देखिए, तभी आनन्द है। ज्ञान की कर्म में उपासना कीजिए, कर्म की अकर्मरूप ज्ञान में उपासना कीजिए। ज्ञानपूर्वक कर्म कीजिए, कर्म को ज्ञान के आश्रित बनारह, कर्मव्रत ज्ञानसंपत्ति प्राप्त कीजिए। यही बुद्धिमानी है, इसी को बुद्धिवोग कहते हैं। यही नि श्रेयसपन्था है। इसी औतार्य का स्वामी करण करती हुई स्मार्थी उपनिषत् कहती है—

कर्मण्यकम् यः परयेत्, अकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्महृत् ॥ (गी० ४। १८)

६



पुनः कथन से साधारण मनुष्यों को हैत का भ्रम हो सकता है। ‘कर्म को ब्रह्म में देखो, ब्रह्म को कर्म में देखो’ यह कहकर ब्रह्म-कर्म इन दो तर्कों की सहा सिद्ध करते हुए

प्रतीत हो रहे हैं। जब तक हैत है, तबतक कम्प है जबतक कम्प है, तबतक मय है—
‘द्वितीयाद् वै मयं मयसि’। जबतक मय है तबतक अशान्ति है— अशान्तस्य कुत सुखम्’।
पूर्वविरूपणशैली में किसी को हैत का भ्रम न हो जाय वर अशान्तिमूक इसी हैतधम का
उत्पन्न करती हुई श्रुति कहती है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि, आत्मैवाभूदविजानत ।

तत्र को मोह क शक एकत्वमनुभूयत ॥

(ईशोपनिषत् ७ मन्त्र)

अभ्यास द्वारा बुद्धियोग (निष्काम कर्मयोग) का साधन करते करते जिस समय आत्म
साक्षात्कार हो जाता है उस समय उस युक्त योगी के लिए सारा प्रपञ्च आत्मा ही बन जाता
है। ऐसी अवस्था से युक्त उस ज्ञानी के लिए कहाँ शोक है, कहाँ मोह है। ‘यदुदरमन्तर
कुष्ठे, अथ मय मयसि’ के अनुसार जबतक हैत है तभीतक मय है। एकत्व व्यापकता का
मूक है। व्यापकता में कम्प नहीं है। एक वस्तु का अन्य स्थान की ओर झुकना ही तो कम्प
है। व्यापकत्व से अतिरिक्त कोई स्थान नहीं है, जहाँ कम्पन को अवकाश मिले। ऐसी परिस्थि
ति में आत्मा में स्थानभूतिकरूप मय कैसे हो सकता है। ‘इदं वा इदं वा’ इस भानाभ्यास से
मोह होता है। विषय का वैचित्र्य ही मोह है। मोह से निवेकशक्ति मद्ध हो जाती है। कार्य
कारणनिवेकता मारी जाती है। इस प्रकार मोह के साथ साथ ही शोक का उदय होता है।
इस शोक-मोह से छुटकारा पाने का उपाय है—अद्वैतभाव की उपासना। इसी से मोहकसिद्धि
का नाश होगा। बुद्धि में विषय का उदय होगा, तभी शोकनिवृत्ति होगी, जैसा कि श्रुति
कहती है—

यदा ते मोहकसिद्धिं बुद्धिमयसितरिप्यसि ।

तदा गन्तासि निर्बिदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ (गी० २।२२)

सम्बन्ध है। जहाँ—‘यह आपना है, यह पराया है यह मान है, कहीं रागद्वेष है। दोनों ही मोह के उदात्तक हैं। अब तक मोह बुद्धि है, तब तक रागद्वेष है। जबतक रागद्वेष है, तब तक मोह है। जबतक मोहनिश्चय बुद्धि है तब तक बुद्धि क्लृप्त है। क्लृप्त बुद्धि ध्यानशून्या है। ध्यानशून्य बुद्धि निवृत्त बनती हुई मन पर अधिकार रखती हुई मन की स्वतन्त्रता का काया बल जाती है। सबसे मूल सङ्गोपकरण आत्मविभवा का प्रवर्तक है। आत्मिक क्रमना की बनती है। क्रमना श्रेष्ठ का काय है। श्रेष्ठ संश्लेष का मिता है। संश्लेष सृष्टिभय का जनक है। सृष्टिभय बुद्धिनाश का कारण है। बुद्धिनाश आत्मपतन का कारण है। यही आत्मपतन है, जिसका कि पुरुषात्माधिकरण के आधारस्थान में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। इस आपत्ति से बचने का उपाय है—बुद्धि की स्वरूपरक्षा। तत्पर्य रागद्वेषमूलक मोह का परित्याग अपेक्षित है। तदर्थ रागद्वेषमूलक ब्रह्म-कर्म की निवृत्तिप्राप्ति का परित्याग आवश्यक है। तभी परम शान्ति मिल सकती है।

ज्ञान-कर्म को निष्कार देखिए तभी आनन्द है। ज्ञान की कर्म में उपासना करिए, कर्म की अकर्मरूप ज्ञान में उपासना करिए। ज्ञानपूर्वक कर्म करिए, कर्म को ज्ञान के आश्रित बनाए कर्मद्वारा ज्ञानसंपत्ति प्राप्त करिए। यही बुद्धिमान्नी है, इसी को बुद्धियोग कहते हैं। यही नि श्रेष्ठसम्पत्ति है। इसी श्रेष्ठार्थ का हाथी करण करती हुई स्पर्शोत्पलित कहती है—

कर्मप्रयत्नं यः परयेत्, अकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स पुक्तः कृतकर्मकृत् ॥ (गी० ४। १८)

६

पूर्व कपन से साधारण मनुष्यों को हैत का भय हो सकता है। ‘कर्म को ब्रह्म में देखो, ब्रह्म को कर्म में देखो’ यह अथवा ब्रह्म-कर्म इन दो तत्त्वों की सदा सिद्ध करते हुए

प्रतीत हो रहे हैं। जब तक द्वैत है, तबतक कर्म है जबतक कर्म है, तबतक मय है—
 'द्वितीयाद् वै मयं भवति'। जबतक मय है तबतक अशान्ति है— अशान्तस्य कुत सुखम्'।
 पूर्वनिरूपणरैसी से किसी को द्वैत का भ्रम न हो जाय मस अशान्तिमूखक इसी द्वैतभ्रम का
 उन्मूलन करती हुई मुक्ति कहती है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि, आत्मैवाभूद्विज्ञानतः ।

तत्र को मोहः कः शकः एकत्वमनुपश्यतः ॥

(ईशोपनिषद् ७ मन्त्र)

अध्यास द्वारा बुद्धिमोह (निष्काम कर्मयोग) का साधन करते करते जिस संप्रय आत्म
 साक्षादकार हो जाता है उस समय उस मुक्त योगी के लिए सारा प्रपञ्च आत्मा ही बन जाता
 है। ऐसी अवस्था से मुक्त उस ज्ञानी के लिए कहाँ शोक है, कहाँ मोह है। 'यद्बुद्धरमन्तर
 कुरुते, अथ मयं भवति' के अनुसार जबतक द्वैत है तभीतक मय है। एकत्व व्यापकता का
 मूल है। व्यापकता में कर्म नहीं है। एक वस्तु का अन्य स्थान की ओर झुटना ही तो कर्म
 है। व्यापकतत्त्व से अतिरिक्त कोई स्थान नहीं है, जहाँ कर्मन को अवकाश मिले। ऐसी परिस्थि
 ति में आत्मा में स्थानानुत्थिरूप मय कैसे हो सकता है। 'इदं वा इदं वा' इस नानाभाव से
 मोह हो जाता है। जिसका वैलक्षण्य ही मोह है। मोह से निवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। कार्य
 स्वर्णनिवेकता मारी जाती है। इस प्रकार मोह के साथ साथ ही शोक का उदय हो जाता है।
 इस शोक-मोह से झुटकरा पाने का उपाय है—अद्वैतभाव की उपासना। इसी से मोहकण्डि
 का नाश होगा। बुद्धि में निषा का उदय होगा, तभी शोकनिवृत्ति होगी, जैसा कि स्मृति
 कहती है—

यदा ते मोहकलितं बुद्धिर्भ्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ (गी० २।५२)

सम्बन्ध है। जहाँ—'यह अपना है यह पराया है यह मां है, वही रागद्वेष है। दोनों ही मोह के उत्पादक हैं। जब तक भेद बुद्धि है, तब तक रागद्वेष है। जबतक रागद्वेष है, तब तक मोह है। जबतक मोहनिर्वाह बुद्धि है तब तक बुद्धि वसुपित है। वसुपित बुद्धि ध्यामशून्या है। ध्यामशून्या बुद्धि निवस बनती हुई मन पर अधिकार रखती हुई मन की सबलता का कारण बन जाती है। सबल मन सङ्गदोषरूप ध्यामक्रिया का प्रवर्धक है। आसक्ति कामना की जननी है। कामना क्रोध का कारण है। क्रोध संमोह का विनाश है। संमोह स्मृतिभ्रंश का जनक है। स्मृतिभ्रंश बुद्धिनाश का कारण है। बुद्धिनाश ध्यामभ्रंश का कारण है। यही आत्मव्रत है, जिसका कि पुरुषात्माभिरुह के आचरणतन्त्र में विस्तार से निरूपण किया जा-
चुका है। इस आपत्ति से बचने का उपाय है—बुद्धि की स्वरूपरक्षा। तदर्थ रागद्वेषमूला मोह का परित्याग अपेक्षित है। तदर्थ रागद्वेषमूला ब्रह्म-कर्म की निवासीयता का परित्याग आवश्यक है। तभी परम शान्ति सिद्ध सकती है।

ज्ञान-कर्म को सिद्धाकर देखिए, तभी आनन्द है। ज्ञान की कर्म में उपासना कीजिए, कर्म की अकर्मरूप ज्ञान में उपासना कीजिए। ज्ञानपूर्वक कर्म कीजिए, कर्म को ज्ञान के आश्रित बनाइए, कर्मद्वारा ज्ञानसंपत्ति प्राप्त कीजिए। यही बुद्धिमानी है, इसी को बुद्धियोग कहते हैं। यही नि श्रेयसपन्था है। इसी श्रेयार्थ का हाथी करण करती हुई शार्ङ्गोपनिषत् कहती है—

कर्मण्यकर्म यः परयेत्, अकर्मणि च कर्म यः।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स पुक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ (गी० ४। १८)

६

पूर्ण कर्म से छात्राव मनुष्यों को हैत का भ्रम हो सकता है। 'कर्म को ब्रह्म में देखो, ब्रह्म को कर्म में देखो' यह अक्षर ब्रह्म-कर्म इन दो तर्कों की सहा सिद्ध करते हुए

समम्भ रहे हो, निश्चास करो वे दोनों तरव भास्या पृथक् पृथक् प्रतीत होते हुए भी परमार्थतः अपृथक् है, दोनों में दोनों अनुस्यूत हैं । जब अधिकारी इस प्रथम श्रेणि में उत्तीर्ण होजाता है तो आगे जाकर—‘यस्मिन्सत्त्वायि भूतानि’ इत्यादि रूप से क्षुति रहे सहे भेद का भी निराकरण कर देती है । प्रातिमासिक हैत से व्याप्यारिक हैत पर जाती है । अन्तस्तोमस्या पार मार्षिक अद्वैत पर पहुँचा देती है । इस प्रकार प्रकृतमन्त्र ‘अद्वैत कर्म’ इस पदार्थ सम्बन्ध का निरूपण करता हुआ प्रस-कर्म के अमेद सम्बन्ध का ही दिग्दर्शन करता है ।

७

7

इति ब्रह्म-कर्मणोः सम्बन्धाधिकारः



श्रुति का तात्पर्य यही है कि ज्ञान-कर्म दो विषय हैं। भासि दो हैं, सत्ता एक है, इसलिए परमाद्यत अद्वैत है। सत्तामेव ही हैत का वास्तव्य वस्तुता है। श्रुति का 'विज्ञानतः' शब्द बड़ा चमत्कार रखता है। 'ज्ञानतः' नहीं कहा, 'विज्ञानतः' कहा है। 'अज्ञान व्यापक है, आत्मा एक है कहीं भेद नहीं है' इस प्रकार केवल शब्दज्ञान 'ज्ञानतः' से सम्बन्ध रखता है। वास्तविक अनुभूततत्त्वज्ञान का 'विज्ञानतः' से सम्बन्ध है। श्रुति कहती है कि तुम्हें सारी उप-निषदें पढ़नी, जीवन भर 'असंशयं सर्वम्' 'आसंशयं सर्वं-मेव नानास्मिन् किञ्चन' का पाठ पढ़ लिया, परन्तु इस कार्य काविक ज्ञान से (शब्दयकणमात्र से) तुम्हें तत्काल कदापि शान्ति नहीं मिल सकती, जबतक कि तुम व्यापक से उस ज्ञान पर प्रतिष्ठित न हो जाओ। जैसे पानी को तुम पानी समझ रहे हो, अग्नि को अग्नि समझ रहे हो, इसी प्रकार करो शब्दात्मक को छोड़कर जिस दिन तुम अन्तर्गता से अद्वैततत्त्व पर विचार करोगे, तभी शोक-मोह से मुक्त हो जाओगे। यही तो—'कसौ वेदान्तिनः सर्वे' यह वाक्य प्रसिद्ध है ही। ज्ञानमा सामान्य ज्ञान है, इस का मन से सम्बन्ध है। विशेषरूप से—कार्यकरणसम्बन्ध परिज्ञानपूर्वक ज्ञानमा विशेषज्ञान है। विशेषरूप से ज्ञानमा व्यापक ज्ञानमा है। इस विज्ञान का श्रुति से सम्बन्ध है। 'इदमित्यपेक्ष' यह विचार श्रुति से ही होता है। मद्रा करना जहाँ मन का कर्म है, विचार करना श्रुति का कर्म है। मुदियोग ही व्याप्य के विचारमात्र में प्रसङ्गशून्य का उत्पन्न करता हुआ शोक-मोह निवृत्ति का कारण बनता है। "पूर्व के मन्त्र में हैतसम्बन्ध का निरूपण हुआ एवं प्रवृत्तमन्त्र अद्वैतसम्बन्ध का निरूपण कर रहा है" इस में विरोध नहीं सम्भवा अपरिह।

उपाशाः शिष्यमाणां नामानामुपमासनाः ।

धर्मस्य धर्मनि स्थित्वा ततः सम्य समीदत ॥ (वाक्यपदी)

इस शिष्यासिद्धान्त के अनुसार अभिकारी मद्र से श्रुतिने हैत-अद्वैत दोनों मार्गों का प्रतिक निरूपण किया है। ज्ञान-कर्म का सभी रूपक रूपक समझते आरम्भ है। पहिले श्रुति इस व्यापकतत्त्वबुद्धि का निरूपण करती है। श्रुति कहती है कि जिन को तुम सर्वथा निज

प्राकृतात्माधिकरणे—

अव्यक्तात्माधिकरणां समाप्तम्

१



मृत माविष्यत् प्रस्तौमि बहुब्रह्मैकमक्षरम्

महद्ब्रह्मैकमक्षरम्

स वेदैतत् परम ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।

ध्यासते पुरः ये द्वाकायास्ते “शुक्ल”-मत्तदतिवर्चन्ति धीराः ॥१॥

(सुण्डक ३।२।१।)

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भे दधान्यहम् ।

समग्रः सर्वभूतामां सत्ते भवति मारुत ॥ २ ॥

सर्वयोनिषु कान्तेय मूर्सयः समवन्ति याः ।

तस्मां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ३ ॥

(गीता १४।३।४)।



‘ब्रह्मैव सवम्’ के अनुसार इरयमान साध प्रपञ्च ब्रह्म है । इस के आठ अवयव

हैं, एवं अणुपरमाणु को गायत्री कहा जाता है । अतएव अणुवयव ब्रह्मरूप

सर्वप्रपञ्च को हम ‘गायत्रब्रह्म’ कह सकते हैं, वैसा कि ‘तान्येता यष्टी । अष्टा

चरा गायत्री । गायत्रं साम । ब्रह्म च गायत्री’ (जै० उ० ब्रा० १।१।८।)

इत्यादि सामधृति से स्पष्ट है । ब्रह्मप्रजापति (ईश्वरप्रजापति) के यह आठ अवयव

अप्येष, अक्षर, आत्मक्षर, विकारक्षर, निरक्षर, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, पुराण, पुरे,

इन नामों से प्रतिष्ठ हैं, जिनका कि मिथुन निरूपण पूर्व के प्रकरणों में किया जा चुका है ।

ब्रह्म के इन आठों अवयवों में से प्रत्येक अवयव पञ्चकत है । इस प्रकार कलाहति से ब्रह्म की

नहीं है यह सब से अति (अतिशय) है, अतएव इस के लिए “विराट्ना प्रनाष्ट छन्द” (शत = १।४।४।—यजु सं १४।२) यह कहा गया है। यद्यपि ब्रह्मरूप परमा विराट् की इन आसीसों कक्षाओं का पूर्व में व्यष्टिरूप से उल्लेख कर दिया गया है, तथापि सम विज्ञान के लिए इन का यहां भी विवर्धन कर देना अतिसंगत न होगा। एक बात और ध्यान में रखिए। विराट्नास प्रजापति है। एव प्रजापति का “आत्म-प्राण-पशुसमष्टि-प्रजापतिः” यह लक्षण है। ऐसी दृष्टि में इस विराट् प्रजापति में भी १४१ क्रम से आत्मा प्राण पशु इन तीन विभागों का योग मानना पड़ेगा। अथवा अक्षर आत्मक्षर ब्रह्म के इन तीन अवयवों की समष्टि आत्मा है, विकार-विभव-पञ्चजन-पुरजन-इन चार अवयवों का संघात प्राण है एवं पुर की पशु कहा जाता है, जैसा कि आगे के परिच्छेद से स्पष्ट हो जाता है।

उक्त विराट्नास का जन्मात्मा तत्व ही ‘शुक्ल’ नाम से प्रसिद्ध है। शुक्ल के सम्बन्ध से ही विराट् पुरुष आसीस कक्षाओं में विभक्त होजाता है। इसी सर्वोपादनभूत शुक्लब्रह्म का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

स पर्यगाच्छुक्लमकायमब्रह्ममस्नाविर शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्-
शाश्वतीम्य समाभ्य ॥

“कार्यरहित, प्रखररहित, स्नायुररहित अतएव अकाय-अब्रह्म अस्नाविर नाम से प्रसिद्ध अतएव शुद्ध, पाप्मा से अविद्ध शुक्ल के चारों ओर यह व्याप्त होगया, दूसरे शब्दों में शुक्ल को चारों ओर से घेर लिया। (इस प्रकार शुक्ल को चारों ओर से घेरित कर) कवि-मनीषी-परिभू-स्वयम्भू इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध उस तत्व ने (शुक्ल द्वारा) यथा वयस्वरूप से सदा के लिए पदार्थों का निमाण कर दिया। अर्थात् वह तत्व परिसे शुक्ल को घेरित करता है, एवं घेरित शुक्ल से विश्व का निर्माण

४० कस्यार्थ हो जाती है। इसी चत्वारिंशत्सु स्रुत को "परमाविराट्" कहा जाता है। विराट् स्रुत के दशिनीविराट्, त्रिंशिनीविराट्, त्रिंशिनीविराट्, चत्वारिंशिनीविराट्-(१० २० ३० ४०) यह चार विवृत हैं। इनमें चत्वारिंशिनी (चाबीस बसर की) विराट् ही परमाविराट् कहलाती है। इससे बाहिर कुछ भी नहीं है। पुरुष, अमृतज्ञप्रवृत्ति, विवृत्ति, विकारसंघ (विष) सब कुछ इस परमाविराट् के गर्भ में निहित है। पुरुषाव्यधिकरण के उगममें परमाविराट् का स्वरूप प्रकट-राम्तर से बतलाया गया है—(देखिए ई. सि० भा० पृ० स० ७)। धनुगम सिद्धान्त के अनुसार विराट् का कई प्रकार से समन्वय होसकता है। अतएव—'एषा वै परमा विराट् चत्वारिंशिनी' (ता० भा० २१।१०।२) इस धनुगम बचन के अनुसार इस का बस की उक्त चाबीस कतकों के साथ भी समन्वय किया जासकता है। अथ ही 'सबम्' है। एष 'सर्वं वै सहस्रम्' (शत० १।६।१।१२), 'परमे सहस्रम्' (ता० भा० १६।१।२) इत्यादि के अनुसार सर्वस्रुत सहस्र एष परम [अन्तिम सीमा] का वाचक है। अतएव इस परममात्ररूपा सबरूपा परमाविराट् को अंगे जाकर तायव्यमुत्तिने 'सत्ताद्वारा वै परमा विराट्' (ता० भा० २२।१।३।४) इत्यादि रूप से सहस्राक्षर बताया है। सहस्राक्षर का अर्थ सत्ताक्षर ही है। अथवा यदि इतर सारे स्रुत इस के गर्भ में प्रविष्ट हैं। तोही भी स्रुत इस का पर्यण (अतिवर्णन) करने में समर्थ

● निवेदन यह स समन्वय करने वाले नेरवचन निगम कहलाते हैं, सब कई अनुकूल माये का निरूपण करते वाले बचन अनुगम कहलाते हैं। अतएव के सिधे इन्द्रो ये ब्रह्मामोत्रिष्ठो बलिष्ठ यह बचन केवल स्रुत का निरूपण करना हुआ निमगच्छ में प्रविष्ट है। यद 'यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि इतरि बचन कोटि को से समन्वय रक्ता हुआ अनुगम है। यहाँ २ ३-का अर्थ है यही सिवा गया है। समन्वयन से पाँच अथवा तीन तीन यह कह दिया गया है। सूत्रिका में धर्म निवृत्त कोटि चरितों में उपलब्ध है। उन तबल सेहद कोटि का, अथ त्रिष्ठो का नाम न होकर समन्वयन से रूनि बचन का अर्थ होवे यह कह दिया है। 'एषा वै परमा विराट् चत्वारिंशिनी' यहाँ भी उक्त ४ अक्षरों का निर्देश नहीं है। अब इस के दन अनुगम ही करेंगे। एही सिधे इत का कोटि रक्कों के साथ समन्वय होसकता है।

नहीं है यह सब से अति (अतिक्रान्त) है, अतएव इस के लिए “विराड्वा अनाष्टु छन्दः” (शत २।२।४।४।—पञ्च सं १४।२) यह कहा गया है। यद्यपि ब्रह्मरूप परमा विरट् की इन आसीसों कलाओं का पूर्व में स्पष्टिरूप से उल्लेख कर दिया गया है, तथापि सम धिक्कान के लिए इन का यहाँ भी विदर्शन कर देना अवश्य न होगा। एक बात और ध्यान में रखिए। विरट्ब्रह्म प्रजापति है। एव प्रजापति का “आत्म-प्राण-पशुसमष्टि-प्रजापतिः” यह सम्बन्ध है। ऐसी दृष्टि में इस विरट् प्रजापति में भी ३ ४ १-क्रम से आत्मा-प्राण पशु इन तीन विभागों का भोग मानना पड़ेगा। अथवा अक्षर-आत्मक्षर ब्रह्म के इन तीन अवस्थाओं की समष्टि आत्मा है, बिकार-विच्छेद-पञ्चमन-पुराण-इन चार अवस्थाओं का संघात प्राण है एव पुर को पशु कहा जाता है, ऐसा कि भागे के परिलेख से स्पष्ट हो जाता है।

वस्तु विरट्ब्रह्म का जन्मदाता तत्व ही ‘शुक्र’ नाम से प्रसिद्ध है। शुक्र के सम्बन्ध से ही विरट् पुरुष आसीस कलाओं में विभक्त हो जाता है। इसी सर्वोपादनमूल शुक्रब्रह्म का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमब्रह्मस्नाविरे शुद्धमपापाविद्धम् ।
कनिर्मनीयी परिम् स्वयम्भूर्यायातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्
शाश्वतीम्य समाम्य ॥

“कापरहित, वणरहित, स्नापुरहित, अतएव अकाय अब्रह्म अस्नाविरे नाम से प्रसिद्ध अतएव शुद्ध, पाप्मा से अपिद्ध शुक्र के चारों ओर वह व्याप्त होगया, दूसरे शब्दों में शुक्र को चारों ओर से घेर लिया। (इस प्रकार शुक्र को चारों ओर से घेरित कर) कवि-मनीयी-परिम्-स्वयम्भू इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध उस तत्व ने (शुक्र द्वारा) यथा वषारूप से सदा के लिए पदार्थों का निमाण कर दिया। अर्थात् वह तत्व परिले शुक्र को घेरित करता है, एवं घेरित शुक्र से विश्व का निर्माण

क्रिया करता है। उस का यह रचनाक्रम अनाद्यन्त है, सदा एकसा है। एक ही नियम से विश्व का निर्माण हुआ है, एवं इसी प्रकार भविष्य में भी निर्माण होता रहेगा। यह है मन्त्र का आचारायः। प्राचीन व्याख्याताओं ने इस मन्त्र का क्या अर्थ किया है? एक विद्वान्दृष्टि से यह कहा तक ठीक है। यह भी जान लेना आवश्यक होगा ॥ ३३ ॥

प्राचीनों के मतानुसार उक्त मन्त्र आत्मा के स्वरूपलक्षण का निरूपण करता है। वे कहते हैं कि—“पूर्व के मन्त्रों में जिस आत्मा का निरूपण हुआ है, वह स्वस्वरूप से कैसा है? उस का स्वरूपलक्षण क्या है? ‘स पर्यगात्’ इत्यादि मन्त्र इन्हीं मन्त्रों का समाधान करता है। उक्त सत्य आत्मा परितः व्याप्त हो रहा है, आकाशवत् वह सर्वव्यापी है, वह शुद्ध शुष्मरूप है, व्योतिष्मान् है, दीप्तिस्वरूप है—(प्रकाश स्वरूप है), प्रकाश है (अशरीरी है), सिकुशरीर से वनित है, अचल है, शिराशून्य होने से अस्नाविर है। इस प्रकार अन्न और अस्नाविर इन दो शब्दों से श्वेतशरीर का प्रतिपेक्ष किया गया है। वह शुद्ध है, निमल है, अविद्यामल से रहित है, इस प्रकार ‘शुद्धं’ शब्द से कारण शरीर का प्रतिपेक्ष किया गया है। उर्मिपमादि पापों से विवर्णित होता हुआ वह अपापविद्ध है। मन्त्रगत शुक्ल—अकाय—अन्नसं—अस्नाविरं—शुद्धं—अपापविद्ध इन चारों को शुक्ल—अकाय—अन्नसं—अस्नाविर—शुद्ध—अपापविद्धः इस प्रकार पुंस्वभाव में परिणत कर सेना धारिण। क्योंकि ‘स पर्यगात्’ इत्यादि रूप से पुंस्वभाव से उपपन्न कर ‘कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू’ इत्यादि रूप से पुंस्वभाव पर ही उपसंहार किया गया है। (जब उपपन्न उपसंहार में पुंस्वभाव की प्रधानता है तो मध्यपठित ‘शुक्लमकायमन्नसंमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्’ इत्यादि वाक्य की पुंस्वप्रधानता स्तत सिद्ध हो जाती है, यही तात्पर्य है)। वह आम्निदर्शी है सर्वद्रष्टा है, जैसा कि ‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा’ इस श्रुतिप्रमाण से स्पष्ट है। वह सर्वज्ञ ईश्वर है। सब के ऊपर रहने वाला परिभू है।

- ५—“स्वर्णशुक्लमुपसो वि विद्युत ” (अक्स० २।२।७।)
- ६—“मयस्वतीरीय्ये शुक्लमपि ” (अक्स० ३।६।३।)
- ७—“इन् शुक्ल पिबा सोमम्” (अक्स० ३।३२।२।)
- ८—“वर्णमतिरच्छुक्लमासाम्” (अक्स० ३।३७।५।)
- ९—“वयोषा स्या शुक्ल वुदुरे” (अक्स० ४।३।१०।)
- १०—“अपिप्यानं मयसा शुक्लमग्मः (अक्स० ४।२७।५।)।
- ११—“शुक्लं तन्मन्त पारमः । (अक्स० ४।४५।२।)।
- १२—“प्रभापये मरत चारु शुक्लम्” (अक्स० ५।२३।३।)।
- १३—“माम्पयो मरुश्छुक्लम्” (अक्स० ५।४५।१८।)।
- १४—“शुक्ल तेऽन्यघमर्त तेऽन्यत्” (अक्स० ६।५८।१।)।
- १५—“सकृच्छुक्लं वुदुरे पुरिनरुपः” (अक्स० ६।६६।१।)।
- १६—“तच्चक्षुर्देववितं शुक्लमुचरत्” (अक्स० ७।६६।१६।)।
- १७—“अमुं विवि शुक्लं अयोतिरपारया” (अक्स० ८।१३।३०)।
- १८—“शुक्ल हिरण्यमाश्वे” (अक्स० ८।६५।११।)।
- १९—“पषपान प्रुत वृश्छुक्लम्” (अक्स० ९।६६।२४।)।
- २०—“विवि शुक्ल यनत सूर्यस्य” (अक्स० १०।३।३।)।
- २१—“अयोतिः शुक्लमसौ” (ऐश० ७।१२।)।
- २२—“शुक्लं हिरण्यम्” (ऐश० १७।६।३।)।
- २३—“अयोतिर्वै शुक्लं हिरण्यम्” (ऐश० ७।१२।)।
- २४—“शुक्ल वेतश्छुक्लेष श्रीपाति यत् सोम हिरण्यन ” (यत् ३।३।३।६।)।
- २५—“तेनोऽसि शुक्लमस्यसुतपसि [माम्य]” (यत् १।३।१।२८। यत् १।६१।)
- २६—“शुक्लापाः” (ऐ श० १।३।६।३।)।
- २७—“सर्त वै शुक्लम्” (यत् ३।२।३।२४।)

जिन जिन प्रकारों में उक्त रूप से शुक्र शब्द प्रयुक्त हुआ है, उन उन प्रकारों को अपने सामने रख लीजिए, उपसम्भ्रमायों को भी पोढ़ी देर के लिए उपकारक समझिए, और फिर धर्म कीजिए। व्याप को सिद्ध होनायका कि शुक्र शब्द का अमुक अर्थ ही ऐसा है, जो सब शुक्र शब्दों में समान रूप से व्याप्त होसकता है। आरम्भ से ही चलिए। जिस 'शुक्रम्' को उपक्रमेपसङ्कार के दस पर 'शुक्र' मानते हुए भाष्यकारोंने प्रकृत में जिसे उस अविन्ध्य निगुण प्रसपरक माना है, वे ही भाष्यकार स्वयं उपनिषत् में ही 'ते शुक्रमेकत्ववचन्ति धीराः' इत्यादि रूप से पढ़े हुए 'शुक्रम्' को "शुक्रम्" ही रखते हुए कहते हैं—

“ये ह्यकामा विमृत्तिनृष्णाभिर्मिता मुमुक्षवः सन्त उपासते, परमिष सेषन्ते, ते शुक्रं नृबीजं पदेत्तु प्रसिद्धं शरीरोपादानकारणमतिवर्चन्ति धीराः, धीमतो न पुनर्योनिं प्रसर्पन्ति” (मुण्डक० शा० भा० ३।२।१)।

इस प्रकार यहाँ शुक्र शब्द से पुनरोपादनमूल सुप्रसिद्ध शुक्र (बीज) का प्रहण लिया गया है। क्या सिद्धमण्डली—“एकम निर्णीतः शारत्राणोऽन्यप्रोपकारको भवति” इस व्याप को नहीं मानती। यदि मानती है तो क्यों नहीं मुण्डकोपात्त शुक्र शब्द को भी अविन्ध्य प्रस परक माना जाय, अपरक ईशोपात्त शुक्र शब्द को भी क्यों न उपादानकारणपरक मान लिया जाय। सर्वध्री सायणाचार्यने वेद पर भाष्य लिखा है। सभी विद्वान् इस भाष्य का आदर करते हैं। अब देखना यह है कि उक्त श्रुतियों में उपात्त शुक्र शब्द का उन्होंने क्या अर्थ किया है।

२—“वह आदिस अपनी रश्मियों द्वारा समस्त भूतों के सारभूत रस (शुक्र) को ऊर्ध्व (पुच्छोफ की ओर) सेमाता है”। (३)—“हे अग्ने! तुम्हारे (आग्नेय) शरीर का जो शुक्र (प्रवसित तेज) चमक रहा है”। (४)—“वह आदिस शुक्ररूप (पुच्छोफ के) पय का दोहन करता है”। (५)—“हे अग्ने! आदिस की तरह मकाशित शुक्ररूप आपकी उपा मज्जसित कर रही है”। (६)—“हे अग्ने! इविष्मती मना (होता सोग) आपकी शुक्र (दीप्ति) रूप ग्वात्तामों की स्तुति करती है”। (७)—“हे इन्द्र! आप (गोदुग्ध से युक्त भव-

एव) शुक्लरूप सोम का पान कीजिए । अथवा शुक्लामन्वीग्रह में वर्तमान, अतएव शुक्लरूप सोम का पान कीजिए” । (८) ‘इन उपाधों के शुक्ल (प्रकाश) रूप बर्णको (इन्द्र ने आपने तेज से) प्रष्टुद कर दिया” । (९) —“पानी भरसाने वाले सूर्य (वृषा) ने अन्तरिक्ष स्तन से शुक्लरूप पानी को दूह सिपा” (१०) —“मयना (धुमोकस्य सौर) इन्ने प्राप्या पित शुक्लरूप सोम को” (११) “शुक्लरूप (दीप्तिरूप) रज को वितत कर दिया” । (१२) “हे (धर्म्यु ! आपने, वायु के लिए जिस वरणीय (शुक्ल नाम के) दीप्त सोम का संपादन किया है” । (१३) —“जिस दीप्त पानी (शुक्ल) के प्रति सूर्य चारों ओर प्रकट होता है” । (१४) “हे पूज्य ! तुम्हारा एक शुक्ल [शुक्ल] बर्ण है, एक कृष्णवर्ण है” । (१५) —“वर्षाश्रुत में शुक्लरूप (शुक्लरूप) वदक प्र वरिष्ठ से भरता है” । (१६) —“देव तामों का रितपी यह (सूर्य) निर्मल (शुक्ल) वस्तु उचित हुआ है” । (१७) —“हे इन्द्र ! आपने जिस समय धुमोक में निर्मल ज्योतिर्मय सूर्य को प्रतिष्ठित किया” । [१८] —“निर्मल हिरण्यरूप चन्द्रमा का आदान करता है” [१९] —“पमानने धुमोक में दीप्त पान नेतमर्ष [सूर्य] को पर्यप्त किया” । [२०] —“धुमोक में पूजनीय सूर्यके शुक्ल की [दीप्तिमत्तमवस्स की] जैसे कोई आरापना करता है” । [२१] —“यह सूर्य ज्योतिर्मय शुक्ल है” । [२२] —“यह शुक्ल हिरण्य [ज्योति] है” । [२३] —“ज्योति ही शुक्लरूप हिरण्य है” । [२४] —“तो जो कि हिरण्य मुषर्षेत्सवद [भयर्षी] से सोम खरीदता है, वह शुक्ल से ही शुक्ल खरीदता है” । [२५] —“हे आर्य्य ! (धृत) आप तमोमय हैं, शुक्ल हैं, अमृत हैं” । [२६] —“पानी ही शुक्ल है” । [२७] —“सब ही शुक्ल है” । + + + +

उपसृक्त प्रणायों के अनुसार अथ प्राचीनों के मतानुसार ही शुक्ल शब्द पुरुषेश्वरीय्य, मृत-रस अभिषेक, पय प्रकाश, दीप्ति, सोम, ज्योति, आप, सौर्य दीप्तरज, दीप्तसोम, दीप्तपानी, शुक्लपण्य शुक्लवदक, निर्मलसूर्य, निर्मलज्योति, निर्मलचन्द्रमा, नेतसूर्य, दीप्ति मन्मथवस्स, सूर्य, हिरण्यज्योति, ज्योति, सोम, आर्य्य, पानी, सब—इन पदार्थों के लिए

प्रयुक्त हुआ है। इन सब का पयवसान द्विजसङ्गर्भित (यशुरभिगर्भित) पद्मस्र (आप) में हो जाता है। आपतत्त्व की प्रकृति विरोध ही सोम है। सोम ही यन्त्रमा है। यन्त्रमा ही ओषधि द्वारा कीर्तिकर में परिणत होता है। 'महत्तव सोमो महिषमकार' (अक् स० २ । ६७ । ४१ ।) के अनुसार सोमहृति से ही सूर्य में ज्योति का उदय होता है। सोमम सीर ज्योति ही हिरण्य है। पञ्चभूतों का मूल उपादान यही आप है, यही भूतों का रस है। यही गोपशु में प्रविष्ट होकर पयस्क में परिणत होता है। यह सत्य अत है, परन्तु इसके गर्भ में सत्य यशुरभि प्रसिद्धित है, स्वत यह सत्य भी है। इन्हीं सब परिस्थितियों के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रकृत मन्त्र में प्राचीनों ने 'शुक्ल' को 'शुद्ध' परक मानते हुए जो इस का विशुद्ध आत्मपरक अर्थ किया है, यह ब्रह्मचरितमात्र है। वैदिक साहित्य किसी सम्प्रदाय विरोध का अनुधर नहीं है। यद्यपि सभी सम्प्रदायों का मूल वेदशास्त्र ही है किसी भी सम्प्रदाय को अद्वैतिक नहीं कहा जा सकता, तथापि 'वेदशास्त्र में अमुक सम्प्रदाय का ही प्रधानरूप से निरूपण हुआ है' यह मानना प्रौढवादमात्र है। वैदिक पदार्थों के यथानुरूप समन्वय के लिए विशुद्धदृष्टि अपेक्षित है। यदि पहले से किसी मत पर आकृष्ट होकर आप वेद साध्याय में प्रवृत्त हों तो सहस्र भाष्य भी आप को वेद के यथार्थ तात्पर्य से दूर रखेंगे। कुछ समय पूर्व इष्टासय पाठशाळा के प्रधान प० एम्बर कृष्णमाध्याय द्वारा सशोधित, एवं श्रीगोपाचानन्दस्वामीविरचित उपनिषद्भाष्य प्रकाशित हुआ है। कृष्णमाध्याय अपनी प्रस्तावना समाप्त करते हुए अन्त में लिखते हैं—

‘इह तु भाष्य सरसया शैल्या प्रवर्त्तमानं सुखेनायमवगमयति। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तध्वनसम्बन्धमानानामुपकारकमेतत्। यद्यप्यस्ति नाम कश्चित् कश्चिद्वा-

१ “सर्वत्र ऐसी ही स्थिति है यह आप सरसता से जान करना है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का आनन्द लेने वालों के लिए बहुत उपकारक है। यद्यपि कहीं कहीं बाह्य योजनाने छात्रों के अन्त में प्राचीन व्याख्याओं से नाम मात्र की वैदिक, तथापि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का कहीं अनुमान भी उद्भव नहीं हुआ है।”

यह आप सर १५ में निर्णय समर प्रेस में मुद्रित हुआ है।

कथयामासु गन्धर्वसु च मेनू पूर्णव्याख्यानतः, अथापि विशिष्टार्थं तु न
संगतोऽप्यनिबद्धे । तदिदं शुद्धवर्तिना विदुषाम्—“नन्वाप्य स्यात्” ।

क्या विशिष्टार्थ की पुष्टि करने के लिए ही उपनिषद् प्रकाश हुए हैं ? क्या इन साम्प्र-
दायिक अर्थों से, जो कथन यज्ञना का साम्प्रदायिक निमाण करने वाले चतुर शिष्यों हैं, व्याख-
नित हो सकती है ? यदि नहीं तो किसी भी सम्प्रदाय का आग्रह न करते हुए आप हमारे
साथ चलिए । हम आपको शुद्धबोध के दर्शन कराते हैं । नियन्त्रण में कहा गया है कि
विराट्प्रसन्न का अन्वयार्थ शुद्धत्व है । इस शुद्धत्वार्थ का सामान्य विवेकन पूर्व के शुद्धाधि-
कार में विस्तार से किया जा चुका है । अतः यहाँ विन्पेयण की आवश्यकता नहीं है ।
केवल शुद्धताम्बूली विशेषताओं का ही विवरण करना पर्याप्त होगा ।

शुद्ध क्या पदार्थ है ? इस का उत्तर है ‘उपादानकारण’ । विश्व का उपादानकारण
कौन है ? इस का उत्तर है —“सृष्टिसाक्षी अक्षय्यपुरुष अतएव जीवात्मस्वात्म अक्षरानु-
सूत आत्मेश्वर” । अक्षय्यविशेष में हमने पदार्थज्ञान पदार्थ को शुद्ध बताया था,
एव यहाँ अक्षय्यपदार्थविशेष आत्मेश्वर को शुद्ध बताया जा रहा है, इस में विरोध नहीं सम्भवा
याहिए, ऐसा कि आगे जाकर स्पष्ट होनाप्य । चत्वारिंशति परमाणुओं के पूर्वोक्त आठ अक्ष-
यों का समूह कीहिए । उन आठों अक्षय्यों में सत्त्व ‘पुरुष’ नाम के अक्षय्य की पाँचों
कक्षाएं वेद—मोक्ष—प्रज्ञा जीव—पशु इन नामों से प्रसिद्ध हैं । इन में वेद नाम का पहिला
पुरुषत्व ही सृष्टि का आधार है । बिना वेद के न ईश्वरसृष्टि होती है, न जीवसृष्टि । अन्तर
केवल इतना है कि ईश्वरसंस्था में पहिले पुरुष है, पुरुष से विश्व का मूल वेदत्व प्रादुर्भूत होता
है एवं आत्मसृष्टि में पहिले वेद उत्पन्न होता है अनन्तर वेदद्वारा योगभास का प्रादुर्भाव होता
है । तदनन्तर पुरुष (जीवात्म्य) का विकास होता है (वेदिए ई उ वि मा पृ. १००)
क्रमानुसार वेद है । परन्तु बिना वेद के प्रजापति का स्वरूप निष्पन्न नहीं होसकता, यह
निश्चित है । अतएव प्रजा नहीं, तपक प्रजापति नहीं । अब तक शोक नहीं, अब तक प्रजा

नहीं। जब तक आपोमय सुवेद नहीं, तब तक सोक नहीं। जब तक यजुर्वेद नहीं, तब तक सुवेद नहीं। इसप्रकार परम्परया वेद ही प्रजोत्पत्ति का कारण बनता हुआ 'प्रजापति' शब्द को अन्वर्थ बनाने में समर्थ होता है। तभी तो प्रजापति को वेदमूर्ति कहा जाता है। इस प्रजापति की ईश्वर-प्रतिमा-जीव-शिविविष्ट मेद से चार संस्थाएँ कतलाई गई हैं। इन चारों में ईश्वरप्रजापति त्रिचक्रमा नाम से प्रसिद्ध है। इस त्रिचक्रमा प्रजापति के समानशील-अमृतन चार अमिष सत्ता उत्पन्न होते हैं। चारों मित्र बरुण, इन्द्र अग्नि सोम इन नामों से प्रसिद्ध हैं। किसी समय यह पाँचों पृथक् पृथक् थे। जब तक यह पृथक् पृथक् रहे, तबतक इन की विश्वनिर्माणसम्बन्धिनी कर्मना पूरी न हुई। फलतः इन्होंने विचार किया कि ऐसे कर्म नहीं चल सकना। अपने को परस्पर में मिलकर सृष्टिनिर्माण करना चाहिए। ऐसा ही हुआ। पाँचों मिल गये। मिलने से कर्मना पूरी होगई। इन की समष्टि कर्मपूर्ति का हेतु बनी, अतएव यह पक्ष 'कामप्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही यज्ञ यज्ञविज्ञानपरिभाषा के अनुसार आगे जाकर 'दर्शपूर्णमास' नाम से व्यवहृत हुआ। अमरकूप चन्द्रमा अक्षिमयी पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। इस की यह परिक्रमा एक चान्द्रमास में पूरी होती है। इस परिक्रमा से चांद्रमास के कृष्ण-शुक्ल दो पक्ष होंगे। कृष्णपक्ष की अन्तिम त्रिदशमभूमि 'दश' कहलाने लगी, एव शुक्लपक्ष की अन्तिम भूमि 'पूर्णिमा' कहलाने लगी। दर्शस्थिति में चन्द्रमा की मृत्यु है, पूर्णिमा में युवावस्था है। शुक्लद्वितीया जन्मकाल है, शुक्लसाप्ती वचन है, कृष्णाष्टमी वृद्धावस्था है। इन सब भावों की मूलाधारभूमि प्रतिपत् (पञ्चा) है। यही से चन्द्रमा के हास एव वृद्धि की प्रपत्ति (उपक्रम) होती है, अतएव इसे 'प्रतिपत्' कहा जाता है। शेष सारे चान्द्र ब्रह्मेष्ट प्रतिपत् का अनुसरण करते हैं, प्रतिपत् के अनुग्रामी हैं, अतएव उन्हें अनुचर कहा जाता है। प्रतिपत् अनुचर सक्रिय शब्द हैं। मूलप्रतिष्ठा को प्रतिपत् कहा जाता है, मूला मुक्त इतरभाषों को अनुचर कहा जाता है। सूर्य प्रतिपत् है, हरिमय अनुचर हैं। चन्द्रमा प्रतिपत् है, नक्षत्र अनुचर हैं। आत्मा प्रतिपत् है, इन्द्रियप्राण अनुचर हैं। मस्तक प्रतिपत् है, इतर अङ्ग अनुचर हैं। गुरु प्रतिपत् है शिष्यवर्ग अनुचर है। सेनाप्यक्ष प्रतिपत् है, सेना अनुचर

है। हाथ प्रतिपत् है, कर्म अनुसर है। मुख प्रतिपत् है, ज्ञान अनुसर है। चक्षु प्रतिपत् है, रूप अनुसर है। निश्चय माय है। विश्व में सर्वत्र आप इसी प्रकार 'प्रतिपदनुचरौ' इन दो भावों का साक्षात्करण कर सकते हैं। प्रतिपत् एक होगा, अनुसर अनेक होंगे। कृष्ण अहोरात्र अनुसर हैं, कृष्णप्रतिपत् प्रतिपत् है। सुनस अहोरात्र अनुसर हैं, शुक्लप्रतिपत् प्रतिपत् है। कृष्णप्रतिपत् का शासन दर्शनपर्यन्त है, शुक्लप्रतिपत् का शासन पूर्णिमा पर्यन्त है। दश-कृष्ण निग्राम (हास) कृष्ण है, पूर्णिमाकृष्ण उद्गम (हृदि) काष्ठ है। दर्श में चात्र पदार्थ हम से वियुक्त होते रहते हैं। पूर्णिमा में चात्रपदार्थ हम से युक्त होते रहते हैं। दर्शक अज्ञान की सूचिका है पौषमासदि प्राभाष की प्रवर्तिका है। अष्ट के अनुसार प्रत्येक पदार्थ का दश-एक पौषमासकाल नियत है। उदाहरण के लिए घृत को लीजिए। आग्निमन्त्रस घृत का पौष-मास है, शेषकास दश है। आग्निमन्त्रस में आकल से वायुद्वारा [प्राणरूप से] घृत की हृदि होती है अतएव आग्नि के पानी के लिए लोक माया में 'धी बरस रहा है' यह कहा जाता है। चैत्र-वैशाख मधु का पौषमास है। इनमें सूर्य से मधु [शब्द] की हृदि होती है। सूर्य जिस समय मधुच्छत्र [मधुमयिका का छत्र] नाम से प्रसिद्ध भरणी मन्त्र पर आता है, उस समय से ही मधु का पौषमासकाल आरम्भ होता है। साँखों में शब्द पृथिवी पर निर जाता है। इसी मधुहृदि से वस्तु में प्रत्येक पदार्थ में नैसर्गिक मधुम विकसित होता है। मधु सम्बन्ध से चैत्र-वैशाख मधु-माषण मन्त्र नाम से प्रसिद्ध हैं। कहना यही है कि पदार्थ का आगमनकाल पौषमास है, वियोगकाल दर्श है। अहोरात्रपरिकल्पनात् दोनों चक्रणत् परिभ मन्त्रशील हैं। परिभमण से ही दश-पूषमास का उदय होता है। अतः इस परिकल्पना रूप कर्म को ही 'दर्शनपूर्वमासपद्म' कहा दिया जाता है। चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह है, साथ ही में पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। अतएव पृथिवी को हम प्रतिपत् कह सकते हैं, एव चन्द्रमा को अनुसर कह सकते हैं। इसी प्रकार चन्द्रमा को साथ लिए हुए पृथिवी अपने निराल रूपान पर (अनितरूप पर) सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है। इस परिक्रमा से पृथिवी में अद्विती-द्विती यह दो अवधारण उत्पन्न होता है। यह अद्विती-द्विती अहोरात्र सारसार अथवा

मेद से तीन भागों में विभक्त है । दिन में पृथिवी का जो भाग सौरप्रकाश से युक्त रहता है, वह अदिति है । रात्रिगत पार्थिवभाग सौरप्रकाश में वञ्चित होता हुआ दिति है । मध्यमार्ध पूर्णिमा है, मध्यरात्रि अमावास्या है, प्रातःकाल शुक्लाष्टमी है, सायंकाल कृष्णाष्टमी है । इसी प्रकार उत्तरायणमण्डल अविति है, दक्षिणायनमण्डल विति है । उत्तरायण उपक्रमकाश शुक्लाष्टमी है, मध्यकाश पूर्णिमा है, उपसहारकाश कृष्णाष्टमी है, दक्षिणायन मध्यकाश दर्श है, निरुपकाश पूर्णिमा है । सारा सम्बन्धर पूर्णिमारूप है, प्रकप्रशरूप है, सक्तर के पूर्व-पश्चिम सब ओर पूर्णिमा (प्रकप्रश) का साम्राज्य है । इसी अभिप्राय से युति कहती है—

पूषा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मप्यतः पौर्णमासी भिगाय ।

तस्या देवा अभि सप्तसन्त उच्ये नाक इह मादयन्ताम् ॥

(तै० ब्रा० ३।१।१०) इति ।

पौषमासेष्टि का सम्भव मध्य के निरुपकाश से ही है । यही सारे मास्यदेवता प्रतिष्ठित हैं, यही भाक स्मान है । इसी अभिप्राय से 'मध्यतः पौषमासी भिगाय०' इत्यादि कहा गया है । यही पृथिवी का दर्शपूर्णमास है । पृथिवी सूर्य का अपग्रह है, अतएव सूर्य प्रतिपद है, पृथिवी अनुचर है ।

चन्द्रयुक्त पृथिवी को साय लिए हुए सूर्य परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा सग्य रहा है । यही सूर्य का दर्शपूर्णमास है । इसी सौरदर्शपूर्णमास से परमेष्ठी रूप महान् में त्रैगुण्य-मान का उदय होता है । परमेष्ठी का वह भाग जो सौरप्रकाश से युक्त रहता है, पूर्णिमाकाश है, यही अविति मण्डल है, यही अभ्यात्ममायानुसार सत्प्रधान महान् है । विरुद्ध तमोमय भाग दशकाश है, यही दिति मण्डल है, यही तमप्रधान महान् है । सन्धिभाग रजोमहान् है । इसी सौर अदिति का निरूपण करती हुई उपनिषद्भुति कहती है—

पा मायेन (सौरमायेन) सम्ममसदितिर्देवतामयी ।

गुहां मपिभ्य विष्टन्ती या भूतेभिर्ब्रह्मायत ॥ (कठ० १।७) ।

सूर्य परमेष्ठी का सपग्रह है, अतएव परमेष्ठी प्रतिपत् है, सूर्य अनुचर है । चन्द्रमा—पृथिवी एक सूर्य को अपने महिमास्यस में प्रतिष्ठित रखता हुआ परमेष्ठी स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगाता है । इस परिक्रमा से ही विश्वका स्वरूप निर्मास होता है । विश्व एक प्रकार का प्रकाश है, यही पुण्याह (ब्रह्मा का दिन—सृष्टिकाल) है । यही सृष्टिकाल अस्तित्व मय है, यही पूर्णिमा है । प्रसवकस्या निरवग्रहमात्मक तमोरूप वितिकास है, यही दश है, यही परमेष्ठीमृत दर्शपूर्णमास है । स्वयं स्वयम्भू स्थिर है, अतएव इसे परोरमा कहा जाता है । पृथिवीरूप मूसोक, सूर्यरूप स्वसोक, पृथिवी और सूर्य के मध्य का भुवसोक परमेष्ठीरूप जनसोक, परमेष्ठी और सूर्य के मध्यका महसोक स्वयम्भू और परमेष्ठी के मध्यका तपोसोक यह ६ ओं रज (परिभ्रमणीय सोक) उस परोरमा सत्यसोकालक स्थिर स्वयम्भू के आधार पर प्रतिष्ठित है । उसने अपनी प्रासराक्ति से [स्वयम्भू प्रास प्रधान है] ६ ओं का विभरण कर रक्ता है । इसी रहस्य को रूप में रखकर मन्त्रधृति कहती है ।

अपिक्लिवाधिकितुपमिद्वं कवीन् पृच्छामि विदुमने न विद्वान् ।

विपस्तस्तम्म पञ्चिमा रत्नास्यनस्यरूपे किमपि स्वदेकम् ॥

(अथर्वसं० नासदीयसूक्त १।१६४।६।)

इस प्रकार प्राणप्रधान विश्वकर्मा स्वयम्भू (ईश्वर) प्रजापति अपनी बहण [परमेष्ठी] श्वर [सूर्य] अग्नि [पृथिवी], सोम [चन्द्रमा] इन चार प्रतिमाओं से युक्त होकर दर्शपूर्णमास का प्रवर्तक बनता हुआ परमप्रजापति नाम से प्रसिद्ध होता है । इसी परमप्रजापति का निरूपण करती हुई पञ्चधृति कहती है—

या ते पामानि परमाणि यावमा या मय्यमा विश्वकर्मन्मुतेमा ।

गित्वा सात्विभ्यो इषिपि स्वभावः स्वयं यजस्व तन्म दधानः ॥

[पञ्च सं १७।०१।]

सत्य, तप, जन, मह यह चार परमब्रह्म हैं, स्वः मध्यमब्रह्म है, सुवः सूः अन्नमब्रह्म है। दूसरे शब्दों में स्वयम्भू परमेष्ठी परमब्रह्म है, सूर्य मध्यमब्रह्म है चन्द्रमा एष पृथिवी अन्नमब्रह्म है। परमेष्ठी-सूर्य चन्द्रमा-पृथिवी-यह चार उस के अन्तिम सखा हैं। इन्हें यह श्रेष्ठमित्र (स्वयम्भू) शिखा देखा है। जैसा स्वरूप उस का है, जो संस्थाक्रम उस में है, ठीक वैसा ही स्वरूप, वही संस्थाक्रम उक्त चारों प्रतिमाप्रजापतियों में है। वह बभ्रुवर्ष है, यह चारों भी बभ्रुवर्ष हैं। वह आत्मा [हृदयमात्र], पद् [विण्ण], पुनःपद् [महिमा] मेद से त्रिपर्वा है, ये ही तीन तीन पर्व इन चारों में हैं। वही शिखण है। उक्त कामप्रपञ्च से परस्पर में मिसते हुए पाँचों सर्वरूप बन रहे हैं। इसी आधारपर पूर्वप्रकरणों में हमने प्राणादि पाँचों को 'सार्ध' किंवा 'सर्व' नाम से व्यवहृत किया है [देखिए ई वि भा पृ १—३२५]। बिच में सर्वत्र इन्हीं सर्वप्राणादि का साचाग्य है। प्रजापति की इन्हीं संस्थाओं का विन्दन कराती हुई वाचिश्रुति कहती है—

“स पेषव प्रजापति-इमं वा आत्मन प्रतिमामष्टदि + + + + ता वाऽएताः प्रजापतेरधिदेवता अष्टव्यन्त-अग्नि-रिन्द्र-सोम परमेष्ठी प्राजाप-
त्य + + + + तत एतं परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपद्यद्दर्शपूर्णमासौ,
साभ्यामपमत्त। ताभ्यामिष्टाऽन्नमपयत ब्रह्मेवेद सर्वं स्थापिति, स आपोऽमपव
“आपो वा इदं सर्वम्”। स परमेष्ठी प्रजापति पितरमग्नवीर-कामप्र
वाऽह यज्ञमर्द्धं, तेन स्वा याजपानीवी, तपेति। तमपाजव। स इष्टा अष्टव
यत - ब्रह्मेवेदं सर्वं स्थापिति, स प्राणोऽमपव “प्राणो वा इदं सर्वम्”
स प्रजापतिरिन्द्र पुत्रमग्नवीर अनेन स्वा कामपेण० + + + + स वाग-
मपव, “वाग्वो इदं सर्वम्”। स इन्द्रोऽग्नीषोमी आतरो-अग्नवीर, अनेन
वा कामपेण० + + + + अन्नाद एषान्यतरोऽमपव, अन्नमन्यतरः।
अन्नाद एवाग्निरमपव, अन्न सोमः। अन्नोदश्च वा इदं सपमन्नं च। ता वा

एताः पञ्च देवता (ध्रुवा (माणः), विष्णुः (आप-वरुणः), इन्द्रः (वारु, अग्नि (अन्नाद्) सोम (अन्नम्) एताः पञ्चदेवता) एतेन कामप्रेषा यज्ञेना जयन्त । ता यत्कामा (सर्वभ्याप्ति-भ्याप्तिकामा) अयजन्त, स आभ्यः काम समाप्यत । यत्कामो ह्यऽएतेन यज्ञेन यजते, सोऽस्मै कामः समृध्यते” (शत० अ० ११ क० । १ अ० । ६ अ० । १३ क०-२० क० पद्यन्त) ।

उक्तं भूति की तीन चार बातों पर पाठकों को विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि सग्री के आधार पर पुण्डरीकिका का रहस्य व्यक्तम्बित है, जो कि भागे जाकर स्पष्ट होगा । पहिली बात तो यह है कि प्रजापति शब्द से प्रकृत में व्यापक मायावस्तुमय मायी महेश्वर अभिप्रेत है । इस प्रजापति से क्रमशः परमेष्ठी, इन्द्र, अग्नि, सोम इन चार अपिदेवताओं का प्रादुर्भाव होता है । इनमें भूति परमेष्ठी को प्रजापत्य कहा है । दूसरी बात यह है कि परमेष्ठी ही सम्प्रथम दर्शपूर्णमास यज्ञ करता है । परमेष्ठी भागे जाकर उस भितर प्रजापति से कहता है कि मैंने दर्श पूर्णमास नाम का काम यज्ञ देखा है, मेरी इच्छा है कि मैं इस यज्ञसे आप का यजन करूँ । प्रजापति की 'तथास्तु' इस अनुमति से परमेष्ठी प्रजापत्य कामप्रयत्न से प्रजापति का यजन करता है । परमेष्ठी का सयम्भू प्रजापति के भारों को परिक्रमा लक्षणा ही कामप्रयत्न से इस प्रजापति का यजन करना है । तीसरी बात यह है कि इस परमेष्ठीकृत परिक्रमाकृत यज्ञ से ही प्रजापति की तृतीया प्राणसंस्था का उदय होता है । पहिले सबकुछ आपोमय परमेष्ठी का उदय होता है, अनन्तर प्राणमय सयम्भू का उदय होता है । मायी सयम्भू पृथक् तब है एवं परमेष्ठी के सम्मुख से प्राणरूप से उदित होनेवाला योगमायावस्तुमय पुण्डरीक सयम्भू पृथक् है । मायी सयम्भू प्रथम या, इससे परमेष्ठी उत्पन्न हुआ, परमेष्ठी से पुण्डरीकसयम्भू का जन्म हुआ । प्रजापत्य परमेष्ठी के द्वारा पुण्डरीकरूप में परिणत होने वाले इस परिधिभूत सयम्भू के लिए भागे जाकर— 'स प्रजापतिरिन्द्र प्रथमप्रचीय कर्त्तव्यः' । भूतिके आरम्भ का प्रजापति शब्द कहा व्यापक मायी सयम्भू (महेश्वर) का वाचक है, कहा यह भागे का प्रजापति शब्द महेश्वर धारण में भूत कणोश्चर पुण्डरीक सयम्भू का वाचक है । मायी सयम्भू की इच्छासे परमेष्ठीने दर्शपूर्णमास किया है,

है, एक पुण्डरीत स्वयम्भू की इच्छा से इन्द्र (सूर्य) अग्नि (पृथिवी) सोम (चन्द्रमा) नें दशपूर्णमास किया है। पुण्डरीत स्वयम्भू की अपेक्षा से ही परमेष्ठी—सूय आदि प्रतिमाप्रजापति नाम से व्यवहृत हुए हैं। एक एक वक्राग्रे पाँच पाँच पुण्डरीत हैं। इन पाँचों में स्वयम्भू परमप्रजापति है, जेप चारों प्रतिमाप्रजापति हैं। उस व्यापक मायी स्वयम्भू के उदर में ऐसी पञ्चपुण्डरीतिका सहस्र (१०००) प्राजापत्य वक्राग्र प्रतिष्ठित रहती हैं। मायावच्छेदेन स्वयम्भू एक है, पुण्डरीतवच्छेदेन स्वयम्भू एक सहस्र है, यही वक्तव्य है।

यञ्च पुराहीरा प्राजापत्यवत्सा

- | | |
|--|--------------------------|
| १—“प्राणो वा इदं सर्वम्” प्राणः—स्वयम्भू ब्रह्मा | } प्रतिमा-
प्रजापतय ४ |
| २—“आपो वा इदं सर्वम्” आपः परमेष्ठी विष्णु | |
| ३—“वाग्वा इदं सर्वम्” वाक्—सूर्यो इन्द्र | |
| ४—“अन्नादो वा इदं सर्वम्” अन्नान्—पृथिवी अग्नि | |
| ५—“अन्नं वा इदं सर्वम्” अन्नम्—चन्द्रमा सोम | |

ऐसी सहस्र वक्राग्रों को (टहनियों को) अपने उदर में रखने वाला मायी महेश्वर ही प्रजापत्य है, जैसा कि आगे के परिच्छेद से स्पष्ट होगा। प्रजापत्यरूप इसी वेदमूर्ति महेश्वर के वेदभाग से सुब्रह्म रूप आपोमय ब्रह्म का जन्म होता है। वेद स्व द्वित्रह्म है, सुब्रह्म पद्वय है। पहिले वाक्मय सत्य ब्रह्मणि ही था। ‘पतिश्च पत्नी च’ इस इच्छा से आगे जाकर यही सत्य—भूत यह दो रूप धारण करलेता है। सत्त्वावाक् यजुब्रह्म है, अत्त्वावाक् सुब्रह्म है। इसी को अग्नेदेने ‘आम्पृणीवाक्’ (आपोमयीवाक्) नाम से व्यबहृत किया है। (देखिए ऋग् संहिता १००० आम्पृणीवाक्) यह अन्नसत्यरूप ब्रह्म सुब्रह्म ही विष्णुके आदि प्रवक्तृ है, जैसा कि ‘अग्नेदेकम्’ इत्यादि मन्त्रमात्र में विस्तार से वक्तव्य जातुका है। अग्निमय ब्रह्म

पुरुष है, पति है पिता है । आपोमय सुगन्ध स्त्री है, पत्नी है, माता है । ब्रह्म महेश्वर है, सुगन्ध पाक्री है । यही जगत् के माता पिता हैं— जगत्ः पितरौ मन्दे पामवी परमेश्वरौ” । इन्हीं दोनों के सम्बन्ध से आगे की सृष्टिवार आसती है ।

दो वायुओं का सम्बन्ध चार प्रकार से हुआ करता है । चार से अतिरिक्त कोई पांचवां प्रकार नहीं है । साप ही में यह भी ध्यान रखिए कि जैसे सम्बन्ध संख्या निर्गुण है, एवम् दो तरफ भी सर्वा निश्चित है । उन दा के अतिरिक्त तीसरा तरफ आप को विश्व में नहीं मिल सकता । वे दोनों तरफ वे ही ब्रह्मरूप आग्नेयपुरुष, सुगन्धरूप सौम्य स्त्री हैं । सचमुच अमीसोमात्मक स्त्रीपुरुष के अतिरिक्त अन्य तीसरी वस्तु नहीं है । तभी तो “ब्रह्मापोमात्मकं जगत्” “इदं वा इदं न वृत्तीयमस्ति शुष्कं पैषाद्रथ । यश्च शुष्कं तदाग्नेय, यदा तत् सौम्यम्” इत्यादि श्रौतबचन प्रसिद्ध होते हैं । यह दोनों ही तरफ बिजालीय हैं । एक मोक्षा है, दूसरा भोग्य है । अग्नि मोक्षा है, अतएव यह अन्नाद नाम से, सोम भोग्य है, अतएव यह अन्न नाम से प्रसिद्ध है । दोनों का यह अन्नाश्रयवत् मोक्ष भोग्यमात्र समुदाय और अवयव यैद से दो मार्गों में विभक्त है । ब्रह्म (अग्नि) सुगन्ध (सोम) रूप स्त्रीपुरुष का यदि अवयव सम्बन्ध होता है तो पेत्ती अवस्था में आग्नेयपुरुष “पुरुष” कहलाता है, सौम्यसुगन्ध ‘स्त्री’ कहलाता है । यदि समुदाय सम्बन्ध होता है, दूसरे शब्दों में सारा सोम सर्वात्मना यदि अग्निब्रह्म के उद्गम में बसा जाता है तो उस समय यह दोनों तरफ स्त्री-पुरुष न कहलाकर अन्न अन्नात् नाम से व्यवहृत होते हैं । अन्न जब अन्नात् के (सुगन्ध जब ब्रह्म के) उद्गम में बसा जाता है तो उस समय आहुत होने वाले अन्न की स्मृति का प्रयोग होता है । परन्तु ऐसा होता तभी है जब कि सारा अन्न अन्नात् में आहुत हो जाता है । जब आप अन्न खाते हैं तो वह आप के शरीरान्तर में जाकर अन्निरूप में परिणत होता हुआ आपका प्रतिबिम्ब स्वरूप हो जाता है । आप यदि उस मुक्त अन्न को आप उसी स्वरूपमें प्राप्त करना चाहें तो यह असम्भव है । क्योंकि वह अन्न सर्वात्मना अग्नि में आहुत हो जाता है । मनु एवै समुदायवृत्तिसम्बन्ध में ही उन ब्रह्म सुगन्धों को अन्नात्—अन्न कहा जाता है । इस सम्बन्ध से कोई गर्ह वातु [अपूर्वमात्र] उत्पन्न नहीं होती, यदि तु केवल ब्रह्म का आपतन मात्र दृष्टा है, यही वृत्ति ‘पुष्टि’ कहलाती है ।

यदि समुदाय का सम्बन्ध नहीं है, अपितु अवयव का सम्बन्ध है तो सृष्टि नहीं सृष्टि है । इस सम्बन्ध में अवयवी निर्विकार है, केवल अवयव की विशिष्ट है । यही विशिष्टाक्षर अवयव सम्बन्ध (संश्लिष्टाक्षर सृष्टिसम्बन्ध) सृष्टि (अपूर्वमात्रोत्पत्ति) का कारण है । इस सृष्टिमुखक अवयव सम्बन्ध में ही ब्रह्म एव सृज्य स्त्री-पुरुष नाम से व्यवहृत होते हैं । समुदायरूप असम्भवाद के सम्बन्ध में—“यदा ब्रह्म समागच्छत - ब्रह्मैवाक्यायते, नाद्यम्” इत्यादि रूप से सृष्टि असत्ता का उच्छेद वक्तव्य है, एव अवयव सम्बन्ध में अशुद्ध का उच्छेद है । उच्छेद नहीं, अपूर्वमात्र में परिणति है । अतएव इस सम्बन्ध में अस-सम्भवाद का प्रयोग न होकर स्त्री पुरुषशब्दों का प्रयोग होता है । इन दोनों का (स्त्री-एव पुरुष का) अवयव सम्बन्ध तीन प्रकार से समझ है । स्त्री-स्त्री का सम्बन्ध भी समझ है । इस अवयव सम्बन्ध से न प्रोक्त होता, न सृष्टि होती । क्योंकि सृष्टि विजातीय वस्तुत्व के समन्वय से ही होती है । स्त्री-स्त्री सजातीय पदार्थ हैं । साथ ही में सोम्य होने से दोनों अवयव आद्य हैं । अतएव यह मिथुनभाव सवण निरमक है । एवमेव पुरुष पुरुष (के अवयवों) का सम्बन्ध समझ है । यदि दो पुरुषों का सम्बन्ध है तो सर्वाशय है । दोनों ही अग्नि हैं । समान वस्तु वाले दो आग्नेय प्रह टकरा कर जैसे महाविस्फोटन [जोकि विस्फोटन ऐन्द्रमूर्क्य नाम से प्रसिद्ध है ।] के जनक बनजाते हैं अवयव समान गति रखने वाली दो पञ्चाव द्रव्यों के सम्बन्ध से [मिथुन में से] जैसे महाविस्फोटन होता है, एवमेव आग्नेय पुरुषावयवों का सघर्ष विस्फोटन का जनक बनजाता है । इस सम्बन्ध में भी सृष्टि का अभाव है, क्योंकि दोनों ही सजातीय हैं । इस सम्बन्ध में सृष्टि तो नहीं है परन्तु प्रोक्त अवयव है । तीसरा है स्त्री पुरुष के शुक्र-शोणितरूप अवयवों का सम्बन्ध । इस विजातीय अवयव सम्बन्ध से ही अपूर्वमात्र का उत्पन्न होता है । यही सम्बन्ध ‘समन्वय’ नाम से प्रसिद्ध है । इसी से सृष्टि होती है—‘तत्तु समावयात्’ । इस सम्बन्ध में अवयव की हानि होती है, अवयवी ग्यों के त्यों सृष्टिष्ठ रहते हैं । पुरुष अग्नि है, स्त्री आप (सोन) है । अग्नि के उदर में पानी बसा जाय, अग्नि अग्नि मिश्रण, पानी पानी मिश्रण, आग पानी मिश्रण, इस प्रकार दोनों के सम्बन्ध के चार ही द्वार हैं । यदि अग्नि के उदर में पानी (सोन) बसा गया

तो पुष्टि है यदि अग्नि अग्नि (अस-अस) का सम्बन्ध होगया तो विस्फोटन है यदि पानी पानी (सुन्नस-सुन्नस) मिला गए तो निरर्थक है, यदि आग पानी का (अस-रूप पुरुष के शुक्र, सुन्नस रूप स्त्री के शोणित का) सम्बन्ध है तो सृष्टि है ।

- (१ स. १०) { १-स्त्रीपुरुष का समुदाय सम्बन्ध (अग्नि सोम का समुदाय सम्बन्ध) → पुष्टिकर
 { २-स्त्री स्त्री का सम्बन्ध (सोम सोम का अन्वय सम्बन्ध) → निरर्थक
 { ३-पुरुष पुरुष का सम्बन्ध (अग्नि अग्नि का अन्वय सम्बन्ध) → विस्फोटक
 { ४-स्त्री पुरुष का अन्वय सम्बन्ध (अग्नि सोम का अन्वय सम्बन्ध) → सृष्टिकर

स्त्री पुरुष के जो अन्वय सृष्टि के उपादान बनते हैं उन्ही को विद्यागमात्रा में योपा वृषा कहा जाता है । योपा वृषा शब्द सक्रिय हैं । प्ररनोपनिषत् में इन्ही के लिए 'रयि प्राण' शब्द प्रयुक्त हुए हैं, एवं वहाँ रयि प्राण के मिथुनमात्र से ही सृष्टि की उत्पत्ति बताया गई है—(वसिष्ठ प्ररनोपनिषत् १ प्ररन) । योपा यदि सर्वात्मना वृषा के गर्भमें है तो अस अन्नादमात्र है, अन्वय सम्बन्ध में ही पुरुषमात्र है । योपा-वृषा के सृष्टिप्रवर्तक अन्वय विद्यागमात्रा में रेत योनिनाम से प्रसिद्ध हैं । रेत सुन्नस नाम के योपा का अर्थ है योनि अन्न नाम के वृषा का अर्थ है । आग्नेय माग योनि है सोम्य माग रेत है । दूसरे शब्दों में अस्मात्प्रिरूप पञ्चमस योनि है, सुन्नसरूप पञ्चमस (आप) माग रेत है । स्थिति है शुक्ल नीर विलसाई पकता है कुछ अल्प । इसी आधार पर 'परोक्षमिया इह हि देवा' मन्त्रादियः' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है । प्रकृति का प्रत्येक कार्य परोक्ष (परो) में होता है । सुन्नस की अन्न में आकृति होती है । अग्नि पुरुष है सोम भी है । यह नीरूप सुन्नस पुरुष में प्रतिष्ठित होता है, तब पुरुषरूप अन्न भी में प्रतिष्ठित है । स्त्री में पुरुष बैठा है, पुरुष में स्त्री बैठी है, जैसा कि पूर्व के अन्वयकात्या चिह्नारण्य में विस्तार से बताया जा चुका है ।

विश्वरूपसम्पादिका महामाया की महातक व्याप्ति है, वहाँ तक वेदघन वेदमूर्ति ईश्वर की व्याप्ति है। यदबध्वेदेत ईश्वर (महेश्वर) व्याप्त है, तन्बध्वेदेनेत्र मस (वेत्) सुत्रस्य (सुवेत्) व्याप्त है, एक बिन्दु भी दोनों से रह्य नहीं है। दोनों में एक प्रकार से अन्न-अन्नादभाव सम्बन्ध है। अतएव यह आहुतिसम्बन्ध सृष्टि के लिए अनुपपुक्त है। सृष्टि तभी हो सकती है, जब कि उस व्यापक ब्रह्म के किसी एक प्रदेश में व्यापक सुब्रह्म के किसी एक अवयव की आहुति हो। योनिमाग वृषारूप ब्रह्मका अवयव है, रेतोमाग योषारूप सुब्रह्म का अवयव है। इन दोनों अवयवों में मायाबन्धुन सर्वव्यापक दसावस्य (यस्तिथ्यस्तिमत्) का एक अवयवविशेष विशेष है, इसमें मातरिका नाम से प्रसिद्ध भार्गववायु द्वारा उस ब्रह्म पर सर्वत्र व्याप्त सुब्रह्म नामसे प्रसिद्ध पद्म ब्रह्म (आप) के एक अवयवविशेष की आहुति होती है, यही अवयव रेत है। इन अवयवों के सम्बन्ध से सारा विश्व बना है। आगे की सारी सृष्टियों में इस अवयव सम्बन्ध की ही व्याप्ति समझनी चाहिए। ईश्वरसृष्टि हो, अथवा जीवसृष्टि, सर्वत्र योषारूप ब्रह्म-सुब्रह्म के अवयव सम्बन्ध की ही प्रधानता है। उदाहरणके लिए पुरुष को लीजिए। पुरुषके सवाङ्ग शरीरमें रेत व्याप्त है, उघर स्त्री के सवाङ्ग शरीर में योनिरूप आवरण (रक्त) व्याप्त है। परन्तु सभी रेत अथवा सभी आर्चन प्रजोत्पत्ति का कारण नहीं बनता। यदि ऐसा हो तो स्त्री पुरुषका स्वरूप ही नष्ट होना पड़े। स्त्री पुरुष का आंगिक रेत—आर्चन ही प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है। सृष्टि किस सम्बन्ध से होती है ? यह बतसा दिया गया। अब प्रकरणसृष्टि के लिए एकबार आपका ध्यान 'अनेमदेकम्' इस मन्त्रार्थ की ओर आकर्षित करते हैं।

यहाँ बतसाया गया है कि मायाबन्धुन वसावस्य सर्वव्यापक यदुर्ब्रह्मरूप ब्रह्मास्ति में मात रिचावायु पद्मब्रह्मरूप आपोमय (सम्बन्धितोमय) सुब्रह्म की आहुति देता है। इस प्रकार 'अनेमदेकम्' इत्यादि मन्त्र सामान्यरूप से व्यापक ब्रह्म में व्यापक सुब्रह्म की आहुति बतसाता है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। पूर्वजन्मानुसार सर्वाहुति में अन्नाभावात्मात्र है, एक ऐसा सम्बन्ध पुष्टि कर बनता हुआ भी सृष्टिमयादा से बहिमत है। सृष्टि अवयव सम्बन्ध पर ही निर्भर है। अतएव "मातरिका एनदनेनव ब्रह्म में आप की आहुति देता है" इस वाक्य

क्य “अक्ष के एक योनिरूप प्रदेश में मातरिरसापात्र आपोमयप्रक्ष के रेतोरूप एक प्रदेश की आहुति दत्ता है” यही अर्थ समझना चाहिए। यही कारण है कि धृति “तस्मिन्मपो मातरिरसा जुहोति” यह न कहकर “तस्मिन्मपो मातरिरसा दधाति” यह कहा है। आहुति सम्बन्ध समुत्पादसम्बन्धमक अन्नाभादमात्र पर निर्भर है, आपानसम्बन्ध अथवासम्बन्धमात्रक ही-पुरुषमात्र पर निर्भर है। सोम्यश्वर में भी “योनि में रेत की आहुति होती है” यह नहीं कहा जाता, अपि तु “यानि में रेत का आपान होता है” यही कहा जाता है। अत एव व बाहु को होत्र (आहुति देने वाला) नहीं कहा जाता अपि तु रेतोषा (रेत का आपान करने वाला) कहा जाता है। प्रश्न होता है कि ‘अननदकम्’ इत्यादि मन्त्र से प्रतिपादित सामान्य अर्थ की उपेक्षा कर—‘अथर्व की अथर्व में आहुति होती है’ यह विशेष अर्थ किस आधार पर प्रमाणिक माना गया? इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए ‘स पयगाप्सुकम्’ इत्यादि मन्त्र हमारे सामने आता है। मन्त्र में पका हुआ शुद्ध शब्द ही उक्त प्रश्न का समाधान करता है। केवले ‘इस विश्वासा को शक्य करने से पक्षित शुद्धपण्य का स्वरूप परिचय का ज्ञान आवश्यक होत्र।

पदापविरहेनरुविधान के विदुषाचार्य होत्रों के कारण विद्वानों की दृष्टि में आज्ञादिन शुद्ध-रेत-पीय तीनों अस्मिन् पदाप हैं तीनों पयाप हैं। परन्तु पयाप में शुद्ध मिश्र बल है, रेत अथवा बल का बाधक है, अर्थात् शुद्धि की अथवा ही पण्य का बोधक है। अर्थात् और शुद्ध रेत में प्रतिष्ठित है इसीलिए तात्पर्यात्ताप्सुकम्’ म्याप से रेत को शुद्ध अथवा शुद्ध से व्यवहृत कर दिया जाता है। ऐसा होने पर भी तीनों को एक ही बल मान बैठना सर्वथा भ्रम है। संशय साहित्य पर आज एक बड़ा भारी कष्ट उत्पन्न होता है। सराधारण का यह विश्वास है कि सारा ज्ञान में एक एक शब्द के अन्तर पयाप होत हैं। पक्ष जो ऐसा चाहता है, स्वार्थानुसार ऐसा ही अर्थ करता है। परन्तु अथर्व अथवा पक्षों को यह विश्वास दिखता है कि सारा साहित्य में एक अर्थ के लिए एक ही शब्द प्रयुक्त हुआ है। पक्षों की समानता को सार अथवा अथर्व प्रकटित होगया है। पयापविधि से एक शब्द निम्न अर्थों के ही प्रतिपादित है।

विष्णु-नारायण-वामन सब मिश्रण के बाचक हैं। मोहेश्वर-ईश्वर-परमेश्वर आत्मा-ब्रह्म सब शब्द पृथगर्थों के श्रोतक हैं। मधवा-पाकशासन-सुप्रहा-शृपा-शुनाशीर-पुरंदर सब अपने अपने अर्थों में निरूपित हैं। बुद्धि-मनीषा विपणा मन्त्रा-मति सब मिश्राय के परिचायक हैं। जिसके लिए जो शब्द नियत हैं, वह उसी का बोधक हैं। पृथु और वसुध कभी पृथक् नहीं हैं। आदित्य और सूर्य कभी पर्याय नहीं हैं। वायु और वात, हिरण्यवर्ग और पद्मभू, कभी पृथक् नहीं हैं। इसीप्रकार शुक्र-वीर्य-रेत कभी परस्पर में एक दूसरे के पर्याय नहीं हैं।

तीनों में से पहिले वीर्यशब्द को ही खींचिए। रेत में रहने वाला, आत्मबल को कहने वाला तरलविशेष ही 'वीर्य' कहलाता है। बल-वीर्य-पराक्रम तीनों में भी भेद है। शरीरशक्ति बल है, प्राणशक्ति वीर्य है, मन की शक्ति पराक्रम है। हाथी में बल की प्रधानता है। हाथी अपने भार से एक सिंह को कुचल सकता है। सिंह में वीर्य की प्रधानता है। शरीरशक्ति से प्राणशक्ति बलवन्ती है, अतएव प्राणप्रधान (वीर्यप्रधान) सिंह हाथी को परास्त कर देता है। मन की शक्ति पराक्रम है। दूसरे पर आक्रमण कर उसे अपने वश में करलेना ही 'पराक्रम' है। यह मनो बल है। पुरुष में इस की प्रधानता है। यह बल वीर्य से भी प्रबल है, अतएव पराक्रमी मनुष्य वीर्यशाली सिंह को भी एक पक्षर (पींजरे) में बदल कर देता है। इस प्रकार बल-वीर्य-पराक्रम तीनों शब्द नियत अर्थों के बाधक हैं। आत्मा मन-प्राण-ब्रह्म माना जाता है। मन ज्ञानप्रधान, प्राण कर्मप्रधान, एव ब्रह्म धर्मप्रधान है। आत्मा की इन तीनों कक्षाओं के उपकारक क्रमशः ब्रह्म-ज्ञान-विद् नाम के तीन वीर्य हैं। ब्रह्मवीर्य ज्ञान का अनुपायी है, ज्ञानवीर्य कर्म का प्रेरक है, एव विद्भीर्य धर्मशक्ति का संवाहक है। ब्रह्मवीर्य का अग्नि से सम्बन्ध है, ज्ञानवीर्य का इन्द्र से, विद्भीर्य का विश्वदेवों से सम्बन्ध है। जिस के रेतमें ब्रह्मवीर्य की प्रधानता है, उसकी सन्तान ब्राह्मण कहलाती है। ज्ञानवीर्य प्रधान रेत क्षत्रियवर्ण का, विद्भीर्य प्रधान रेत वैश्यवर्ण का प्रवर्तक है। जिस के रेत में धर्मवीर्यरूप, विष्णु सामान्यतः वीर्यरूप पूषा नाम से प्रसिद्ध पार्थिव तमोमय प्राणदेवता की प्रधानता रहती है, उस की सन्तान सन्धुद्र कहलाती है, इसी के लिए—'शूनाभावरणवर्णाश्च' यह कहा जाता है। इन चारों वीर्यों के विशेष

भार ही मसमाग हैं । इन देवविरोधी मसमगों की क्रमशः जिनके रेत में प्रधानता होती है, उन से क्रमशः अन्त्यज अन्त्यानसायी, दम्पु, स्लेच्छ इन भार असम्पूटों की उत्पत्ति होती है । यह चारों ही अथर्व वर्ण हैं । यही असम्पूट निरवस्थित कह सकते हैं ।

देवभाग → → → → → मलभाग

(देवीमोक्ष)

(आसुरीसंपत्)



१—अक्षयवर्ण (अग्नि) → → → → → अत्यज

२—अत्रियवर्ण (इन्द्र) → → → → → अन्त्यानसायी

३—वैरववर्ण (विरवदेश) → → → → → दम्पु

४—अवरवर्ण (पूषा) → → → → → स्लेच्छ

वर्णसृष्टि → → → → → अवरवर्णसृष्टि



स वा एष आत्मा वाङ्मय प्राणमयो मनोमय

१—मन (मानसशक्ति) ज्ञानोदयौपयिक—ब्रह्मवीर्यम् → → → → → तत्त्वपाना — ब्राह्मणा

२—प्राणः (प्रियशक्ति) क्रमोदयौपयिक—क्षत्रवीर्यम् → → → → → तत्त्वपाना — क्षत्रिया

३—वाक् (वक्त्रशक्ति) अयोदयौपयिक—विद्वार्यम् → → → → → तत्त्वपाना — वैश्या



वक्तु निदर्शन से पाठकों को यह मान लेना पड़ेगा कि वीर्यरक्त शुक्र और रेत से सर्वथा रूपरूप है । रेत में प्रतिष्ठित रहने वाला रक्तवर्ण वीर्य है । रेत के रूप से वीर्य का भी रूप होता है । अतएव 'ब्रह्मवीर्य' का अर्थ शुक्ररक्षापरक मान लिया जाता है ।

अब चलिए शुक्र-रेत की ओर । पुरुष के रेत का नाम शुक्र नहीं है, अपि तु अग्नि का नाम शुक्र है । शुक्राग्नि भी में रहता है, रेत रूप सोम पुरुष में रहता है । शुक्र का प्रधान आकृति भी का रज है, रेत का प्रधान आकृति पुरुष का सोमभाग है । पुरुष के रेत में जैसे उक्त वीर्य रहते हैं, एवमेव भी के रज में भी वीर्य प्रतिष्ठित रहते हैं । दोनों के वीर्य शुद्ध रहते हैं, सभी वर्णानुसूता सृष्टि (सम्पन्न) होती है । कथारथा के लिए वीर्य रक्षा आवश्यक है । वर्णवीर्य के यथार्थ स्वरूप को यत्किञ्चित् भी न जानता हुआ, परन्तु जानने का अभिमान करता हुआ एक वैश्यवर्ण का महान् नेता नेतृत्व के अभिमान में पकड़ कर अपने पुत्र का यदि एक ब्राह्मण वर्ण के नेता श्री कृष्ण के साथ विवाह करने में कोढ़ हानि नहीं समझता तो यह उसका, एवं उसके देश का दुर्भाग्य है । हाँ यदि वह अपनी सबकी किसी ब्राह्मण पुत्र को दे दे तो शास्त्र दृष्टि उसका यह कार्य अनुचित न होगा, कारण ब्राह्मण इतरवर्ण की कृष्ण के साथ पाणि ग्रहण कर सकता है । वीर्यरक्षा के लिए शास्त्रसिद्ध वैवाहिक मर्यादा आवश्यक है । इस मर्यादा का पालन न हुआ तो क्या होगा ? इसका उत्तर है भारतवर्ष की अभोगति । अस्तु प्रकृत में यही कहना है कि प्रकृति की अवयवभूता योनि (अग्नि) शुक्र है, इस की प्रधान प्रतिष्ठा स्त्री है । शुक्र का अवयव भूत रेत (सोम) रेत है, इसकी प्रधान प्रतिष्ठा पुरुष है । योनि में रेत का आधान होता है, इसका 'शुक्र में रेत का आधान होता है' यही तात्पर्य है । इसप्रकार वीर्यरक्त रेत एवं शुक्र का पाश्चात्त्य भी मसीहोक्ति सिद्ध हो जाता है ।

रेत शब्द पुरुष के सौम्यभाग के लिए ही निरूपित हो यह बात नहीं है । अस्तु रेतत्व का अवय्वेदक उपादानव्यवस्था ही समझना चाहिए । प्रजा का उपादानव्यवस्था न केवल पुरुष का सौम्यभाग है, न केवल स्त्री का आग्नेय शोणित भाग है, अपि तु दोनों का समन्वित रूप ही उपादान है । ऐसी अवस्था में हम दोनों को 'रेत' कह सकते हैं । स्त्री का आग्नेय भाग भी उपादान होने से रेत है, पुरुष का सौम्य भाग भी उपादान होने से रेत है । परन्तु एक आग्नेयरेत है, दूसरा सौम्यरेत है । इसी भेद को समझने के लिए वैज्ञानिकोंने आग्नेयरेत को 'शुक्र' शब्द से व्यवहृत किया है, एवं सौम्यरेत को पारिषेप्यात् रेत शब्द से प्रसिद्ध किया है ।

धनरेत शुक्र है, सार रेत रेत है । धनता [परिपाक] अग्नि का बर्म है, तरसता पानी का बर्म है । अन्न सम्प्राप्ति है, सुख अन्न प्राप्त है । यह धन है, यह तरस है । यह शुक्र-रेत दोनों ही अन्न वृक्षा-योधाप्राण से अनुगृहीत रहते हैं । हमने शुक्र-रेत रूप योनि-रेत के सम्बन्ध से प्रबोध्यति बतलाई है । परन्तु वस्तुतः सृष्टि के मूलाकार हैं-योधा-वृधाप्राण । शुक्ररूप स्त्री के आश्रय भग्न में रहने वाला पितृप्राण वृक्षा कहलाता है, पुरुष के सौम्यरेत में रहने वाला पितृप्राण योधा नामसे प्रसिद्ध है । इसी प्राण को मित्रक परिभाषा में 'भूय' कहा जाता है । यदि शुक्रगोष्ठित के भूय अभिहित हैं, तभी दोनों के सम्बन्ध से प्रबोध्यति होसकती है । परिपूर्ण निर्वहण हैं मूर्च्छित हैं, नष्ट हैं तो ऐसी दशा में निरन्तर होने वाला भी शुक्रगोष्ठित का निधुनमात्र प्रबोध्यति का करण नहीं बनसकता । इन भूयों की निवृत्तता के, एवं निवृत्त के मातृदोष, पितृदोष, कर्मदोष, नाडीदोष, ग्रहदोष, आदि व्याध दोष हैं । इन व्याधों की निवृत्ति धर्मशास्त्र में प्रतिपादित है । सुप्रसिद्ध श्रौतकर्म पितृदोष का निवृत्तक माना जाता है । अतएव निवृत्ति में प्रविष्ट रहते हुए भी आद्य को धर्मशास्त्र में कर्मकर्म (पुत्रकर्मनासाधक) माना है । निवृत्त यही वृक्षा कि साररुद्ध शुक्र है प्रशोधित रस रेत है । दोनों में प्राण प्रतिष्ठित हैं, प्राणानुगृहीत यही दोनों जीवन के करण हैं । इसी शुक्र-रेत-विज्ञान को खण्ड में रखकर अग्निपुरुष कहते हैं-

“शुक्रं तु सारवर्तेनो, रसो रेतः प्रबाहि यत् ।

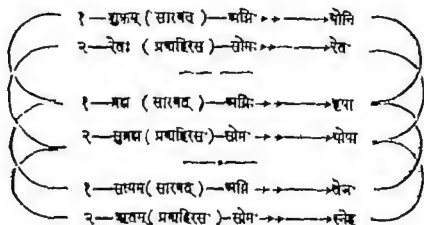
माद्येनानुगृहीते ते (शुक्ररेतसी) मायिना जीवन् विदुः ॥”

शुक्र आश्रय पदार्थ है इसके लिए प्रमाण की अपेक्षा नहीं है । 'ससाविदमुना शुक्र' से कोशकर स्पष्ट ही शुक्र को अग्नि कहकर रहे हैं । 'अग्निः शोचति, रेतो रसति' से ही दोनों अन्न शुक्र-रेत नाम से प्रसिद्ध हुए हैं । शुक्र ही शोक है, शोक संताप है, संताप व्याध है, ताप अग्नि का बर्म है । सम्बन्ध से शुक्र (अग्नि) ही 'शुक्र' बना है । शुक्र साधारण अग्नि

है, अतएव ग्रहयज्ञ में व्याहृत होने वाले ४० ब्रह्मपात्रों में से अग्निमय सौरमण्डल पात्र को शुद्ध कहा गया है। इसी अन्वय पर निम्नलिखित वचन प्रसिद्ध हैं—

- १-“अग्निं नै शुद्धः” (शत० ५) ॥२८॥—“रेतो वा अक्षम्” (गो० ब्रा० पू० ३।२३)
- २-“अग्निः शुद्धिः (शुद्धः)” (तै० ब्रा० १।१८।२)—“रेतो नै सोमम्” (शत० ३।२५।२)

इसी शुद्ध को हम अग्नेय होने से ‘तेज’ कह सकते हैं—“तेजो वा अग्निः” (शत० २।१।२८), एवरेत को सोम्य होने से ‘स्नेह’ कहा जासकता है। एक बात और—शुद्ध में रेत, रेत में शुद्ध अन्तर्भूत है। शुद्ध में अग्नि प्रधान है तत्त्व स्त्रोम गौरव है। रेत में स्त्रोम प्रधान है, वन अग्नि योज है। इसीलिए कहीं कहीं आप रेत को शुद्ध कह दिया जाता है, जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में शुद्ध सम्पद की व्याप्ति बतलाते हुए कहा गया है। एकमेव कहीं कहीं अग्निमय शुद्ध को रेत बतला दिया जाता है। इन्हीं दोनों तत्त्वों के सम्बन्ध से सृष्टि होती है, यह प्रत्येक दशा में निर्विवाद है।



दोनों के सम्बन्ध से कैसे संसार बन दे। इस मरनसम्पत्ति के छोड़ निम्नलिखित प्रकरण पर ध्यान रखिए। सृष्टि का मूलप्रवर्तकतार अमृत-मद्य-शुद्ध इन तीन गणों में सिद्ध है।

पुराण है, अतः इसी को शुक कह दिया गया है। यह वेदतत्त्व आत्मेश्वर की सर्वप्रधाना एवं सर्व प्रथम प्राणरूपा का विकार है, दूसरे शब्दों में वेदतत्त्व की उपादानमूर्ति आत्मेश्वर है, एवं 'माधारम्मण विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सद्यम्' के अनुसार कायरूप वेद कायरूप आत्मेश्वर से अभिन्न है। ऐसी स्थिति में शुकरूप वेद को आत्मेश्वर कहा जा सकता है। आत्मेश्वर प्रकृति का स्वरूप है, अक्षर अमृत माग है। अक्षर और आत्मेश्वर दोनों एक ही अमृतमृत्युमूर्ति प्रजापति के दो अवयव हैं, दोनों मिलकर एक वस्तु है। ऐसी दशा में यदि विकारेश्वररूप वेदमिन्न आत्मेश्वर शुक है तो आत्मेश्वरमिन्न अक्षर भी अवयव ही शुक है। साथ ही में बिना अभ्ययासम्भन के अक्षर और भी जीवात्म्या में परिणत नहीं हो सकते, अतः अक्षर-क्षरबद्ध स्वयं अभ्यय भी शुकश्रोत्रि में निमिष होता है। तभी तो—"नही अमृत है, नहीं प्रकाश है, नहीं शुक है" यह कहने का साहस किया जाता है। अभ्यय ही अक्षर बनता है, नहीं क्षर बनता है, नहीं वेदरूप में परिणत होता है। अक्षरतत्त्व अभ्यय के विद्यामाग का विकास है, क्षरतत्त्व उसी के कर्ममाग का विकास है। नहीं अपने विद्या-कर्म माग से वेदरूप से प्रकट होता है। वेद का यद्-(गतिरहित) भाग उसके कममाग का विकास है, यद्-(स्थितितत्त्व) भाग उसी के विद्यामाग का विकास है। काही विद्यारूप (अक्षररूप) से, काही कमरूप (क्षररूप) से, काही उभयक्षर (वेदरूप) से नहीं सर्वत्र स्थात होता है। उससे शक्य कुछ नहीं है, संयुक्त नहीं है, सब कुछ उसी में है।

उपर्युक्त कथन से यह कहने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती कि यष्टिसाक्षिभूमि पोषणी पुरुष ही शुक है। निरासद्-पञ्चजन-पुराण आदि बहिरङ्गबन्धुप्रकृति पोषणी के बिना नहीं रह सकती। अभ्ययासम्भन अक्षर और ही तो यष्टिरूप में परिणत होकर बहिरङ्गप्रकृतिरूप में परिणत होते हैं। इस परमार्थदृष्टि से विचार करने पर—"यष्टिसाक्षी अभ्यययुक्त, अतएव यष्ट्यन्तुस्य बीजान्स्थापन अक्षरक्षर शुक है" "एतत् अनेनैव तत्त्व शुक है" इन दोनों वाक्यों में कोई विरोधी नहीं रहता। यही अक्षरासम्भन यष्टिरूप शुक मातरिरमा द्वारा होने वाले आप के अध्यापन से निरासद् में परिणत होता है। निरासद्स्थापन नहीं शक्यतत्त्व "अन्वय"

नाम धारण कर लेता है। इस अक्षय के अक्षय के विद्या-कर्मका प्रस-फल के अनुग्रह से प्रज्ञाशक्त्य कर्माभित्य यह तो स्पष्ट होजाते हैं। इनमें प्रज्ञाशक्त्य का निरूपण बट एवं मुण्डक-माध्य में दृश्य है, एव कर्माशक्त्य का निरूपण ब्राह्मविज्ञान के कर्मगति प्रकरण में हुआ है। शुक्र की व्याप्ति से ही (पञ्चगुणित प्राजापत्यवक्रण) का जन्म होता है। शुक्र की सहस्रावृत्तियों से सहस्रवक्रण शुक्र अक्षय का स्वरूप समझ होता है। अक्षय संचार है, इस संचारमहीच्छ का बीच शुक्र-तन्त्र है। शुक्र का अतिक्रमण करना ही मायोपनिषत्का परामुक्ति है। निष्काममात्र से जो इस अक्षय की उपासना करते हैं, वे ही धीरे-धीरे बुद्ध्यानुयोगी निरकाश के उपासनायोग (सुद्विद्येय) से शुद्धयोगी बनने हुए शुक्रका निष्कामी (मायाहीन) से बाहर निकलने में समर्थ होने हैं—“मामेव ते प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति यः”। इसी रहस्य का समीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

स केतवत्परमं ब्रह्मपापं यमं विन्धं निहितं माति शुभम् ।

उपासते पुरुषं ये दक्षपाप्माने शृङ्खलेतदतिवर्तन्ति पराः ॥

(मुण्डकवेनियत् ३।२।१)।

अक्षयका महेश्वर को आप अक्षयपावर दृष्टि से समझ कर सकते हैं अक्षयपावरद्वारा प्रपन्न कर सकते हैं अक्षयपावरद्वाराबुद्धिअपनुदृष्टि से शक्त कर सकते हैं। वही अक्षय अमृत है, वही मन्त्र है, वही शुक्र है। शुक्र की बहिए—परन्तु उसे महामाया की अर्जितम परिधि तक व्याप्त समझिए। आप को विज्ञास करना चाहिए कि शुक्र-प्रस-प्रसृत इन तीन मामों से पुनरावृत्ति ज्ञाना का वह तन्त्र (मायी महेश्वर) आपने उदर में अन्त (सहस्र) प्राजापत्य वक्रणों प्रनिष्ठित एवम् दृष्ट्या एवम्नेत्रत् रूप से मन्त्रा हुआ है। इसी ‘तन्त्र’ विज्ञान का समीकरण करत हुए श्रुति कहते हैं—

“ऊर्ध्वमूर्धोऽवाङ्गान् एषोऽश्वरयः सनातनः ।

तदेव शुक्रं तन्मम तन्मममृतमुच्यते । तद् नाम्येति कथनम् ।

यतश्च तन्त्र” [बट० ३।१।१] ।

उक्त कथन बीजरूप उसी यजुर्वेद का निरूपण करता है। वेद को हमने सृष्टि का मूला-
कार घतसाया है, एव साप ही में इसे सृष्टिकारमक भी कहा है। यद्यपि विश्व में अविद्यारूप
(भावस्वरूप) कर्मभाग की ही प्रधानता है, परन्तु विद्यनिर्माण बिना विद्या की सहायता के
सर्वथा अनुपपन्न है बिना ज्ञानरूप विद्याके कर्म संभव ही नहीं है। ज्ञान-द-विज्ञान-मम विद्याभाग
है, मन-प्राण-वाक् कर्मभाग है। ज्ञान-द विज्ञान के बिना साधारण मनुष्य भी कर्म में प्रवृत्त
नहीं होता। ज्ञान-द ही कर्मप्रवृत्ति का मूलस्तम्भ है। यह विद्यारूप ज्ञान अक्षर है, अविद्यारूप
कर्म अक्षर है। दूसरे शब्दों में अम्यय के विद्याभाग का अनुमह अक्षर पर है, एव कर्मभाग का
अनुमह अक्षर पर है। अतएव उपनिषद्ोंने अक्षर को विद्या शब्द से, अक्षर को अक्षरों शब्द से
अपवृत्त किया है। दोनों का ईश अम्यय अपने दोनों भागों से दोनों पर शासन करता है।
इसी अभिप्राय से युक्ति कहती है—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निश्चिते यत्र गृहे ।

अक्षर त्वविद्या ब्रह्मत् त्व विद्या विद्याविद्ये ईगवे यस्तु सोऽन्यः ॥

(स्वेता० उ० ३।१।१)।

विद्यारूप अक्षर का विकास 'जू' है, कर्मरूप अक्षर का विकास 'यत्' है। अक्षर
विद्यास्वरूप अनेकजन्तु है, यक्षरूप कर्मस्वरूप अनेकजन्तु है। एवम् अनेकजन्तु की समष्टिरूप यजुर्वेद ही
शुद्ध है। सृष्टिकर्त्ता इस वेदमूर्ति शुद्ध को सृष्टि के प्रधान अनुकूल का सहाय लेना पड़ता
है। वह अनुकूल है 'चित्सम्बन्ध'। योग विमूर्ति, सहस्ररूप आदि ११ प्रकार के सम्ब-
न्धों में से प्रत्येकधन नाम से प्रसिद्ध चित्सम्बन्ध ही सृष्टि का प्रधान अनुकूल है। एक
वस्तु पर दूसरी वस्तु का बिनाब (लोकप्रसिद्ध 'विद्या') ही चिति है। ईंट पर ईंट पर रखने से
और एक हुरी का स्वरूप प्रकट है, एवमेव उसी पौडगीरूप आत्मपरात्म पर इष्टक (ईंट)
रूप भौतिक विचारधारा की चिति से विद्यमान का निर्माण हुआ है। विद्यमूला यह शुद्धचिति-
बीज, देव, मृत, मेद से तीन भागों में विभक्त है। पौडगीरी आत्मा पर पहिली बीजचिन्ति है,

बीजविति पर देवविति है, देवविति पर मृतविति है। तीनों वितियों की समष्टि बिम्ब है, बिम्ब विति का अन्तर्भाव पोदशी विश्वात्मा है, आत्मा और बिम्ब की समष्टि आत्मकी ईश्वर है, इसी दो भागों की समष्टि प्रतिमाप्रजापति है। दोनों की समष्टि ही बीजमजापति है, एव दोनों की समष्टि ही त्रिपिपिष्टमजापति है, सर्वत्र प्रजापति का ही साम्राज्य है— 'प्रजापतिस्त्वेवे ऽ स सर्वं यदिदं किंच' । "बीणि ज्योतीषि सत्यते स पोदशी" के अनुसार ब्रह्मय (ज्ञान-ज्योति) अक्षर (कर्मज्योति) क्षर (मृतज्योति) इन तीनों ज्योतियों से वह पोदशी प्रजापति विशिष्टस्वरूप विश्वप्रजा के साथ संयुक्त हो रहा है। मध्यमिष ईश्वर का शरीर है हमारा (बीज-मा) पाञ्चमौक्तिक शरीर हमारा बिम्ब है। बिम्ब सृष्टिरूप है, आत्मा प्रविष्टरूप है। दोनों में सृष्ट्यक्षर विसृष्ट्यक्षर (मर्यकक्षर) है, प्रविष्ट अक्षर चित्तनिर्भयप्रक्षर (अमृतप्रक्षर) है। विसृष्टप्रक्षर प्रविष्ट अक्षर ब्रह्मय-अक्षर-क्षरमेद से त्रिकक्षर है, एवमेव विश्वसृष्ट्यक्षर भी बीज-देव-मृत मेद से त्रिकक्षर ही है। पदक्षर की समष्टि ही ईश्वर है, पदक्षर की समष्टि ही बीज है— "पादकौशिकमिदं सर्वम्" । बीजविति पर ब्रह्मय का अनुग्रह है, देवविति पर अक्षर का अनुग्रह है, एव मृतविति पर क्षर का अनुग्रह है। बीजविति ज्ञानज्योति है, देवविति कर्मज्योति है, मृतविति मृतज्योति है। इन बिम्बरूप तीन बिम्ब ज्योतियों से वह विश्वात्मारूप पोदशी अपनी ब्रह्मय-अक्षर-क्षररूप पूर्वोक्त तीनों ज्योतियों से युक्त हो रहा है। वह पोदशी बिम्बरूप तीनों ज्योतियों का आधार है, अतएव इसे— 'ज्योतिषां ज्योति' (बिम्ब की बीज-देव-मृतरूप तीनों ज्योतियों की ज्योति) कहा जाता है।

ज्योतिषां ज्योति पोदशी विश्वात्मा → → → विश्वम्

१-ब्रह्मय (ज्ञानज्योति) → → →	१-बीजविति: (ज्ञानज्योति)	} पादकौशिकमिदं सर्वम्
२-अक्षर (कर्मज्योति) → → →	२-देवविति: (कर्मज्योति:)	
३-क्षर (मृतज्योति) → → →	३-मृतविति: (मृतज्योति)	

(आत्मा) → → → → → (शरीरम्)

ईश्वर की अपेक्षा जीवसत्त्वा हमारे समीप है, अतः प्रथम उसी की ओर ध्यानपूर्वक ध्यान आकर्षित किया जाता है । अन्धकारमय सत्त्वा में आत्मा और शरीर यह दो विभाग हैं । इनमें आत्मा कौन है ? इसका उत्तर है 'पोबशी पुरुष' । शरीर कौन है ? इसका उत्तर है—'बीज देव-मूत समष्टि' । मूतग्राम, देवग्राम, बीजग्राम की समष्टि ही शरीर है । बीजग्राम को आत्मग्राम कहा जाता है । यह आत्मग्राम उस प्रबल आत्मा से भिन्न है । यह एक है, यह अनेक हैं । यही आत्मग्राम कारणशरीर है, देवग्राम सूक्ष्मशरीर है, मूतग्राम स्थूलशरीर है । कारणशरीर पर सूक्ष्मशरीर, सूक्ष्मशरीर पर स्थूल शरीर प्रतिष्ठित है । तीनों शरीर पोबशी आत्मा पर प्रतिष्ठित हैं । अनेक बातुओं के संघ को 'ग्राम' कहा जाता है । आस्तिकदशानुयायी जिसे 'आत्मपरिग्रह' कहते हैं, गीताशास्त्र जिसे 'कूट' कहता है, श्रमणक जिसे 'पुद्गल' कहते हैं, बौद्ध जिसे 'स्तूप' कहते हैं, ज्योतिषी जिसे 'राशि' कहते हैं, लोकन्यायकार में जो 'द्वि' 'योक्'—आदि नामों से प्रसिद्ध है, बड़ी विज्ञानमाया में 'ग्राम' एवं 'पुर' नाम से व्यक्त किया जाता है । सिद्धादि वन्यपशु समुदाय बनाकर नहीं रखते, अपि तु एकत्रही विधरण करते हैं, अतः एव इन्हें 'अरण्यपशु' कहा जाता है । अरण्यशब्द जगत्प्रकाशक नहीं है, अपि तु एकत्रही मात्र का समर्थक है । इसीलिए एकत्रही मात्र से सम्बन्ध रखने वाले उपासना प्रतिपादक वेद भाग को 'आरण्यक' कहा जाता है । उपासना 'अरतिर्नितसंसन्नि' पर ही निर्भर है । जगत् में शहर की तरह समुदाय नहीं रहता, अतएव जगत् को भी अरण्य कहा दिया जाता है । बातुन अरण्य एकत्रही मात्र का सूचक है । मृग आदि वन्य पशु समुदाय बनाकर रहते हैं, इसी समुदायरूप ग्राममात्र के कारण मृगादि को 'ग्राम्यपशु' कहा जाता है । वस्ती में समुदाय की प्रवृत्तता रहती है, अतः एव वस्ती को भी ग्राम कहा दिया जाता है । वस्तुतः ग्राम 'संघ' का वाचक है । "पशुस्तोषके नायक्यानां राण्या ग्राम्याश्च ये" (यजु स ११ अ १५ म १) में आरण्य-ग्राम्यपशु का यदि कोई "क्षेत्र में रहने वाले पशु एवं ग्राम में रहने वाले पशु" यह अर्थ करे तो विज्ञानदृष्टि से उक्त अर्थ सचपा अनर्थकोटि में गिरा जायगा । "सिद्धादि आरण्यपशु हैं, मृगादि ग्राम्यपशु हैं" यही अर्थ समीचीन होगा । बतसाना यही है कि

आग्निविस्फोट के सिरे 'प्राप' शब्द प्रयुक्त हुआ है, एवं आग्निविस्फोट के लिए 'पुर' शब्द प्रयुक्त हुआ है। महाविस्फोट ईश्वर का शरीर 'पुर' कहलाता है। पुर के सम्बन्ध से ही यह 'पुरुष' कहलाता है। एवं सुदृशरीररूप जीव का निम्न 'प्राम' कहलाता है। इसी शब्द के सम्बन्ध से इसे 'निकाय' किंवा 'काय' कहा जाता है। अनेक वस्तुओं की समष्टि 'प्राप' है, एवं अनेक प्रामों की समष्टि 'निकाय' है। मूल पांच हैं, अतएव इन मूलों की समष्टि को हम 'प्राम' कह सकते हैं। इसी प्रकार पांच देवताओं की समष्टिरूप देवप्राम भी प्राम है, आत्मप्राम भी प्राम है। शरीर में तीन प्राम हैं, अतएव इसे 'निकाय' कहा जासकता है। यही 'निकायकृन्द्' है—(देखिए शत भा ८।१।५॥)। निकाय ही वय है, वय ही शरीर है। पृथिवी मत्त-तेज-वायु-आकाश यह सुप्त सद्य पाँचों मूल ही भूतप्राम है, यही एतच्छक्ति है। इसी का विस्मर्जन कराते हुए श्रुति कहते हैं—

“आत्मकमिति कस्मात् ? पृथिव्यापस्तेमोवायुराकाशमिति । अस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे का पृथिवी ? का आप ? को वायु ? किमाकाशम् ? इति । अस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे तत्र यत् कठिनं सा पृथिवी, यद् द्रव्यं वा आपः यदुष्णं तप्तेन, यत् संचरति स वायुः, यत् सुपिरं तदाकाशम्—इत्युच्यते”

(गर्भोपनिषद्)

अग्नि-महासागि इन पाँच पृथिवी है, कफ-साँवा-स्वप्न-कृषि-रस आदि सरल बाहु पानी है, शरीर को बूने से जिस ऊष्ण (गरमी) का अनुभव होता है वह तेज है जिस प्रकाश वायु है, शरीर में जिसका शक्ति (पोष) माग है वह सब आकाश है यही तात्पर्य है। इसी आकाशमें एक दूसरे मूलों को प्रपञ्च बना रक्खा है। यदि ध्वजनाम (अन्तर) में होता तो सारे बाहु निष्कल एकत्र होजाते। यह दृष्टी है, यह मांस है, यह त्वचा है, यह भिन्न भिन्न नाम-रूप-व्यवहार मग्न होजात। इसी अभिप्राय से—‘आकाशो वै नायरूपयोर्निर्बहिता’ यह कहा जाता है। वायु-मांस-त्वचा-श्रोत्र-मन-इतरे पाँचों इन्द्रियों की समष्टि ही देवप्राम

हे । दार्शनिक ११ इन्द्रियों का इन्ही वैदिक पाँच इन्द्रियों में संकुचन है । वाक् अग्निदेवता है, प्राण वायुदेवता है, अपु अविष्य है, सोम दिक्कसोम है, मन मास्वरसोम है-देखिए ९० उ० १ स०) । इन देवताओं के सम्बन्ध से ही इन्द्रियग्राम देवग्राम कहा जाता है, इसी को सूक्ष्मशरीर कहते हैं । तीसरा है बीजग्राम । यह सब में प्रधान है, यही हमारा सुपरिचित 'शुक्र' है, इस शुक्रग्राम किंवा बीजग्राम में निष्ठा-प्रज्ञा-क्रम यह तीन तत्त्व प्रतिष्ठित रहते हैं । ज्ञानजनित भावना सत्कार विद्या है, कमजनित वासना सत्कार कर्म है, चिन्ताचार तत्त्व प्रज्ञा है । यह भावना वासना सत्कार ही जन्म का हेतु है । अतएव एतद्रूप ग्राम को बीज-शुक्र अथवा नामों से व्यक्त किया जाता है । यही जन्म स्थिति भग का कारण है अतएव शुक्ररूप इस बीजनिष्ठ को कारणशरीर कहा जाता है । इसी विद्याक्रमरूप शुक्र को जन्म का आरम्भक माना जाता है । इसी अभिप्राय से "त विद्याकर्मणी च धारमेत पूर्वमज्ञा च" (शत० १४ का० ७।२ ३।) यह कहा जाता है । शुक्रग्राम प्रज्ञाग्राम पर ही चिदश का प्रतिबिम्ब पड़ता है । दूसरे शब्दों में चिदागम (चिद् का प्रतिबिम्ब) नाम से प्रसिद्ध जीवात्मा का जन्म होता यही शुक्रग्राम प्रज्ञा (सोम) ग्राम है इसीलिए प्रज्ञाग्राम इस शुक्र को आत्मग्राम कहा जाता है । पाँच भूतों के सम्बन्ध से एक ही प्रज्ञा पाँच भागों में विभक्त हो जाती है । इस प्रकार ५ भूतमात्रा, ५ प्राणमात्रा, (इन्द्रिय), ५ प्रज्ञामात्रा - निष्ठा धीरे क्रम-इन १७ वस्तुओं की राशि से यह आत्मा नित्य युक्त रहता है, जैसा कि अभियुक्त कहते हैं ।

कम्मायमारोपरो योऽसौ मोक्षचरः स पुज्यत ।

स सप्तदशपेनापि राशिना पुज्यते च स ॥

(म० शान्तिप० मो० ३३१ अ० १६ रसो०)

वीज-देव भूत की समष्टि आत्मप्रपञ्च का कारण बनती हुई 'पदम्' नाम से प्रसिद्ध है ।

१ इस विषय का विस्तृत विवरण शतपथब्राह्मण में देखा जाये ।

२ 'यत्र आत्मा प्रपञ्चो भवति तत्र पदम्' इस विवरण के अनुसार आत्मा का प्रपञ्च (विकसित) ही 'पद' नाम से व्यक्त होना है ।

इस पद से व्यतिरिक्त एक पुनःपद और होता है इसे ही महिमा मण्डक कहा जाता है । उसमें भी बाक्—वेद—सोक वेद से तीन साहस्रिए होती हैं । बाक्साहस्री का सम्बन्ध शुक्रविति से है, वेदसाहस्री का सम्बन्ध देवविति से है, एव सोकसाहस्री का सम्बन्ध मृतविति से है । सम्प्रकाशविक्रयार्थात् शुक्रनिरुक्ति का पाठको को स्मरण होगा । वहाँ हमने बाक्—आप—आग्नि—की समष्टि को शुक्र बतसाया था—(देखिए ई० वि० म० । पृ० २४१) । इनमें बाक् का विकास स्वयं शुक्र है, आप का विकास मृतविति है, एव आग्नि का विकास देवविति है । बाक्प्रधाना शुक्रविति बाक्साहस्री की, आपप्रधाना मृतविति सोकसाहस्री की, एव आग्निप्रधाना देवविति सोकसाहस्री की जननी है । शुक्र ही बाक् भाग से शुक्र बनता है, आपभाग से मृत बनता है आग्निभाग से देवता बनता है । तीनों वित्तिए, एव एव तीनों साहस्रिए एकमात्र शुक्र का ही निरूप है । तभी तो शुक्र को भीम—करण—आरम्भक आदि नामों से व्यवहृत करना परित्याग होता है । इसप्रकार त्रिकल आत्मा, त्रिकल विति, त्रिकल साहस्री वेद से मूलविराट् का स्वरूप संपन्न होजाता है । “न वै एकेनाक्षरेण छन्दांसि विपन्ति न द्वाभ्याम्” इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार एक अक्षर अथवा दो अक्षर के कम अथवा अधिक होने पर भी छन्द का स्वरूप नहीं मिलता । यद्यपि दशाक्षर छन्द का नाम विराट् है तथापि एक अक्षर कम होने पर भी विराट् का स्वरूप अनुपपन्न रहता है । इसी तर्काक्षर मूल विराट् को निम्न विराट् कहा जाता है । “मूलार्द्धं प्रजाः प्रजायन्ते” (गृ० ३१।२०) के अनुसार तर्काक्षर मूल विराट् ही प्रजा की जननी है । सृष्टि साक्षी स्वयं अथवा मन—माय—बाक् के त्रिविधभाव से त्रिकल है । अतएव उक्त श्रमानुसार उसका सम्बन्ध भी त्रिविध (तर्काक्षर) बनजाता है । त्रिकल आत्मा है, त्रिकल पद (विष्णु) है, त्रिकल पुनःपद [महिमा] है । महिमा में विष्णु है, विष्णु के हृदय में आत्मा है, तीनों की समष्टि प्रजान्ति है ।

न्यूनविराट् प्रजापतिः (नवाक्षरविराट्)

१-१-अग्नय (मनः)

२-२-वाक् (प्राण)

३-३-वागमन्त्र (वाक्)

..... आत्मा हृदयस्थ १

४-१-धीवचिन्ति (वाक्-मन) - करणशरीरम्

५-२-मृतपिति (वाप प्राण) - तूष्णशरीरम्

६-३-देवचिन्ति (अग्नि-वाक्) - सूक्ष्मशरीरम्

... शरीरं पदम् २

७-१-वाक्साहस्री (वपदकर-मन) ६ १ ५ २ १-३ ३

८-२-सोकसाहस्री (सोक-प्राण) ४ अ धी वा

९-३-वेदसाहस्री (वेदा-वाक्) अ यजु सा अम

... महिमा पुनः पदम् ३

१-विद्या-१

२-कर्म-१

३-पूर्वप्रका-५

४-पृथिवी-१

५-जल-१

६-तेज-१

७-वायु-१

८-आकाश-१

९-वाक्-१

१०-प्राण-१

११-अप-१

१२-धोत्र-१

१३-मन-१

७-प्रज्ञामात्रा

११-भूतमात्रा

१२-प्राणमात्रा

(१७)

धीमचिन्ति
(शुक्लम्)

मृतपिति

देवचिन्ति

शरीरम्

प्रजापतिः (जीवा)

साविता-दशकेन-सप्त

१-अप्यस्य
 २-अक्षरः
 ३-आत्मघरः

आत्मा

महिमारूप पुनः पद को महिमहीयान् कहा जाता है, एवं सर्वान्तरतम सूक्ष्मतम आत्मतत्त्व के लिए 'अणोरधीयान्' कहा जाता है। महिम्सुक शरीरप्रयी कर्मप्रधान है, आत्म ज्ञानप्रधान है। ज्ञान शान्त है, निर्विकल्प है। इस ज्ञानप्रधान आत्म के लिए उपनिषदों में 'प्रकृत' शब्द प्रयुक्त हुआ है, एवं कर्मप्रधान शरीर के लिए 'कृत' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जब तक ज्ञान का (शरीर का) आश्रय है, तब तक अकृत (आत्मा) जन्यन में है। ज्ञान अज्ञान को कभी उप-ज्ञान नहीं कर सकता, जैसा कि—'नास्त्यकृतः कुलेन' इत्यादि उपनिषद्ग्रन्थों से स्पष्ट है।

उक्त तीनों विधियों में से बीजविति ही बीजसृष्टि का कारण है, एवं वही ईश्वरसृष्टि का कारण है, यह कहा जायुक्त है। इसी कारणवशात् जो बतलाने के लिए अग्निने इस का नाम कारकशरीर रक्खा है। जबतक शुद्धरूप कारणशरीर है, तब तक न जीव की मुक्ति है, एवं न (मायामोक्तदृष्ट्या) ईश्वर की मुक्ति है। दूसरे शब्दों में शुद्ध का अतिवर्तन ही मुक्ति का कारण है। विज्ञानधर्म से शुद्ध का स्वरूप देखिए। कारण ही बीज है। इसे शुद्ध, काम, कर्म इन तीन शब्दों से पुनरावृत्त आसक्तता है। क्योंकि काम-कर्म-शुद्ध तीनों की समष्टि ही बीजविति है। यह तीनों सृष्टि के साधारण अनुबन्ध हैं। दूसरे शब्दों में त्रिकल बीजविति के बिना कोई भी सृष्टिकर्म संभव नहीं है। प्रत्येक सृष्टि में तीनों निम्न अपेक्षित हैं। सृष्टिकर्म का अमम्य के सृष्टिसाक्षी मन-प्राण-बाह् माग से सम्बन्ध है। जब तक इन तीनों कलाओं का सम्बन्ध नहीं हो जाता, तबतक सृष्टि ही क्या, संसार का कोई भी कर्म नहीं होसकता। मन से काम का, प्राण से कर्म का, एवं बाह् से शुद्ध का उदय होता है। इन तीनों में सृष्टि का पश्चिमा बीज काम है, कर्म दूसरा बीज है, शुद्ध तीसरा बीज है। ईश्वर जैसा चाहता है वैसा कर्म करता है, एवं उस कर्म से किसी ही वस्तु उत्पन्न हो जाती है। "कामानन्दमेतमवर्त्ततापि मनसो रेतः

अवतार होता है। प्राकृतिक नियमसंघ ही धर्म है, धर्मविप्लव ही अवतार का कारण है। इसी अवतारविज्ञान को कथ्य में रखकर पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध अम्यपुरुष के अवतारभूत अस्त एव पुरुषोत्तम नाम से ही उपरिष्ठ, अस्तएव पूर्णावतार भगवान् कथ्य कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधमस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च बुद्धताम ।

धमसंस्थापनार्थाय सम्ममामि युगे युगे ॥ (गीता० ४।७-८) ।

अस्त इस अप्राकृत विषय को इस अधिक बढ़ावा नहीं चाहते। यहाँ हमें कर्मावधिक चेतन जीवों के विषय में कहना है। संस्कार कर्मरूप हैं, कर्म बिना कर्मणा के अस्तीभव हैं। कर्मणा से कर्म होता है, कर्मनिर्गत संस्कारपुञ्ज ही शुक्र है, यही बीज है। पूर्वसंक्षिप्तशुक्र [कर्म] का भोग होता रहता है, भागे भागे नवीन नवीन संघय होता रहता है। आसक्तिमाकना से जीव बंधन में आमाता है, अनासक्तयोगी ईश्वर 'कुमसपि न सिप्यते'। मनप्राणवाक् त्रि समष्टि अविद्याभ्यस्य है। काम क्रम-शुक्र कहो अथवा अविद्या कहो, एक ही बात है। इसी आचार पर काम-कर्म-शुक्रमुस त्रिष को अविद्यामूल कहा जाता है। अक्षर विद्या है, क्षर अविद्या है— (देखिए खे० उ० ५।१)। क्षर की प्राण कला ही यक्षुरूप में परिणत होती है, ऐसी स्थिति में अन्ततोग्रहा शुक्रतत्त्व का ब्रह्माग्निरूप यक्षुब्रह्म पर ही पर्यक्सान मामना पड़ता है। शुक्र को पूर्व के चित्रितकारण में हमने बाह्यप्रधान क्तब्रह्म्य है। यह वाक् ही अपने आकर आप-अग्निरूप में परिणत होती हुई त्रिषय बनजाती है। इसी आचार पर पूर की शुक्र निरुक्ति में शुक्र शब्द से वाक्-आप-अग्नि तीनों का ग्रहण किया है।

१-मन-कर्ममयम् (इच्छाशक्ति)-कामः (इच्छा)

२-प्राण-क्रममयः (क्रियाशक्ति)-क्रिया (तप)

३-वाक्-शुक्रमयी (वर्धशक्ति)-आक्षरम् (धम)

अविद्यात्मक शुक्रम्

१. इस विषय का विस्तृत विवेचन गीताविज्ञानमाध्य के आचार्य ब्रह्मसंकेतानन्द करिये।

सूत्र' (कर्मसूत्र) नाम से प्रसिद्ध है। अनेक प्रक्रमों से एक अमिक्रम का, अनेक अमिक्रमों से एक सूत्र का स्वरूप बनता है। यह कर्मसूत्र सत्काररूप से आत्म में प्रतिष्ठित रहता है। निवृत्तिवश से प्रारम्भ अमिक्रम कर्म को छोड़कर शेष सारा कर्मसूत्र निवृत्त हो जाता है। प्रारम्भकर्मरूप अमिक्रम कर्म की भोग से ही निवृत्ति होती है—“निशामिक्रमनाशोऽस्ति”। कहना पड़ी है कि कर्मासक्त मनुष्य कर्मसूत्र से उत्पन्न कर्मसन्तान के व्यापकोद्धाररूप धारा बस से जन्म मरण के चक्र में फँसा रहता है। ऐसे ही जीव—आन्तरिक जीव कहलाते हैं। इसका विभाग ‘आधिकारिकजीव’ का है। इनके ब्रह्मान्तरिक—नियतकर्मान्तरिक मेद से दो मेद हैं। ब्रह्मान्तरिक जीव जब हैं। सूर्य—परमेष्ठी—अग्रम—पृथिवी—मन्त्र आदि ईशोपनिषद् जन्म आधिकारिक जीव ‘ब्रह्मान्तरिक’ हैं। यह अपने अपने नियत अधिकार से अविहृत हैं। नियतकर्मान्तरिक जीव ये हैं। इन के भी निम्न—सामयिक मेद से दो विहृत हैं। ब्रह्म—विष्णु—रूप—इन्द्र—वरुण—कुबेर—अग्नि—वायु—सोम—मन्त्र आदि ये देवता (जो कि देवताविज्ञान के अनुसार—प्रात्मामिमानीदेवता नाम से प्रसिद्ध हैं) निम्न नियतकर्मान्तरिक जीव हैं। इन देवताओं के अन्तर्गत, एक राम—कृष्ण आदि अन्तर्गत सामयिक नियत कर्मान्तरिकजीव हैं। जिस उद्देश्य से अन्तर्गत होता है, उद्देश्य समाप्ति के अनन्तर अन्तर्गत पुरुष सीमासंसार बर जाते हैं इसी अमिग्राम से मारायसावतार भगवान् व्यस कहते हैं—“यावन्धिकारमवरिषतिराधिकारिकारम्” (शा० सू० ३।३।३२।)।

प्राकृतिक नियमों में मनुष्यसमान के प्रज्ञापराय से जब परिवर्तन होमें लगता है तो प्रकृति दुष्प्र हो पड़ती है। इस क्षोभ के व्यापार से उत्पन्न व्ययव विद्या का एक माग प्रवर्ग बनकर दुष्प्र वातावरण को उत्पन्न करने के लिए जीव बन जाता है। वही आधिकारिकजीव अन्तर्गत कहलाता है। प्रकृति देवसे से विभक्त है। यद्विषयक क्षोभ होता है, तत्प्रमाण ही

१ “अमिमाति व्यपदेशन्तु विशय जुगतिव्याम्, (शा० सु० ३।३।३२।)। यह विषय का विहृत विवेक उपलब्ध है।

अक्षर होता है। प्राकृतिक नियमसंघ ही धर्म है, धर्मविच्छेद ही अक्षर का कारण है। इसी अक्षरविज्ञान को सद्य में रखकर पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध अन्यमपुरुष के अक्षरभूत अक्षर पुरुषोत्तम नाम से ही उपगीत, अक्षर पूर्णाक्षर भगवान् कृष्ण कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य स्तानिर्भवति भारत !

अभ्युत्थानमधमस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्ममामि युगे युगे ॥ (गीता० १।७-८) ।

अस्तु इस अप्राकृत नियम को हम अधिक बढ़ाना नहीं चाहते। यहाँ हमें कर्माध्यात्मिक चेतन जीवों के नियम में कहना है। संस्कार कर्मरूप हैं, कर्म बिना कर्मना के अस्तमव हैं। कर्मना से कर्म होता है, तज्जन्ति संस्कारपुद्गल इति श्रुत है, यही बीच है। पूर्वसंचितशुक्र [कर्म] का भोग होता रहता है, आगे आगे महीन नवीम संघष होता रहता है। आसक्तिमायना से जीव बधन में आजाता है, अनासक्तयोगी ईश्वर 'कुवक्षपि न सिप्यते'। मनप्राणशक्त की समष्टि अधिष्ठाप्य है। काम-कर्म-शुक्र कहो अथवा अधिष्ठा कहो, एक ही बात है। इसी आधार पर काम-कर्म-शुक्रमुक्त विषय को अधिष्ठा-मूक कहा जाता है। अक्षर विधा है, क्षर अधिष्ठा है— (देखिए खे० उ० १।१)। क्षर की प्राण कक्षा ही यजुरूप में परिणत होती है, ऐसी स्थिति में अततोऽग्राह्य शुक्रत्व का ब्रह्माग्निरूप यजुब्रह्म पर ही पर्यवसान मानना पड़ता है। शुक्र की पूर के चित्तिप्रकरण में हमने बाष्पप्रधान बताया है। यह बाष्प ही आगे आकर आप-अग्निरूप में परिणत होती हुई विकसित बनजाती है। इसी आधार पर पूर की शुक्र निरुक्ति में शुक्र शब्द से बाष्प-आप-अग्नि तीनों का प्रहण किया है।

१-मन-काममयम् (इच्छाशक्ति)-काम (इच्छा)

२-प्राण-काममय (क्रियाशक्ति)-क्रिया (तप)

३-बाष्प-शुक्रमयी (धर्मशक्ति)-आवरणम् (धर्म)

} अधिष्ठात्मकं शुक्रम्

१ इस विषय का विस्तृत विवेचन गीताविज्ञानमाध्य के आचार्य पदस्य में देखा जाय।

कर्मसूत्र' (कर्मसूत्र) नाम से प्रसिद्ध है। अनेक प्रक्रमों से एक अमिक्रम का, अनेक अमिक्रमों से एक सूत्र का स्वरूप बनता है। यह कर्मसूत्र साकाररूप से आत्मा में प्रतिष्ठित रहता है। निवृत्तिक्रम से प्रारम्भ अमिक्रम कर्म को छोड़कर शेष सारा कर्मसूत्र निवृत्त होजाता है। प्रारम्भकर्मसूत्र अमिक्रम कर्म की ओर से ही निवृत्ति होती है—“निवृत्तिमिक्रमनागोऽस्ति”। कहना यही है कि कर्मसूत्र मनुष्य कर्मसूत्र से उत्पन्न कर्मस्थान के आद्योपायरूप प्राप्त करने से जन्म मरण के चक्र में फँसा रहता है। ऐसे ही जीव—आत्मस्थित जीव कहलाते हैं। इसका विभाग ‘आधिकारिकजीव’ का है। इनके ब्रह्मात्मस्थित—नियतकर्मस्थितिक्रम मेद से दो मेद हैं। ब्रह्मात्मस्थित जीव जब हैं। सूर्य—परमेष्ठी—ब्रह्मा—पृथिवी—नक्षत्र आदि ईश्वरकृत जब आधिकारिक जीव ‘ब्रह्मात्मस्थितिक्रम’ हैं। यह अपने अपने नियत अधिकार से अधिकृत हैं। नियतकर्मस्थितिक्रम जीव वेतन हैं। इन के भी निम्न—सामयिक मेद से दो भिन्न हैं। मध्य—निष्पु—रुद्र—इन्द्र—वसु—कुबेर—अग्नि—वायु—सोम—अन्तरिक्ष आदि वेतन देवता (जो कि देवताविज्ञान के अनुसार—ब्रह्मात्मस्थितिक्रम नाम से प्रसिद्ध हैं) निम्न नियतकर्मस्थितिक्रम जीव हैं। इन देवताओं के अन्तर, एव यम—कृष्ण आदि अन्तर सामयिक नियतकर्मस्थितिक्रम जीव हैं। जिस उद्देश्य से अन्तर होता है, उद्देश्य सम्पत्ति के अनन्तर अन्तर पुरुष सीतासत्य कर जाते हैं इसी अमिप्राय से नारायणकृत मगधान् स्फुट कहे हैं—“यावन्धिकारमविरिषितिराधिकारिकारणम्” (शा० सू० १। २। ३२।)।

प्राकृतिक नियमों में मनुष्यसमाज के ब्रह्मपराय से जब परिवर्तन होने लगता है तो प्रकृति दुष्प्र हो पड़ती है। इस सोम के आघात से उत्पन्नद्वय व्यापक विदात्मा का एक भाग प्रकर्म बनकर दुष्प्र व्यापक को शांत करने के लिए जीव बनजाता है। यही आधिकारिकजीव अन्तर कहलाता है। प्राकृति देवमेद से विभक्त है। मनुष्यिक सोम होता है, तदग्रधान ही

१ “अमिमाणि व्यपदेशस्तु विद्यापानुगतिभ्याम्” (शा० सु० १। २। ३२।)। इस विषय का विस्तृत विवेचन अन्तर विज्ञान में देखा जायेगा।

अवतार होता है । प्राकृतिक नियमसे ही धर्म है, धर्मविप्लव ही अवतार का कारण है । इसी अवतारविज्ञान को रुद्रय में रखकर पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध अन्ययपुरुष के अवतारमूल अस्त एव पुरुषोत्तम नाम से ही उद्गीत, अतएव पूर्णावतार मगवान् कृण्व कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य न्स्तानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमभवत् तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च बुध्नुताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ (गीता० १।७-८) ।

अस्तु इस अप्राकृत विषय को हम अधिक बढ़ाना नहीं चाहते । यहाँ हमें कर्मीअर्थिक चेतन नीतियों के विषय में कहना है । संस्कार कर्मरूप हैं, धर्म विना कर्मना के असंभव हैं । कर्मना से कर्म होता है, तज्जनित संस्कारपुत्र ही शुक्र है, यही बीज है । पूर्वसंघितशुक्र [कर्म] का भोग होता रहता है, आगे आगे महीन महीन संघय होता रहता है । आसक्तिभाक्ता से जीव बचन में आयाता है, अनासक्तयोगी ईश्वर 'कुपयपि न सिप्यते' । मनप्राणवाक् की समष्टि अविद्यामय है । काम कम—शुक्र कहो अथवा अविद्या कहो, एक ही बात है । इसी आधार पर काम—कर्म—शुक्रमूख विद्य को अविद्यामूख कहा जाता है । अक्षर विद्या है, अक्षर अविद्या है—(देखिए रवे० उ० ५।१) । अक्षर की प्राण कला ही पञ्चरूप में परिणत होती है, ऐसी स्थिति में अस्ततोष्णता शुक्रतत्त्व का प्रसादितरूप यशुर्मूख पर ही पयवसान गमना पड़ता है । शुक्र को पूर्व के चित्तिप्रकरण में हमने वाक्प्रधान बताया है । यह वाक् ही अग्रे जाकर भाष—अक्षिरूप में परिणत होती हुई निवृत्त बनवाती है । इसी आधार पर एव की शुक्र निरुक्ति में शुक्र शब्द से वाक्—भाष—अक्षि तीनों का ग्रहण किया है ।

१—मम—कर्ममयम् (इन्द्राशक्ति)—काम (इन्द्रा)

२—प्राण—कर्ममय (क्रियाशक्ति)—क्रिया (तप)

३—वाक्—शुक्रमयी (अर्थशक्ति)—आक्षरम् (धर्म)

अविद्यात्मकं शुक्रम्

१ इस विषय का अक्षर विद्वान् गाताविज्ञानप्राप्त के आधार पर इन्द्रय में इन्द्रा अक्षर ।

स्यूह' (कर्मस्यूह) नाम से प्रसिद्ध है। अनेक प्रक्रमों से एक अमिद्धम का, अनेक अमिद्धों से एक स्यूह का स्वरूप बनता है। यह कर्मस्यूह सत्काररूप से आत्म में प्रतिष्ठित रहता है। निवृत्तिक्रम से प्रारम्भ अमिद्धम कर्म को छोड़कर शेष सारा कर्मस्यूह निवृत्त हो जाता है। प्रारम्भकर्मरूप अमिद्धम कर्म की भोग से ही निवृत्ति होती है—“निहाभिकमनारोऽस्ति”। कहना यही है कि कर्मोक्त मनुष्य कर्मस्यूह से सत्य कर्मसत्त्वान के आनापोद्वापरूप धारा बल से जन्म मरण के चक्र में फँसा रहता है। ऐसे ही जीव—आन्तरिक जीव कहलाते हैं। दूसरा विभाग ‘आधिकारिकजीव’ का है। इनके ब्रह्मात्मिक—नियतकर्मात्मिक मेद से दो मेद हैं। ब्रह्मात्मिक जीव जब हैं। सूर्य—परमेष्ठी—ब्रह्मा—पृथिवी—नक्षत्र आदि ईश्वराज्ञात जब आधिकारिक जीव ‘ब्रह्मात्मिक’ हैं। यह अपने अपने नियत अधिकार से अधिकृत हैं। नियतकर्मात्मिक जीव ये हैं। इन के भी निम्न—सामयिक मेद से दो विभक्त हैं। अन्न—विष्णु—इन्द्र—इन्द्र—कुबेर—अग्नि—वायु—सोम—गन्धर्व आदि केतन देवता (जो कि देवताविज्ञान के अनुसार—मात्मानिमानीदेवता नाम से प्रसिद्ध हैं) निम्न नियतकर्मात्मिक जीव हैं। इन देवताओं के अवतार, एष राम—कृष्ण आदि अवतार सामयिक नियत-कर्मरूपितजीव हैं। जिस उद्देश्य से अवतार होता है, उद्देश्य समाप्ति के अनन्तर अवतार पुरुष सीसासक्त रह जाते हैं, इसी अमिद्धम से नारायणावतार मगधन् पृथक् कहते हैं—“यावदधिकारमविरपिधिकारसम्” (शा० सू० १।१।१२।)।

प्राकृतिक नियमों में मनुष्यसमाज के प्रजापराय से जब परिवर्तन होने लगता है तो प्रकृति घुम्प हो पड़ती है। इस घुम के आघात से तत्सम्बद्ध व्यपक किन्तव्य का एक भाग प्रवर्ग बनकर घुम्प घटावण को शांत करने के शिर जीव बन जाता है। यही आधिकारिकजीव अवतार कहलाता है। प्रकृति दबमेद से विमुक्त है। मनुष्यव्यपक घुम होता है, तत्प्रधान ही

१ 'अमिमामि व्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्, (शा सु २।१।५)। एष विवर्ग का निम्न विवेक उपरान्त वि० में देकर अर्पित है।

अन्तार होता है। प्राकृतिक नियमसंग ही कर्म है, कर्मविप्लव ही अन्तार का कारण है। इसी अन्तारविज्ञान को उदय में रखकर पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध अभ्यस्यपुरुष के अन्तारमूत अन्त एव पुरुषोत्तम नाम से ही उपगीत, अतएव पूर्णावतार भगवान् कृष्ण कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमभवत्स्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ (गीता० ४।७-८) ।

अस्तु इस अप्राकृत विषय को हम अधिक बढ़ाना नहीं चाहते। यहाँ हमें कर्मावधिक चेतन जीवों के विषय में कहना है। संस्कार कर्मरूप हैं, कर्म बिना कर्मना के असंभव हैं। कर्मणा से कर्म होता है, तन्मनित संस्कारपुत्र ही शुक है, यही बीज है। पूर्वसंचितशुक [कर्म] का भोग होता रहता है, आगे आगे महीन नहीन संभव होता रहता है। आसक्तिभ्रमना से भीत बंधन में आजाता है, अनासक्तयोगी ईश्वर 'कुसुमपि न सिप्यते'। मनप्राणबाह् की समष्टि अविद्याभ्यस्य है। काम-कम-शुक कहो अपवा अविद्या कहो, एक ही बात है। इसी आधार पर काम-कर्म-शुकमूत्र त्रिष को अविद्यामूत्र कहा जाता है। अक्षर विद्या है, क्षर अविद्या है— (वेष्टिए श्वे० उ० ३।१)। क्षर की प्राण कला ही यन्त्ररूप में परिणत होती है, ऐसी स्थिति में अन्ततोगत्वा शुद्धतत्त्व का ब्रह्माक्षिरूप यन्त्ररूप पर ही पयबसान मानना पड़ता है। शुक को पूर्व के चित्तिप्रकरण में हमसे बाह्यप्रधान बताया है। यह बाह्य ही अमी आक्षर भाप-अक्षिरूप में परिणत होती हुई निष्कल बनजाती है। इसी आधार पर पूर्व की शुक निरुक्ति में शुक शब्द से बाह्य-भाप-अक्षि तीनों का ग्रहण किया है।

१-मन-काममयम् (इष्वाशक्ति)-काम (इष्वा)

२-प्राण-कममयः (त्रिप्राशक्ति)-क्रिया (तपः)

३-बाह्य-शुकमयी (अर्धशक्ति)-आवरणम् (अमा)

अविद्यात्मक शुकम्

१. इस विषय का विस्तार विवेचन गीताविज्ञानमाध्य के आचार्य रहस्य में देखना चाहिए।

क्यूट' (कर्मस्यूत) नाम से प्रसिद्ध है। अनेक प्रक्रमों से एक अमिक्रम का, अनेक अमिक्रमों से एक स्यूत का संस्कार होता है। यह कर्मस्यूत सकारण से आत्मा में प्रतिष्ठित रहता है। निवृत्तिक्रम से प्रारम्भ अमिक्रम कर्म को छोड़कर शेष सारा कर्मस्यूत निवृत्त हो जाता है। प्रारम्भकर्मरूप अमिक्रम कर्म की मोह से ही निवृत्ति होती है—“निहामिक्रमनाशोऽस्ति”। कहना यही है कि कर्मसंज्ञा मनुष्य कर्मस्यूत से उत्पन्न कर्मसंज्ञान के व्याघ्रपोशाकरूप धारा बल से जन्म मरण के चक्र में फँसा रहता है। ऐसे ही जीव—मान्वास्थिक जीव कहा जाते हैं। इसका विभाग ‘आधिकारिकजीव’ का है। इनके ब्रह्मान्वास्थिक—नियतकर्मस्थिक मेद से दो मेद हैं। ब्रह्मास्थिक जीव एक है। सूर्य—परमेष्ठी—अग्र्य—पुष्यिनी—नक्षत्र आदि ईश्वरानुभूत एक आधिकारिक जीव ‘ब्रह्मान्वास्थिक’ है। यह अपने अपने नियत अधिकार से अधिकृत हैं। निवृत्तकर्मस्थिक जीव ये हैं। इन के भी निम्न—सामयिक मेद से दो विभक्त हैं। ब्रह्म—विष्णु—रुद्र—इन्द्र—वसु—कुबेर—अग्नि—वायु—सोम—अश्विन आदि केतन देवता (जो कि देवताविद्वान् के अनुसार—मार्गमाभिधानीदेवता नाम से प्रसिद्ध हैं) निम्न निवृत्तकर्मस्थिक जीव हैं। इन देवताओं के अन्तर्गत, एव राम—कृष्ण आदि अन्तर्गत सामयिक नियत-कर्मस्थिकजीव हैं। जिस उद्देश्य से अन्तर्गत होता है, उद्देश्य सम्पत्ति के अनन्तर अन्तर्गत पुरुष सीसासंस्कार कर जाते हैं इसी अमिप्राप से मारामणाक्षर भगवान् स्पष्ट करते हैं—“यावदधिकारमवरिपतिराधिकारिकारणम्” (शा० सू० २।१।१२।)।

प्राकृतिक नियमों में मनुष्यसमान के प्रकाशपराप से जब परिवर्तन होने लगता है तो प्रकृति प्रवृत्त हो पड़ती है। इस प्रवृत्ति के आघात से उत्पन्न ब्रह्मस्थिक विद्वत्ता का एक भाग प्रकर्म बनकर प्रवृत्त वातावरण को शांत करने के लिए जीव बन जाता है। यही आधिकारिकजीव अन्तर्गत कहा जाता है। प्रकृति देवमेद से विभक्त है। मनुष्यपक्ष प्रवृत्त होता है, तत्प्रधान ही,

१ “अमिप्रापि व्यपदेशस्तु विद्यमानुपपत्तिम्याम्” (शा सु २।१।२)। यह विषय का स्थित विवेक उपरान्त विद्य. में देखा जाये।

अन्तार होता है। प्राकृतिक नियमसंघ ही धर्म है, धर्मविप्लव ही अन्तार का कारण है। इसी अन्तारविज्ञान को सत्य में रसकर पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध अव्ययपुरुष के अन्तारमूर्त अन्त एव पुरुषोत्तम नाम से ही उपगीत, अतएव पूर्णवतार मगधान् कृष्य कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य स्तानिर्मवति मारुत !

अभ्युत्थानमपमस्य तदात्मानं सृजाम्यह ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च पुष्कताम् ।

भमसंस्थापनायाए सम्ममामि पुगे युगे ॥ (प्रिता० ४।७-८) ।

अस्तु इस अप्राकृत विषय को हम अधिक बढ़ाना नहीं चाहते। यहाँ हमें कर्माधारिक चेतन बीजों के विषय में कहना है। संस्कार कर्मरूप हैं, कर्म बिना कर्मना के असंभव हैं। कर्मना से कर्म होता है, तजानिव संस्कारपुत्र ही शुक है, यही बीज है। पूर्वसंचितशुक [कर्म] का मोह होता रहता है, आगे आगे नहीं नवीन संघष होता रहता है। आसक्तिमयना से अति भजन में आजाता है, अनासक्तयोगी ईश्वर 'कुपयपि न क्षिप्यते'। मनप्राणबाक् की समष्टि अविद्याभ्यय है। कर्म-कर्म-शुक कहो अपवा अविद्या कहो, एक ही बात है। इसी आधार पर कर्म-कर्म-शुकमूस विषय को अविद्यामूल कहा जाता है। अक्षर विद्या है, क्षर अविद्या है— (वेष्टिए रवे० उ० १।१)। क्षर की प्राण कला ही यदुरूप में परिणत होती है, ऐसी स्थिति में अन्ततोगत्वा शुकतत्त्व का प्रसामिरूप यदुमस पर ही पर्यवसान माममा पड़ता है। शुक को पूव के चित्प्रकरण में हमने बाक्प्रधान कथयया है। यह बाक् ही अग्रे जाकर भाप-अमिरूप में परिणत होती हुई त्रिकल बनजाती है। इसी आधार पर पूव की शुक निरुक्ति में शुक शब्द से बाक्-भाप-अमि तीनों का प्रहण किया है।

१-मन-काममयम् (इन्द्राशक्ति)-कामः (इन्द्रा)

२-प्राण-कममय (क्रियाशक्ति)-त्रिपा (तपः)

३-बाक्-शुकमयी (धर्मशक्ति)-आकरयम् (भमः)

} अविद्यात्मक शुकम्

१ इस विषय का निष्ठ निरुक्त गौतात्रिज्ञानमाप्य के आधार पर रहस्य में रेखा अक्षर ।

आपके सबाहु शरीर में काम है, कर्म भी है, शुक्र भी है। परन्तु हम तीनों के जब यह ही कार्यरूप में परिणत होते हैं, इच्छा—कर्म—शुक्र तीनों का निष्पन्न भाग ही उपादान बनता है। यही परिस्थिति मायावशिक्रम महेश्वर के शरीर में समस्ति। ईश्वर के किसी निष्पन्न प्रदेश में ही सृष्टिमूला कर्मना का उदय होता है, उसी प्रदेश में कर्म का उदय होता है, एवं वही शुक्र निष्पन्न का उपादान बनता है। ईश्वर का शरीर गोलाकार है, वह सर्वतः पाणिपाद, सर्वतोऽधिगिरोमुख है। जहां तक महेश्वर व्याप्त है वही तक ब्रह्मरूप शुक्र, एवं सुब्रह्मरूप रेत व्याप्त है। वह कर्मनाभों का समुद्र है। काममेघ से काम कर्ममेघ से शुक्रमेघ होता है। निष्पन्नकाम—कर्मवशिक्रम निष्पन्नशुक्र नियतनिष्पन्न का उपादान बनता है। उस में कामामेघ से अनन्त शुक्र हैं। वितर्क शुक्र हैं उतर्क ही निष्पन्न हैं। एक एक निष्पन्न का उत्पत्तिक एक एक शुक्र है। अनन्त ब्रह्माधिष्ठाता महेश्वर अक्षररूप प्रकाशित है। उसका पञ्चपञ्च एक एक निरञ्ज एक एक पञ्चपुण्ड्रित प्रकाशित करता है। व्यापक अमयी परात्पर में माया के उदय से अक्षर त्वेश्वर का उदय होता है। माया अनन्त है, अतएव मायामहेश्वर भी अनन्त है। प्रत्येक मायी महेश्वर (अक्षर) के उदर में अनन्त ब्रह्माब्ज हैं। परात्पर एक है, आगे का सात प्रपञ्च अनन्त है। पञ्चमि परात्पर भी अनन्त है परन्तु इस की अमरुतता विदेशकब्रह्मब्रह्मेश्वर से सम्बन्ध रखती है, महेश्वरवि की अनन्तता सत्त्वा से सम्बन्ध रखती है। इस प्रकार वह सर्व सिद्धि अनन्त है, सत्त्व है, ज्ञानमूर्ति है—‘सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म’। परात्पर असीम है। इसी असीममात्र को सूचित करने के लिए उसे परात्पर (ससीम पर नामक अव्यय से भी पर—असीम) नाम से व्यक्तित्व दिया जाता है। जिस प्रकार एक पट (रत्न) में ससीम अनन्त गोलाकार बिन्दुएँ प्रस्थित रहती हैं, एवमेव उस असीम परात्पर ब्रह्मतत्त्व में गोलाकार अनन्त मायी महेश्वरप्रस्थित हैं। इस नियम का निराद निवेचन ईशामय्य प्रथम खण्ड में विस्तार से दिया जा चुका है—(देखिए ई मा प्र २.१.२ से २.१.४)। प्रत्येक मायी महेश्वर अक्षरत्वमूर्ति है। अक्षरत्व उल्लेखित होता जाता है। कर्तृत्वकाल का केन्द्र प्रवि (परिधि) से ऊर्ध्व माना जाता है। उस ऊर्ध्वपुलकाल केन्द्र बिन्दु से आगे और प्रवि पर्यन्त साहस शब्दाएँ निराली

हैं। प्रत्येक शास्त्र में स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा यह पाँच पाँच पुण्डरी (पञ्च-पोर) हैं। उपक्रम में पुण्डरी स्वयम्भू है, उपसंहार में चन्द्रमा है, अतएव चाद्रमसा को 'निघ्न' (अवसानस्थानीय) कहा जाता है। यही सम भाव मायी महेश्वर के स्वरूप परिचायक हैं। यही परिस्थिति इतर महेश्वरों की समग्रणी आदि। तीसरा विवर्त मन्त्रेश्वर का है। स्वयम्भू की महिमा में समग्रिम परमेष्ठी परमेष्ठी की महिमा में समग्रिम सूर्य, सूर्य की महिमा में समग्रिम पृथिवी, एवं पृथिवी की महिमा में समग्रिम चन्द्रमा प्रतिष्ठित है। यही स्वयम्भू सतसोकापिछाता ईश्वर प्रजापति है—(देखिए वि प्र २७०)।

अब तक के सन्दर्भ से यह मसीभूति सिद्ध होजाता है कि मायी महेश्वर में सर्वत्र एकत्त्व से यजुर्वेदासि मरा हुआ है। महेश्वर का कोई भी प्रदेश इस से शून्य नहीं है। एवमेव उसी प्रदेश में सुमस्र भाप (सोम) भरा हुआ है, इससे भी कोई स्थान रिक्त नहीं है। दोनों ही मायाबन्धुदेम महेश्वर की तरह व्यापक हैं। इस व्यापक महेश्वर के घरातत्त्व पर प्रतिष्ठित व्यापक मस्र-सुमस्र के जिस प्रदेश में कामना का उदय होता है उतने प्रदेश में कर्मजनित सोम से एक नम्य सीमामात्र उत्पन्न होता है। मद्यामाया के उदर में उत्पन्न होने वाले इसी सीमामात्र को 'योगमाया' कहा जाता है। इसकी जननी अशनाया (यजुष्ठा) है। अशनाया के अधिष्ठाता विष्णु हैं, अतएव तन्मूर्तिवा योगमाया को—“योगमाया इरेष्वैषत्त सया संमोक्षते जगत्” इसादि रूपसे विष्णुमाया कहा जाता है। कामजनित सीमामन्त्रिभूत (योगमाया-विष्णु) उस निषत् प्रदेश से परित्रिभूत वह यजुर्वेद (यजुर्मस का अंश) ही सृष्टि की योनि धनता हुआ शुक्र नाम धारण करकेता है, एवं उसी सीमित प्रदेश का सुमस्र (भाप) माग रेत नाम धारण करकेता है। मद्यात्मकशुक्र में इसी सुमस्यात्मकरेत का रेतोभा मातरिमा द्वारा आधान होता है।

‘अननदेकम्’ का अर्थ करते समय हममें सुमस्र (भाप) युक्त प्रदेश को शुक्र वत्-साया या, यहाँ केवल यजुर्मस को तो शुक्र, एवं सुमस्र को रेत वत्साया जारहा है। वहाँ शुक्र-रेतरूप मस में सुमस्र की समष्टि को शुक्र वत्साने का कारण यह था कि साधारण मनुष्य शुक्र

यो ही उत्पत्ति का कारण समझते हैं। इन की दृष्टि में शुक्र शब्द का अर्थ उत्पादनमयत्व है, एवं यह दृष्टि किसी सीमा तक ठीक भी कही जासकती है। उत्पादन न केवल प्रस है न केवल सुप्त। अपि तु दोनों की समष्टि उत्पादन है। इसी साधारण दृष्टि का साम्य परते हुए, शुक्र का उत्पादन अर्थ मानते हुए हमने दोनों के समुच्चय को वहाँ शुक्रशब्द से व्यञ्जित कर दिया था। वस्तुतः विज्ञानरूपी शुक्र केवल ब्रह्माणि का वाचक है, एवं रेत केवल सुप्त का वाचक है। इस रेत का व्यापन हुआ, इससे सयम्भू का स्वरूप निगम हुआ। यही शुक्रका सृष्टि का परिणाम रूप है। यह योग्यावावन्धुन पुण्डीर सयम्भू है, 'अनेनदेक्षम्०' वासा व्याप्त्यवर्धन्म, मक्षर के रूप से समुत्पित व्यापक सयम्भू वा। यह एक है, पुण्डीर सयम्भू अमन्त (सहज) है। इस योग्यावावन्धुन सलीम पुण्डीर सयम्भू से ही परमेष्ठी का उदय होता है। यही शुक्रका सृष्टि का दूसरा रूप है। अमन्त सयम्भू में पचि व्याप भी है, परन्तु वहाँ प्रचलता प्राण की ही है। प्राण असागत्य है, असाग्राह्य मैतुनीसृष्टि का कारण यही बनता। एही परिदृष्टि में प्राणमय सयम्भू को भी कार्त्तिक उत्पादन नहीं माना जासकता। सृष्टि का वास्तविक उत्पादन तो संसर्गमय व्यापेय परमेष्ठी ही है। अतएव शुक्र (उत्पादन कारण शुक्र) शब्द का पर्यवसान परमेष्ठी पर ही मानना पड़ता है। यही इस शुक्र-मूर्ति परमेष्ठी की महत्ता है। इसे 'महान्' कहा जाता है। यदि सृष्टि यों की महत्ता का विचार किया जाता है तो सामान्य दृष्टि से अमन्त सयम्भू को ही सब यों की अपेक्षा महान् (सबसे बड़ा) मानना सुविश्रुत होता है। परन्तु वैज्ञानिकों ने अमन्त को व्यान् न कहकर परमेष्ठी को महान् कहा है। सचमुच परमेष्ठी ही सब यों की अपेक्षा महान् है। प्राणमूर्ति सयम्भू प्रजापति प्राण की सर्वता—महत्ता इसी मात्रात्म परमेष्ठी पर निर्भर है। पर मेष्ठी के दृष्ट्युपास से ही पुण्डीर सयम्भू का स्वरूप निगम होता है। पहिले व्यापक सर्व बनता है, अनन्तर प्राण को सर्वता का अन्तर मिलता है। पानी ही प्राण की प्रतीक है—'प्रापोमयः प्राणः'। अमन्तसमय में जबतक शरीर में व्याप्त्य प्रसिद्धि रहता है, तभी तक प्राण समरूप से प्रसिद्धि रहता है, जैसा कि—'पारद्मं प्राणोन्वापो मवन्ति तावदावा,

वदति" (शत० ५।३।५।१६।) इत्यादि श्रुतवचन से स्पष्ट है । प्राणपेक्षया पानी की यही महत्ता है । पानी के गम में प्राण प्रस्थित रहता है, पहिले "आपो वा इदं सर्वम्" है, अनन्तर 'आसौ वा इदं सर्वम्' है, -(देखिए ई० वि० मा० पृ० १५)। मातरिणा वायु के लक्षण से ही अम्यक्त स्वयम्भू का उदय हुआ है । यह मातरिणा वायु-आप का ही एक भरा है । इसलिए भी प्राणमय स्वयम्भू की अपेक्षा आपोऽय परमेष्ठी को महान् कहा जासकता है । वैयर्थिक विषय का उत्पादन भी यही है, इसलिए विश्वपेक्षया भी यही महान् है । अम्यक्त अमूर्त था, यह मूर्त है (मूर्तिरव रयि - प्रश्नो. १) । सारी मूर्तिए, इतरे शम्भों में मूर्त जगत् इसी शक्तिमान परमेष्ठी के गम में उत्पन्न हुआ है । आप कहेंगे मायी महेश्वर सब की अपेक्षा महान् है ऐसी अवस्थामें विश्वसीमा में महेश्वर को छोड़कर परमेष्ठी आदि को कैसे महान् कहा जा सकता है ! हम कहेंगे आप मूर्तते हैं । केवल माया से ही महेश्वर (अम्यक्त) का विकास नहीं होता, सृष्टिवाता में आते समय उसे भी इसी का आश्रय लेना पड़ता है । आत्मपुरुष इसी में गर्भधारण करता है, इसी से आगे की मूर्तिसृष्टि होती है । आप के आप-वायु-सोम यह तीन विषय हैं । चेतना आत्मन के यही तीन द्वार हैं । अतएव विरज में आप्य-मायव्य-सौम्य तीन ही प्रकार की जीवसृष्टि उपसम्भ होती है । इस जीवसृष्टि का अधिष्ठाता भी आपोमय पर मेष्ठी ही है । इसप्रकार ईश्वर-जीव-विषय सब कुछ इसी के आश्रित हैं- 'सवमापोमय जगत्' । परमेष्ठी के इसी महत्त्व को सपन में रखकर श्रुतियों ने इसे 'महानात्मा' नाम से व्यक्त किया है । इसी महद्गुण की महत्ता का निरूपण करती हुई सृष्टि कहती है—

मम पोनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।

संभवः सर्वभूतानां ततो भवति मारुत ॥

सर्वपोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महपोनिरहं बीजवद् पिता ॥ (गीता १४।१-४) ।

पञ्चपञ्च विषय के अमृत-मृत्यु में से दो विभाग हैं । सूर्य से ऊपर का प्रपञ्च अमृत विभाग है, सूर्य से नीचे का प्रपञ्च मृत्यु विभाग है । अक्षररूप स्वयं अमृतरूप है । इस का विकास सूर्य पञ्चत रहता है । दूसरे शब्दों में अक्षर का प्रधानता सूर्य तक (सूर्य के अमृतप्राप्ति नामक प्राणाति तक) है । सूर्यपिण्ड से आरम्भ कर नीचे के सारे मध्य विरल में क्षर का साक्षात्प है । क्षर को 'प्रक्ष' कहा जाता है । यह प्रक्षर अनेकधा विभक्त है विविध भावों से आक्रान्त है । इस बहुरूप क्षररूप पर एक अक्षर प्रतिष्ठित है । विशुद्ध अक्षर नहीं, अपि तु महद्ब्रह्म युक्त अक्षर । क्योंकि क्षरस्थिति का उपादान शुक्लरूप परमेष्ठी नामक महद्ब्रह्म ही है । यह रूप से ऊपर रहता हुआ अमृत प्रधान बनकर अप्रुताक्षर कोटि में प्रसिद्ध मान लिया जाता है । इस विभाग के अनुसार पोङ्गीपुरुष, अम्यक्त (सपम्) महान् (परमेष्ठी) इन तीन का एक सत्तत्त्व अमृत विभाग होता है । एक सूर्यपिण्ड चन्द्रपिण्ड-सूर्यपिण्ड इन तीन का एक सत्तत्त्व मध्य विभाग होता है । । इस प्रकार एक ही शुक्ल ठग अमृत मृत्यु में से दो भागों में विभक्त होता है, जैसा कि पूर्व की शुक्लनिरुक्ति में बताया जा चुका है । इसी रहस्य को रहस्य में रखकर—“मृतं भविष्यन् प्रतीमि बहुमर्त्यमक्षरं, महाप्रमर्त्यमक्षरम्” यह कहा जाता है ।

१—पोङ्गीपुरुष	}	अमृतम्—१	}	प्रजापति		
२—अम्यक्त सपम्						
३—परमेष्ठी महान्						
—०—	}	मध्यम्—२				
१—सूर्यपिण्डम्						
२—चन्द्रपिण्डम्						
३—सूर्यपिण्डम्						

हमारा 'स पयगात्' मन्त्र शुक्लरूप इसी महद्ब्रह्म का निरूपण करता है । शुक्लार्णव का प्रतिबिम्ब है, यह पूर्व के शुक्लनिरूपण से विरहित हुआ होगा । इस की यह जटिलता यही

समाप्त नहीं होमाती । अभी इस संबन्ध में और भी कुछ बक्तव्य है । यजुर्वेद शुक्ल है, यह पहिला पक्ष है । कर्म-कर्म-शुक्लरूप अविद्यावत् शुक्ल है, यह दूसरा पक्ष है । प्रथम-सुषुप्ति की समष्टिरूप महद्ब्रह्म शुक्ल है, यह तीसरा पक्ष है । बाक् आप अग्नि-अग्नि-आप-वाक् मन्त्र से शुक्ल है, यह चौथा पक्ष है । अपेक्षा भेद से चारों भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं, परन्तु परमार्थतः सब अविचार्यक हैं । पूर्वे की शुक्लनिरुक्ति में हमने चौथे पक्ष को ही प्रधानता दी है, एम इस प्रकरण में शेष तीनों पक्षों को प्रधान माना गया है । अब इन चारों का समन्वय कर इस अविचार्यक को समाप्त करना है ।

सब का मूल विद्या-कर्ममय अभ्ययपुरुष है, यह निर्विवाद है । आनन्द-विज्ञान-मन का सुसुषुप्त विद्याभाग है, यही अमृत है । मन प्राण-वाक् का समन्वितरूप कर्मभाग है, यही अविद्या है, यही मृत्यु है । दोनों की समष्टि विद्य है । विद्य का मूल शुक्ल (उपादान) विद्याकर्म ही है, यही अविद्यारूप पहिला शुक्ल है । परन्तु कैसा विद्याकर्म ! निरुद्ध नहीं, अपितु वेदरूपवत्-बहिष्कृत विद्याकर्म । पक्ष रूप मृत्यु, जू रूप अपृथ ही (यजुर्वेद) ही संसार का शुक्ल है । यह शुक्ल पूर्वकथनानुसार मन प्राण-वाक्मय सृष्टिवाही अभ्यय क वाक् भाग का ही विकार है । अभ्ययवाक् ही वेदरूप में परिणत होती है । गूढावस्थापक्ष वाक् वाक् है, वसावस्थापक्ष वाक् वेद है, अतएव अभ्ययवाक्मय में इस वेद को 'ग्रह्यनिःश्रवित' कहा है । निष्कण यही इच्छा कि अभ्ययवाक् का विकाररूप, अतएव वाक् नाम से प्रसिद्ध अपृथ-शुक्लरूप स्वयम्भुव मन्त्र निःश्रित वेद ही (जिसे कि इस शुक्लप्रकरण में 'भास्करशुक्ल' कहा गया है) प्रथमत्र एक प्रतिष्ठा रूप शुक्ल है । यही इस की दूसरी अवस्था है । इसी पर प्रतिष्ठित होकर तप्त (सूर) एक अपर सृष्टि के अविद्याता बनने में समर्थ होते हैं, जिससे कि मुण्डकोपनिषद् के- 'प्रमां त्रेधा ना प्रथमः सम्बभूव इत्यादि मन्त्रमाध्य में शब्द क्रिय गया है । यन्त्रवाक् वाक् पहिला शुक्ल है । "एकाकी न रमते ननु द्वितीयमप्यहं, पतिष्य पत्नीय" के अनुसार वाक् का (पक्ष का) ही पुत्र भाग पानी बन जाता है । यही आप (जिस में कि आप-वायु आदि पदार्थ

है) ध्वनी है। यह रूप या, यह श्रुत है। इन दोनों की समष्टि ही शुक्र की तीसरी अवस्था है। 'तव स्रग्वा तद्वैवानुमाविशत' के अनुसार ४८ नि वेद अपूर्ण को उत्पन्न कर इस के भीतर प्रविष्ट हो जाता है। इसी से पुराहीरस्वयम्बू का जन्म होता है। चारों ओर आपोमय पहलू में व्याप्त है, बीच में वेदवक्त्री प्रविष्ट है। भाग में जो अक्षिरामाग है उस की अग्नि-वायु आदित्य यह तीन अवस्थाएं कतघाई गई हैं। यह अक्षिरामकी आगेवाकर "गायत्रीमात्रिकेयद" रूप में परिणत होती है। अक्षिरामि ग्रामप्र नाम से प्रसिद्ध है, अतएव तद्रूप वेद को 'गायत्रीमा०' कहना स्वाभाविक है। सृष्टि यन्त्रणा है। यह भी प्रथम विकास भूमि आप शुक्र है। अपने ही अक्षिरा माग से यह आपञ्च उक्त वेदरूप से प्रादुर्भूत होता है। अक्षिरामकी अग्नि है, अक्षुरपी स्त्रोम है। दोनों का सम्मिश्रित रूप यह है—'बुधाह पद्मसिद्धिर्धर्मयन्त्रु' साप मन्त्रायम्"। यही यन्त्रायक बीपा शुक्र है।

प्रकाशान्तर से देखिए। सायम्बुबी बाक् पहिला शुक्र है, परमेष्ठ आप इसरा शुक्र है, सौर अग्नि तीसरा शुक्र है। तीनों ही अमृत पृथु मेद से दो दो मार्गों में विभक्त होते हुए पञ्चशुक्र संपत्ति के सम्पादक बन जाते हैं। उत्तर उत्तर की सृष्टि में पूर्व पूर्व के शुक्र अनुस्यूत रहते हैं। ऐसी अवस्था में सर्वत्र सब शुक्रों की सूक्ष्मावस्था मानमें पर भी विकास क्रमिक ही माना जा-सक। सयम्बु केवल बाक्मय है। परमेष्ठी सयम्बु के उदर में है, इसलिये यह सस्ररूप से से आपोमय कन्ध्र हुआ बाक् के अगमन से बाक्मय भी है। सूत्र में अपूर्णमि—मर्याप्ति के साथ साथ बाक्—प्राप्त का भी सम्बन्ध है, क्योंकि सूत्र परमेष्ठी के गर्भ है। इष्टि क्रमनुसार पृथिवी और सूर्य के गर्भ में प्रविष्टित अन्तरिक्षस्थानीय अमृता में पांच शुक्र हैं। एवं इष्टि क्रमनुसार (साथ ही में हम पापिक प्राणियों की अपेक्षा से स्थिति क्रमानुसार भी) सबसे अन्त में मानी जाने वाली पृथिवी में ६ ओं शुक्रों का योग हो रहा है, विसा कि भागे के परिलेखों से स्पष्ट होता है।

१-स्वयम्भू -वाङ्मय ।-वाक् १

२-परमेष्ठी -^(१)वाङ्मय, ^(२)आपोमय ।-आप २

३-अमृतसूर्य -^(१)वाङ्मय, ^(२)आपोमय, ^(३)अमृतामिमय -अग्नि ३

४-मर्त्यसूर्य -^(१)वाङ्मय, ^(२)आपोमय, ^(३)अमृतामिमय, ^(४)मर्त्यामिमय, -अग्नि ४

५-चन्द्रमा -^(१)वाङ्मय, ^(२)आपोमय, ^(३)अमृतामिमय, ^(४)मर्त्यामिमय, ^(५)मर्त्यापोमय -आप ५

६-पृथिवी -^(१)वाङ्मयी, ^(२)आपोमयी, ^(३)अमृतामिमयी, ^(४)मर्त्यामिमयी, ^(५)मर्त्यापोमयी,

मर्त्यवाङ्मयी-वाक् ६

शुक्र में आप का भाग है, अन्तर्गमित अग्नि का भाग है, समष्टि महद्ब्रह्म है । महद्ब्रह्म में सम्पन्न स्वयम्भू प्रतिष्ठा रूप से प्रतिष्ठित है । मातरिषा वायु इस शुक्र के चारों ओर व्याप्त है । अभी सृष्टि निष्पाद नहीं हुआ है । केवल मातरिषा द्वारा सृष्टि के बीजभूत महद्ब्रह्म रूप शुक्र का आविर्भाव हुआ है । यही भाग विषय बनने का है । इसका ओपनिषद् मन्त्र इसी विस्तृत शुक्र का निरूपण करता है । मन्त्राथ सम्बन्धी उपकरणों का निरूपण समाप्त हुआ । अब मन्त्राथ की ओर विह्वल पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

मन्त्रार्थप्रकरण



य शुक्र में भी समष्टिरूप उस शुक्र की (सर्वव्यापक आविर्भावमूल रूप शुक्र की) मातरिषा वायु ने चारों ओर से घेर लिया । इस परिच्छेद से ही यह शुक्र (जिसे कि मार्ग १ वायु रूप, अतएव आपोमय महद्ब्रह्म के अंग भूत होने से इस 'महद्ब्रह्म' नाम से व्यवहृत करेंगे) सृष्टि का कारण बनता है । शुक्र एक विशालीय पद, वह शुक्र एक सञ्जातीय भाग के

समिधश्च से ही शुक सृष्टि का कारण बनता है। वायु इसी भर्मा के ससर्ग से शुक में कापत्व, वणत्व, स्नाविरत्व अगुदस्त्व, पाप्मविद्धस्त्व आदि भावों का उदय होता है। सजातीय पदार्थों का सञ्चय कापमात्र है, निजातीय पदार्थों का योग होना ही वणत्व है, इन भर्मा का सम्बन्ध करने वाला सूत्र स्नापु है। इन तीनों भावों से बह करने शुद्धरूप से मिश्रणरूप में व्याप्त हुआ पाप्मविद्ध बन जाता है। जबतक शुक में उक्त भावों का उदय नहीं होता, तबतक वह सृष्टिमयान से बाहर की वस्तु है। अप्रवणमरणा में व्याप्त शुक के उक्त चारों भर्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं। पार्थिव-धान्तरिक्ष-सौरतीनों सजातीय अग्निों की (शुक अग्निरूप है, इसलिये अग्नि सजातीय है) इसी शुक पर चिनि हो रही है। यह अग्निचिनि ही 'साम' (सगीर) है। वायु की मृसमिति शुक ही है। शुक ही आशान के मत पर गमरूप में परिणत होकर क्रमशः बुद्धिगत होकर शरीररूप में परिणत होता है। इस निर इन शुक को 'मध्य' कहने के लिये तत्पार है। निजातीय सोप का भी इस अग्निरूप शुक के साथ सम्बन्ध हो रहा है। सोम सम्बन्ध से ही तो योनि में ब्राह्मण शुक 'सुत' रूप में परिणत होता है। सोम से ही पुत्र 'सुत' कहलाता है। यह निजातीयमान ही शुक का वणत्व है। सोम स्नेह तत्त्व है। स्नेहन द्रव्य में दूसरे के साथ चिक्चने का सामाजिक धर्म है। जो मूल पर कम करता है (सोम में प्रतिष्ठित) वही मूल विज्ञानमयान में 'अद्वैत' नाम से प्रसिद्ध है। इसी तदनमात्र का कारण आग्य की 'तनय' 'सन्तान' आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है। इसी मूल के आधार पर पृथ्व्याणी के शुक्ररूप पशुनामा के साथ आने पुत्र-पौत्रों के साथ अनिष्ट सम्बन्ध रहता है। इसी के द्वारा पुत्र पित्रोदरूप विनर को विगद्वान हाता मृत किया जाता है। मायिगद्वय मायनीरूप 'संनिगद्वता तु पुरुष सज्जमे चिनि वनम' के अनुसार आने आस पर पर पर मृत्युवाच मित्र नम होना ही है। इसी तदनमात्र के सम्बन्ध में यह शुक आगुदक बनता हुआ 'स्नादिर' कहलाते पाए जाते हैं। बोधी है

१. इस निर का अग्निरूप अग्निरूप अग्निरूप के 'अद्वैत' नामाशयानिषद् ॥८॥ के द्वारा है।

सत्काररूपा अविद्या । इसी को 'पूर्वपद्मा' भी कह सकते हैं । इससे यह शुक्र निद्र रहता है । अविद्या पाप्मा (मम) है । इस अविद्यारूप पाप्मा से निद्र होकर ही यह शुक्र प्रमोदोत्पत्ति का कारण बना है । अन्त ककामना पूर्वक काम किया जाता है, तब तक यह वासनारूप अविद्यासत्कार से युक्त रहता है, एव तभीतक प्राणी शुक्र के चक्र से निमुक्त नहीं होता । अपि कहते हैं कि यद्यपि शुक्र काय्यादि धर्मों से युक्त है, शुक्र का शुक्रपना काय्यादि भाग्यनुक धर्मों से ही परिताप होता है तथापि इसकी जो मौखिक-प्रारम्भिक प्रातिद्विक अवस्था है, वह काय्यादि चारों धर्मों से रहित है । निद्र समय सृष्टिकामुक प्रजापति की (सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति की) कामना से उस शुद्ध शुक्र को मातरिषा चारों ओर से घेरता है, उस समय वह अपने शुद्धरूप में है । अभी न उसमें सजातीय समूह है, न विजातीयभाव का सम्बन्ध है, न सूत्र-म्यव का उदय है, न अविद्यारूप पाप्मा का ही क्षेत्र है । यद्यपि मातरिषा की कृपा से आगे जाकर ही वह उक्त चारों सजातीय-विजातीय धर्मों से अन्वय ही युक्त होने वाला है, परन्तु आरम्भदशा में तो वह सर्वथा अक्राय-अत्रय-अस्नापिर-अपापविष्ट-अतएव सर्वथा शुद्ध ही है । मातरिषा के सम्बन्ध से काय्यादि धर्मों से क्यों युक्त हो जाता है ? इसका उत्तर मातरिषा से पृष्टि । मातरिषा कृत्रि है, परिमू है, स्त्रयन्मू है । मातरिषा वायु को हमन मार्गव (पयु) वायु कहा है । मयु कर्मि है, अतएव मार्गव मातरिरय को कर्मि कहा गया है । जन्ममरण धर्म से आक्रान्त निमिवभावमय निद्र इसी मातरिषा का काव्य (कृति) है । यदि रेतोषा मातरिषा ब्रह्म में (योनि में) आप (रेत) का आधान न करता तो निरवका निर्मय असमय पा । कर्मि मातरिरय के द्वारा होने वाले रेत के आधान से ही मय निरव की उत्पत्ति हुई है । कल तक ओ मनुष्य इसता खेतता पा, वह आन मरण । अब त्रैलोक्य में उस स्वरूप का पता नहीं है । यही उस कर्मि का महाकाव्य है । बड़ी सत्वर कास में उत्पत्ति का अभिप्राय बनता है, प्रसि सत्वरकास में बड़ी विनाश का अभिप्राय बन जाता है । मातरिषा कर्मि के इसी काव्य का निरूपण करते हुए महर्षि कहते हैं—

विष्णु द्वायं समने बहनां युषानं सन्तं पसितो जगार ।

दधस्य परमं कृत्वा गहिस्वापा भयार स द्वाः समानः ॥

(अक्षरं ० १० । १५ । १ ।) ।

श्रुत्युक्त स्नेहधर्मी है । स्नेह ही संसृष्टिचक्षणा सृष्टि का कारण है । यह स्नेहधर्म ही मार्गमातरिचा कवि की कवित्वशक्ति है । इसी स्नेहधर्म से चित्तिभाव का उदय होता है । चित्तिसमष्टि ही 'कल्प' है । शुक का चित्तिसमष्टि कायरूप में परिणत होना, मातरिचा की कवित्वशक्ति (स्नेहगुण) की ही महिमा है । 'एकोऽहं बहु स्याम्' यह कल्पना ही त्रिवातीय-ध्वज के आगमन का कारण है । इस कल्पना का उदय मन से होता है । मन की कल्पना ही 'मनीषा' है । मनीषामात्र से त्रिवातीय परिग्रहों का संग्रह होता है । त्रिवातीय परिग्रह ही 'ग्रह' है । मार्ग मातरिचा यद्यपि व्ययरूप होमे से सब क्रियाप्रधान है, परन्तु क्रिया बिना मन की कल्पना के सम्भव नहीं है । सुतरां मातरिचा में सम्भव मन का अनुग्रह सिद्ध हो जाता है । इसी से यह 'मनीषी' बना हुआ है । यह मनीषीमात्र ही कल्पनाओं का प्रवक्तृ बनता हुआ, त्रिवातीयध्वजों के आगमन का द्वार बनता हुआ शुक के अग्रभाष का कारण बनता है । अविष-मातरिचा का साधु ज्ञान एक ज्ञानमयी हस्ति है । बड़े नियम से सृष्टिपथों का निर्माण हुआ है । सृष्टि मनमयी नहीं है । अपि तु जैसे एक बुद्धिमान शिक्षी बुद्धिपूर्वक मूर्तियों का निर्माण करता है, एवमेव यह भी सम्भव मन से शुक बनता हुआ बुद्धिपूर्वक ही मूर्तिरूप (मूर्तरूप) विष का निर्माण करता है । जहाँ मातरिचा कवि (सृष्टिकर्ता) है, वहाँ यह बुद्धिमान् भी है । 'बाधुर्न गौतमस्तदसूत्रम्' (शतः १४ । ६ । ७ । ९ के अनुसार मातरिचा सूत्रभाष का भी प्रवक्तृ है । इसी सूत्रसम्बन्ध से यह उस शुक के चारों ओर व्याप्त होता हुआ शुक में सूत्रभाष के उदय का कारण बनता है । सूत्रसम्बन्ध से यह चारों ओर व्याप्त होता हुआ 'परिम्' (परि-चारों ओर-मू-व्याप्त रहनेवाला) है । इस का यह परिम्भाष ही शुक के स्तम्भित्व का कारण है । व्यापक वस्तु में केन्द्र नहीं होता, बिना केन्द्र कायम

मन का उदय नहीं होता, बिना कर्ममय मन के अशनाया का उदय नहीं होता, बिना अशनाया के नियम का अस्मात्न नहीं होता, बिना नियम के लेप नहीं होता । लेप का कारण अशनाया है । अतएव अशनाया (मूल) को 'पाप्मा' कहा जाता है , जैसा कि श्रुति कहती है—

“नैवेदं किञ्चनाग्र आसीत्-मृत्युर्नैवेदमाद्यतपासीत्-अशनायया ।

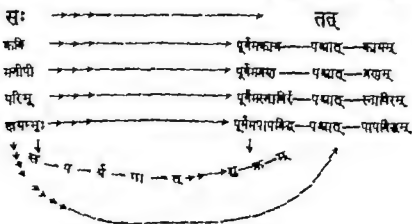
अशनाया हि मृत्युः । तन्मनोऽकुरुत्-आत्मन्वी स्यात्” इति

(सत० १० । ६ । ५ । १ । १)

इस अशनाया का प्रथम मन है । मन की प्रतिष्ठा हृदय है । हृदय सीमामात्र पर निर्भर है । यह सीमामात्र मातरिरवा पर निर्भर है । मातरिरवा ही उस शुरु को स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध प्रथम पुण्डरीकरूप में परिखत करता है । इसी सीमा से स्वयम्भू 'दृष्टीमा' (ग्रेष्ठाकर) बनता है—देखिए मनु० १ अ० । ५ ख०) “स एष पापुः प्रमापतिः (पातरिन्वाप्त्यो बराह प्रमापतिः) अस्मिन्मैष्टुमेऽन्तरिक्षे समस्त पर्यक्तः” (सत० १ । ३ । ४ । १ । २ । १) के अनुसार यह मातरिरवा ही मापासीमातक प्याप्त शुरु के एक प्रदेश को चारों ओर से घेर कर इसे पुण्डरीक-स्वयम्भूरूप में परिखत करता है, जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है । यही स्वयम्भूमात्र सीमामात्र से सकेन्द्र, अतएव समस्तक बनता हुआ अशनायाका रूप पाप्मा के उदय का कारण बनता है । एव इस स्वयम्भूमात्र के उदय का कारण मातरिरवा है, अतः ब्राह्मणधन्याय से हम इसे भी स्वयम्भू शब्द से व्यक्त कर सकते हैं । इस प्रकार अपने कर्मि-मनीषी-परिभू स्वयम्भू इन चार स्वरूपधर्मों से युक्त यह मातरिरवा, प्रथमावस्थापन्न अतएव अक्षय-अग्रण अस्ताविर-अपापविद्ध, अतएव विशुद्ध शुरु को क्रमशः काय-अश-स्ताविर-पापविद्ध बना डालता है । कर्मिधर्म काय का, मनीषीधर्म अश का, परिभूधर्म स्ताविरका, एवं स्वयम्भूमात्र पाप्मा का प्रवर्धक है । अतुर्धर्मार्थि मातरिरवा शुरु को उक्त चारों धर्मों से युक्त करने के परचात् ही, दूसरे शब्दों में अशनाया से युक्त शुरु से ही यह वैकल्पिक विरचनीय में समर्थ होता है ।

सृष्टि एक प्रकार का व्यापार है, व्यापार क्रिया है। अव्यक्त शुद्ध विरक्त का उत्पादन बनता हुआ भी यह है, क्रियाशून्य है। क्रिया सदागति मत्तरिका वायु का ही धर्म है। मत्तरिका 'यायातप्यतो' इत्यादि रूप से धुत्तिने मत्तरिका को ही सृष्टिकृता बताया है। मत्तरिका वायु ही ध्वने स्नेहरूप कविमन्त्र से शुद्ध रूप धर्म को कार्यरूप में परिणत करता हुआ, मन से ज्ञानयुक्त बनकर कामना का अधिष्ठाता बनता हुआ, शुद्ध को अणुरूप में परिणत करता हुआ, परिमृणा से शुद्ध को स्नायुरूप में परिणत करता हुआ, स्वप्नमृणा से व्यक्ततावा द्वारा शुद्ध को पापविन्द बनाता हुआ उक्त कथ्य 'अप्पमूर्ति शुद्ध से सदा के स्थिर धर्मों का (निष्पदाधर्मों का) यथापूर्व निर्मल कर रहा है— 'यायातप्यतोऽप्यन्ति व्यदपाच्छाग्वतीभ्याः समाम्प' "

सृष्टिकर्ता मत्तरिका → सृष्ट्युपादानधर्म्य → शुद्धम्



जैसा (पद्म) व्याप व्याप देख रहे हैं, सृष्टि के प्रारम्भ में मत्तरिका ने जैसा (पद्म) ही बनाया था, एवं 'पद्मापूर्वकल्पयत्' इस सिद्धान्त के अनुसार सदा के स्थिते (शाश्वतीभ्य-समाम्प) वह ऐसा ही बनाता रहेगा। उस मनीषी मत्तरिका की निर्मल पद्धति सदा के स्थित निष्पदाधर्मों का निर्माण है। अग्नि का ऊर्ध्वगमन, पानी का अधोगमन, वायु का तिर्यग्गमन, नृसिंह का

क्रान्तिपृष्ठ पर नियत परिभ्रमण, आदि आदि पदार्थों के जो नियत मात्र पश्चिमे ये वे ही जाते हैं, एवं मन्त्रिय में भी ऐसे ही रहेंगे। जिस परिस्थिति के लिए शोकम्यवहार में—“बहु क्रम तो सातों सात ऐसा ही होता रहता है—सदा एकसार होता रहता है” यह कहा जाता है, ठीक इसी व्यवहार को सूचित करने के लिए ‘यायावत्प्यतो०’ इसादि कहा गया है। इस सृष्टिप्रक्रिया का प्रकाश कर रहे हैं। भुक्ति को सृष्टिप्रक्रिया का स्वरूप बतसाना है। इसीलिए स्युस्तान्धवि ग्याप से ‘तथा यथा’ यह क्रम न रखकर ‘यथा तथा’ यह क्रम रखा गया है। भुक्ति कहती है कि जैसा तुम जान देख रहे हो, सदा के लिए मात्रिमानों जैसा ही बनाया है, वर्तमान में जैसा ही बना रहा है, एवं मन्त्रिय में जैसा ही बनाता रहेगा। वर्तमान परिस्थिति तुम्हारे सामने है, इसी से तुम भूत—मन्त्रिय—द्विपति का अनुमान लग सकते हो।^१

मातरिभान्धिसुक्तं शुक्रं अविदेवत में ‘परमेष्ठी’ कहा जाता है, अग्न्यात्म में यही ‘महानात्मा’ नाम से प्रसिद्ध है। इसमें प्रकृतिरूप सब प्रकाश की अप्रकृता की प्रधानता है। अद्यत्स के सम्बन्ध से ही हमने इसे प्रकृत्य विभाग में ‘प्रकाशस्याक्षर महान्’ नाम से व्यक्त किया है। अग्नि के दशपूर्णमास से इस महान् में प्रकृतिमान का उदय होता है, बाद दशपूर्ण से प्रकृतिमान का, और दशपूर्णमास से अविदेवमान का उदय होता है। पारिवर्माण महत् के तमोगुण का प्रकर्षक है, औरमाण तमोगुण का प्रकर्षक है, एवं सायम्बुनमाण सत्त्वगुण का प्रकर्षक है। ज्ञानप्रधान साम्भू मया सत्त्वमूर्ति है, क्रियाप्रधान^१ औरविष्णु रजोमूर्ति है, अर्थप्रधान पारिवर्भू तमोगुण सत्त्वमूर्ति है। इस त्रिमूर्ति के सम्बन्ध से मयद्भूत त्रैगुण्य से युक्त होता है, जैसा कि ‘उपनिषद्निज्ञानभाष्यभूमिका’ के ‘क्या उपनिषद् वेद है’

१ यही महत् ४४० वेदवेदा का प्रकर्षक है। यही ज्ञान का एकमात्र अन्ततम अविदेवरी है। अग्नि इस विषय में बहुत कुछ बतलाता है। परन्तु सिद्धार्थमें से अग्नि को ज्ञानी है। ज्ञान की उपनिषदों में, ‘अग्निवेद’ आजाविज्ञान में इस विषय का विचार विवेकम हुआ है।

इस प्रकार से विस्तार से कृतसाध जाबुज है। महान् को हमने आपोमय कहा है। यह आपतम-आप-वायु-सोम-अग्नि-वायु-आदिस भेद से पदकृत है। इनमें आप के साथ आहुतिमान क, वायु (सर्गवायु) के साथ प्रकृतिमान क, सोम के साथ आहुतिमान क, अग्नि के साथ तमोगुण क, वायु (इन्द्रवायु) के साथ रजोगुण क, एक आदिस के साथ सत्त्वगुण का सम्बन्ध है। इस प्रकार यह पदकृत महान्-पदगुण बनकर पाट्कौशिक मिश्र का प्रमथ-प्रतिष्ठा परापर बन रहा है।

१-१-गार्गिश्चर्यपूर्णमासाम्या ————— आहुतिमानोदयः

१-२-वाग्ददर्शपूर्णमासाम्या ————— प्रकृतिमानोदयः

१-३-सौतदम्पूर्णमासाम्या ————— आहुतिमानोदयः

४-१-सायम्पुत्रानमूर्तिप्रख्या ————— सत्त्वगुणोदयः

४-२-सौरिकिष्मूर्तिर्विष्णुना ————— रजोगुणोदयः

४-३-गार्गिर्धर्ममूर्तिस्तुतिना ————— तमोगुणोदयः

पदगुणको महान्

आपोमयो महानात्मा

पुनः	{	१-१-आपः	आहुतिमयः
		१-२-वायुः	प्रकृतिमयः
		१-३-सोमः	आहुतिमयः
अग्निः	{	४-१-अग्निः	तमोमयः
		४-२-वायुः	रजोमयः
		४-३-आदिसः	सत्त्वमयः

“आपो-मृगवज्जिरोरूपमापो
- मृगवज्जिरोमयम्”

प्रत्येक सृष्टि में योनि-रेत-रेतोषा तीन भागों का सम्बन्ध निम्न अपेक्षित है । सुप्रसिद्ध प्राण्य धाप-बाहु-अक्ष अन्नाद-श्म पाँचों प्रकृतियों का स्मरण करिए । यही पाँचों क्रमशः स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी इन पाँचों पदों के 'रेत' हैं । व्यापक प्राण्य योनि या, व्यापक प्राण्य रेत या, व्यापक मातरिश्वा रेतोषा या, इससे व्यापक स्वयम्भू का उदय हुआ । परिच्छिन्नमाया योनि या, परिच्छिन्नमाया रेत या, परिच्छिन्न मातरिश्वा रेतोषा या, इससे परिच्छिन्न पुण्डरी स्वयम्भू का जन्म हुआ । प्राण्यमय पुण्डरी स्वयम्भू योनि बना, आपतत्त्व रेत बना, मातरिश्वा रेतोषा बना, इससे परमेष्ठी का उदय हुआ । अथ आपोमय परमेष्ठी योनि बनेगा, तीव्र बाहुतत्त्व रेत बनेगा, मातरिश्वा रेतोषा रहेगा, इससे सूर्य उत्पन्न होगा । बाहुमय सूर्य योनि बनेगा, मातरिश्वा रेतोषा रहेगा इससे मृषिण्ड उत्पन्न होगा । अन्नादमय मृषिण्ड योनि बनेगा, अक्ष रेत बनेगा, एव ही मातरिश्वा रेतोषा बनेगा । इससे चन्द्रमा उत्पन्न होगा । यहाँ आकर सृष्टिकर्म समाप्त होजायगा । इस प्रकार सृष्टिकर्म में रेतोषा सर्वत्र मातरिश्वा ही रहता है । हाँ सृष्टिपूर्वमेद से उसके नाम रूप अभ्यय ही बदल जाते हैं, जैसा कि पूर्वाधिकरण में ब्राह्मस्वरूपनिबन्धन में क्लृप्ताया जाचुका है । पूर्व पूर्व प्रकृति (प्राणादि) उच्चर उच्चर की प्रकृति (अभादि) की योनि बनती है, उच्चर—उच्चर की प्रकृति (अभादि) पूर्व पूर्व प्रकृतियों (प्राणादि) के रेत बनते हैं । अव्यक्तात्माधिकरण में व्यापक स्वयम्भू का निरूपण हुआ, इस प्रकृत महदात्माधिकरण में पुण्डरीस्वयम्भू, एव परमेष्ठी की उत्पत्ति बतसाई गई है । इस आपोमय महान् को योनि (ममयोर्निर्महद्वत्) समझिए, तीसरे बाहुतत्त्व को रेत समझिए, पञ्चबराह ति मातरिश्वा को रेतोषा समझिए । इस बागूरेत के महद्योनि में आधान होने से विज्ञानघन, अतएव विज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध सहस्रांशु भगवान् सूर्यनारायण का जन्म होगा । आगे का अधिहरण इसी जगत्सत्त्व के लिए हमारे सिद्धात्मा (सृष्टि) को प्रेरित कर रहा है ।

इति-प्राकृतात्माधिकरणो

शुक्रात्मानिरूपणम्

प्राकृतात्माधिकरणे—

महदात्माधिकरणं समाप्तम्

२

पूर्णमदः →→→→→

पूर्णमिदम्

३-सूर्यः →→→ विज्ञानवैभव १-विज्ञानात्मा

अधिदेवतम् →→→→→

अध्वारमम्

ब्रह्मसत्याक्षर —

विद्या-अविद्यामयः प्राकृतात्मा सूर्यः
विज्ञानात्मा

३

सूर्यः ←————→ काक्षु →→→→→ विज्ञानात्मा

(प्राकृतात्माधिकरणे विज्ञानात्माधिकरणे तृतीयम्)

गायत्रीमात्रिकवेदावच्छिन्न -विद्या अविद्यामयात्मा

विष्कात्मा

१—अन्वे तम प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

ततो मूय इव ते तमो य उ विद्यायां स्ताः ॥

२—अन्यदेवाद्बुर्विद्ययाऽन्यदेवाद्भुरविद्यया ।

इति श्रुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचक्षिरे ॥

३—विद्या चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

(ईशोपनिषद् ६, १०, ११, मन्त्र)



विज्ञानात्मस्वरूपनिदर्शन

- १— एको हंसो मुक्ताम्यास्य मध्ये स एनामि सखिले सखिविष्ट ।
तमेव विदित्वास्तिमृषुमेति नाभ्य पन्था सिष्यतेऽयनाय ॥ (खे० ६।१५) ।
- २— स विश्वकृद्भिन्नमिदामयोनिह कञ्चकञ्चो गुणी सर्वविध ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपटिगुणेश संसारमोक्षस्थितिः स्रष्टेह ॥ (खेता० ६।१६) ।
- ३— स तन्मयो ह्यमृत ईशसत्सो ह सर्वगो मुक्ताम्यास्य गोता ।
य ईशोऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्निधत ईशनाय ॥ (खेता० ६।१७) ।
- ४— यथा तमस्तप्त रिषा न रुचिर्न सप्त चासम्बुध पव केवला ।
तद्वत् तत्सत्त्वितुर्बरेण्य प्रका च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥ (खेता० ६।१८) ।
- ५— शिरययगम समस्तताम्रे मृतस्य जात पक्षिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं धामुत्तमां कस्मै देवाय इक्षिया विधेम ॥ (यजु) ।
- ६— यद्वैरयथा प्रथम पयस्तप्ते तत सूर्यो ज्ञतपा वेन आबन्नि ।
आगा आनन्दुराना काम्य सचा यमस्य धातममृत यजामहे ॥ (आक् १।८१।५) ।
("तत् सत्त्वितुर्बरेण्यं मर्गो देवस्य बीमहि जियो यो न प्रचोदयात्")
- ७— य सेतुरीमानामामक्षर ब्रह्म पद परम्
अमयं तितीयतां पार नाचिन्नेत शक्रेमहि ॥ (कठ० १।३२) ।
- ८— विज्ञानान्या सह देवैरच सर्वे प्राणा मृतानि सम्प्रसिष्ठन्ति यत्र ।
तद्वत्तार वेदयत्रे पशु सोम्य स स्रक् सर्वमेवाविवेश ॥ (प्र० ४।११) ।
- ९— एतेषु यश्चरते आजमानेषु यथा काष्ठ चाहुतयो ह्यददायन् ।
तन्नपक्वेता स्यस्य रमयो यत्र देशानां पतिरेप्सोऽविनास ॥ (मुण्ड० १।३।५) ।
- १०— मनोमय प्राणरूपीरेता प्रसिष्ठितोऽन्ने ह्यस्य सन्निवाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृत यस्मिन्मति ॥ (मु० २।२।७) ।
हिरण्ये परे कोजे विरज ब्रह्म निरुक्तम् ।
तच्छुभ ज्योतिषो ज्योतिस्तत्तदात्मविदो विदुः ॥ (मु० २।२।८) ।
- ११— ईसं शुचिपद्मसुरन्तरिक्षस्रोता वेविपदसिधिरुरोणसत् ।
सुपद्मसद्गतसद्गोमसद्गजा गोत्रा श्रुतमा अक्षिमा श्रुतं बृहत् ॥ (क० २।५।२) ।

तमेव भीरो विज्ञाय मर्त्ता कुर्वीत ब्राह्मण ।

नानुष्णायामहृष्टबुद्ध्यान् बाधो विगसापन हि तव ॥

नीहारहारयनसारसुषाकरामां कल्पपाण्ड्यां कनकचम्पकद्रामभूषाम् ।

चक्रप्रीनकुचकुम्भमनोहराङ्गीं वार्त्तीं नमामि मनसा वचसा निमूढैः ॥



व्यक्त प्राण से स्वयम्भू प्रकट हुए, स्वयम्भूस्वरूप योगि में सुव्रज रूप आप रेत का आदिवराहमातरिखा नाम के रेतोधा द्वारा आधान होने से प्राजापत्य परमेष्ठी उत्पन्न हुए । अव्यक्त स्वयम्भू वेदाग्नि प्रधान होने से सत्य या, व्यक्त परमेष्ठी अप्रधान होने से अत है—“अतमेव परमेष्ठी” । अत रूप यही महद्ब्रह्म ‘अहं’ मात्र की प्रतिष्ठा है, इसी आधार पर—‘ब्रह्मस्मि

प्रथमना अतस्य पूर्व देवेभ्यः’ यह कहा जाता है । इस अतरूप महद्योगि में तीसरे बाहू नाम के रेत की यङ्गवराहमातरिखा नाम के रेतोधा द्वारा आधान हुआ । इस बाहू रेत के आधान से सप्तस्तर का जन्म हुआ । यही सप्तस्तर आगे जाकर ‘सूय’ रूप में परिवर्तित हुआ । सप्तस्तरात्मक सूर्य आपोमय परमेष्ठी समुद्र में (जो कि पारमेष्ठ्य समुद्र ‘सरस्वान्’ नाम से प्रसिद्ध है) निक्षेप करने वाला एक सुपर्ण (छत्रहरे पंखवाला पक्षी) है । दक्षिणायन इस का दक्षिणपक्ष है, उत्तरपक्ष इसका उत्तरपक्ष है, मिथुनद्वैत इसका आत्मा है । चन्द्रमा, श्रुतिवी, चान्द्रमीन, पार्थिवमीन यह चारों सुपर्ण इस सप्तस्तर सुपर्ण के उदर में प्रतिष्ठित रहते हैं, अतएव इसे ‘महासुपर्ण’ कहा जाता है । निम्न सप्तस्तरात्मक इसी महासुपर्ण का निरूपण करते हुए वेदपुराण कहते हैं—

“अथ ह माऽप्य महासुपर्ण एव यत् सप्तस्तरा । तस्य यान्पुत्रस्ताद्विपुत्राः
पद्मासानुपपन्ति—सोऽन्यतर पत्न्या, अप यान् पद्मपरिष्ठात् सोऽन्यतरा,
आत्मा विपुत्रान्” (श्व० ब्रा० १२।२।१।३।) ।

महासुपरीणमक (संसारसामक) वाग्रेजोमय यह सूर्य पञ्चपञ्चा विषय के मध्य में प्रतिष्ठित है। मध्यभाग 'हृदय' (केन्द्र) कहा जाता है। जिस प्रकार सर्वाङ्गरीर की प्रतिष्ठा 'हृदय' है, एवमेव पञ्चपञ्चा विषयरीणमक ईश्वर के इस महाशरीर की प्रतिष्ठा हृदयरूप सूर्य ही है—“आदिस्थो वै विश्वस्य हृदयम्”। यह सूर्य सावित्रादिमय है, अग्नि को हिरण्यवेरता कहा जाता है। अतएव इस सूर्यप्रजापति को 'हिरण्यगमप्रजापति' कहा जाता है। यही सौर पुरुष उपनिषदों में 'हिरण्यमयपुरुष' नाम से प्रसिद्ध है। जिस महर्षि ने सब से पहिले इस हिरण्यगमविज्ञान को पहिचाना, वह ब्रह्मा महर्षि भी हिरण्यगमप्रजापति नाम से प्रसिद्ध हुए। हिरण्यगम ऋषि का मत है कि संपूर्ण विश्व की मूल प्रतिष्ठा हिरण्यगम (सूर्य) ही है। विश्व में सब से पहिले हिरण्यगम का ही विकास होता है। स्वयम्भू, परमेष्ठी, चन्द्रमा, पृथिवी यह चारों पर्व हिरण्यगम के पश्चात् प्रकट हुए हैं। इन की आश्रयभूमि, स्वरूप संपादक एकमात्र विश्वविद्याता हिरण्यगम प्रजापति ही है। उधर विश्वकर्मा सत्यम्भू के द्वारा, अतएव विश्वकर्मा नाम से ही प्रसिद्ध महर्षि का कहना है कि सर्वप्रथम विश्व में सत्यम्भू सत्यम्भू ही सब को स्रष्टा करता हुआ प्रकट होता है—“तत् स्वयम्भूर्मगधान्यको व्यक्षयमिन्”। परमेष्ठी—सूर्य—चन्द्रमा—पृथिवी चारों पर्व सत्यम्भू के पश्चात् प्रकट हुए हैं। इन चारों की आश्रय भूमि स्वरूप संपादक एकमात्र विश्वविद्याता सत्यम्भू प्रजापति ही है। प्रत्यक्षविद्या के प्रथम ब्रह्मा महर्षियों का कहना है कि पृथिवी ही सब की मूल प्रतिष्ठा है। सत्य प्रथम विश्व में पृथिवी ही प्रकट हुई है। पहिले मृत् है, अतएव मृत्—सू (सूय) आदि सौकों का विकास हुआ है। स्वयम्भू—परमेष्ठी—सूर्य—चन्द्रमा यह चारों पर्व पृथिवी के पश्चात् प्रकट हुए हैं। इन चारों की आश्रयभूमि स्वरूप संपादक एकमात्र विश्वविद्याता पार्थिवप्रजापति ही है। इस प्रकार सृष्टियों में सृष्टिविद्या के सत्यम्भू में परस्पर में सर्वथा विरुद्ध तीन मत उपसम्भूत होते हैं। स्वयम्भूमृत्तासृष्टि प्रथम मत है, सूर्यमृत्तासृष्टि द्वितीय मत है, पृथिवीमृत्तासृष्टि तृतीय मत है। स्वयं इहोपनिषद् में सत्यम्भूमृत्तासृष्टि को ही प्रधानता दी है। संविदा में तीनों ही सृष्टियों के समपक्ष प्रमाण उपलब्ध होने हैं, जैसा कि निम्न लिखित बचनों से स्पष्ट होता है।

१—स्वयम्भूमूलासृष्टि प्रथमा—

१—य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदपिर्होता न्यपीदत् पिता नः ।

स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छब्दवर्षो आविवेश ॥

२—किंस्निदासीदधिष्ठानमारम्भेण कृतमदस्त्वित् कयासीत् ।

वतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षुः ॥

३—विश्वतरङ्गस्रुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुस्रुत विश्वतस्पात् ।

स बाहुभ्यां धमति सपतमैषावा भूमिं जनयन् देव एकः ॥

४—या वे धामानि परमास्मि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा ।

शिवो सस्विम्पो इविषे स्वधाषः स्वयं यजस्व तन्व हृषानः ॥

(पञ्च स० १७म० । १७-१=१६ २० २१ २२ २३ २४-मन्त्र) ।

२—सूर्यमूलासृष्टिर्द्वितीया—

१—हिरण्यगर्भः समवत्तताग्रे मृतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।

स दाभार पृथिवीं धामुर्तेमो कस्मै देवाय इविषा विधेम ॥ (यजुः १३।४) ।

२—चित्रं देवानामुदगादनीकं चतुर्मित्रस्य वरुणस्याग्रेः ।

आप्राधावापृथिवीं अन्तरिक्षं सूर्यं आत्मा भगवत्स्तृणुष्व ॥ (यजुः १३।४६) ।

३—येन घोरुग्रा पृथिवी च इव्वा येन स्व स्तमितं येन नाक् ।

यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय इविषा विधेम ॥

४—प्रजापते न त्वेदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता धमूष ।

यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वर्यं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

(ऋक् स० १० मं । १६१ स०) ।

३—पृथिवीमूलासृष्टिस्तृतीया

१—सहस्रशीर्षो पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादः ।

स भूमिं सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्वाहसम् ॥ (यजुः १।१।१) ।

२—अदिविद्यैरतितिरन्तरिक्षमदितिमावा स पिता स पुत्रः ।

विभेदेनाश्रयित्वि पश्यन्ना अदितिजातमदितिर्जनितम् ॥ (ऋ १।८६।१०)

३—“इयं वै देव्यदितिर्विश्वरूपी” (तै० ब्रा० १।७।६।७) ।

४—“इयं च वाऽएषां लोकाणां प्रथमासृज्यते” (शत० टी० १।१।१) ।

५—“इयं वै जगती अस्यां हीदु सर्वं जगत्” (शत० टी० १।२।१।२८) ।

६—“पृथिव्यामिमां लोकाः (मतिष्ठिताः)” (ज० ४० १।१० २) ।



इन तीनों सृष्टिमिथ्याओं का उपनिषदों में क्रमशः ओङ्कारविद्या (स० मिथ्या), चटुर्गीव विद्या (सूर्यमिथ्या), मण्डवविद्या (पू० मिथ्या) इन नामों से निरूपण हुआ है । स्वप्नम् से आरम्भ मानकर पृथिवी पर अबस्थान मानना ओङ्कारविद्या है, स्वप्न को आरम्भ स्थान मानकर उत्तर परमेष्ठी स्वप्नम् पर, श्वर चन्द्रमा एवं पृथिवी पर पर्यवस्थान मानना चटुर्गीवविद्या है, पृथिवी को मूल मानकर स्वप्नम् पर अबस्थान मानना मण्डवविद्या है । स्वप्नम् निराद्वय रूप का वास्तव है, अतएव इस मिथ्या को ‘शिरोमूलाविद्या’ कहना चाहिए । सूर्य निराद्वय रूप का हृदय है, अतः इसे ‘हृदयमूलाविद्या’ समझना चाहिए । एवं पृथिवी वाद स्थानीय है, अतः इसे ‘पादमूलासृष्टिविद्या’ कहना चाहिए ।

उपनिषदों में इसी तरह का व्यापार मान कर तीन प्रकार से सृष्टिमिथ्या का उपबृहत्त्व किया है । “ब्रह्मा से सारे विश्व का आरम्भ हुआ है, सारा विश्व ब्रह्मा है” यह उपनिषद

• उपनिषदों के अन्तर्गत में पृथिवी से ही सृष्टि का आरम्भ माना गया है—(वैश्व०-उप० ३० १।१५ १।१५) ।

का एक मत है। “विष्णु से सारे विश्व का निर्माण हुआ है, सम्पूर्ण विश्व वैष्णव है” यह दूसरा मत है। एक-“महेश्वर (महादेव) से ही विश्व का जन्म स्थिति भेग हुआ है, सारा विश्व महेश्वर है” यह तीसरा मत है। आप ब्रह्मपुराण के आप से इति शक देख जाइए, वहाँ विष्णु महेश्वर आदि इतर सम्पूर्ण देवताओं को गौण बतलाया गया है, ब्रह्मा को सब का आदिप्रवक्तृक बतलाया गया है। इसी प्रकार विष्णुपुराण में आप से इति शक सब देवताओं की अपेक्षा विष्णु की प्रधानता का ही निरूपण किया है। शिवपुराण एकमात्र महेश्वर को प्रधान देवता मान रहा है। छुटिबाद के रहस्य को न समझने के कारण ही आज उक्त भिन्न भिन्न पुराणों के ग्रन्थों को उपन्यस्त करते हुए शैव-वैष्णव मुष्णमुखि को ही परम पुरुषाय समझ रहे हैं। स्थापत्य ब्रह्मा ज्ञानमूर्ति है, सौर मिथ्या क्रियामूर्ति है, पारिव शिव अर्थमूर्ति है। एक ही विराट् पुरुष के तीन अवयव हैं। त्रिमूर्ति की समष्टि ही प्रधान है।

इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त तीनों मतों में से कितने सच्चा कहा जाय ! सब एक हो सकता है। उभर तीनों ही मत वेदामित्त होने से मान्य हैं। परन्तु मान्य होते हुए भी सदेह के जनक अवश्य हैं। इस सदेह की निवृत्ति के लिए आपको उपवेदभूत आपुर्वेद की शरण में जाना चाहिए। सदेहरूप प्राणान्तकज्वर को निवृत्त करना चिकित्सा शास्त्र का ही कार्य है।

रज-शुक्र के मिश्रणभाष से गर्मस्थिति होती है। आगे आकर गर्म क्रमशः पुष्ट होता हुआ १० मास में सर्वावयव संपन्न बन जाता है। गर्म के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया जा सकता है कि गर्म में पहिले अस्तक बनता है ! अथवा पहिले हृदय का विकास होता है ! अथवा पहिले नाभि का उदय होता है ! किन्तु पहिले पकारायशुद्ध का आनिर्माण होता है ! इन प्रश्नों के सम्बन्ध में मिपम्बरों के भिन्न भिन्न मत हैं। कुमारशिरामरद्वाभ के मतानुसार पहिले कुक्षिराग गम का शिर बनता है, अगत्तर अन्य अवयवों का विकास होता है। “हृदय ही (हृदयस्य प्रधान मन्त्र ही) सब इन्द्रियों का आसम्बन्ध है। जब तक हृदय का विकास नहीं होता,

तब तक चन्द्र, भोज, प्रयादि इन्द्रियों का विकसल कथमपि समल नहीं है” इस कारण को ज्ञानी रखते हुए काङ्क्षुपन बारीकीक नाम के वैद्य गर्भ में सर्वप्रथम हृदय का विकास मानते हैं। मधुकाप्य के मतानुसार नाभि पहिला भाग है। नाभि द्वारा ही मातृसूत रस से गर्भ की पुष्टि होती है। मद्रसौनक के मतानुसार आहार के आगमन का साधन बनता हुआ पञ्चराष्ट्रसूत ही पहिले विकसित होता है। बहिरा के मतानुसार पहिले हाथ पैरों का विकास होता है। पेंदेइ जनक के मतानुसार पहिले इन्द्रियों का विकास होता है। मरीचि मर्चि के पुत्र अतएव मारीचि कि वा मारीच नाम से प्रसिद्ध मर्चि कश्यप का कहना है कि यह सब परोक्ष सिध है। गर्भ का कोनसा भाग पहिले बनता है ? यह इन्द्रियातेत सिध है, अतः इसके सम्बन्ध में—“इन्द्रियत्व मेव” इस प्रकार निश्चयरूप से कुछ नहीं कहा जासता। इस प्रकार इनके मतानुसार यह सिध ही अपिग्न है। मगवान् पन्नन्तरि कहते हैं—सारे भाग एक साथ बनते हैं। सभी अणवण परस्पर में अन्योऽन्यविवृति हैं। अतः इनका सुगम ही सम्मेल (उत्पत्ति) मानना ठीक होता है। इसी मत को सिद्धान्त पक्ष मानती हुई चरकसंहिता कहती है—

“सर्वाङ्गनिर्दृष्टिर्गुणपद—इति पन्नन्तरिः। तदुपपत्ति—सिद्धत्वात्। न च तस्मात् पूर्वामिनिर्दृष्टिरपाम्। तस्मात्तदुपपूर्वाणां सर्वाङ्गानां तुल्यकासामिनिर्दृष्टिः। सर्वमात्रा ह्यन्योऽन्यविवृतिरुदाः, तस्याद्यवामृतं दर्शनं साधु” (चरक सः स्थिर स्थान ६ अष्टाविंशत्याध्याय—११ अ)

इस प्रकार आपूर्वेइ के मतानुसार आध्यात्मिकपुरुषोत्पत्ति में सभी अणवण एक साथ उत्पन्न होते हैं, तथापि सूक्ष्मकम्यनुसार कुमारगिरामरद्वाम के मतानुसार पहिले मस्तक का ही विकास मानना पक्का है। बीमरूप से सभी अणवण समानकक्षीन होने हुए भी अक्षुरदरा में पहिले मस्तक की ही प्रधानता है। इसी प्रकार शार्ङ्गराष्ट्र्य महर्षि पहिले उदर का अणवण के पुत्र पहिले हृदय का विकास मानते हैं (ऐ भा २।१।४।)। इस प्रकार भूतियों में भी मत ‘वा’ है। तथापि जहाँ सूक्ष्मविकसलसम्बन्धक मस्तकोत्पत्ति के प्राथम्य को ही प्रधान माना गया है, वैसा कि श्रुति कहती है—

“शिरों वा अग्रे सम्मवतः सम्मपति । चतुर्दा विहित-

यं शिर—मासश्चक्षुः श्रोत्रं नासः” (तां० प्रा० २२।६।४।) ।

“शिरों हि प्रथम जायमानस्य जायते” (शत० ८।२।४।८) ।

विकास भी सबसे पहिले मस्तक का ही होता है, एव “शीपतो वाऽग्रे जायमानो जायते” (शत० १।१।१।१६) के अनुसार प्रसवकाश में भी पहिले मस्तक ही अमरी बनता है । शिर सन्मुख सृष्टिक्रम में अमरी है । तभी तो जरा वा प्रकोप सबसे पहिले मस्तक पर ही होता है—“यस्माच्छीर्षणयेवाग्रे पतितो भवति” (शत० ११।१।१।६।) । इसी प्रथमभाव के कारण प्रथमयेणि के उत्कृष्ट मनुष्य को शिरस्थानीय (मुख्य) माना जाता है । गर्भ की स्थिति हृदय से ही रहती है, हृदय ही बीजन की प्रतिष्ठा है । दृष्टिक्रम में पैरों की प्रधानता है । यही क्रम अभिदैक्षत में समन्वित । बीजरूप से माया-आप वागादि पाशों प्रवृत्ति समकक्षीन हैं । परन्तु सृष्टि (उत्पत्ति) क्रमानुसार पहिले शिरस्थानीय मयम्भू का विकास होता है । इस सृष्टि-क्रम की अपेक्षा से सायम्भुव प्रसा का ही सध्वप्रभाव है । प्रसा ज्ञानप्रधान है । ज्ञान-अथ-क्रिया तीनों अम्बोऽम्पाश्रित हैं, तथापि प्राथम्य ज्ञान का ही मानना पड़ता है । विश्व की स्थिति सूर्य पर निर्भर है । सूर्य से ही महद्ब्रह्म में त्रेगुण्य भाव का उदय होता है । त्रिगुण-मात्रात्मक महद् ब्रह्मक है, तबतक सृष्टि है, जब तक सूर्य है, तभी तक गुणोदय है । फलतः सूर्य का विश्वस्थितिरुपापकत्व महीनति सिद्ध होजाता है । इस स्थितिक्रम के अनुसार सारे विश्व में सौर त्रिगुण का ही साम्राज्य है । हमारी दृष्टि पहिले पृथिवी पर पड़ती है, अनन्तर सूर्य-चन्द्रमा-परमेष्ठी की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है । इस दृष्टिक्रम के अनुसार सारे विश्व में पार्थिव परेश्वर का ही साम्राज्य है । ज्ञानप्रधान सृष्टिक्रम, कर्मप्रधान स्थितिक्रम, अर्थप्रधान दृष्टिक्रम की अपेक्षा से उक्त तीनों सृष्टिविधाओं में कोई विशेष नहीं है ।

- १-स्थयम्भूमासृष्टि—शिरोग्रं—सृष्टिक्रमप्रधाना ब्रह्मविधा (उत्पत्तिमुद्रा ओद्धारविधा)
 २-सूयम्भूमासृष्टि—इन्द्रग्रा—स्थितिक्रमप्रधाना मिथुविधा (स्थितिमुद्रा—उद्गीयविधा)
 ३-पृथिवीम्भूमासृष्टि—पादग्रा—दृष्टिक्रमप्रधाना महेशविधा (नाशमुद्रा—प्रलयविधा)



प्राकृत प्रकृत्य उक्त तीनों सृष्टिभागों में से हिरण्यगर्भ विधा नाम से व्यञ्जित किए जाने योग्य सूर्यविधा का ही निरूपण करता है। उसी का उपसृष्ट्य करना प्राकृत प्रकरणीय है। विधाकर्मत्रय अध्यय्य पुरुष विश्व के पाँचों पक्षों में व्याप्त है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि विश्व के सभी पक्षों में ज्ञान एवं क्रिया (कर्म) की उपस्थिति होती है, जैसा कि पूर्व के प्रकरणों में विस्तार से बताया जा चुका है। अध्यय्य का विधाभाग पक्षों में ज्ञानरूप से प्रतिष्ठित है, कर्मभाग क्रियारूप से प्रतिष्ठित है। निम्नोद्दिष्ट विधा—कर्मभाग को 'ब्रह्म' 'कर्म' शब्दों से व्यञ्जित किया जाता है, यही इसके दिव्यरूप हैं—'ब्रह्म कर्म च मे दिव्यम्'। सोपाधिक यही ब्रह्म—कर्म ज्ञान—क्रिया नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार यद्यपि स्वयम्भू—परमेष्ठी—सूय—चन्द्रमा—पृथिवी विश्व के इन पाँचों पक्षों में (प्रत्येक में) ज्ञान—क्रियारूप से अध्यय्य के विधा—कर्म—दोनों भाग प्रतिष्ठित हैं, तथापि इन दोनों की पूर्ण विकासमूर्ति मध्यस्थ सूर्य ही माना जाता है। सूय विश्व का कर्ण है, इतर पक्ष परिधिस्थानीय हैं। केन्द्र में सब शक्तियों का पूर्ण विकास रहता है। सुतरां केन्द्रस्थानीय सूर्य में अध्यय्य के ज्ञानरूप विधाभाग का, एवं कर्मरूप अविधाभाग का पूर्ण विकास सिद्ध होनाता है। यही प्रकरण है कि विश्व के चार दिशि पक्ष के लिए 'विधा' धारियाँ च यस्तद्विज्ञोभयं सह एव न कदा का केचन सूर्य को ही विधा—अविधायक मन्ता गया है।

अपि च 'सहस्रं प्रजासृष्ट्वा पुरोवाच प्रमापति' (गीता ३।१०) इस सिद्धान्त के अनुसार यज्ञ से ही विश्वममा का निमाण होता है। यह यज्ञ 'सुसा' 'विसा' भेद से दो भागों में विभक्त है। यही दोनों यज्ञ सत्रन—जपन नामों से प्रसिद्ध हैं। सुसायज्ञ सोमपचान है, सोम का ही सत्रन होता है। विसायज्ञ अग्निपचान है, अग्नि का ही जपन होता है। अग्नि में सोम की आहुति होने से अक्षोराभरूप अग्निहोम, क्षुप्या—शुक्लपक्षरूप देवर्षीवस, धीप्य—वषा—गीतगुरुप चातुमास्य, उत्तरायण—दक्षिणायनरूप पशुबन्ध, सैवत्सररूप ज्योतिष्टोम (मोमपाग—किंवाग्रहपाग) इस ऋतु से सोमयज्ञ पाँचभागों में विभक्त होनाता

है। इन पाँच अवयवों के कारण ही सुखायव के 'पाङ्गो वै यद्वा' (शत १।१।१५) के अनुसार पाङ्गु (पञ्चावयव) कहा जाता है। अग्नि में सोम की आहुति होने से व्याप्तन वृद्धि नहीं होती, अपि वृत्ति नहीं रहामान होती है। इस प्रकार अग्नि में सोम की आहुति होने से पाङ्गु सुखायव संपन्न होता है। निगरण किंवा विसर्जन इस सोमाहुतिरूप सुखायव किंवा सवन यव का स्वाभाविक धर्म है। अग्नि में सोम वास दीजिए, अग्नि उसे 'निगस्य' आग्र्य, पी जायगा, इतना सोम का अग्नि में विसर्जन होनायगा, जब सोम कहीं दूरे से भी नहीं मिलेगा। दूसरा है विसर्पण। अग्नि में अग्नि की आहुति होने से इस अग्निरूप का स्वरूप निष्पन्न होता है। अग्नि अग्नि का निगरण (हवन) नहीं कर सकता। अतएव इस यव में व्याप्तन की वृद्धि होती है। यह अग्निरूप ही अग्नि-वायु आदिस दो साध्य प्राणियों के मेद से पाँच ही भागों में विभक्त है। अधिवृत्ति से पृथिवी का, वायुवृत्ति से अन्तरिक्ष का, आदिवृत्ति से शुक्ल का स्वरूप निष्पन्न होता है। पृथिवी-अन्तरिक्ष की संधि में, अन्तरिक्ष एव शुक्ल की संधि में दो अग्नि और चित रहते हैं। इस प्रकार एक ही अग्नि अवस्था मेद से पञ्चवृत्ति का बन जाता है। इस वृत्तिरूप से तो वस्तु का स्वरूप निर्माण होता है, एव उत्पन्न वस्तु की स्वरूप सृष्टि सुखायव से होती है। प्रकरणान्तर से यों समझिए कि उत्पत्ति सोमयव से होती है, वृद्धि अग्निरूप से होती है वृत्ति सोमयव से होती है। आध्वन्त में सोम है, मध्य में अग्नि है। सूर्य अग्निमय है, इसके उस ओर परमेष्ठ सोम है, इस ओर बान्ध सोम है। अम्बात्मस्वस्था में इस वृत्ति का प्रत्यक्ष कीजिए। शुक्ल (रेत) सोम है, शोणित (पेनिरूप-आर्चक-रज) अग्नि है। इस रूप में योनि में वीर्यरूप सोम की आहुति होने से गर्भ का उदय होता है। इस प्रकार उत्पत्तिरूप में सोमयव की प्रधानता है। भागे जाकर क्रमशः गन्धायन बढ़ने लगते हैं, यही अग्निवृत्ति है। अस्थि-मांस आदि की वृत्ति ही अग्निवृत्ति है, यही वृद्धि का कारण है। अम्बररूप सोमाहुति से इस विश्वानिमय शरीरविषय की वृत्ति रहती है। प्रातः-साम होने वाले अम्बाहुतिरूप इसी दैनिक सोमयव से शरीर स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। इसी अम्बर रस्य को अक्षय में रस कर बानिधुति कहती है—

की मृत्प्रविष्टा सृज्य है। सुतर्प संकसराल्मक सूर्य से ही प्रजोत्पत्तिक्रम का आरम्भ सिद्ध हो जाता है। चतुर्दशविध मृतसर्ग की प्रवृत्ति का आरम्भ स्थान सूर्य ही है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा। सूर्य से ऊपर श्रुतियों का अभाव है, अतएव श्रुतमुखक प्रजनन कर्म का भी वहाँ अभाव है। जिसप्रकार सूर्य से नीचे नवीन नवीन पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं, पुराने पदार्थ नष्ट होते रहते हैं, वैसे सूर्य से ऊपर यह जन्म-मरणचक्र नहीं है। वहाँ तो सृष्टि के आरम्भ में विन मौलिक साध्य देवादि का विकसत हुआ पा, वही विकसत आव्य तब उसी रूप से विद्यमान है। दूसरे शब्दों में वहाँ परिवर्तन का अभाव है, यही मतज्ञान के लिए श्रुति—‘यावन्मो ज्ञेय स-नाप्रे देवास्तावन्तो देवा’ (शत ८।७।१।२) यह कहा है।

महद्ब्रह्म जिस विद्यात्मा (अम्यय) को अपने गर्भ में धारण करता है, उस का पूर्ण नि-कसत चित्तिमर्मा सूर्य में ही आकर होता है। सूर्य से ऊपर परमेष्ठी में विद्यात्मा आता है, परन्तु विषयमभ्यास सोमयज्ञ के प्रभाव से वह विछीन हो जाता है, वहाँ केवल गर्भसत्ता है। महद्ब्रह्म के गर्भ में रहने वाला उस पोडरीपुरुष का विकसत तो सूर्य में ही होता है। विद्यात्मा की गमभूमि महद्ब्रह्म (परमेष्ठी) है, प्रजननभूमि सूर्य है। यही कारण है कि यज्ञा प्रकृतिक स्वयम्भू, विष्णु प्रकृतिक परमेष्ठी, सोम प्रकृतिक चन्द्रमा, अग्नि प्रकृतिक मू, इन्द्र प्रकृतिक सूर्य इन पाँचों में से इन्द्रप्रवृत्तिक सूर्य को ही ‘पोडरी’ कहा जाता है। क्योंकि पोडरीपुरुष नाम से प्रसिद्ध विद्यात्मा का पूर्ण विकसत केवल इन्द्रायक सूर्य में ही होता है—“असौ यं पोडरी योऽसौ (सूर्यः) तपति” (कोश १७।१।१)। इसी विद्यात्मा के सम्बन्ध से इन्द्रत्व इतर प्रवृत्तियों की अपेक्षा पोडरी प्रजापति की ज्येष्ठ एव श्रेष्ठ सन्तान कहा जाती है। पिता का वही पुत्र ज्येष्ठ-एव श्रेष्ठ (सुपूत) कहा जाता है, जो पिता के यश को दिगुणित करता है। जिस पुत्र से पिता का यश संसार में फैलता है, वही पुत्र श्रेष्ठ माना जाता है। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम येद से पोडरी प्रजापति के पाँच पुत्र हैं। इन पाँचों में सर्वज्येष्ठ ब्रह्मा है, सर्वकनिष्ठ सोम है, विषया पुत्र इन्द्र (सूर्य) है, इसी पुत्रने विद्यात्माका पिता का यश सर्वत्रिषोकी में फैलाया है। सूर्य के द्वारा ही विश्व में आत्मभ्योक्ति का प्रसार

इन्द्रा है—“स्य आत्मा जगत्तत्त्व्युपम” । इसी सुपुत्री के कारण प्रजापतिने विष के सबसे ऊँचे भासन पर (हृदय सबसे ऊर्ध्व करवाया है, एवं विष के हृदय में ही स्य प्रतिष्ठित है) प्रतिष्ठित किया है । यही इन्द्र पुत्र का सर्वश्रेष्ठत्व, एवं सर्वश्रेष्ठत्व है इसी अभिप्राय से महाभारतका श्रुति करती है—

“स (पोद्गीप्रजापतिश्चिदात्मा) ऽकामयतेनो मे प्रजायां श्रेष्ठः स्यामिति । तामस्मै स्रज (विजयमालां) प्रसमुञ्चत् । ततो वा इन्द्राय प्रजाः श्रेष्ठधायातिष्ठन्त-तच्छिखरं पश्यन्त ” (ता० ब्रा० १६ अ० ११) । “इन्द्रो वै वेवानामोनिष्ठो, बभिविष्ठः, सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्युहम्” (ऐ० ब्रा० ७१ अ० १६) । सर्व वाऽ इदमिन्द्राय तत्तस्यानमास यन्निदं किञ्च ” (शत १।८।१०) । “हृदयमवेन्द्र” (शत० १२।१।१५) ।

श्रेष्ठोत्पत्ति क्या है, किसी पतुर शिष्यी का सर्वोत्कृष्ट शिष्य (करीमती) है । वह शिष्यी वही इन्द्र है । अपने इन्द्रपुत्र के इस उत्कृष्ट शिष्य पर प्रसन्न होकर ही तो प्रजापतिने इसके गले में विजयमाला टापी है । इसके इसी शिष्य से प्रमाणित होकर (इसका बोध ममते हुए) ही तो प्रजापतिने इसे श्रेष्ठ नामा है—‘प्रजाः श्रेष्ठधायातिष्ठन्त तच्छिखरं पश्यन्त ’ । (१६।१।११) । सप्रसन्न इन्द्र ऐसी ही बलु है । साथ विष इन्द्र से पूरा है । ब्रह्मोत्पत्ति में ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ ‘शुन’ नाम से प्रसिद्ध इन्द्र का साम्राज्य न हो । जिसने मध्यहिन्दु को पहिचान दिया, उसमें सब कुछ समझ लिया । इसी लिए काशिराजप्रवचन को इन्द्र के अभिमानी देवताओं का है—‘पतद्विद्वाद् मनुष्याय हिततमं मन्ये यन्मां विजानीयाद्’ (मैं मनुष्य के लिए यही परम हित समझता हूँ जो कि वह मुझ (इन्द्र को) समझ जाय) (कोट १।१) । इन्द्र की इसी सर्वोत्कृष्टता, एवं सर्वोत्कृष्टता का दिग्गजन पराधी हुई मन्त्रमुक्ति करती है—

१—यथाव इन्द्रं गतं ते गतं भूमिरुत स्युः ।

न त्वा बहिस्मरन्मं गृया भ्रानु न जानमष्ट रोदसी ॥ (श्रुत० पञ्च० १५) ।

२—सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्वा मत्सरासः प्रमुष साकमीरते ।

वन्तु तव परिसर्गास आगबो नेन्द्रादृते पवते वाम किञ्चन ॥ (श्रु ६।६-६।६)

३—इन्द्रो दिव इद्र ईगे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इव पर्वतानाम् ।

इन्द्रो वृषामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्र क्षेमे योगे इम्य इन्द्रः ॥ (श्रु १०।८६।१०।)

४—नकिरेन्द्र तदुचरो न ज्यायां भस्ति वृषइन्द्र ।

नकिरेन यथा त्वम् (श्रु० ६।१०।११।) ।

प्रकटतात्पर्य से इन्द्र की श्रेष्ठता का विचार कीजिए । अम्यय-अमर-पार की समष्टि पौडगीपुरुष है । इनमें अम्यय ज्ञानप्रधान है, अमर क्रियाप्रधान है, पार अर्थप्रधान है । ज्ञान प्रधान अम्यय, अर्थप्रधान पार दोनों का सम्पत्ति क्रियाप्रधान अमर के साथ सम्बन्ध है । अतः अमर ज्ञान-क्रिया-अर्थ तीनों विभूतियों से युक्त होजाता है । पर नाम से प्रसिद्ध अम्यय केवल ज्ञानप्रधान ही है, अमर नाम से प्रसिद्ध पार केवल अर्थप्रधान ही है परन्तु सम्पत्ति अमर ज्ञान-अर्थ के सदृश में पतित होता हुआ विभूतिप्रधान है, जैसा कि कट्यस्तुति कहती है—

एतदधेनाचरं प्रज्ञ (चरं) एतदधेनाचर परम् (अव्ययम्) ।

एतदधेनाचरं ज्ञात्वा यो यद्विच्छति तस्य धत्त ॥ (कठ० १।६।१६) ।

सूर्यम् परमेष्ठी अम्ययप्रधान है, अन्द्रमा पृथिवी चरप्रधान है, विष्णु सम्पत्ति सूर्य अमरप्रधान बनता हुआ परमधाम में प्रसिद्धि अम्यय, अन्नमधाम में प्रसिद्धि पार दोनों का समाह्वक बनता हुआ पौडगी बन रहा है । केवल अम्यय की दृष्टि से विचार कीजिए । अम्यय का विधामाग प्रभूत है, सूर्य के ऊपर इस की प्रधानता है । कर्ममाग मुख्य है, सूर्य से नीचे इस की प्रधानता है । परन्तु सम्पत्ति सूर्य में दोनों का सम्बन्ध है । क्रिया-अक्रिया दोनों के यदि आपको एक साथ दृष्टन करने हैं तो इसके लिए विज्ञानपन सूर्य की ही शरण में जाना पड़ेगा । और कर्ममाग ही आगे जाकर आशरणरूप में परिणत होता हुआ धाम

पुनश्च बनकर 'अर्थ' नाम से व्यवहृत होने लगता है । इस प्रकार सूर्य में ज्ञान (विद्या), क्रिया (कर्म), अर्थ तीनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है । तीनों शक्तियों का सूर्य में पूर्ण विकास है । ज्ञानशक्तिमय होने से—'पियो योनः प्रयोदयात्' (पञ्च. २.२।२) यह कहा जाता है । क्रिया शक्तिमय होने से—'प्राणः प्रमातामुदपसेष स्याः' (प्र. उ. १।८) यह कहा जाता है । एव अर्थशक्तिमय होने से इस के लिए—'नूनं जनाः सूर्येण प्रमृताः अयमर्प्यानि कुखबमर्पासि' (अ. ७.३।३) यह कहा जाता है । इन तीनों में अर्थ का कर्म से अन्तर्भाव है, अतः परमार्थ में ज्ञान—कर्म मेद से दो भाग हो रहे जाते हैं । सत्ता के अन्तर्गत भी कर्म हैं, सब सूर्य के कर्म भाग से सम्बन्ध रखते हैं । एव सत्ता में जितनी भी ज्ञानशक्ति है, वे सब सौरज्ञान के अन्तर्गत से सम्बन्धित हैं । इस प्रकार त्रैलोक्य विद्या, सहस्रांशु, विद्या—अविद्यामय सूर्य भगवान् विद्या के मध्य में प्रसिद्धित होकर प्रजापति का यश फैला रहे हैं । जिस दिन इन का वय हो जाय, उस दिन सब कुछ अनुपादयितव्य के गर्भ में विस्तीर्ण हो जायगा । सूर्याभासप्रभ एवम् गम (प्रत्ययागम) है, सूर्यसत्ता अद्वैतागम (सुप्रभागम) है । यही प्रजापति का पुत्राह है । सर्व-शास्त्र सूर्य उत्पन्न कैसे हुए ? यह प्रश्न बन जाता है । इस के समाधान के लिए निम्न लिखित संबत्सरविद्या प्रकरण पर ध्यान आसनी चाहिए ।

स्मरन्तं कश्चिन्मिदं त्रिपतिं का ज्ञेयं किं न पृथिवी र्वा न अन्तरिक्षं वा, न सूर्यं वा ।
उत समयं पृथि वा तो क्या वा ? इस प्रश्न का समाधान करती हुई मातृशक्ति कहती है—

‘प्रापो वा इदमग्ने ससिसमेवास । ता अकाम्यपन्त—कर्म तु प्रजापेमरीति ।
ता अम्रान्म्यैस्तास्तपोऽन्यन्त । तानु तपस्तप्यमानासु हिरण्यमायार्हं सम्भमुह ।
अमाठी इ तर्हि संवत्सर आस । तदिहं हिरण्यमायार्हं यावत् संबत्सरस्य
मेमा, तावत् पर्यगच्छत । ततः संबत्सरे पुरुषः समभवत् । + + + । स इहं
हिरण्यमायार्हं व्यहजत् । नाहं तर्हि काचन प्रतिष्ठा-आस । तदेनमिदमेव हिर
ण्यमायार्हं यावत् संबत्सरस्य मेमासीत्तावद्विहजत् पर्यगच्छत् । तानि वा एतानि

पश्चाद्वराणि तान् पञ्चर्त्नकुर्वत, तऽश्म पञ्चर्वष" । स पञ्चमिषोऽष्टोक्तान् प्रातान्
सर्वत्सरे प्रजापतिरभ्युदतिष्ठत् । स सहस्रायुर्जज्ञे । + + + । स आत्मन्येव प्रजा-
तिमपत् । + + + । स ऐदत् प्रजापतिः-सर्वं माऽभ्यरसारिष-य इमा देवता
अभ्यर्त्तयति-स सर्वत्सरोऽभवत् । सर्वत्सरो इ नै नामैतत्-यत् सर्वत्सर इति"

(शत० ११ को० १।६) ।

"पृथिवी-चन्द्रमा-सूयादि की उत्पत्ति-से पहिले ससिद्ध (नाम से प्रसिद्ध) पानी
ही था । पानियों ने इच्छा की कि अपने कैसे उत्पन्न होंगे । इच्छानुसार
उन पानियों ने तप किया, श्रम किया । इस तप-श्रम से तत्पन्न पानियों
में सुनहरी अण्डा उत्पन्न हुआ । उस समय तक सर्वत्सर उत्पन्न न हुआ था ।
उस समय वह हिरण्यमयाण्ड यह एक व्याप्त, जहाँ तक कि आज सर्वत्सरचक्र
की सीमा है । एक वर्ष में वह (पुरमात्र से युक्त होता हुआ) पुरुष बन गया ।
उस (आपोमय प्रजापति) ने हिरण्यमयाण्ड की ओर दृष्टि डाली । उस समय
(उस अण्ड में) कोई प्रतिष्ठा न थी । केवल सर्वत्सर की सीमातक प्रजापति
उस हिरण्यमयाण्ड की ओर ही घूमता रहा । आगे जाकर पाँच अक्षरों से
अभ्युत्पन्न उत्पन्न की । इन अभ्युत्पन्नों के सहारे आपोमय प्रजापति एक वर्ष में उठ
खड़ा हुआ । आगे जाकर उसने अपनी आयु के हजार वर्ष तक यज्ञ किया ।
(इस से प्रजा उत्पन्न हुई) प्रजापति नाम से प्रसिद्ध उस प्रजा की प्रजापति ने
अपने ही शरीर पर प्रतिष्ठित किया । आगे जाकर प्रजापति ने विचार किया
कि अरे ! इस प्रमनन क्रम में) अपने तो अपना सब कुछ खो बैठे । प्रजा-
पति के इसी माधनमय पञ्चदश का नाम "सर्वत्सर" हुआ । यह सर्वत्सर
ही आज "सर्वत्सर" नाम से प्रसिद्ध है ।"

सर्वत्र आपोमय पानी का साक्षात्त्व है । उस को "इरा" कहा जाता है । यह इरा नाम
का उस ही अग्नि सम्पन्न से बन बन जाता है । अभी प्रतिष्ठित उत्पन्न नहीं हुआ है, केवल

प्राणमूर्ति ब्रह्माग्नि का साम्राज्य है। उस समय पानी का रस भाग सर्वथा प्रबलस्थिति में है, मनप्रतिष्ठा का अभाव है। अतएव 'सरिदुमाधमयी-(पञ्चवर्णगीता) इरा -(रसभागा) यस्या' " इस निर्वचन से पानी की वह प्रापमिष-अवस्था "सरिर" नाम से प्रसिद्ध थी। पानी उस समय "ससित्त" या इसका तात्पर्य यही है कि उस समय पानी का रस भाग सरिर था। सरिर ही ससित्त का चोतक है। इधर उधर बहते रहना, यह अतृप्तता का सामाजिक धर्म है। आपोमय परमेष्टी तब अतृप्त है अतः इसे म्याप्त ससित्त ही माना जा सकता है। अभी "नह आप सबया श्रुत है, सद्य (पितृ -मान का उदय अभी नहीं हुआ है" यही बतसाने के लिए— 'आपो वा इदमग्रे सलिसमेवास' यह कहा गया है। इस आपोमय महाद्वन्द्व के गम में मनप्राणकात्म्य सृष्टिसाक्षी अभ्यय गर्मी बन रहा रहा है। का मना इस का निस्सर्ग है। इसी की क्रमना से मातरिका की कृपा से वायुरूप पानी में सद्य होता है। बात यह है कि अतृप्त परमेष्टी का पानी वायुरूप है। यह बसवायु स्थिर मातरिका वायु से भिन्न हुआ है। इस स्थिर वेष्टन के भीतर गतिबन्धी वायु भरना व्यापार करता रहता है। मातरिका की सीमा तक जाकर वह वापस सीटता है। यदि सीमा न होती तो वायु को इधर उधर निकल जाने के लिए पर्याप्त परतल मिष्ट जाता। उस समय सद्य का अन्तर न आता। परन्तु मिष्टस्वरूपसमर्पक मातरिका के वेष्टन से वायु को निकलने का अवसर नहीं मिलता। वह अपने गतिस्वभाव से परस्पर में टकता जाता है। वायु के इसी संघर्ष से आग्नेयपरमाणु उत्पन्न होबते हैं। वायु का सत्परूप वस्तुप्रयोग ही—'सहोवस' नाम से प्रसिद्ध है। यह अग्नि इसी वस से उत्पन्न हुआ है अतएव इसे 'सहोवा' कहा जाता है। इसी सहोवा अग्नि की बीजावस्था 'वाक्' नाम की तीसरी प्रकृति है। यह वाक्स्थान नहीं आपका सुश्रीवित, सूर्यस्वरूप-समर्पक गायत्रीमात्रिकवेत् है। इसी वाग्रत की उस आपोमेष्टि में आहुति होने से उक्त सहोवा अग्नि उत्पन्न हुआ है। 'अप एव ससमर्दि तासु बीजमवाप्तव' इसादिरूप से मनुने बिज बीज का उल्लेख किया है, वह यही वाग्रत है। बीजावस्थापत्र वाग्रत आप में आहुत होकर संघर्ष से अग्निरूप से निवसित हुआ। सारे पामेष्ठन समुद्र में अग्नि परमाणुरूप

से व्याप्त होगया । ग्राहरीभा द्वारा अण्ड का स्वरूप बन चुका था । इस आपोमय अण्ड में चारों ओर अग्नि अतृकृत से भरगया । अग्नी पियड नहीं बना, वेदक्ष अग्निपरमाशुओं का उदय हुआ, यही हिरण्यमयायड कहलाया । यही अग्निपुत्र 'धूमकेतु' नाम से प्रसिद्ध हैं । यही धूमकेतु सूर्यपिण्ड के जनक हैं । इसी धूमकेतु का निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

(१)—हरयो धूमकेतुभो भावजूता अय यवि ।

यतन्ते ह्यगगनयः ॥ (श्रुक् सं० पं४३।४) ।

(२)—एतेत्ये ह्यगगनय इदासः सहस्रत ।

उपसामिष केतवः ॥ (श्रुक् सं० पं४३।५) ।

(३)—अणवधे साभिष्टम सौपधीरनुकथ्यसे ।

गर्मे सधायसे पुनः ॥ (श्रुक् सं० पं४३।६) ।

(४)—यदये दिविना अग्निः अण्पुजा सहस्कृत ।

त त्वा गीमिर्हवामहे ॥ (श्रुक् सं० पं४३।७) ।

(५)—स नो महौ अनिमानो धूमकेतुः पुरुषन्ध्रः ।

धिये वामाय रिन्वतु ॥ (श्रुक् सं० १।७।११) ।

(६)—यदपुनया अरुणा रोहिता रये वातजूता ह्यमस्येव से रवः ।

आदिन्वसि भनिनो धूमकेतुनाप्रे सख्ये मा रिरपामा वय तव ॥ (श्रुक् सं० १।६।११) ।

• (१)—वायु से प्रेरित धूमकेतुअग्नि अन्तरिक्ष में पुषट् पुषट् गर्मी से जा रहे हैं ।

(२)—पुषट् पुषट् मिश्रण करने वाले वह (धूमकेतुअग्नि) अग्निप इक्ष्वाक्यों द्वारा सन्निहित काल (यज्ञ म) प्रपन्न हो रहे हैं ।

(३)—हे अग्नि ! आप का निवासस्थान बनने में है । ऐसे आप ओषधियाँ वर अनुग्रह वर उनके कर्म व प्रसिद्ध होकर (ओषधिरूप से) उत्पन्न होने हैं ।

(४)—हे अग्नि ! आप पुषट् में, एवं धूमकेतु में उत्पन्न होने वाले हैं । उहोमस से आप (निरव) मुक्त हैं । ऐसे आप श्री हम वायु से स्तुति कर रहे हैं ।

(५)—(नियन्त्रणक व होने से अग्निमान-विरिष्केदारहित-व्यतक-इतकः व्याप्त), अन्तर्गन्धि के समान प्रकटित वह धूमकेतु नाम का अग्नि हमारी बुद्धि एवं कर्म (कर्म-कर्म के लिए प्रसन्न करें) ।

धैरिक वैज्ञानिक तथों का अभी ही प्रसाद माया में स्पष्टीकरण करने वाले अपान्तरतमा महर्षि के अवतार मगवान् कृष्णद्वैपायन (वेदव्यास) ने अपने सुप्रसिद्ध महाभारत ग्रन्थ में उक्त श्रुतियों की उत्पत्ति का क्या सद्य प्रतिपादन किया है, देखिए कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

पुरासित मित्रमाकाशमनतमचसोपमम् ॥
 तद्वत्पट्टार्कपवन प्रसृतमिव संवमौ ॥१॥
 तन् सप्तसमुद्रान्न तमसीशपर तम ॥
 तस्यास्य सखिसौत्मीशदुःखिष्ठ मारुत ॥२॥
 यथा भाजनमपिदुःख निःशब्दमिव लप्यते ॥
 तथाममसार्यमस्य सशब्द कुल्लेऽनित ॥३॥
 तथा सखिससुखे नमसोऽन्ते निरुतरे ॥
 मिथराकृतं वायु समुद्रादति धीवचम् ॥४॥
 स एव चरते वायुरर्णवोन्मीडसम्भव ॥
 आकाशस्थानमासाद्य प्रशान्ति माधिगच्छति ॥५॥
 तस्मिन् वायव्यभुमर्षये दीप्तयेजा महाबल ॥
 प्रादुराभूद्भवगिम्ब इत्य निस्तिनिर नम ॥६॥

(६) — ६ अर्थ : शिव समय का वायुरर्णव (वायुधन ही) दीप्तो से पुनः रूप का लक्षण हीन ही की जलती हुई मित्रता है उस समय का वायु एक महा बलिष्ठ वृषभ वर्त्म प्रिय दयाला है । अतएव का वायव्य सद्य वचनों में (वृत्ति में) अपने वृत्तों का तो उक्त होता है । ६ अर्थ : वायु का रूप मित्रता होखने पर इन वचनों द्वारा न चले । 'दम सद्य वायु के हैं' (का का जमी रवि का कर का दयाला रहा वचनों करीण) ।

१ वृत्तों की व्याख्या में पुष्पान् (वृत्तान्) कहा जाता है । इति वा उपलक्षितं कदा द । वा वर्त्मनी पुनः कदाचित् में सति हीन हुआ कदाचित् वर्त्मनीयम् कदा द । वर्त्मनीयम् है 'वृत्ता निम्न निर नम' का कदा द ।

अग्निं पवनसमुत्तं रथं सदाक्षिपते नक्षत्रम् ॥
 सोऽग्निर्मोक्षसयोगाद् धनस्यमुपपद्यते ॥७॥
 सत्त्वाकारं निपतितं रनेह्स्तिष्ठति यो पर ॥
 स संघातस्त्वामाप्नोति भूमिन्मनुजगच्छति ॥८॥
 रसानां सर्वगन्धामां स्नेहानां प्राणिनां कृपा ॥
 भूमियोनिरिह देवा यस्यां सर्वं प्रसूयते ॥९॥

(महा० शान्तिप० मोक्षव० १८३ अ० १८३ सो १७३ सो पर्यन्त)

उक्त मन्त्रवर्णन एवं व्यासवचन से पाठकों को विदित होगा कि आपोम्य (गण्डुमय) महासमुद्र में इतखत दोषात्मान प्रदीप्त, सौरप्रकाशवत् प्रयत्नमान अतामिपुञ्ज ही धूमकेतु है। 'धूमकेतुनामेकसहस्रसंख्येति-शशिनव्द्रासमानास्त्रीमाः' के अनुसार धूमकेतु संख्या में एक-सहस्र माने जाते हैं। यही सहस्र धूमकेतु पृथक्पृथक्-स सहस्रायुज्जो' प्रजापति की आशु के सहस्र विभाग हैं। यही अग्निपुञ्ज सूर्यपिण्ड के उत्पादक हैं। जोई एकसा धूमकेतु (शशिमूला अग्नि) क्रमशः केन्द्र में संघातमात्र को प्राप्त होता हुआ सूर्यपिण्डरूप में परिणत होगया है। यह अग्निपुञ्ज परिक्षमणशील या अतएव सतुल्य सूर्य भी रक्षस्थान पर घूमता हुआ अपने प्रमथ परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है, एक शतर धूमकेतु सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहे हैं। उन्नावध स्थान मंद से इन की परिक्रमा का कास अनन्तवर्षों में विभक्त है। घूमते घूमते धूमकेतु अब सूर्य के समीप जाता है, तभी यह हमारे दृष्टिपथ में आता है। यही इस का उदय कलक माना जाता है। परिक्षमणशील धूमकेतु से उत्पन्न सूर्य के परिभ्रमण से ही प्रकर्मियों से आगे आकर शनि-वीरस-वृहस्पति-देवसेना-पृथिवी-बुध-मा-उर-कपिल-वराह-आदि पृथक् पृथक् अनेक अग्निगोष्ठ उत्पन्न हुए हैं। यह सब सूर्य के हैं। सूर्य पानी के गर्म में उत्पन्न हुआ है, अतएव इन गोष्ठों में केन्द्र में अग्नि है, बाहर

पानी है । के द्रव्य अग्नि प्रजापति है । यह अस्मदादि प्रजानिर्माण में क्रमशः जिसका (सर्प) होता हुआ कम हो रहा है । जिस दिन अग्नि निःशेष होजायगा, इन गोसों का वायु समाप्त होजायगा । इसी क्रम से एक दिन सूर्य भी नष्ट होजायगा, वह जायगा नहीं सत्सिद्धावस्थापन केवल आत्मिक समुद्र । घूमने लगे उत्पन्न होगे, फिर नया सूर्य, नया विश्व बनेगा । विरवेश्वर के इस विश्वकर्मा के अनाद्यनन्त प्रवाह को कौन जान सकता है ।

सृष्टि की उत्पत्ति का सम्बन्ध में पाश्चात्य जगतने “ तेजोमेघविचार ” (Nebular Hypothesis) को प्रामाण्य दी है । इस सिद्धान्त के आविष्कार्ता केन्ट और सानाप्स का कहना है कि “ किसी समय साग विश्व चम्प वायुमय था । उस समय वायु रूप विश्व चक्र की तरह चारों ओर घूम रहा था । आगे जाकर क्रमशः मध्य भाग में घनमास का सङ्घट्ट होने लगा । बाहर के भाग के सम्बन्ध बिच्छेद होमानों के कारण ज्योतिर्गोस टूट टूट कर पृथक् पृथक् होगए । ये तप्त गोसे जैसे जैसे ठंडे होते गए, जैसे जैसे पिघलते गए, आगे जाकर यह घन बन गए । इनका बाह्यभाग तो कठिन होगया, एवं भीतर का भाग चम्प्यावस्था में रहा । इस प्रकार अन्तरिक्ष में मृगोसों की उत्पत्ति हुई ” ।

तुलना करिए पूर्व—पश्चिम विज्ञान की । दोनों में से कौन यथार्थ में प्रथम द्रष्टा है । “ पहिले वायु था, वह पिघल बना, पिघल पिघल गया, फिर कठिन होगया ” इस रहस्य का क्रमिक निरलेपण किसने सब से पहिले ससार के सामने रक्खा ! उन्हीं वेद महर्षियोंने । आकाश से वायु, वायु से घन अग्नि, घन अग्नि से तरल पानी, तरल पानी से पुनः घन (पृथिवी) मास— इस क्रम के (तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूता, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अपोभूम्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिम्योऽन्नं, अन्नाद् पुरुषः) प्रथम आविष्कार्ता हैं, हम कुतूहल के पिता पितामह । जिन की कि स्रष्टाने वेद का शिरस्धार कर व्याख के विज्ञान युग में सब सिद्धान्ताभिमतिओं से परे दक्षित हो रही है । व्याकरण—न्याय—भाष का उद्धार नहीं कर सकते उद्धारक है—एक मात्र वेद ! बहिर विज्ञान !! “ वेद एव द्विमावीनां निर्भेयसङ्करा परा ” ।

प्रकृत का अनुसरण कीजिए। आपोमय (वायुमय) प्रजापति के गर्भ में घूमनेरूप हिरण्यमाण्ड से आगे जाकर पिण्डरूपक सूर्य का जन्म हुआ, अतुलों का विकरल हुआ, प्रजापति प्रजानिर्मास में युक्त होकर 'सर्वस्वर' का संस्वररूप में परिणत होगर। गायत्रीमात्रिक-वेद्वन, प्रकृतिशास्त्र, इन्द्रायमय संस्वरभिद्यता यही सत्य का अवतार है। विषयमिष्य होने से ही यह सत्य है। आपोमय परमेष्ठी सर्पत्रयम इसी सत्य को अपने गम में धारण करता है। सूर्य पानी की गहराई में प्रतिष्ठित है—“अपां गमन्त्सीद्” (शत० ७।५।१।=)। इसी सत्य सूर्य का निरूपण करते हुए निम्न लिखित श्रौतवचन हमारे सामने आते हैं—

१—“तद्यत् तत् सर्वं त्रयी सा विद्या” (शत० १।५।१।=)।

२—“तस्यै वाचः ससमेन ब्रह्म” (शत० २।१।१।१०)।

३—“ससमेन य एव तपति” (शत० १।१।१।२)।

४—“आपो वै (सीर) देवानां मियं धाम” (त० ब्रा० १।२।१।२)।

उत्पन्न होकर यह हिरण्यमाण्ड चारों ओर समुद्र में घूमने लग्य। आगे क्या हुआ ? सुनिए। अजयिन 'सर्वस्वर' शब्द को कासवाचक समझ आ रहा है। यदि किसी विद्वान् से 'सर्वस्वर' शब्द अर्थ पूछा जाता है तो वह उत्तर में ३६० दिक् के वाचक 'वर्ष' शब्द को प्रसक्त्य के सामने रख देता है। वस्तुतः सर्वस्वर शब्द कास का वाचक नहीं है, अपि तु अग्नि का वाचक है। इस सर्वस्वरभि के ही पञ्चसुक्ल पाँच विषय हैं। जिस मार्ग पर पृथिवी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा सगती है, वह मार्ग क्रान्तिवृत्त नाम से प्रसिद्ध है। इस क्रान्ति-मण्डल में व्याप्त जो सीर अग्नि है, उसी का नाम सर्वस्वर है। यह क्रान्तिवृत्त ही सर्वस्वर की वैसा (परिधि-तन्-अन्तिम सीमा) है। सूर्य से पृथिवी उदात्त होती है। उत्पन्न होकर सूर्य के चारों ओर घूमने लगती है। ऐसी परिस्थिति में अग्नि उत्पन्न हो तब तो सूर्य का लक्ष्य सम्भ्रम हो, सूर्य हो तब पृथिवी बनें, पृथिवी हो तब सर्वस्वरभि की सीमा हो। इसी अभिप्राय से सूर्योत्पत्तिकाल की स्थिति को ज्ञान में रखकर पृथगुक्ति ने “जस समय सर्वस्वर न था,

भान जो तुम सबस्मर श्री वेत्ती देख रो रो, यहाँ तक केवल अधि मरा हुआ था, परं
 भइ बड़े वेग से घूम रहा था" यह कहा है। पृथिवी एक वर्ष में इस आग्न्यात्मक स्रस्तर
 के चारों ओर घूम आती है इसलिये स्रस्तर शब्द वर्ष का वाचक बनता हुआ बहुत बड़ा
 वाचक बन गया है। यस्तुतः स्रस्तर अधि का ही वाचक है।

सूय का जन्म हुआ, सिपा-कर्ममय निरागम का विकसित हुआ। सारा सिद्ध आलोकेत
 एवं पुष्टिकत होगया। सूय में जो इन्द्रमाग है वह तो फल है, एवं येनता माग दिया है। सौर
 इन्द्र रूपज्योति का (प्रत्यक्ष का) अभिधत्ता है। इसी ज्योति को भूतज्योति कहते हैं।
 विद्यमान ज्ञानज्योति है। दोनों में अनुप्राप्ति-अनुप्रादक सम्पन्न है। भूतज्योति ज्ञानज्योति
 पर प्रतिष्ठित है, ज्ञानज्योति भूतज्योति के आधार पर विकसित है।

इसकी बुद्धि जैसे अस्याम्पत्तस्था को प्रकाशित करने वाला मूर्ध है एकमेव वह सूय
 आभिद्विकसंस्था को प्रकाशित करने वाली (इन्द्र की) बुद्धि है। इसमें अविद्या-विद्या दोनों
 भागों का साम्राज्य है, यत्र एव इस में ज्ञानों और तम का राज्य हो जाता है। दोनों भाग
 (प्रत्येक) चार चार भागों में विभक्त हैं। ज्योतिषश्च विद्या माग धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य
 इन चार भागों में विभक्त है, एवं तनेतद्वय अविद्याभाग अरम-प्रज्ञान-आसक्ति-अर्नवप
 इन चार भागों में विभक्त है। यही साम्प्रदायिक 'अष्टौ बुद्धयः' है। विद्या का यतुदा विभक्त
 ज्योतिमाग अम्यव के विद्याभाग का, एवं अविद्या का यतुदा विभक्त तनोमाग अम्यव के अवि
 द्याभाग का अनुप्रादक है।

प्राज्ञिर निम निषत्तं का ही नाम धर्म है, जैसा कि पुरुषाग्राधिकरण में मित्रार से
 बताया जा चुका है—(इतिर ई० वि० भा० पू० —) प्राज्ञिक सिद्ध को प्रकाशित
 करने वाली यतना ज्ञान है। उस विग्योति का सारे भूतों के मन में प्रविष्ट रहन हुए ही
 भूतज्योति में जाता है, यही वैराग्य है। यत्र अतीत्य से निश्चित रहने वाली नाम का

की समष्टि 'ऐश्वर्य' है। नियतधर्म को आधृत करने वाला पाप्मा 'अश्रम' है। ज्ञानयोति को आधृत करने वाला पाप्मा अज्ञान है। पशुओं में प्रस्थिभक्षण डालने वाला, रागद्वेष उत्पन्न करने वाला पाप्मा आसक्ति है। आत्मज्योति को आधृत कर उसे जड़रूप में परिणत कर देने वाला पाप्मा 'अनैश्वर्य' है। ईश्वर के शरीर में (सूय के सम्बन्ध से) दोनों का सम्बन्ध है। सूय अपने प्राक्प्राण से निषाधनुषपीक्य र्वैरीसम्पत् पर प्रवर्तक बनता है, एवं अवाहनाणु से अविषाधनुषयाक्य आधुरीसंपत् का बनक बनता है, अंसा कि वामसनेय श्रुति कहती है,

“स आस्येनैव (मुख्यमाणात्मकमाहाराणेनैव) देवा रक्षन्त । ते देवा दिवमभि-
पय-अयश्च, तदेवानी देवस्य-यदिवमभिपयायश्च । तस्मै यजमानाय
दिवेशस । + + + + । अथ योऽयमवाह माण -तेनाधुरानय्यन्त । त इमा
मेव पृथिवीमभिपयायश्चन्त । तस्मै यजमानाय तस्मै इश स” । + + + + ।
समादेतदृश्वपिणाऽभ्यनुत्—

‘न त्वं युयुत्से कृतमघनाहनेऽभिषा मरान कथं नास्ति ।

मायेन सा ते पानि युद्धायादुर्मायं गर्धु न नु पुरा युयुम्से ॥”

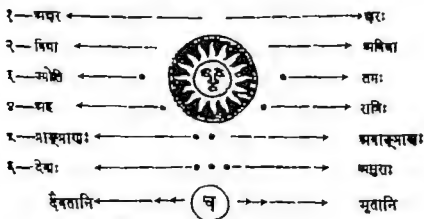
(शत० ११ पत्र० १।१६७-८) ।

उक्त ऋषी इन्द्रावक्ता सूय प्रमायति से ही श्रेय-अधुर सृष्टि की प्रशंसा बतला रही है। 'दस्ता और अधुर दोनों सूय (इन्द्र) की सन्तान हैं। यही अवस्था में जो इन्द्र का अधुरों के साथ युद्ध काकाया जाता है, वह असंगत है' उक्त मन्त्रधुनिने इसी अर्थ का स्पष्टीकरण किया है। पृथिवी के सम्बन्ध से सूय में महोपप्रमाण का उल्लेख होता है। वह काल में और प्राण नामक प्राण की प्रभावता रहती है। रात्रि में पार्थिव अमाननाण की प्रभावता रहती है, इसी को अवाहनाण कहा जाता है। पृथिवी सूय का ही उत्पन्न है, अतः पार्थिव अवाहनाण को

१—एतस्मिन् वा शिखरे विद्यमानं जगत्स्य वैश्वामास्य २ अश्विषिष्य इषा मिहपत्न्यं रत्नम् ३ तदा
वक्ष्यतामधुरान् म दत्तां श्रीर ।

सूर्य का ही अनाङ्गण मान लिया जाता है । पृथिवी में अमिषारूप अक्षरमात्र की प्रधानता है, वह पार्थिवभाग अक्षरप्रधान बनता हुआ भूतप्रधान है । सूर्य में विद्यारूप अक्षरभाग की प्रधानता है । यह सौरभाग अक्षरप्रधान बनता हुआ प्राणप्रधान है । भूतमयी पृथिवी की परिक्रमा से प्राणप्रधान सूर्य तमोमय आसुरीमिमृति का अक्षरमक बनता है । संकसरामक ओक्तिर्मय प्राण-प्राण से बनी सूर्य देवीमिमृति का स्वरूप समर्पक बनता है । दिन में सूर्य की देवीमिमृति कर, एवं रात्रि में आसुरीमिमृति का साम्राज्य है, जैसा कि श्रुतिमें—“स यद्रूपं देवान् सद्यमानाय दिवेवास, तद्वरकुरुत । अथ यदत्मा असुरान् सद्यमानाय तम इवास, तां रात्रिमकुरुत । वेऽप्रहोगाने” इसादि रूप से व्यंग्य आकर साद्व्य कर दिया है ।

सम्पत्परिलेख —



देवीसम्पत् विषाचतुष्टयी	देवश्च वा असुरश्च तमो प्राणापन्नाः	आसुरीसम्पत् अमिषाचतुष्टयी
----------------------------	---------------------------------------	------------------------------

सुपगत विद्या (ज्ञान)-भाग स्वरूप से एकरूप ही है । केवल पार्थिवभूत के सम्बन्ध से ही इसके चार विर्त हो जाते हैं । पार्थिवभूत पाप्मारूप होने से अभिषाप्रधान है । यह भूतभाग ही आत्मा को निष्कृति से प्युत करता हुआ अघर्म का कारण बनता है । वही विस्फोति का आधार बनता हुआ अज्ञान का राग-द्वेष का मूल बनता हुआ आत्मिकता का, एवं आत्मविकास का प्रतिद्वन्द्वी होता हुआ अनैश्वर्य का प्रवक्तृ बनता है । सत्तार में जितने अघर्म होते हैं, जितना अज्ञान है, जितनी आत्मिकता है, जितना विफासामात्र है, उन सब की नद सांसारिक अघसम्पत्ति ही है । इन चार उपाधियों के कारण स्वरूप से सर्वथा निरुपाधिक वह विद्याभाग भी चार भागों में विभक्त हो जाता है । इस प्रकार केवल भूत की दृष्टि से एक ही मुद्रि काठ स्वरूप धारण कर लेती है ।

विद्याबुद्धय

अविद्याबुद्धय

१-अघ → → → १ अघर्म

२-ज्ञान → → → २ अज्ञान

३-वैराग्य → → → ३ आत्मिकता

४-ऐश्वर्य → → → ४ अनैश्वर्य



चार अभिषा मिषयों के मूल पांव हैं । अभिनिवेश से अघर्म का उदय होता है । त्रिसे दन-दुराद्वर बढ़ा जाता है, वही अभिनिवेश है । 'गुरुवेदग-गास्त्र-सौकर्मपादि-आदि पुत्र मदी है । जो पुत्र हम सम्पन्न है, वही टीक है । हम भी मनुष्य हैं । हम अपना अपना दुग राय समझ सकते हैं' । इस प्रकार जाने आकरने सब सर्वा सम्पन्न कर बन्धित सिद्धांत बनाकर उपाय ग्रहण करना अभिनिवेश है । सत्तार में और सब देखें वही विविग्ना सम्पन्न है, पाप्म 'हम नहीं मानते' कहने वल्लों की विविग्ना अघर्म प्रकाश भी नहीं कर सकते 'न तु मतिनिविष्टमूर्धनमिष्टागापयेत्' । अज्ञान ही अभिनिवेश का जनक है ।

सर्वपां मूर्त्तं को समन्वया जासकता है, विद्वान् सरसता से युक्तिसंगत बात को मान लेता है। परन्तु अर्द्धविचित्रों का अनुरक्षण असमय है। ज्ञानसबबुद्धिदम्भ अभिहितस्य इ। आज भरतर्षे में इसी अभिनिवेश का सम्भ्राम्य है। सभी शिष्टित माने जाते हैं, परन्तु सभी पूर्य अभिनिवेश हैं। शास्त्र की मर्यादा भी यही समझते हैं। शास्त्रों में क्या है? इस के निर्धारण भी यही हैं, फिर चाहे सस्वतयाङ्गमय शास्त्र में इनका सम्प्रवेश भी न हो। शुगर्भ के रहस्य वेत्ता भी यही हैं। तभी तो वेद कमल सञ्चलित करता जा रहा है। ब्रह्मा यह है कि अभिनिवेश अर्द्धशुद्धि का जन्मक है, अथवा नाश का कारण है। शिष्टा का अभाव अज्ञान का कारण है। निता शास्त्राध्ययन के ज्ञान का आग्रह नहीं होता। रागद्वेष आसक्ति के जन्मक हैं, अस्मिता अनैश्वर्य की माता है। जो व्यक्ति निरन्तर 'हमारे पास कुछ नहीं है'—'कुछ नहीं है' करता रहता है, वह शीघ्र ही सारी विमूर्ति को बैठता है। निरन्तर रिक्त (स्थितता) मात्र है। अपने आत्मा में सब कुछ विमूर्ति समझना रिक्ततत्त्व ऐश्वर्य का कारण है। प्रत्येक दशा में अस्मत्त्व का अनुमन करना अस्मिता सञ्चय अनैश्वर्य है।

१—अभिनिवेश से—अधर्म

२—अभिधा से —अज्ञान

३—रागद्वेष से —आसक्ति

४—अस्मिता से —अनैश्वर्य

पूर्व कथनानुसार ईश्वर के शरीर में पूर्वोक्त अष्ट विवर्त हैं। उस में द्वीतीसपद भी है, आसुरीसपद भी है। तपःवि वह आसुर्य से सदा निवृत्त रहता है। कारण इस का यही है कि वह समत्वयोग का अभिष्ठता बना हुआ है। उसमें अभिधा है अथवा, अन्यथा अविधामूलक सत्ता कैसे निरुद्ध उत्पन्न होता। परन्तु समत्वयोग के प्रभाव से वह अर्द्धमय निवृत्ति हो जाता हुआ भी असिद्ध है। अभिधावृत्त होता हुआ भी अभिधा से अपराध (असंग) ई-
“केशकर्मविधाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः” (पातञ्जल-योगदर्शन)।

“सप्त वै देवस्वर्गाः” के अनुसार देवस्वर्ग सात भागों में विभक्त हैं। इन सातों देवस्वर्गों की प्रविष्टा सूक्ष्म ही है अथवा सूक्ष्म के लिए—‘मध्ये इ संवत्सरस्य स्वर्गो लोकाः’ (शत १।७।१-११) ‘स्वर्गो लोकः सूर्यो ज्योतिरुत्तमम्’ (पञ्च सं २०।२१-शत १।२।२२) इत्यादि कहा जाता है। इन सात देवस्वर्गों के अतिरिक्त तीन विष्टपस्वर्ग और हैं। यह तीनों क्रमशः प्रक्षयिष्टप, विष्टपिष्टप, इन्विष्टप नामों से प्रसिद्ध हैं। तीनों की समष्टि त्रिविष्टपस्वर्ग है। पृथ्वी के १७ वें अर्धगण से आरम्भ कर २५ वें अर्धगण तक जो एक प्राकृतिक वर्ष हो रहा है, वही नवाहयज्ञ ($\frac{1}{2} - \frac{1}{4} - \frac{1}{8} - \frac{1}{16} - \frac{1}{32} - \frac{1}{64} - \frac{1}{128} - \frac{1}{256} - \frac{1}{512}$) इन अर्धगणों की समष्टिरूप) नाम से प्रसिद्ध है। इस नवाहयज्ञ के केन्द्र में (२१ वें अर्धगण में) सप्ताहव्यापिष्ठता सूर्य प्रतिष्ठित है। पृथिवी के ३३ अर्धगणों में से विस्र अर्धगण पर सूर्य प्रतिष्ठित है। इस प्रश्न का सम्प्रधान करते हुए निम्नलिखित श्रौत बचन हमारे सामने आते हैं—

१—“एकविंशो वै स्वर्गो लोकाः” (शत० १।७।१।६)।

२—“एकविंशो वै इवः स्वर्गो लोकाः” (तै० ब्रा० ३।१२।५।७)

३—“एव एवकविंशो य एव (सूर्यः) तपति” (शत० ५।१।१।४)।

संक्रस्यमानक सूक्ष्म की प्रविष्टा यही नवाहयज्ञ है। १७ तक पृथिवी का अपमा प्रायः है, १७ से २५ तक सौर संक्रसर का सामूह्य है, इसी आधार पर—‘नवाहो वै संवत्सरस्य प्रतिमा’ (पर्वणि ब्रा ३।१२।) यह कहा जाता है। ४ अर्धगण सूर्य से धीमे हैं, एवं ४ अर्धगण सूक्ष्म से ऊपर हैं। इन दोनों चतुष्टोमों की प्रविष्टा एकविंशस्तोमात्मक सूक्ष्म ही है—“एकविंशो वै चतुष्टोमः स्तोमानां परमः” (कौ० ब्रा० १।१।६) “प्रविष्टा वा एकविंशः स्तोमानाम्” (स्यं० ब्रा० ३।७।२)। इन में १७ वाँ स्तोम प्रक्षयिष्टप कहलाता है। यहाँ तक पार्थिव अग्निप्रमापति की प्रधानता रहती है। यही सप्तशस्तोमस्य अग्नि—‘प्रमापतिः सप्तदश’ (ऐ० ब्रा० ८।४) के अनुसार प्रमापति कहलाता है। यही अग्नि ‘आहवनीय’ नाम से प्रसिद्ध है—(देखिए ऐ० ब्रा० ३।२४-२६)। सप्तदशस्तोमस्य इस आहवनीय अग्नि में सोम

की भावना होती है। इस भावना से यह अग्नि प्रकटित होकर २१ एकविंश स्तोम तक व्याप्त हो जाता है। इसी सोमावृत्ति के प्रमाण से पार्ष्णि ब्रह्मा की एकविंश तक व्याप्ति मानी जाती है। इस यज्ञात्मक मिथुन के—विष्ट (६), पञ्चम (१५), एकविंश (२१) यह तीन विष्ट हैं। इन्हीं तीनों विष्टों से (यज्ञात्मकों से) ब्रह्मविष्ट १-१५-२१ रूप पृथिवी-भूमि-विष्ट—यों इन तीनों विष्टों में व्याप्त हो जाते हैं। २१ पर मिथुन की व्याप्ति सम्यक् है। यही २१ वां स्तोम 'विष्टविष्ट' कहलाता है—“तान् विष्टविष्टविष्टिना स्तोमेनाप्नोत्” (तै० ब्रा० २।७।१४।२)। इसी मिथुनविष्ट को प्रचक्षत्यविष्ट इति नामो से भी व्यवहृत किया जाता है—(देखिए तै० ब्रा० १।८।१।३)। यही भर्ग-नाकस्वयं नाम से भी प्रसिद्ध है। २१ से २५ तक इन्द्र विष्ट का साम्राज्य है। इसी को सौम्यविष्ट कहला जाता है। यही सौम्यविष्ट उपनिषदों में—‘अमानवपुरुष’ नाम से प्रसिद्ध है। यही तीसरा इन्द्रविष्ट है। दूसरे शब्दों में यों समामिष्ट २५ से २१ तक इन्द्र की प्रधानता है, २१ से १७ तक मिथुन की प्रधानता है, एवं १७ से १ तक पार्ष्णि ब्रह्मा की प्रधानता है। पार्ष्णि ब्रह्मा की मूलप्रतिष्ठा १७ वां स्तोम है। मिथुन की मूलप्रतिष्ठा २१ वां स्तोम है, एवं सौम्यविष्टरूप इन्द्र की प्रतिष्ठा पञ्चविंशस्तोम है। इस प्रकार १७ से २५ तक के स्तोमों में से—१७-२१-२५ तीन तो विष्टपरम्परा में समाविष्ट हो जाते हैं। शेष रह जाते हैं—१-१५-२०-२५ यह ५ स्तोम। इन के साथ में २१ के का सम्बन्ध माना जाता है। यह २१ वां स्तोम है, मिथुनविष्ट का २१ वां स्तोम है। इस मिश्र का कारण अग्नि और मिथुन है। १८ से २० तक स्वर्गाधिपति से प्रसिद्ध नाबिकेताग्नि का साम्राज्य है। सुतरां सम्पत्ति २१ के स्तोम में भी नाबिकेताग्नि की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इस नाबिकेताग्नि के सम्बन्ध से २१ वां बर्हस्पति देवसंगोष्ठी में प्रसिद्ध है। उक्त २१ पर मिथुन का भी प्रमुख है। मिथुन के सम्बन्ध से वह २१ वां विष्ट परसंगोष्ठी में भी प्रसिद्ध है। इस प्रकार २१ के दो स्वरूप हो जाते हैं। यही सात देवसंगों की मूलप्रतिष्ठा है। १-१५-२० यह तीन देवसंग २१ से इतर हैं २१-२५-२० यह तीन देवसंग २१ से उक्त हैं, सब २१ वां सातवां देवसंग है। यही तीन-संग

मनुसार 'स्वरसाय' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं के कारण सूर्यप्रकाश होता है, ऐसा कि अन्य प्रयोगों में स्पष्ट है। यही सप्त स्मृतमणि 'त्रिधाचिकेतस्वर्ग' नाम से प्रसिद्ध है। यह सातों स्वीय क्रमशः अपोदक, धृतभामा, अपरामित, नाक, अभिषी, प्रथी, रोचन, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। १० से १४ तक व्यास करने वाले एक ही अग्नि की सात भिन्न भिन्न अवस्थाएं हो जाती हैं। अग्नि की ये ही सातों अवस्थाएं क्रमशः—अग्नि, वायु, इन्द्र, आदित्य, वरुण, मृत्यु, प्रजा, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार सप्तदेवस्वी—तीन विष्णु स्वी—इन सब की समष्टिरूप गवाहस्व की प्रतिमा रूप सौराग्निमय सक्तर अवसरूप से कहा हुआ है। इस संश्लेष में सभी स्वीयों का समावेश है। दूसरे शब्दों में यह स्वीयों का टीला (पर्वत) है। अतएव इसे स्वर्गपर्वत कहा जाता है। मिट्टी पाषाण आदि का जो एक उन्नत समूह होता है, उसे प्रांतीय भाषा में टीला कहा जाता है। इन्हीं के लिए वेद भाषा में 'वरुण' शब्द प्रयुक्त हुआ है। सक्तर क्या है, स्वीय का वरुण है। प्रतिष्ठावत्त्व को ही वरुण कहा जाता है। सौर सक्तर ही शैलोन्य की प्रतिष्ठा है। इस प्रतिष्ठा की भी गुणप्रतिष्ठा एकविंशत्य आदित्य है, अतएव इसे भी 'वरुण' शब्द से व्यवहृत किया जाता है, ऐसा कि अविश्रुति कहती है—

“मसविवादिसो वरुण एकविंशः। तयचमाह वरुणमिति, यदाश्वेयैषो-
ऽस्वमेति—अयेदे सवि त्रियते” (शत० ८।४।१।२)। “प्रतिष्ठा ये
वरुणम्” (शत० ७।४।१।५)।

सक्तर स्वीय वरुण (प्रतिष्ठा) है, इसलिये भी इसे स्वर्गपर्वत कहा जा सकता है। यही स्वीयवरुण अथर्ववेद में 'स्कन्म' (पम्मा) नाम से व्यवहृत हुआ है—“स्कन्मे सवि प्रतिष्ठितः” (अथर्वसं० १०।४।७।३०)। यह अग्निस्कन्म (सक्तर, अविवासी रूप से कहा है। यही वाचा—शुषिकी का आत्मन्य है। इस स्कन्मरूप सगवण के ऊपर (केन्द्र में) शिवरूप से सूर्य तप रहा है। सक्तरवक्त्र आग्नेय है। यही एकवक्त्रवक्त्र (एक पहिए वाला) अग्निमय

मयइत्त सूर्य का सुनहरी रंग है । गायत्री-वज्रिणः-मनुष्य-वृक्षी-पक्षि-त्रिपुण्ड्र-व
गती नाम से प्रसिद्ध सात कुण्ड (सात पूर्वापरवृत्त, किंवा अहोरात्रवृत्त) रंग के सात मोटे हैं ।
इन मोटों पर सूर्य सवार है । इस प्रकार नीचे स्वर्गपरकुरूप स्तम्भ, उस पर मोटे, उस पर
सूर्य प्रतिष्ठित है । इसी सूर्य को-‘अरमाशुभि’ कहा जाता है । अरमा नाम के प्रुष सोम की
आहुति से ही सूप ज्योतिर्मय बन रहा है, जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है—

महत्तव सोमो महिष्यमकारापां यद्गर्भोऽदृशीत दानात् ।

अदपादिन्द्रे फनमान भोभोऽजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दु ॥

(अक् स० २ २७।२१) ।

इसी सोमाहुति से सूप में सप्तवर्णात्मिका रश्मियों का उदय होता है । सप्तस्व समष्टि ही
(विभिन्न विभिन्न वर्णा का समुच्चय ही) पृथिन है । इसी अरमा और पृथिन मास के कारण सूर्य
को ‘अरमाशुभि’ कहा जाता है । अग्नि च विभिन्न प्रकार एक अरमा (पत्थर) स्थिर होता है,
इसी प्रकार सूप स्वच्छरूप से अरमास्वरूप (पापाससोष्ठ) की तरह स्थिर है, सूर्य का रश्मि-
मयइत्त पृथिन है । निषद्यापेक्षया सूप अरम्य है, मण्डलापेक्षया पृथिन है । इस अरमापृथिन
सौरमण्डल के साथ चला, समुद्र, अरुण, सुषण इन चार भागों का सम्मन्ध है । उषा शब्द
दुषम (विष) का वाचक है, समुद्र शब्द पानी का वाचक है, अरुण शब्द पुरुष का वाचक है, एष
सुषण शब्द पत्नी का वाचक है । सूप साधारण रूप में है—‘दुषमो रोरवीति । रस-उपरस
पातु-उपपातु-विष-उपविषादि की वृद्धि सूप से ही होती है, इसी वरण कर्म से इसे
‘दुषम’ कहा जाता है । अग्नि च यही गोप्राण गोपशु का आरम्भक है । तात्पर्य यह है कि
केवल वर्षावशील होने से ही सूप दुषम नहीं है, अग्नि तु गोप्राणवच्छेदेन सप्तमुष रूप (गो)
रूप है । सौर रश्मियों के संपर्क से मरीचि नाम का पानी उत्पन्न होता है । सात रोशनी जैलोम्य
इस पानी से व्यक्त है । जैसे पारमेष्ठ्य समुद्र सरस्वत् कहलाता है, तथैव संश्रयारविद्येय्य का
सौर रोशनी समुद्र अर्णव नाम से प्रसिद्ध है—‘तव’ समुद्रो अर्णवः समुद्राद्वर्षादपि सव’

ससरो अमायत' (अह्नु. १०।१६०।१२)। अयि य वय का अधिष्ठाता होने से भी आदित्य समुद्र-
स्पर्क है। सूर्य ही एकमात्र वृष्टि कर अधिष्ठाता है, जैसा कि वृष्टि कहती है—

कृष्यं नियान हरयः सुपर्णा अपो मसाना दिवमुत्पतन्ति ।

य आपवृष्टन्तसदनाहनस्यादिद् वृष्टेन पृथिवी म्युचते ॥

(अह्नु. स० ११६४ अस्पवासीम सूत्र ४७ मं०)

‘यदा सस्वसावादित्यो न्यङ्ग रश्मिमिः पर्यावतने—मय वर्पति’ इत्यादि ब्राह्मणश्रुति, एवं
‘आदित्याज्जायते वृष्टिः’ इत्यादि स्मृति भी उक्त अर्थ का ही स्पष्टीकरण करती है। पुरुष
शब्द षोडशी आत्मा का वाचक है। पूर में बगबाया जा चुका है कि विषकेन्द्रभूत सूर्य में ही
पुरुष का निवास होता है। इसी आत्मपुरुष को सद्य में रखकर ‘षोडसानादित्ये पुरुषः
सोऽहम्’ यह कहा जाता है। वैश्वोक्त्य में जितना भी पुरुष (आत्म) विवृत है, सब का
अधिष्ठाता पुरुषावच्छिन्न सूर्य ही है। गरुड़ पक्षी का जैसा आकार होता है वीक जैसा ही
आकार सौर सक्षर का है। अतएव पूर्ण में सक्षर को—‘महासुर्य’ (वैश्वोक्त्य व्याप्त गरुड़
पक्षी) कहा गया है। आत्मा इसी सुपर्ण का अंग है, अतएव प्रयाणकक्ष में आत्मा भी
सुर्य नाम से ही व्यवहृत होता है। यह भवेत्स्य सुपर्ण (जीवात्मा) लोकान्तर में पवित्र
सेवण करता है। सुवसिद् गरुड़पुराण इसी आत्ममयि रहस्य का निरूपण करता है। इस
प्रकार सप्ता—(हृषम), समुद्र (अर्णव), अरुण (पुरुष) सुपर्ण—(संक्षर) इन चार भावों
से नाथ आक्रान्त वह अरमावृष्टि सूर्य पुच्छोक्त में उही प्रकार खड़ा हुआ है, जैसे कि आकाश
में निवास (किन्तु स्वयंसे से आवासुक्त) विमान (वायुयान) खड़ा रहता है। ऐदंही
वैश्वोक्त्य में व्याप्त इसी विमान का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

विमान एव दिवो मय्य आन्ते आ मयिवात्त रोइसी अन्तरिदम् ।

स विभापीरमिषेष्ट पृतापीरन्तरा पूषमपर च केतुम् ॥ (पठ सं६ १७।२२)।

उच्चा समुद्रो अरुण सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराभिरय ।

मय्ये दिवो निरिवः पृथिरमा वि चक्रमे रमसपान्यन्ती ॥ (अह्नु० ५।२७।३)।

“यसौ वा आदित्योऽश्मा पृथिवी । रश्मिभिर्हि मयदत्तं पृथिवी । एष इमौ लोका-
वन्तरेण तपति । स्थिरो वा अश्मा पृथिवी, अन्तरेण च सोऽयमुष । विष्णु-
मायो वा एष एषां लोकानामन्तात् पति” (शत० ६।२।१०) ।

उपर्युक्त आधिदैविक स्वर्गपरकण केवल ज्ञानगम्य है, मल से उपास्य है । बर्गवस्तु से
अरमापृथिवीरूप सूर्य के अतिरिक्त आप स्वर्गवस्तु के और किसी अवयव को नहीं देख सकते ।
जिस समय भूमण्डल पर देवयुग का साम्राज्य था, उस समय देवताओं में (मनुष्यविष भीम-
देवताओं ने—जिसकी कि सच्चा धाम सर्वथा उच्छिन्न हो चुकी है) भीमस्वर्ग प्रदेश में उस
प्राकृतिक (आधिरैविक) स्वर्गपरकण की नकल में ठीक वैसा ही एक स्वर्गवस्तु बनाया था ।
इसी प्रकार विज्ञानतत्त्वों की परीक्षा के लिए सिन्धु नदी के उस पार सरस्वती नदी के समीप
के टीले पर (जहाँ पर कि असिष्ठ महर्षि का आश्रम था) एक विज्ञानमयन बनाया था ।
यही विज्ञानमयन ‘सूपसन्न’ नाम से प्रसिद्ध हुआ है । द्वेते चके सूर्ये प्रभाया श्रुतुवा भिदु ’
(अक्ष० १०।२१।१५) इत्यादि रूपसे श्रुतेद संहिता में इसका बड़ा विशद निरूपण है । यह भी
प्रकृति की नकल पर ही बनाया गया था । विस्तारमय से इसका निरूपण प्रकृत में अनपेक्षित
है । इस प्रकार उस समय की देवताओं में स्वर्गपरकण और सूर्यमन्द को सर्वोच्च स्थान दिया
जाता था । दुष्टदुष्टि असुरों की हता से आज भूमण्डल वस्तु दोनों विभूतियों से वञ्चित हो
गया है । पोंके से शब्दों में स्वर्गवस्तु की भी गणना छुन लीजिए ।

जिस प्रकार प्रकृति में मिथ्यादि सग ब्रह्माण्ड गए हैं इसी प्रकार भीम ब्रह्मा हय इस
भूमण्डल पर मिथ्यादि स्वर्ग व्यवस्था व्यवस्थित हुई थी । ईशानकोश में सीबीरिया के अति-
छता भीम इन्द्र का साम्राज्य था । जो भाग आज साइबीरिया (Siberia) नाम से
प्रसिद्ध है, जिस भाग में आज तुयार बर्षा का (बर्फ का) साम्राज्य है जहाँ नरसिंहक मिथ्या
असम्भ्य कुछ एक जगती मनुष्य, एवं कुछ एक बर्षा पशु पक्षियों को जोड़कर कुछ नहीं है,
यही का मध्य भाग किसी समय ‘अमरावती’ नाम से प्रसिद्ध था । यही देवविपत्ति इन्द्र अपनी

सुधर्मासमा में निर्णय किया करते थे । यही मेरुख नाम का दो मस्तक, एक ग्रीवा वाला अद्भुत स्वर्गीय पक्षी था, यही सन्नाह हाथ वाले 'मेमाय' नाम के हाथी होते थे । इस प्रकार देवयुग में उक्त स्थान मानव सम्प्रदाय का सर्वोत्तम स्थान बना हुआ था । ओर ओर सब देव स्थानों पर अधिकार कर लेते पर भी असुर इस दिशा में आक्रमण न कर सके । अतः यह 'अपरामि हादिक्' नाम से प्रसिद्ध हुई । यही एन्द्रधाम पुरयुग में 'इन्द्रविष्टप' था । प्राग्मेरु (पामीर) पर कान्तिमतीसमा युक्त प्राग्ज्योतिष मगर में ब्रह्मविष्टप था । एवं उत्तर दिशा में इन्द्र-ब्रह्म के मध्य में ध्रुव से नीचे के प्रदेश में मद्रगिरि-चन्द्रगिरि नाम से प्रसिद्ध दोनों पर्वतों के मध्य में विष्णुविष्टप था । इन तीनों की समष्टि ही उस समय 'त्रिविष्टपस्वर्ग' नाम से प्रसिद्ध थी । इनमें ब्रह्म और विष्णुविष्टप के मध्य में मेरु से उत्तर १७ अंग पर भौया ब्रह्मन्स्य विष्टप था । यही देवताओं की देवयजन भूमि थी । देवता यही यज्ञ किया करते थे । उत्तर दक्ष में सो मूर्ध्नि आज के मुक्ककोप (मुगोल) में 'वासवश' नाम से प्रसिद्ध है, यही देव युग में प्राची सरस्वती नाम से प्रसिद्ध थी । देवताओं इसी नदी में अवधूयस्नान (यथा स्नान) किया करते थे, यही स्थान ब्रह्मन्स्यविष्टप था, यही स्वर्गधरुष था । यही स्वर्ग का परिभाषक था । यहां से चारों ओर रहता जाता था । ईशान की ओर इन्द्रविष्टप का मार्ग, उत्तर की ओर विष्णुविष्टप का मार्ग, पश्चिम की ओर ब्रह्मविष्टप का मार्ग, एवं दक्षिण की ओर पितृमार्ग था । जिसे आज 'मगोसिया' कहा जाता है, यही हमारा 'मराठी' नाम का पितृलोक था । इस प्रकार चारों ओर गन्त के मार्गों से युक्त इसी (चतुष्पथ-बीराहा) में स्वर्गवरुण खड़ा था । चतुष्पथ के ठीक बीच में एक चौकोर ऊंचा चतुर्गुण बनाया गया इस पर बड़े शिखर से (नीचे से बड़ा, ऊपर से क्रमशः छोटा) एक पावर का स्तम्भ खड़ा किया गया, यही अग्न्या था । इस अग्नि के सर्वोप परात्त पर प्रवृत्तिवत् (एको अग्निरो बहति सप्तनामा-मृक् १ १६४।२।) पाठ का एक मरुत बनाकर उसके मुख के सात मस्तक बनाए गए ।

इस सप्तमुख अग्नि के पृष्ठ पर एक दण्ड खड़ा कर उस पर अमरता हुआ रश्मियुक्त सूर्य प्रतिष्ठित किया गया । रश्मिप्रसार के कारण ही इस का पृश्नि नाम रखा गया । यह बनाकटी

सुप्त विन-यत समस्त रूप से प्रकाशित रहता था। चारों मार्गों के पपिकों को माग बस-
नामा इसका मुख्य काम था। सब से नीचे चतुर्ग्रे के चारों ओर एक चतुर्भुज मण्डल बनाया
गया था। इस मण्डल के चारों कोणों में क्रमशः उत्तर-समुद्र मण्डप सुपर्ण यह चार बस्तुएँ प्रतिष्ठित
की गई थी। एक कोण में पापाय का वृषभ (बैस) सजा दिया गया था। दूसरे कोण में बैल से
टीक नीचे एक गरुड पड़ी था। इस की आकृति ऐसी बनाई गई थी, जैसे सोमापहरण के लिए
यह अग्राय मार रहा हो। तीसरे कोणमें अश्व पर एक मनुष्य बनाया गया था। उस के हाथ
में एक माथा था, और वह माथा मृगम में प्रविष्ट था। जिस स्थान पर माथा गया हुआ था,
वहाँ से पानी निकल कर चौथे कोण में बने हुए समुद्र (सगेवर) में निरन्तर जाता रहता था।
इसी पानी से वह साक्षात् सत्ता भरा रहता था। आशय यह था कि मासे से निकल हुए पानी
के निरन्तर जाने पर भी उस तासात्र में से (और किसी मार्ग से पानी के बाहर निकलने का
द्वार न होते हुए भी) पानी अपनी नियत सीमा का उल्लंघन नहीं करता था। देवविष्णु
इन्द्र के इस चित्र से उस समय सास विचर चकित था। अ.भिद्वैतिक अर्गधरुस की इस प्रतिमा
से इन्द्र का अथ सर्वत्र व्याप्त हो गया था। इसी प्रतिमाकरूप मौलिक चरुण का निरूपण करते
हुए श्रुति कहते हैं—

इमं दीर्घाय चतुसे चामूर्य रोह्यद्विषि ।

वि गोमिरद्विषैत्यमत्र । (अथर्वसं० १७।३) ।

इन्द्रो विषः प्रतिमानं पृथिव्या विरर्षा वेदं सज्जना इति शुष्णम् ।

मही चिद्रूपामनोऽथ भूर्धेयं वात्सकम् चित्कम्मानेन स्कम्मनीयान् ॥

(अथर्व० सं० १०।११।३) ।

भागों के परिसेल से स्थापकणों की प्रतिमा का सक्त स्वरूप स्पष्ट हो जाते हैं। इन्द्र के
प्रतिमा चित्र से तत्कालीन प्रजानें इन्द्रें सर्वश्रेष्ठ माना था, जैसा कि 'ततो वा इन्द्राय अर्वा
अनुधापातिष्ठन्त-चक्षिस्तं परयन्तः' इत्यादि रूप से पूर्व में कहा जा चुका है।

विज्ञानभनसूपप्रकरण के सम्बन्ध से तत् सम्बन्धी संक्षररुमक रगुवरुण का चिह्नरुन

कराया गया, अब पुनः प्रकृति का अनुसरण करते हैं। यद्यपि विश्व की योनि महद्ब्रह्म ही है, तथापि जब तक धातुमय रूप का इस के साथ सम्बन्ध नहीं हो जाता, तब तक यह सृष्टि करने में असमर्थ ही रहता है। कारण इसका यही है कि सृष्टि की प्रवृत्ति सत्त्व-रज-तम इन गुणों के व्यापार पर होती है। इन तीनों में भी सृष्टि का प्रधान मूल रजोगुण ही है। ज्ञानमयान सत्त्वगुण निष्क्रिय होने से, अयनधान तमोगुण जब होने से व्यापारमूला सक्रियसृष्टि में असमर्थ है। समर्थ है एकमात्र मध्यवर्तित क्रियाप्रधान रजोगुण। विश्व का मूल रज है। इस रज के साथ यदि सत्त्व की प्रधानता रहती है तो सात्त्विकी सृष्टि होती है, तम की प्रधानता से तामसी सृष्टि होती है, स्वयं रज की प्रधानता से रजोमयी सृष्टि होती है। आनन्दव्योनिर्मय होने से शुभ्र (शुक्ल) माना जाता है, तम आनन्दरूप होने से कृष्ण माना जाता है, जब मध्यवर्तित रज 'रक्त' है। यही सृष्टि में प्रधानरूप से अनुगृह्य है—'रजोऽप्येव जन्मनि सत्त्ववृत्तये'। महद्ब्रह्म प्रवृत्ति इन शुक्ल-रक्त-कृष्ण भावों से शुद्ध अन्न पुरुष की प्रजा है। दूसरे शब्दों में 'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भे दधान्यहम्' के अनुसार स्वप्रवृत्तिमूल, अतएव 'अज्ञा' भाव से प्रसिद्ध इस महद्ब्रह्म से शुद्ध होकर ही अन्नपुरुष सृष्टि किया करता है। ऐसा कि—'अज्ञापेकां सोदितशुक्लकृष्णौ बह्वीः प्रजाः सूक्ष्माणाः सरूपाः' (खेता० ४।५) इत्यादि से स्पष्ट है। यतस्तस्मात् यह है कि सृष्टि महद्ब्रह्म के वैगुण्यमात्र पर निर्भर है, एव यह त्रिगुणत्व रूप के वर्णपूर्वमात्र यज्ञ से उत्पन्न होती है, जैसा कि पूर्व के महद्ब्रह्माविकारण में विस्तार से बताया जा चुका है। सूय ज्ञान-क्रिया-अप-मूर्ति है। यही तीनों भाव महद्ब्रह्म में सत्त्व-रज-तम रूप से विकसित होने हैं। सत्त्व-रज-तम तीनों ही गुण हैं, त्रिगुणत्व में जाते हुए तीनों ही योग हैं। सत्त्व ज्ञानभाग को विकसित करता है, इससे (ज्ञानोदय से) आनन्द आता है। सत्त्व का प्रवक्तृ सूर्य ही है, अतएव—'सत्त्वादिभिर्महद्ब्रह्मात्मा' इत्यादि रूप से युक्तिरूप सूत्र को, किंवा सूर्यरूप युक्ति को 'सत्त्व ब्रह्म जाता है—(द्विचर, श्रुत्योप० ६।३)। जिस बीजाभा में सत्त्व की प्रधानता रहती है, उसमें ज्ञान कीर्तमानन्द (आत्मनन्द) कबो का विकसित रहता है। सत्त्व (विद्याभाग) अभ्यस्य के विद्यार्थी आनन्द

विद्या को विकसित करता है। जो चीर सदा प्रसन्न रहते हैं, विचारशील हैं, बुद्धिमान् हैं उनमें सत्य की ही प्रधानता है। यह सदा ज्ञान से ही परिभ्रम करते हैं। इनसे शरीरायास नहीं हो सकता। जिस में कमप्रवृत्ता अधिक है, काम्य कर्मों में, सांसारिक धर्मों में जो रात दिन प्रवृत्त रहता है, उस में रजोगुण की प्रधानता समझिए। एव त्रमाद्-मांसक्य-अतिनिद्रा-अतिमोहन-निरर्षक कालपापन-यः सब तमोगुण का चमत्कार है। (देखिए श्रुति० १४ अ० १६, ७, = रत्न०)। इस प्रकार उक्त तीनों गुण प्रकृति से (सौर दर्शपूर्णमास इत्य) उत्पन्न होकर देखरिपत जीवाम्य को केवन में डाल देते हैं, जिसाकि स्पृति करती है—

सत्त्वं रमस्त्वम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।

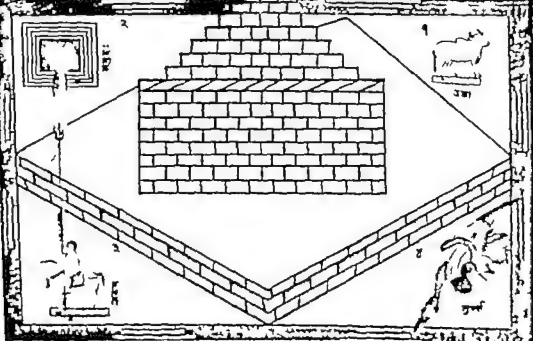
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनामन्ययम् ॥ (श्रुति० १४।२।)।

इस प्रकार आपोष्येति में जग्रेत से उत्पन्न, मयदग्ध में त्रैगुण्य का उदय करने वाला, अक्षररूप, अम्यय-क्षर के विद्या-अविद्या से समयरूप बने हुए सोकद्रष्टा सहस्रांशु गगनान् विष के केन्द्र में प्रतिष्ठित हो रहे हैं। अप्यात्मसस्या में आने वाला बड़ी सीर भाग 'विद्यानात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। आधिदैविक विद्यानात्मा (सूय) का निरूपण समाप्त हुआ, अब अप्यप्यत्मिक सूर्य (विद्यानात्मा) का दिगूर्शन कराया जाता है।

विद्या-अविद्यात्मक यह सूर्य अप्यात्मरूप में—'विद्यानात्मा' 'बुद्धि' 'वासुपपुरूप' 'सिद्धात्मा' आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है। प्रत्येक आत्म के साथ प्रमद, प्रतिष्ठा, योनि, आशय, इन चार चार भागों का सम्बन्ध है। अप्यात्मसस्या में जितने भी व्यक्तविकर्त हैं, सब के प्रमदप्रति विष मिश्र हैं। अप्यप्यत्मिक आत्माओं का उत्पत्तिस्थान प्रमद कहा जाता है। जिस द्वार से यह शरीर में प्रविष्ट होते हैं, वह द्वार ही योनि है। आकर शरीर के जिस स्थान में यह प्रमदरूप से प्रतिष्ठित होते हैं, वही प्रतिष्ठा है। एवं-अर्थ रूप से कहा— यह

[illegible]

इति श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥



पोष्यी पुरुष का प्रमथ सर्वव्यापक ईश्वर का पोष्यी पुरुष (स्व पर सू च धृ इस त्रैलोक्य-
रूप एक कल्याण का अधिष्ठाता पोष्यी पुरुष) है। यह उसी का अर्थ है। कहीं कहीं शुक्र
को भी इस का प्रमथ माना गया है। शुक्र का निरूपण पूर्व प्रकरण में विस्तार से किया जा
चुका है। अतः इस सम्बन्ध में केवल यही समझ लेना पपात होगा कि प्रथम शुक्र की समष्टि
रूपा विषा-कर्म-कर्मययी अविषा ही शुक्र है, यही वेद है। अग्न्यात्म में पहिले वेद का जन्म
होता है, वेद से योगमाया प्रादुर्भूत होती है, योगमाया से जीवाम्यय प्रकट होता है। वेदमयी
शुक्ररूपा योगमाया ही व्यापक पोष्यी को परिच्छिन्न जीवपोष्यी का प्रमथ बनाने में समर्थ
बनती है। ऐसी परिस्थिति में शुक्र योगमाया ईश्वरात्म्य सीनों को ही जीवपोष्यी का
प्रमथ माना जा सकता है। महानात्मा इस की योनि है। महत्सोम के द्वारा ही यह अग्न्यात्म-
संस्था में प्रतिष्ठित होता है। परमाकाश सर्वोपरि है, इस के भीतर पुराणाकाश, इस में अद्विरा
काश, इस में शरीराकाश, इस में हृदयाकाश, सर्वोन्मातम दहराकाश (दन्माकाश) है। यही
सब्यरूप से आत्मा प्रतिष्ठित रहता है। अर्क रूप से यह सोम-नस्वाग्रों को छोड़कर सर्वा
अशरीर में व्याप्त है। इस प्रकार सम्पूर्ण शरीर इस का आशय है।

इसका है शान्तात्मा नाम से प्रसिद्ध 'अभ्यक्तात्मा'। स्वयम्भू इस का प्रमथ है, शिरोगुहा
योनि है, प्रतिष्ठा हृदय है, आशय है सर्वाङ्गशरीर। तीसरा महानात्मा है। इस का प्रमथ
परमेष्ठी है, योनि शुक्र है, प्रतिष्ठा हृदय है, आशय सर्वाङ्गशरीर है। चौथा विज्ञानात्मा
है। इस का प्रमथ सूय है, योनि केशव नाम से प्रसिद्ध प्रभर-ध है। यही 'नान्दमद्वा'
(नान्दमद्वा) नाम से प्रसिद्ध है। प्रतिष्ठा हृदय है। आशय सर्वाङ्गशरीर है। पाँचवां
महानात्मा (सर्वेन्द्रियमन्) है। इस का प्रमथ पार्ष्णिवाग्रमन्त बान्द्र सोम है, योनि शुक्र
है, प्रतिष्ठा हृदय है, आशय सर्वाङ्गशरीर है। ६ वां इन्द्रियमन् है। इस में वाक्-नाय-
चक्षु-श्रोत्र-मन पाँचों के अन्तर्ग अग्नि, वायु आश्रित्य, दिक्मोम, मास्परसोम यह पाँच
देवता प्रमथ हैं। महा नाणाबिह्वस मशानमन योनि है। मुखगोम-नासिकागोम-चक्षु
गोम-श्रोत्रगोम-महत्तर-ध यह पाँच रूपाय इन पाँचों की प्रतिष्ठा हैं। एवं यही नियत स्थान

इन के आशय हैं । सातवां शरीर है । पञ्चमीतिक शरीर के पाँचों मृत प्रमथ हैं, उत्पत्तिकाल में शुक्र शोणित इन मूलों की योगि है । उत्पत्त्यन्तर पञ्चमृतसमष्टिरूप पञ्चमिष भस्म (भस्म—जल—गर्मी—वायु—शब्द) योगि हैं, इन्हीं के द्वारा मूलों का आगमन होता है । आशय सर्वाङ्गशरीर है । आठवां प्राज्ञात्म्या नाम से प्रतिष्ठ फर्मात्मा है । इस की वैश्वानर तैजस प्राज्ञ यह तीन कलाएं हैं । इन में वैश्वानर का प्रमथ भिन्नत्वस्तोमस्यानीय पार्थिव चितेति-धेयाभि है, योगि नामि है, प्रतिष्ठा इन्द्रियापांश है, आशय सर्वाङ्गशरीर है । आन्तरि रूप पञ्चदशस्तोमस्यानीय वायु तैजसात्मा का प्रमथ है, हृदय से निकल कर बाह्य तक व्याप्त रहने वाली तेजोनाडी योगि है, हृदय प्रतिष्ठा है, आशय सर्वाङ्गशरीर है । एक विंशस्तोमावच्छिन्न त्रिष्य आदि (इन्द्र) प्राज्ञ का प्रमथ है, सुषुम्णानाडी योगि है, मूर्त्तधि प्रतिष्ठा है, आशय सर्वाङ्गशरीर है । इन सब में प्रतिष्ठा निम्न निम्न बतलाई गई है, परन्तु भक्त इन सब की सामान्य प्रतिष्ठा है, 'सर्वमेवे प्रतिष्ठितम्' । कारण इस का यही है कि जब तक अस्माद्विती होती रहती है, तभी तक यज्ञसत्ता है, यज्ञसत्ता पर अग्न्यात्मगत की सत्य है—“अपियङ्गोऽहनेशम देवे देहमृतां वर” (ऋषि ८।७) ।

तद्विद—सर्वम्

पोषणीयुरूप — रूप — पोषणी

१—अग्न्यात्म्या—अग्न्यात्मः—सत्यम्

२—महात्मा—महान्—परमेष्ठी

३—मिथ्यात्म्या—भुक्तिः—सूर्य

४—प्राज्ञात्म्या—ज्ञान—धन्वमाः

५— $\left\{ \begin{array}{l} \text{कर्मात्म्या—मोक्षाध्याय} \\ \text{इन्द्रियाणि—योगसाधनानि} \\ \text{शरीरम्—योगव्ययनम्} \end{array} \right\}$ —पृथिवी

इन्द्रियेभ्यः परार्णां सर्वेभ्यश्च परं मताः ।
 मत्सस्तु परा भुक्तिर्मुदेरात्मा मरान् परः ॥
 मताः परमव्ययं, अम्यच्छाद पुरुषः परः ।
 पुरुषश्च परं विविधं सा काष्ठा सां परागतिः ॥
 (कठेनपिण्ड १ अ १ व. १०-११)

इन्द्रियेभ्यः परार्णा, सर्वेभ्यश्च परं मना ।
 मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरत्मा यशान् परः ॥
 महतः परमव्यक्तं, अग्न्यात्म्या पुरुषः परः ।
 पुरुषात् परं विबिधं सा काष्ठा सा परागतिः ॥
 (कठेउपनिषत् १ अ । ३ व. १०-११)

उक्त आत्मप्रपञ्चों में से प्रकृत में केवल विज्ञानात्मा के ही प्रमत्तादि का विचार अपेक्षित है। सूर्य इस का उत्पत्ति स्थान है, उत्पन्न होकर यह केशान्तद्वार से अम्पारमसंस्था में प्रविष्ट होता है। प्रसरत्प्रमाण से प्रसिद्ध केशान्तस्थान से सतत आते रहने वाले सौरदेवमय इसी विज्ञानप्राण को आसुरप्राणप्रधान सौरक्षुरिका से बचाने के लिए शिन्ना रस्ते का आदेश है। इस सुसूक्ष्मद्वार से विज्ञानशिव हृदयस्थ अज्ञानात्मा (मम) पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। वहाँ उन्मत्तरूप से प्रतिष्ठित होकर, अमृतरूप से विज्ञानप्रकाश सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त हो जाता है। हृदयकिण्वु से आरम्भ कर सूर्यकेन्द्र तक एक निर्यत मार्ग बना हुआ है। हृदय से नीचे पार्थिव अपानप्राण का साम्राज्य है, हृदय से आरम्भ कर ऊपर तक सौरप्राण की प्रभामत्ता है। यह दोनों प्राण (पार्थिव अपानप्राण, सौर प्राणप्राण) क्रमशः पृथिवी और सूर्य केन्द्र से बहते हैं। यही स्थान क्रमशः अमृतस्वस्तिक एवं स्वस्वस्तिक नाम से प्रसिद्ध हैं। अमृतेसीय सौर स्वस्तिक स्वस्वस्तिक है, सूर्येसीय पार्थिव स्वस्तिक अथ स्वस्तिक है। इन दोनों स्वस्तिकों से उमयतः परिष्कृत बना हुआ यह 'अमृतसुषुप्त इत्येतत्' विचार्य किया जाता है, जिस कि श्रुति कहती है—

“अन्तरिक्षं वाऽथनु रजश्चरति—अमृतमुमयतः परिष्कृतम् ।

ययाय पुरुषोऽमृत उमयतः परिष्कृतोऽन्तरिक्षमनुचरति” ॥

।

(शत० भा० १।१।२।२।)।

इस स्वस्तिक का दिग्दर्शन पुरुषात्माधिकरण में किया जा चुका है—(देखिए ई ति-भा १४० पृ)। प्रत्येक व्यक्ति के उक्त दोनों स्वस्तिक मिल मिल हैं। यही दोनों स्वस्तिक हमारे जीवन की प्रसिद्ध हैं। सौर-पार्थिव रस से ही हम उत्पन्न हुए हैं, एवं इन्हीं रसों से जीवित हैं। जब तक वैयक्तिक स्वस्तिक शांत रहता है, तभी तक उस व्यक्ति की स्वस्ति (शिव-कल्याण) है। स्वस्तिभाव की प्रवृत्ति के कारण ही उन्हें 'स्वस्तिक' कहा जाता है। यह स्वस्तिकवृत्त वृत्त के सम्मन्ध से अतुल्य पत जाता है। सुधिरहस्यवेत्ता जानते हैं कि प्रत्येक

प्राची का रङ्गोक्त एवं मृगोक्त निम्न है। उन निम्न मार्गों के त्यों से ही तत्त्व प्राणियों के प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। इसी स्वरितकाम्ना के लिए भारतीय देशधर्म में स्वस्तिक का पूजन किया जाता है। स्वस्तिक एक नहीं, दो बनाए जाते हैं। द्वार के दक्षिणोत्तर पार्यों में दोनों स्वस्तिक चित्र स्थापित किए जाते हैं। इनमें दक्षिण स्वस्तिक अथ स्वस्तिक की, एवं उत्तर स्वस्तिक अस्वस्तिक की प्रतिमा है। इस से कहना यही है कि हृदय से नीचे रहने वासा, अक्षप्रदेश (मुख्य) से प्रविष्ट होने वासा पार्थिव अपानप्राण अथ स्वस्तिक की प्रतिष्ठाभूत सूर्यकेन्द्र से नित्य बद्ध रहता है। एवमेव हृदय से ऊपर रहने वासा, अक्षरम्भ से प्रविष्ट होने वासा सौरप्राण (विज्ञानप्राण) अस्वस्तिक की प्रतिष्ठाभूत सूर्यकेन्द्र से नित्य बद्ध रहता है। जैसे नियत स्थान पर जाने के लिए निश्चित मार्ग बना रहता है, एवमेव प्रत्येक प्राणी के हृदय से आरम्भकर सूर्य-केन्द्र तक अस्वस्तिकरूप स्तम्भ मार्ग बने हुए हैं। यही मार्ग उपनिषदों में 'महापथ' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। प्रत्येक प्राणी का विज्ञानात्मा अपने अपने स्वरितिकरूप निश्चित महापथों से प्रतिष्ठित सूर्य में जाया करता है, एवं आया करता है। एक निमेष (पक्षक) में यह विपुलप्राण विज्ञानप्राण सूर्य में तीन बार जाकर लौट आता है। इस महापथ में विविधवर्णयुक्त सौररश्मिर्गन्वात रहती हैं। दूसरे शब्दों में इस मार्ग का स्वरूप सूर्यरश्मि ही है। व्यक्तिमेव से सर्वथा निम्न ही सुसूक्ष्म महापथ का निरूपण करती हुई धृति कहती है—

“अणुः पन्था निततः पुरासो मां स्पृष्टो अनुविचो मयैव ।

तन पीरा अपिपन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गलोकमित ऊर्ध्व विमुक्ता ॥ १ ॥

तस्मिन् शुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गसं हरितं सोहितं च ।

एष पन्था ब्रह्मणा शानुविचन्तेनैति ब्रह्मविद् पुण्यकृत् तजसम् ॥ २ ॥

(शत १४।७।१०) ।

हृदप्रतिष्ठ प्रज्ञान (मन) को आध्यात्मिक अग्रगण्य समझिए, तत्त्वप्रतिष्ठ विज्ञान (बुद्धि) को सूर्य समझिए। विज्ञानात्मा की प्रतिष्ठा हृदयस्थ प्रज्ञान मन ही है। जिस प्रकार प्रकृति में

१ प्रमव-योनि-प्रतिष्ठा-आशय-परिलेख

- १-प्रमव -(उत्पत्तिस्थानम्) - ईश्वरात्मा, शुक्र-योगमायाय
 २-योनि -(प्रवेशद्वारम्) - महात्मा (महत्सोम)
 ३-प्रतिष्ठा -(स्थितिस्थानम्) - स्वान्तरतमो दहराकाश
 ४-आशय -(व्याप्तिस्थानम्) - शरीरम्

“पुरुषात् परं किञ्चित्, सा-
 काष्ठा सा परा गति”

पुरुषोत्तमः → अक्षरमात्मा
 (अक्षरमात्मा पुरुष पर)

- १-प्रमव — स्वयम्
 २-योनि — शिरोगुहा
 ३-प्रतिष्ठा — हृदयम्
 ४-आशय — शरीरम्

अक्षरमात्मा (प्राज्ञमात्मा) १ - अक्षरमात्मा
 (महत् परं → → →)

- १-प्रमव — परमेष्ठी
 २-योनि — शुक्रम्
 ३-प्रतिष्ठा — हृदयम्
 ४-आशय — शरीरम्

महात्मा (प्राज्ञमात्मा) २ - महान्) अक्षरमात्मा
 (शुद्धमात्मा (परः) → → →)

- १-प्रमव — सूर्य
 २-योनि — नाभ्यन्तम्
 ३-प्रतिष्ठा — हृदयम्
 ४-आशय — शरीरम्

विज्ञानात्मा (प्राज्ञमात्मा) ३ - बुद्धिः) अक्षरमात्मा
 (मनसस्तु परा → → →)

- १-प्रमव — चन्द्रमाः (अक्षरम्)
 २-योनिः — शुक्रम्
 ३-प्रतिष्ठा — हृदयम्
 ४-आशय — शरीरम्

प्राज्ञमात्मा (प्राज्ञमात्मा) ४ - मनः) अक्षरमात्मा
 (इन्द्रियेभ्यः परं → → →)

- १-प्रमथ — सास्त्ररसोमः
 २-योनि — प्रज्ञानम्
 ३-प्रतिष्ठा — ब्रह्मरूपम्
 ४-आशय — पञ्चेन्द्रियाणि
- (इन्द्रियाणि (कर्मावच्छिन्न-
 शरीरत) पराणमाहुः)
 संकल्पविकल्पात्मकमिन्द्रिय-
- मनः-१

- १-प्रमथ — दिक्सोम
 २-योनि — प्रज्ञानम्
 ३-प्रतिष्ठा — धोत्रविकरे
 ४-आशय — मन (प्रज्ञानम्)
- प्रोत्रे २

- १-प्रमथ — आदित्यः
 २-योनिः — प्रज्ञानम्
 ३-प्रतिष्ठा — बभ्रुविकरे
 ४-आशय — मनः (प्रज्ञानम्)
- चक्षुषी ३

- १-प्रमथः — वायु
 २-योनिः — प्रज्ञानम्
 ३-प्रतिष्ठा — नासाविकरे
 ४-आशयः — मन (प्रज्ञानम्)
- नासिके (ग्राणः) ४

- १-प्रमथः — अग्नि
 २-योनिः — प्रज्ञानम्
 ३-प्रतिष्ठा — जिह्वा
 ४-आशय — मनः (प्रज्ञानम्)
- पाक्ष ५

वि

या

न्द्रि

सि-१

का

ल

वा

२४

५

५

५

पराययाहुः

इन्द्रियाणि

- १-प्रमथ — पञ्चीकृत मृद
२-पोनि — शुक्रशोषिते-ममथ
३-प्रतिष्ठा — ममिधिल
४-आशय — शरीरम्

अरिषत्सादयो एनरगर्भा १

- १-प्रमथ — गार्धितान् पथितृता
२-पोनि — शुक्रशोषिते-आपथ
३-प्रतिष्ठा — आप
४-आशय — शरीरम्

असृग्सादवस्तरगर्भा

- १-प्रमथ — पञ्चीकृतोऽग्नि गार्धित
२-पोनि — शुक्रशोषिते-नत्रथ
३-प्रतिष्ठा — नत्र
४-आशय — शरीरम्

उष्मा ३

- १-प्रमथ — पञ्चीकृतो वायु गार्धित
२-पोनि — शुक्रशोषिते-वायुथ
३-प्रतिष्ठा — वायु
४-आशय — शरीरम्

पमथो वायुवादिप ४

- १-प्रमथ — पञ्चीकृत माकश गार्धित
२-पोनि — शुक्रशोषिते-शम्भ
३-प्रतिष्ठा — माकश
४-आशय — शरीरम्

सुधिराणि ५

मृ" १
२
३
४
५
६
७
८
९
१०
११
१२
१३
१४
१५
१६
१७
१८
१९
२०
२१
२२
२३
२४
२५
२६
२७
२८
२९
३०
३१
३२
३३
३४
३५
३६
३७
३८
३९
४०
४१
४२
४३
४४
४५
४६
४७
४८
४९
५०
५१
५२
५३
५४
५५
५६
५७
५८
५९
६०
६१
६२
६३
६४
६५
६६
६७
६८
६९
७०
७१
७२
७३
७४
७५
७६
७७
७८
७९
८०
८१
८२
८३
८४
८५
८६
८७
८८
८९
९०
९१
९२
९३
९४
९५
९६
९७
९८
९९
१००

शरीर — मूलप्रतिष्ठा

चन्द्रमा सूत्र से प्रकाशित रहता है, एव इसी प्रकाश के तारतम्य से जैसे वहाँ अमावास्या, पूर्णिमा, कृष्णाष्टमी, शुक्लाष्टमी आदि मास उत्पन्न होते हैं, ठीक इसी तरह वह प्रज्ञानचन्द्र विज्ञानसूर्य से प्रकाशित रहता है, एव प्रकृतिकर अण्वात्मसूत्र में भी अमा-पूर्णिमा आदि भावों का उदय क्षेत्र है । अन्तर दोनों में केवल इतना ही है कि प्रकृति का मास (महिना) ३० दिन का होता है, एव आण्वात्मिक मास एक अहोरात्र का है । वह कास शुक्लपक्ष है, रात्रि कास कृष्णपक्ष है । प्रकृति में क्या होता है ? पहिले इस का विचार कीजिए । सूर्य विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित है । चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा करता है । जब चन्द्रमा परिक्रमा करता है तो सूर्य का पूरा प्रकाश इस पर पड़ता है, इसी का नाम पूर्णिमा है । चूमते चूमते जब वह पृथिवी के उस ओर (सूर्य की ओर) चला जाता है तो चन्द्रमा का हरय भाग (पृथिवी की ओर का भाग) सौरप्रकाश से बलित हो जाता है । इस प्रकार सूत्रचन्द्रमा के सगम से दश (अमावास्या) का जन्म होता है—‘दशः सूर्येन्दुसङ्गमाः’ । पृथिवी के केन्द्र से काटते हुए दक्षिणोत्तर एक रेखा खेजाए । इस रेखाओं के प्रान्तभाग में जब चन्द्रमा आता है तो क्रमशः शुक्लाष्टमी, कृष्णाष्टमी का जन्म हो जाता है । शुक्लाष्टमी में सापकास भावा (चतुष) चन्द्रमा प्रकाशित रहता है, एव कृष्णाष्टमी में रात्रि के १२ कजे भावा चन्द्रमा प्रकाशित रहता है । पूर्णिमा में सारा चन्द्रमा प्रकाशित नहीं रहता, एव न अमावास्या में पूरा चन्द्रमा कासा रहता । अपि तु प्राकृतिक स्थिति के अनुसार भावा चन्द्रमा ही प्रकाशित-अप्रकाशित रहता है । पूर्णिमा में हरय भावा भाग प्रकाशित है, अहरय भावा भाग अप्रकाशित है । अमा में पृष्ठभाग प्रकाशित है पृथिवी की ओर का भावा भाग अप्रकाशित है, अतएव यह नहीं दीक्षता । इस स्थिति के अनुसार अष्टमी में चतुष भाग कजे ही प्रकाशित अप्रकाशित मानना पड़ता है । वातुतल सभी स्थितियों में सदा ही भावा भाग प्रकाशित, एव भावा भाग अप्रकाशित रहता है । हमारी धरमस्थिति के अनुसार हम एक कला-दो कला-तीन कला-इस प्रकार फलाभिभाग मान लेते हैं । यह है आग्नेदधिक अणु की परिस्थिति ।

अथ आप्यायिकस्तथा का निष्कार करिजिए । हृदय से अक्षरग्रन्थ पण्यत त्रैलोक्य की सदा समन्वित । इस त्रैलोक्य का अविद्याता इत्यस्य निष्कारमर्थ है । हृदय पर मनस्वत आग्रह प्रतिष्ठित है । हृदय बिन्दु से आरम्भ कर अक्षरग्रन्थ पण्यत सोमवरातस है । इसी को 'आकाश' (विष्णु यज्ञ) कहा जाता है—(देखिए प्रश्नोपनिषद् २ । २ ।) मुखस्थान अग्निप्रधान पृथिवीसोक है । नासिकास्थान वायुप्रधान अन्तरिक्षसोक है । कण्ठस्थान आदिसप्तधाम मुसोक है । श्रोत्रस्थान शिख्रोन्मेषाद्यन्त्र बोधा आपोबोक्त है । स्वयं अक्षरग्रन्थ मन की अन्तितम प्रतिष्ठा है । इस प्रकार इस सोमवरातस पर इन्द्रियरूप त्रैलोक्य किंवा चारों ओर सोक प्रतिष्ठित हैं । कण्ठस्थान में एक मंसपेठी अक्षर बटकी रहती है, इसी के लिए—'स्तन इवास्तम्बे' यह कहा जाता है । यही गस्तन सोकभाषा में 'कागसी' नाम से प्रतिष्ठित है । उपनिषद्भाषा में यही 'इन्द्रयोनि' नाम से व्यवहृत हुई है । इस की स्थिति बाहू (मुख) इन्द्रिय के समवरातस पर है । यही नासिकासोक है । अक्षरग्रन्थ से एक प्रादेश पर यह अक्षरविन्दु है, कण्ठ से एक प्रादेश पर हृदय-विन्दु है । यहाँ से मन ऊपर की ओर चढ़ता है । चढ़ते २ बाहू रूप पृथिवी ओर की ओर कर जब यह अग्नी अन्तितम सीमाकूप अक्षरग्रन्थ पर पहुँच जाता है तो इसी अवस्था में इस पर हृदयस्य निष्कारमर्थ का पूरा प्रकाश पकता है । यही इस की पूर्णिमा है । इसलिए इस समय प्रकाशित मन से नीचे हैं, अक्षरग्रन्थ मन के प्रकाश से सारी इन्द्रिय प्रकाशित हो पड़ती हैं । मनस प्रकाश को प्राप्त करते ही इन्द्रिय अपना कार्य आरम्भ कर देती हैं । इसी पूर्णिमाकाव्य का नाम 'जाग्रदवस्था' है । यहाँ से मन क्रमशः नीचे उतरता है । जब कण्ठस्थान पर जाता है तो ऊपर की इन्द्रियों में अल्पकार हो जाता है । श्रोत्र का अल्पप्रकाश, वायु का रूपदर्शन, रसना का स्वादमन्त्रण सब अल्प हो जाते हैं । हाँ मुख्य (नासा)-माध्य इस समय भी, इस समय भी क्या 'प्राणाग्रन्थ पण्यतस्मिन् पुरे जाग्रति' (प्रश्नोप० ४ । १ ।) के अनुसार सदा ही जाग्रता रहता है । आस-प्रवास और सुषुप्तिकाव्य में भी यथावत् चढ़ते रहते हैं । बाहू सम्भित-स्थान है यही अक्षरी है "बाहूस्थानी ब्रह्मणा सविदाना" (उप० १४ । २ । ४ ।) यही मध्य की सम्भितस्थानी 'स्वप्नावस्था' है । इस में भीर किसी इन्द्रिय पर तो प्रकाश नहीं रहता, परन्तु

बाह्य पर धोका सा प्रकाश रहता है। यही कारण है कि खान्दाबसा में मनुष्य न देख सकता, न सुन सकता, न सूँघ सकता, न स्वाद ले सकता, परन्तु बाह्यमापार करता रहता है। चूँकि पर्याप्त प्रकाश नहीं है, अतएव यह खण्डगोपा अन्तर्गत होती है "सुषोऽहं किं विस्तारः" (उदयमाचार्य कृत् कृतमाह्वयः)। खान्दाबसा में मनुष्य व्यर्थ बाह्य का प्रयोग करता हुआ चेखा जाता है। मन क्रमशः नीचे उतरता हुआ जब हृदयस्थ विज्ञान सूय के समधरातल पर आनाता है तो ऊपर के त्रेलोक्य मण्डल में घोर अन्धकार हो जाता है। यही सूर्योदयसमय क्षण प्रमाणास्था है, यही 'सुषुप्तिका' है। यहाँ बाह्यमापार भी बंद हो जाता है। घोर निद्रा में सारी इन्द्रिय (मुख्य प्राण को छोड़ कर) सर्वथा स्वप्न बन जाती हैं। इस प्रकार आन्ध मन की परिणाम से आप्तात्मगत में भी दशादि का सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है।

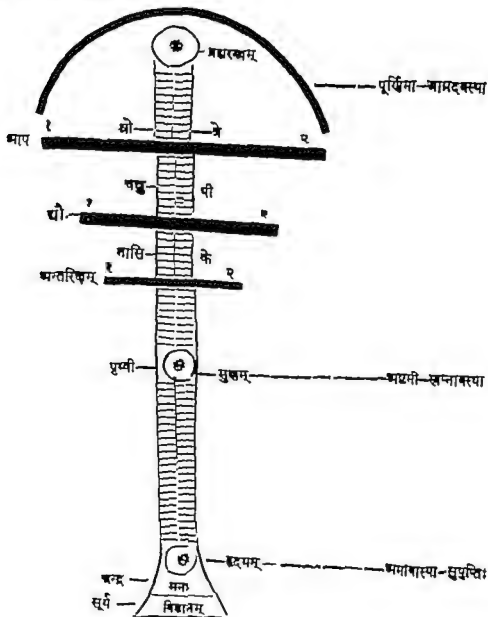
उक्त प्रकार से पाठकों को यह सिद्ध होगया होगा कि मन में जो प्रकाश है, वह विज्ञानसूर्य की ही महिमा है। साय ही में यह भी सिद्ध विषय है कि अन्धप्रधान आप्तात्मिक अवस्था में प्रधानता 'मन' की ही रहती है। मन ही विज्ञान की प्रतिष्ठा है। जिस का मन मर जाता है उसकी बुद्धि भी मर हो जाती है। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि मन पारिवर्तित अन्धता से बनता है "अन्धमयं हि सोम्य मनः"। यदि दो चार दिन अन्ध नहीं खाया जाता है तो मन निवृत्त हो जाता है, क्षीणकाय बन जाता है। उसी समय मन पर प्रतिष्ठित रहने वाला विज्ञान भी निर्वृत हो जाता है, निवार शक्ति नष्ट हो जाती है "बुभुक्षित न प्रतिमासि किंचित्" * "स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संस्फुरन्ति"। विज्ञान-प्रधान दोनों सपरिण्यक्त (एक दूसरे से मिले हुए) रहते हैं। विज्ञानतत्त्व महद्गुणित विज्योति (आत्मज्योति) से प्रकाशित है, प्रधान विद्मन् विज्ञान से प्रकाशित है। इन्द्रिय विज्ञानज्योतिमय प्रधानज्योति से प्रकाशित हैं। निषयजात (भौतिक प्रपञ्च) प्रधानज्योतिर्मय इन्द्रियज्योति से प्रकाशित हैं। इस प्रकार आत्म-ज्योति का भूतपदार्थों तक विस्तार करना विज्ञानयज्ञाभिष्टाता एक मात्र विज्ञान का ही कार्य है।

उपनिषद् प्रेमियों को विज्ञानात्मा के सम्बन्ध में आज एक आश्चर्यमयी स्थिति बतसाते हैं। विज्ञानात्मा को तत्परूप से जहाँ हमने स्थिर बतसाया है, वहाँ अर्कत्वर से उसे सहास्यगरीर

में व्याप्त ब्रह्माणा है। इस की व्याप्ति का पूर्ण विकास केवल दक्षिण चतु (दक्षिणी भाग) में ही होता है, क्या यह कम आवश्यक है। हृदय से निकल निकल दक्षिण भाग पर आकर भाग से बाहर निकलता है। बाहर एक प्रादेश तक ही इस की गति होती है। दक्षि के अनुरूप और प्रतीक यह दो भेद हैं। सीपी दक्षि अनुरूप दक्षि कहलाती है, तिरछी दक्षि प्रतीकदक्षि कहलाती है। व्याप प्रतीकदक्षि से इस ब्राह्मण पुरुष को देख सकते हैं। इस के विविध प्रकार के २१ रूप होते हैं। यह सृज का अर्थ है, सूर्य स्वय एकत्रित है, अत एव सदृशमूल विद्या-नामा के २१ ही रूप हो जाते हैं। इस पर व्याप दक्षि नहीं कर सकते। दक्षिण भाग के प्रतीकभाव से व्याप ओं ओं इसे देखते जाँचो, त्यों त्यों यह हमर उबर दौड़ता हुआ दिखाई देगा। इसे देखना विद्यानामा की सर्वोच्च उपासना है। यह इन्द्रात्मक है, पुरुष रूप है। दक्षिणात्त पुरुष प्रधान है, अतएव दक्षिणचतु में ही इस का विकास होता है। ब्रामचतु में भी प्रतीकदक्षि से व्यापको एक बिन्दु के दूर हो जाँचो, परन्तु यह इन्द्रपत्नी है। ब्रामात्त की प्रधान है, अत इन्द्रपत्नी का विकास ब्रामचतु में ही होता है। उक्त विद्यान को व्याप सर्पप (सरसों) के आकार में देखेंगे। मछिका (मछी) के पर में ऐसा विविध वर्ण (रंग) है, इस का ठीक वैसा ही रंग है। परन्तु इतना ध्यान रखिए कि व्याप इसे सूर्यप्रकाश (धूर) में न बँस सकेगा। यह जब भी दक्षिण, पार्विन तमोसप पूषामाण के गर्भ में (झाया में) ही दक्षिण, वैसा कि आगे आने असे 'द्विरागमेन पात्रेण'० इत्यादि मन्त्रमात्र में स्पष्ट होने वाला है। इस का चतु से प्रादेश मात्र (१०॥ अनुक्त) बाहर निकलना ब्रह्माणा गया है। ब्रह्म यह चतु से बाहर नहीं निकलता, केवल बाहर निकलता हुआ दिखाई देता है। आदरा (ब्राम—आहना) में व्याप अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं। यदि व्याप आदरी से दूर हटते जाते हैं तो व्यापको अपना प्रतिबिम्ब भी कल्प के मीनर पीछे हटता हुआ प्रतीत होता है, ज्यों ज्यों व्याप कल्प के समीप आते जाते हैं, त्यों त्यों ऐसा प्रतीत होता है, मानो व्यापक प्रतिबिम्ब समीप आता जाता है। ब्रह्म कल्प एक मूल पदार्थ है, न उस में पीछे हटने के क्षिप स्थान है, न आगे आने के स्थिर स्थान है। प्रतिबिम्ब एक ही अद्यतन पर प्रतिष्ठित है। केवल कल्प की

आध्यात्मिक अवस्थाप्रयी-परिलेखः

चन्द्रमा ————— मन



बीजता ही आगति-गतिमात्र उत्पन्न कर देती है। ठीक यही स्थिति महा समस्तिर। चन्द्र पदस एक प्रकार का काय है। इस पर हृदयस्य विज्ञान का संज्ञोनादी द्वारा प्रतिबिम्ब पड़ता है। वह जब रश्मिरूप से कण्ठस्थान में स्थित स्वयोनि (हृदयोनि) पर जाता है तो चन्द्र के बाहर एक प्रदेश हृदय हुआ मालूम होता है, क्योंकि हृदयोनि हृदय से एक प्रदेश पर है। स्वस्थान पर सौट जाने से केवल चन्द्र पर ही प्रतिबिम्बित रहता है। इस प्रकार अनेक रूप धारण करने वाला, इन्द्रमूर्ति यह विज्ञानात्मा चन्द्र सम्बन्ध से—‘चाक्षुषपुरुष’, दक्षिणाक्षि सम्बन्ध से ‘दक्षिणाक्षिपुरुष’ नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। सौर विज्ञानपुरुष की उपनिषत् (प्रतिष्ठा) ‘आहः’ (प्रकाशमण्डल) है, इस चाक्षुषपुरुष की उपनिषत् ‘आहम्’ (विद्वग्भिन्न महात्मा) है। दोनों का परस्पर में बनिष्ठ सम्बन्ध है। आदित्यपुरुष रश्मिरूप प्राणों से इसके साथ, विज्ञानपुरुष प्राणरूप रश्मियों के साथ उसी पूर्ण महापथ में सज्ज हो रहे हैं। इसी विज्ञान की सपन में रसकर मुक्ति कहती है—

“तथैव तत् सत्यंमसौ स आदित्यः। य एष एतन्मिन् दग्धसे पुरुषः,
यश्चायं दक्षिणैः सत्तन् पुरुषः, तावेतामन्योऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ।
रश्मिरेपोऽस्मिन् प्रतिष्ठित, प्राणैरयममुष्मिन् (प्रतिष्ठितः)।”

(तृहदा० उप० १४) इति।

इस की प्रतिष्ठामूर्ति हृदयस्य है। जिस प्रकार एक दीपशिरा स्थिररूप से प्रकाशित रहती है एवमेव हृदय के अग्रभाग में दीपार्थिरूप विज्ञानप्रसु प्रकाशित हो रहा है, जैसा कि योगी याज्ञवल्क्य कहते हैं—

अनन्ता रश्मयस्त्वस्य दीपमथः स्थितो हृदि।

सितासिता कर्तृरूपाः कपिसा नीलसोहिताः ॥ १ ॥

ऊर्ध्वमेक स्थितस्तेषां यो मित्रा मूर्ध्मण्यसम्।

अक्षसोऽप्यतिशम्य तेन याति-परां गतिम् ॥ २ ॥

(याज्ञ १५. प्रा अ मतिर्धर्मप्रकरण १६१-१६७ श्लो)।

यह बाधुपुरुष सौर होने से असंग है, उधर प्रज्ञानात्मा बाध होने से असंग है। सौर अग्नि जहां तेजाप्रधान बनता हुआ असंगमात्र का प्रवक्तृ है, वहां बाधसौम्य होने प्रधान बनता हुआ ससंगमात्र का प्रवक्तृ है। बाधुपुरुष विद्या-अविद्यात्मक सुष का अग्र है पक्षत इसमें भी विद्या-अविद्या दोनों मार्गों की सच्चा सिद्ध हो जाती है। यदि यह विद्यानात्मा प्रज्ञान मन की ओर मुक्त जाता है तो इस का अविद्याभाग विकसित हो जाता है। कारण इस का यही है कि मौलिक नियम आधाररूप हैं, जब हैं। इन विषयों में इन्द्रियों के द्वार मन आसक्त रहता है। मन स्वभावतः विषयों की ओर अनुगमन करता रहता है—(दोष लगता रहता है)। इस अनुगमन का कारण यही है कि मन की जीवनीय संगति विद्वानन्द है। विद्वान् द्वार आया हुआ विद्वानन्द (अस्यप्यनन्द) ही मन का स्वरूपनिर्माता है। एव विद्वान्शब्द का यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि जिस तत्त्व से जिस वस्तु का उदय होता है, वह वस्तु उस प्रमथ के आगमन से ही जीवन प्राप्त करने में समर्थ होती है। मन का स्वरूपसंपादक सुक्ति आत्मानन्द है, मग्न मन को स्वरूपसंस्था के लिए प्रत्येक दशा में आनन्द (सुख) अपेक्षित है। सुख की चाह करना, सुख प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना मन का सामानिक धर्म है। मन की इसी सुखरक्षा (सुलक्षणा) का नाम है—'अग्रनावा', यही बुद्धि है। इसे शांत करने के लिए मन बाहर निकलता है। इस के निकलने के द्वार इन्द्रिय हैं। इन्द्रियों की गति पराङ् (बाहर की ओर—विषयों की ओर) है। प्रजापति में इन्द्रियों का रुख बाहर की ओर निपा है। जो पशु बाहर के रूपों को देख करता है, वह अपने ही स्वरूप देखने में असमर्थ है, फिर हृत्पल आत्मा पर उस का गमन कैसे समर्थ है। इसी प्रकार सभी इन्द्रिय असंरूप को देखने में असमर्थ होती हुई, आत्मदर्शन में निरन्तर असमर्थ बनती हुई, केवल विषयभोग में लीन रहती हैं, जैसा कि निम्नलिखित कृति बचनों से स्पष्ट है—

“पराङ् चित्तानि व्यदृष्टस्त्वयम्भुस्तस्याव पराङ् परयति नान्तरात्मन् ।

अभिधीरः प्रत्यगात्मानमसदादृष्टपशुरपतस्मिच्छन् ॥

(कटोपनिषद् २।१।१)।

न तत्र पञ्चगच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनो, न विषो, न विभानीमो,

यैतदनुशिष्यादन्पदेन तद् मिदिसादयो अभिदितादपि" (कम० १।१।)।

विषयों में जो आनन्द है वह इन्द्रियों से आया हुआ है। विषय आनन्द का कारण नहीं है, अपि तु इन्द्रिय आनन्द का कारण है। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जबतक इन्द्रिय स्वस्थ रहती है, सबस रहती है, तभी तक विषय आनन्दमय मालूम होते हैं। इन्द्रियों के रुग्ण हो जाने पर, निर्बल होजाने पर, अपवा मध्य होजाने पर वही विषय तु रुद बन आते हैं। इन्द्रियों में जो चिदात्म्य का विकास है, वह भी इन्द्रियों की निजी संपत्ति नहीं है, अपि तु मन के द्वारा वह आनन्द इन में आया है। फलतः इन्द्रिय भी आनन्द का कारण नहीं है, अपि तु मन आनन्द का कारण है। जब तक मन स्वस्थ दशा में रहता है, तभी तक देखने, सुनने, छाने पीने श्रोतने में आनन्द आता है। यदि मन किसी कारण से व्याकुल होबता है तो इन्द्रिय सर्वथा स्वस्थदशा में रहती हुई भी दुःख का कारण बन जाती है। उस समय कुछ अच्छा नहीं लगता। मन में जो आनन्द है, वह भी मन की प्रास्थितिक संपत्ति नहीं है। विज्ञा-मात्मा से ही इस में चिदात्म्य का आगमन हुआ है। अतएव जिसमें विज्ञान (बुद्धि) का विकास रहता है, वही विषयज्ञात से वास्तविक आनन्द उठ सकता है। बुद्धिमान् मनुष्य के लिए जहाँ अत्यन्तमग्न आनन्द का कारण है, एक गर्दम के लिए वह अत्यन्त सामान्य कष्ट से अधिक मूल्य नहीं रखता—‘यथा सरो वन्दनभारवाही, मास्य बेत्ता न तु सौरभस्य’। विज्ञान में ही आनन्द है। बुद्धिनाश सर्वनाश का कारण है। जिस की अकल (अकल) मारी गई, वह क्या कर सकता है। इसी प्रकार विज्ञान का आनन्द भी खुद की संपत्ति नहीं है। अपि तु सत्य नाम से प्रसिद्ध, अहमात्मकतक महद्गुर्मे में प्रसिद्धि आत्मानन्द से ही विज्ञान आनन्दमय बना हुआ है। जब तक ‘अहं’ (आत्मा) है, तभी तक विज्ञान है। जब अहमा न (आत्मा) मूर्च्छित हो जाता है, अपवा शरीर से उत्पन्न होजाता है तो सारी अहमात्म-सत्त्वा उच्छिन्न हो जाती है। इस प्रकार अन्ततः गत्वा आत्मानन्द को ही मुख्य आनन्द मान ला सकता है। बात है भी ठीक। जो अन उभार लिया जाता है, उस से वास्तविक आनन्द

नहीं आसक्तता। आनन्द तो दूर रहा, अणुप्रस्त व्यक्ति तो उसका चिन्ता में पड़ जाता है। आ-
गन्तुक वस्तु यदि आई है तो—संयोगा विषययोगान्ता' इस सिद्धान्त के अनुसार वह कभी
न कभी अक्षय्य वापस जायगी। विषय—इन्द्रियवर्ग—प्रज्ञान(मन)—विज्ञान (बुद्धि) इन सबमें
हम जो आनन्द मात्रा देखते हैं, वह आगन्तुक है—'तस्यैव मात्रासुपादाय सर्वे उपजीवन्ति'।
यह आगन्तुक आनन्द अस्वायी है, अतएव विरामित के लिए सदा अनुरक्त है। साथ ही
में विषयवत् इन्द्रियानन्द, इन्द्रियवत् मन का आनन्द मन से वह सुदधानन्द सदा हृदयस्थ
आत्मानन्द से पराङ्मुख बने हुए हैं। अतएव सुखिमान्, मनस्वी, शास्त्री का पारंगत कोई भी
नहीं रहो पड़ सकता। इसी स्थिति का बड़े सुन्दर शब्दों में निरूपण करती हुई उपनिष-
प्रकृति कहती है—

नायमात्मा प्रयत्नेन सम्प्राप्त न मेवमा न पशुना श्रुतेन ।

परमेव परागते तेन सम्प्राप्तस्यैव आत्मा विदुष्यते तन् स्वाम् ॥

(कठोपनिषद् १।१।२।२२ ।

'सो जाने मेरे देहि जनाई' काव्य तुलसीदास के इस सिद्धान्त के अनुसार जिस दिन
आत्मा के ऊपर आया हुआ आकर्षण हट जाता है उस दिन आदित्यवत् सदा एव वह प्रका-
शित हो जाता है। जिस प्रकार वायु प्रकाश उत्पन्न नहीं करती केवल मेघावरण हटा देता
है, पक्षि से ही विद्यमान सौर प्रकाश अपने आप प्रकट हो जाता है तथैव शास्त्रोपदेश-
उपासना—ज्ञानयोगादि आत्मानन्द को उत्पन्न नहीं करते, अपि तु आकर्षण मात्र हटा देते हैं।
आत्मा तो सदा प्रकाशरूप है, उस के लिए अल्पसाधन सर्वथा अनपेक्षित हैं।

उक्त कथन से यह भी मसीमति सिद्ध हो जाता है कि विज्ञान आत्मा के समीप है, अ-
तः इस में मन—इन्द्रियादि की अपेक्षा आनन्द की अधिक मात्रा है। तभी तो 'तद्विज्ञानेन परि-
परयन्ति पीराः' यह कहा जाता है। इन्द्रियादि की अपेक्षा मन में अधिक आनन्द है, क्योंकि
कि मन विज्ञान के समीप है। भौतिक विषयों की अपेक्षा इन्द्रियों में अधिक आनन्द है, क्योंकि

इन्द्रिये मौक्तिक विषयो बड़ी अपेक्षा मन के समीप हैं। इस प्रकार विषयों में जाकर आनन्द अत्यल्प मात्रा में रह जाता है। उधर आनन्द की खोज में मन इन्द्रियों के द्वारा बाहर निकल कर विषयों पर जाता है। परन्तु होता क्या है—सुनिर ! अरुनी मात्रा से अधिक आनन्द मिलने पर ही आनन्द आता है—“यो वै भूमा तव सुख, नारूपे सुखमस्ति, भूमानमित्युपास्य” के अनुसार भूमा (बहुल) —मात्र में आनन्द है। यदि एक सप्ताधिराति को कहीं से १० रुपयों मिल जाय तो उसे आनन्द नहीं आसकता। दो सप्ता की प्राप्ति में ही वह आनन्द को अनुभव कर सकता है। जिस एक पैसे से २ रुप का खर्चा प्रसन्न हो जाता है, वही पैसा एक मनुष्य को आनन्द नहीं पहुंचा सकता। यही परिस्थिति यहाँ होती है। मन मल्लोदय आनन्द की खोज में विषयों पर जाते हैं। परन्तु उन्हें यह मालूम नहीं है कि विषयों में कितनी सी आनन्द की मात्रा है, वह इन्द्रियों से आइ है, इन्द्रियों में जो आनन्द आया है, वह मुझ से आया है। भूतापेक्षया इन्द्रियों में अधिक आनन्द है, इन्द्रियापेक्षा स्वयं मुझ में (मन में) अधिक आनन्द है। इस प्रकार त्रिवेक बुद्धि से वधित मन थोके से विषयों पर पहुँच जाता है। वहाँ जाकर उसे पट्टलता पड़ता है। किसी भी विषय पर मन विरक्त हो तक प्रतिष्ठित नहीं रह सकता—‘अतिपरिषयाद्ब्रह्मा’। थोके दिन रहता है, अभिसन्धित भूमानन्द मिश्रता नहीं, दूसरे विषय पर दौड़ता है। वहाँ भी आनन्द नहीं मिश्रता, तीसरे पर, चौथे पर, इस प्रकार त्रिविध विषयों में दौड़ लगाता रहता हुआ मन लुप्त हो जाता है। यही मन का आच्छेद है, यही क्षोभ है, क्षोभ अग्रान्ति का कारण है—‘अग्रान्तस्य कुतः सुखम्’। “गए ये पौत्रेभी पनने, मुझे भी रहने में भी सन्देह होगया” ठीक यह लोकोक्ति विषयासक्त मन पर आदल तोड़ा पाव रही परिताप होती है। सने गए ये आनन्द, मिता आशरणरूप दुःख, अग्रान्ति, क्षोभ। आनन्द की व्यय साक्षता से विषयासक्त इस अवस्था की मन को पुनराधार में विषय संस्कार मिलत है। इन संस्कारों की दृष्टा से बचाव आनन्द के इसे भरकर महादुःखान्तर में निमग्न रहना पड़ता है। संस्कार मूलप्रधान होते हुए अग्रप्रधान हैं। का अविद्या है। अतएव इस संस्कारभाति को ‘अविद्या’ कहा गया है। इस अविद्याकारण आशरण से अविद्यामय मन

के सेवक बने हुए विद्यानात्मक वह स्मृति भान (विद्या भोग) आश्रित होजाता है, तमोमय भान (अविद्या भोग) प्रकट बन जाता है। प्रकट अविद्याबुद्धि के योग से अज्ञान का अविद्या भान संप्रकट होता हुआ आत्मा के विद्या भोग को आश्रित कर लेता है। सर्वत्र अज्ञानात्मकता का साध्यत्व हो जाता है। यही मोह का जनक है—“अज्ञानेनाहतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः” इस सिद्धांत को कौन नहीं जानता।

इस प्रकार विषयात्मक मन से उत्पन्न बुद्धि अपने अविद्या भोग की प्रकृति से मोह की बन्नी बन जाती है। इसी को ‘मोहकृत्स्ना’ बुद्धि कहा जाता है। सारासाराविवेकता, अविषयकारिता का नाम ही मोह है। ‘मनसो विषयाकाराकारित्वं वासनासंस्कार’ के अनुसार मन का विषयकारूप में परिणत होजाता ही वासना संस्कार है। मन वायु है, आनन्दरूपेण रतेहकम्य है। इसीलिए अन्नमा जिस नक्षत्र पर जाता है, वह उसी नक्षत्र का रूप धारण कर लेता है। मनुष्य (संश्लेष) में सदा ही सभी नक्षत्र विद्यमान हैं। परन्तु व्यपहार होता है—भ्रान्त अविज्ञानी है, भ्राम भरसी है। इस का तात्पर्य यही है कि व्याप अविज्ञानी का अन्नम है, व्याप भरसी का अन्नम है। इस से कहना यह है कि अन्नम का यह समर्थ है कि वह जिसके साथ मिलता है, तदात्म्यकारित बन जाता है। इसी का अर्थ हमारा मन है, जत एव यह भी जिस विषय से संयुक्त होता है, उसी का व्यपहार धारण कर लेता है। विषयकारुण्यरहित मन वासनामय है। संस्काररूप आकर ही (यह आकर ही) ‘वासयति—आच्छादयति—आस्त्यानम्’ के अनुसार ‘वासना’ है। यही संस्कार कदाचित् में प्रकट बन जाता है। तत्त्व से तत्त्वज्ञानमय रचिनसूत्र—(हृन्नासूत्र) तत्त्वज्ञानों के लिए निकला करते हैं। दूसरे तत्त्वों में तत्त्वनिर्मित एव तत्त्वों के द्वारा (तत्त्वज्ञानों के द्वारा) मन धार २ उन तत्त्वों की ओर होका करता है। ‘स्वनिवर्तसंस्काराद्वारा विषयेषु मनसो बन्धनमासक्तिः’ के अनुसार इस विषयकर्मण का नाम ही आसक्ति है। वासना संस्कार ही आसक्ति का जनक है। व्याप मार्ग में बहते २ कोई क्षुब्ध धरम देख लेते हैं, तत्काल मन पर उस की व्याप (संस्कार-वासना) लग जाती है। यही व्याप व्याप के मन को उस धरम को पुनः २ देखने के लिए आकर्षित

करती है यही आसक्ति है। एक बात और। यदि वक्त संस्कार दब नहीं होता तो आसक्ति भी नहीं होती। संस्कार दबमूल बन कर ही आसक्ति का कारण बनता है। इस संस्कारों को दब करने का साधन है—‘चिरकाश का अनुभव’। ‘मनसा अनुभवजन्यसंस्काराधानेऽनुभवस्य चिर-काशिकत्वं हेतुः’ के अनुसार मन पर जो संस्कार आता है, यदि बार बार उसी की ओर ध्यान रखा जाता है तो—‘स तु दीर्घकालेनैरन्तयसंस्काराऽऽसेनितो दृढभूमिः’ (योगसू० समाधिपाद, १४ सू०) के अनुसार वक्त चिरकाश के अनुष्ठान से वह संस्कार दबमूल बन जाता है। प्रथम-संस्कार आसक्ति का कारण नहीं बनता, अपितु अनुभव द्वारा दब बना हुआ संस्कार ही आसक्तिरूप ‘संग’ का कारण बनता है, जैसा कि ‘ध्यायंतो विषयान् पुंसः सगस्तेषूपमायते’ (गीता २।१२) इत्यादि से स्पष्ट है। निष्कर्ष यही हुआ कि मन संस्कारों के चिरकाशिक सम्बन्ध से विषयों के साथ बद्ध हो जाता है। मन को हमने प्रज्ञान कहा है। प्रज्ञान में प्रज्ञा-प्राण यह दो तत्त्व हैं। प्रज्ञा सोमत्व है, प्राण इन्द्रियत्व है। दोनों का तादात्म्य है। सोम ही चिदंश का माहक बनकर ज्ञानमूर्ति बनता हुआ ‘प्रज्ञा’ नाम से व्यवहृत होने लगता है। मन में आप ज्ञान और क्रिया दोनों धर्म देखते हैं। साथ ही वे यह मन रूप—रस—गंधादि भूतमात्राओं का भी अनुमाहक है। सोम—चिदंश—प्राण यही तीनों क्रमशः भूतमात्रा—प्रज्ञामात्रा—प्राणमात्रा के अनुमाहक हैं। सोम मूर्तों का प्रतीक है। चिदंश प्रज्ञामात्र का जनक है। प्राण इन्द्रियप्राण का उपकारक है। चिदंशसुक्त सोम प्रज्ञामात्र (ज्ञान) है, प्राण क्रिया भाग है। इस प्रकार प्रज्ञा—प्राण मेद से मन उभयार्थक बन जाता है—‘उभयार्थक मनः’। प्रज्ञा—प्राण के इसी तादात्म्यभाव का निरूपण करते हुए महर्षि कौपीतिक कहते हैं—

“या च प्रज्ञा स प्राण, यः प्राणः सा प्रज्ञा। सह ज्ञेयानस्मिन् शरीरे वसतः, सहोपिष्ठतः। प्राज्ञोऽस्मि वा प्राणतमा। तं मामापुरमृतमित्युपास्व। × × ×। तस्यैवैव दृष्टिः, एतद् विज्ञानम्” (कौपी० उप० १।१)।

सोममयी प्रज्ञा के सम्बन्ध से ही प्रज्ञा-प्राणरूप इन्द्र 'भोकासारी' बन जाता है। प्रज्ञान-मग्न जिस विषय पर जाता है, स्नेहशुष्क सोम के प्रमाण से वह वही आसक्त हो जाता है। 'जिस घर पर (विषय पर) गए, वहीं के होगए' वही 'भोकासार' है। भोका मर का भावक है—“सृष्टा वा भोका” (ऐ० ८।२६)। मग्न रूप प्राण इन्द्र का सामाजिक धर्म (सार) भोका (विषयों में आसक्त हो जाना) ही है, अतएव इसे भोकासारी कहना न्याय संगत होता है। प्राण इन्द्र के इसी आसक्ति भाव को समय में रस पर स्थिति कहती है—

'भोकासारी वा इन्द्रः, यम वा एष इन्द्रः पूर्ण गच्छति-प्रेय तमापर गच्छति' (ऐ० भा ६।१७।२२)। जहाँ एक बार मग्न किसी विषय पर आसक्त हो जाता है, उस बार २ उसी विषय की ओर दौड़ा करता है। ऐसा धर्म एक मात्र प्राण इन्द्र का ही है। विशुद्ध रूप से प्राणमूर्ति इन्द्र अस्मंग है, किन्तु सोम सम्बन्ध से इसे आसक्तिभाव से आक्रान्त हो जाना पड़ता है।

मग्न के उक्त आसक्तिभाव के सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। “सकल्प विकल्पात्मक मन को हमने पूर्व में ब्रह्मण्य कहलाया है, जैसा कि ‘ब्रह्मस हि मनः कृष्ण मयायि ब्रह्म बृहद्म’ इत्यादि स्मार्त गणों से स्पष्ट है। ब्रह्मण्य-परित्याग यह मन का सामाजिक धर्म है। वह किसी एक विषय में विरक्तता तक प्रवृत्ति नहीं रह सकता। ऐसी परिस्थिति में मन की विषयों के साथ आसक्ति (विरक्त्यास्तिक बन्धन) अनुपपन्न हो जाती है। संस्कारों की विरक्त्या बन्धा ही आसक्ति का मूल है, एक व्यक्तिगत मन में विरक्त्यास्तिकता का अभाव है। फिर मन को, किंवा प्रवेन्द्र को भोकासारी (विषयासक्त) कैसे कहलाया गया ?”। इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें वास्तव्यपुरुष की शरण में जाना पड़ेगा। विशुद्ध मन वास्तव में अणुमात्रात्मक है, अतएव पञ्चल है। परन्तु बुद्धि को साथ लेने से ही मन आसक्ति के बन्ध में पड़ जाता है। दूसरे शब्दों में बुद्धिसहकृत मन ही आसक्ति का कारण है। स्थिर सूर्य से उत्पन्न बुद्धि स्थिरा है। तत्सम्बन्ध से अस्थिर मन में स्थिरता का उदय हो जाता है। सांस्कारिकत्व जहाँ मन का बन्ध है वहाँ विरक्त्यास्तिकता बुद्धि का धर्म है। इसी शब्दा को लेकर मन विषयों में पड़ हो जाता है।

यदि ऐसा है तो फिर एक प्रश्न उपस्थित होता है। सूर्यरूप विज्ञानात्मा (बुद्धि) को चन्द्ररूप प्रज्ञानात्मा पर (मन पर) प्रतिष्ठित बतसाया गया है। मन और बुद्धि दोनों परस्पर में अविभाज्य हैं। मन कभी बुद्धि से वृथक् नहीं हो सकता, एक बुद्धि न मन से कभी वृथक् होती। दोनों नित्य सन्वद् हैं, वैसा कि धृति कहती है—

“कृतम आत्मेति १ योऽयं विज्ञानमय मायेषु ह्यन्तर्भोतिः पुरुषः ॥”

(ष्टु भा उ १।१।७)। ‘तदा अस्मैवन्ति च्छन्दा अपरितपाप्माभयं रूपम्।

तथया प्रियया स्त्रिया सपरिप्लव्को न बाधं किञ्चन वेद-नान्तर, एवमेवायं पुरुष (विज्ञानात्मा-चाक्षुषपुरुषः) प्राज्ञेनात्मना सपरिप्लवः”

(ष्टु भा उ १।१।२१)।

ऐसी दशा में सदा ही सभी विषयों के साथ आसक्ति होनी चाहिए, क्योंकि संस्कारमात्रक मन, एक इदतोत्पादिकबुद्धि दोनों सदा ही सहज हैं। परन्तु हम देखते हैं कि कितने ही विषयों से मन घृणा करता है। उन के स्पर्शमात्र से मन उद्विग्न हो पड़ता है। इस का क्या कारण ? आसक्तिमूला सामग्री के रहते हुए भी कहीं आसक्ति हो, कहीं न हो इस का क्या उत्तर ? ‘बुद्धिर्द्रविष्य’। बुद्धितत्त्व अपेक्षा, उपेक्षा मात्र से दो भवों से आकृन्त रहता है। अपेक्षाबुद्धि से संस्कार दृढ़ होजाता है, उपेक्षाबुद्धि से संस्कार स्थिर नहीं होने पाता। मन को हमने दृष्टिकर बतसाया है। यदि मन प्रवृत्त है तो स्थिर बुद्धि निर्बल होजाती है, ऐसी दशा में स्थिरभाव उत्पन्न नहीं होता, उपेक्षामात्र का उदय होजाता है। यदि बुद्धि प्रवृत्त है तो मन की दृष्टिकता निर्बल बन जाती है, उपेक्षा द्वारा स्थिरभाव उत्पन्न होजाता है। इसी को लोक में—‘गौर फरना’ कहा जाता है। ‘गौर फरो’ इसका अर्थ है बुद्धि से काम लो, बुद्धिकर दकाओ। इससे संस्कार दृढ़ होगे, अन्यथा संस्कार निबल रहेगें। इस प्रकार इस अपेक्षा बुद्धि से संस्कार दृढ़मूल बन जाते हैं, यही आसक्ति का मूल है। टीक इस के विपरीत उपेक्षाबुद्धि में संस्कारशेषिभ्य है, यही अनासक्ति का मूल है। उदासीनभाव

ही उपेक्षामात्र है। 'मनसा एहीवविषये बुद्धेभिरकासिकारममुष्प्यान' के अनुसार मन इन्द्रियों के द्वारा जिन विषयों का संस्काररूप से ग्रहण करता है, यदि संस्काररूप से आगत विषयों में (उपेक्षामात्र की प्रभावता से) बुद्धि अधिक समय तक टकर जाती है तो वही इन्द्रिय अनुष्णाम नाम से व्यपहत होने लगती है। चिन्तन करना अनुष्ण है। इस व्यनरूप बुद्धि के व्यपार से आगत विषय का मन के साथ निरकालिक संयोग हो जाता है, यह संयोग ही संग है, संग ही आसक्ति है।

'मनसः स्वएहीवविषयस्य बहिषा परिमिष्टुषा काम' के अनुसार संस्काररूपक विषय आभिहित मन का वहि स्मित संस्कार जनक तत्त्व विषयों की ओर बार बार लोबना ही 'काम' है। संगत्या आसक्ति ही काम की जननी है। यही काम आगे जाकर क्रोध का जनक बन जाता है। 'अनुकूलसयोगसत्त्वः सुस्वानुशयी संस्कारो रागः' के अनुसार अभिसर्पित, अतएव सुप्त के साधनभूत विषय के साथ ही काम का सम्बन्ध होता है, यही राग है। यह विषयपरिबिष्टुषा 'रागमूला' है। एव 'प्रतिकूलसयोगसत्त्वो दुस्स्वानुशयी संस्कारो द्वेषः' के अनुसार मन का अपने आभिहित विषय के साथ (जो कि दुस्व का प्रवर्तक है) झुजना, द्वेष है। आसक्ति दोनों में है। राग सम्बन्ध से एक मित्र के स्नेहाश्रय में मन बितना बह रहता है, उस से बड़ी अधिक शत्रु के साथ मन बह रहता है। रागवृद्ध-क्रोध आदि आसुर इसी द्वेष बुद्धि से उत्पन्न हुए हैं। क्रम से ही राग का उदय है, क्रम से ही द्वेष का उदय है। कामसम्यग्नाभिकरण क्रम ही श्रेष्ठ का मूल है। एक वस्तु को आपसी चाहते हैं, उसी को एक दूसरा व्यक्ति भी चाहता है। एक ही स्थान पर दो वस्तुओं का सम्बन्ध हो रहा है। दोनों का अभिप्रेत एक है। इस सम्यग्नाभिकरणरूप काम से तत्त्वज्ञान श्रेष्ठ का उदय हो जाता है। "अमी पितृविषयेऽप्याक्रमणायङ्गायां तदभाविर्समावनायां शरीराप्राप्तुमायः क्षोमः क्रोधा" के अनुसार अपने अभिसर्पित पदार्थ का यदि अन्य व्यक्ति सेने की इच्छा करने लगता है तो उस व्यक्ति को उस की प्राप्ति में आशङ्का हो जाती है। इस से शरीर का अस्ति धूम्र हो पड़ता है। अस्ति का यह क्षोम ही 'क्रोध' है। राग से ही काम का उदय हुआ है, राग से

ही श्रोत्र का उदय हुआ है। दूसरे शब्दों में कामप्रतिबन्धन ही श्रोत्र का मूल है, यही कामप्रतिबन्धन श्रोत्र का मूल है। काम एक निम्न संस्कार है, श्रोत्र एक निम्न संस्कार है। दोनों का मन में सम्मेलन होता है। इन दोनों विजातीय संस्कारों के संघर्ष से एक तीसरा अपूर्व संस्कार उत्पन्न हो जाता है, यही 'समोह' नाम से प्रसिद्ध है। अनुमनादितसंस्कारबन्धनाना स्मृति है, स्मृति ही विज्ञान का को मढ़ती है। समोह से (चित्तबोम) से स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है। स्मृतिनाशसे बुद्धि (विचारशक्ति) नष्ट हो जाती है। बुद्धिनाश ही विनाश का मुख्य कारण है। इसी क्रमिक मनोविज्ञान का निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं—

यदा ते मोक्षसिद्धिं बुद्धिर्भ्रंशितिरिष्यति ।

तदा गन्वासि निर्बेदं श्रोत्रम्यस्य श्रुतस्य च ॥१॥ (गी० २।५२) ।

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।

सङ्गात् समायते कामः कामात् श्रोत्रोऽभिभायते ॥२॥

श्रोत्राद्भवति समोहः समोहात् स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशी बुद्धिनाशात् मय्यश्रयति ॥३॥

(गी० २।५२ ५३) ।

उपर्युक्त मनोविज्ञान से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि यदि विज्ञानात्म्य मन की ओर मुक्त जाता है तो वह मन पर आए हुए अभिधामय मौलिक विषयसंस्कारों को उद्घ बनाता हुआ आत्मस्वरूप को आवृत कर देता है। बुद्धि में जो विधा-(धाम)भाग है, वह मन के साथ युक्त होकर कर्मेन्द्रियों का उपकार करता है। इस ज्ञानीय संस्कार को ही 'अनुमनादितसंस्कार' कहते हैं, यही 'मावना' नाम से प्रसिद्ध है। एव बुद्धि का अभिधा-(कर्म) भाग मन द्वारा कर्मेन्द्रियों का उपकारक बनता है। यही कर्मजनित संस्कार 'वासना' नाम से प्रसिद्ध है। वा न-(विधा) संस्कार, एव कर्म-(अभिधा) संस्कारही मन की ओर मुक्ति हुई उसी बुद्धि की

इन्हीं से (अविद्या से) दृक्मूल बनते हुए दुःस्मृता आसक्ति के जगज्जन्म पाते हैं। अविद्या का कर्म है, अविद्या है, दूसरे शब्दों में अज्ञान है। इस की उपासना करने वाले अविद्या में प्रविष्ट होते हैं। परन्तु विद्या की ओर मुक्त होकर उस से भी अधिक गहरे अवस्था में जाते हैं। कर्म उतना बुरा असुर नहीं करता, जितना कि अविद्या 'समस्त' से होता है। अविद्या की कल्पनाएँ मनुष्य को पशु बना सकती हैं। निष्काम-मुक्ति से विद्या जाने वाला कर्म शुद्ध विद्या का प में परिणत होता है, परन्तु सक्रम-विद्या आचरण-प्रवृत्ति कर्म से भी कहीं अधिक अवस्था में होती है। क्योंकि कर्मजनित वासना संस्कार की अपेक्षा ज्ञानजनित साधना संस्कार अधिक शुद्ध होता है। जोर को उतना दण्ड नहीं मिलता, जितना कि बोरी की शक्का रखने वाले को मिलता है। कर्म (कर्मजनित वासना संस्कार) तो मध्य होता है, परन्तु ज्ञान (ज्ञानजनित साधना संस्कार) सबसे मध्य नहीं होता। आप एक व्यक्ति को बुरे कर्म से शीघ्र मोक्ष सकते हैं, परन्तु उस के बुरे विचार (भावना) सहसा नहीं बदले जा सकते। स्पृष्ट की विविधता सहज है, सूक्ष्म की विविधता कठिन है। इन्हीं सारे रहस्यों को स्वरूप में रहता हुआ, विज्ञानात्मक स्वरूपमें बतलाता हुआ प्रकृत विज्ञानात्मकिकरण पाठकों के सामने उपस्थित हुआ है।

विज्ञानतत्त्वप्रतिपादिक तीनों मन्त्रों में उपस्थित होने वाली ईशोपनिषत् में आदिनि
 "अर्थे तपः प्रविशन्ति ०- "अन्त्यवेवाहुर्बिषया" "विद्यां प्राविद्यां च" ० यह क्रम
 देखा जाता है। परन्तु हमारी दृष्टि से (प्रमाणदृष्टि से) इन तीनों मन्त्रों का "अन्त्यवेवाहुर्बि
 षया" ०- "अर्थे तपः प्रविशन्ति" ०- "विद्यां प्राविद्यां च" ० यह क्रम होना चाहिए।
 संभव है संस्कारों की असहायता से यह विज्ञानक्रम व्यर्थ गया हो। पहले व्यापक विज्ञानात्मक
 स्वरूप बताना आवश्यक है। आत्मस्वरूप परिचय के अनन्तर "जो आत्मा के यथायथ स्वरूप
 को नहीं जानते, उन की ऐसी गति होती है" यह बताने का अवसर मिलता है। सर्वगत
 वे-ईश्वरिये आत्मवेदता की इस तरंग उपासना करो यह कहना व्यापकृत होता है।

यही कम वैज्ञानिक है। वैज्ञानिक क्रम का 'अन्यदेवाहुर्विद्यया०' यह प्रथममन्त्र विज्ञानात्मा का स्वरूप बतचाता है। 'अन्य तमाः प्रविशन्ति०' इत्यादि मन्त्र आत्मा के प्रतिपादित स्वरूप से विरुद्ध मानेवालों की अवगति बतचाता है, एव सवान्त में—'विद्यां प्राविद्यां च' इत्यादि मन्त्र प्रतिज्ञात आत्मतत्त्व का स्पष्टीकरण करता है। इसी क्रम का समादर करते हुए निम्न सिद्धित मन्त्र की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है—

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुर्विद्यया ॥

इति श्रुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचवत्तिरे ॥१॥

(ई व १० मन्त्र)

“यह आत्मतत्त्व विद्या से भी घृण्य कहा जाता है, अविद्या से भी घृण्य कहा जाता है। जिन (पारोक्ष्यविद) विद्वानों ने हमारे लिए आत्मस्वरूप का निरूपण किया है, उन धीरों के (आत्मा के सम्बन्ध में) ऐसे ही विचार हैं—यह हम सुनते आये हैं, अर्थात् धीर विद्वानों का कहना है कि यह आत्मतत्त्व विद्या-अविद्या दोनों से घृण्य तत्त्व है” यह है मन्त्र का सामान्य अर्थ।

हम विश्व में समष्टि एव व्यष्टिरूप से सर्वत्र विद्या और अविद्या (ज्ञान एव कर्म) का साक्षात्कार कर रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ ज्ञान-कर्ममय है। साप ही में जहाँ ज्ञान है, वहाँ कर्म (विषय) अवश्य है। कर्मसन्नातक विषय के बिना आप अपने ज्ञान को कभी नहीं देख सकते। प्रत्येक दशा में ज्ञान विषयाकारणकारित बन कर ही भासित होता है। इसी प्रकार प्रत्येक कर्म-ज्ञानमय है। 'ज्ञायते' भी क्रिया ही है। आप किसी वस्तु को जानते हैं, यह जानना भी कर्म है। आप कोई काम कर रहे हैं, उस में भी ज्ञान निम्न सम्बद्ध है। ससार में सतत प्रयास करने पर भी आप विशुद्ध ज्ञान एवं विशुद्ध कर्म का पार्थक्य नहीं देख सकते। इन में ज्ञानभाग अमृत है, कर्मभाग मृत्यु है। ज्ञान आदर्शवत् सदा एक रूप रहता है, यही इस का अमृतमात्र है। ज्ञान में आने वाले कर्मरूप विषय निरन्तर बदलते रहते हैं, यही कर्म का

सृष्टुमान् है। ज्ञान विद्या है, कर्म अविद्या है। दोनों का (सोपाधिकरूप से) प्रकाश हो रहा है। इन दोनों का गूहाकार विज्ञानात्मा (बुद्धि) है। विज्ञानात्मा में प्राण और चित्त यह दो भाग हैं। साय ही में तीसरा सोमकल्प भी है। प्रज्ञानात्मा (मन) में भी-इमें सोम-चित्त-प्राण-यह तीन ही अवयव बतलाए थे, परन्तु इस में और विज्ञान में बड़ा अन्तर है। विज्ञानात्मा सूर्य की प्रतिकृति होने से पारों और से प्रकाशित रहता हुआ स्वयंयोतिर्मयत्व है। प्रज्ञानात्मा चन्द्रमा की प्रतिकृति होने से एक भाग से (जिस और विज्ञानात्मा का प्रकाश आता है-उस भाग से) प्रकाशित रहता हुआ परज्योतिर्मयत्व है। साय ही में विज्ञानात्मा का सोम पारमेष्ठ्य ब्रह्मरूपति सोम है प्रज्ञानात्मा का सोम चान्द्रावृत्त सोम है। विज्ञान और प्रज्ञान में बड़ी अन्तर है, जो अन्तर सूर्य और चन्द्रमा में है। विज्ञान अद्वैतप्रधान है, प्रज्ञान सोम तत्त्वप्रधान है। विज्ञान विषयों पर जा सकता है, प्रज्ञान पर विषय आते हैं। मनीष रचना में विज्ञानम्यापार की प्रधानता है, किन्ती की मनी हुई रचना की प्रतिलिपि करने में प्रज्ञानम्यापर प्रधान है। सोमकल्प दोनों के प्राय में भी भेद है। विज्ञानप्राण दिव्य है, प्रज्ञानप्राण भ्रान्त रिचय है। विज्ञानेन्द्र 'मयना' है, प्रज्ञानेन्द्र 'हृमहा' है। इसी प्रकार विज्ञान का विदरा मन्त्रयुक्त होने से प्रकाश है, प्रज्ञान में जो विदरा व्याप है वह विज्ञान की ही देन है। इन सब कारणों से विज्ञान-प्रज्ञान की सोम-विदरा-प्राण तीनों ब्रह्माओं का पार्यक, एक पृथग्पूर्वत्व सिद्ध हो जाता है। विज्ञानात्मा संपन्न है, कारिणिता है। प्रज्ञानात्मा कर्त्ता है। इसी कर्त्ता प्रज्ञान की ज्ञान (प्रज्ञा), क्रिया (प्राण) कार्य (भूत) तीनों शक्तियों का संचालक क्षेत्रज्ञ विज्ञानात्मा है। अग्नौ सोमकला से विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा को मूलमया (शब्द-रूप-रसादि विषयों) के सिद्ध, चित्कला को प्रज्ञायात्रा के सिद्ध, एके प्राणकला को प्राणमात्रा (इन्द्रियवर्ग) के सिद्ध प्रेरित करता है। जब तक विज्ञान है, तभी तक आप्तात्मिकतत्त्वा की स्वरूपस्थिति है। सोम युक्त विदरा विज्ञान का विद्या (ज्ञान) भाग है, विज्ञानानुमर्शिय प्रायेन्द्र ब्रह्मभाग है। इस प्रकार अमृतप्राणमय, दूसरे शब्दों में विद्या-अविद्यामय तीक्ष्ण शब्दों में ज्ञान कर्मवय विज्ञानात्मा ही आप्तात्मकता का इसी प्रकार प्रकाशक एवं स्वरूपसमर्थक बना हुआ है, जिसे कि सूर्य

अपने अमृतमृत्युभाग से विश्व का प्रकाशक बना हुआ है। जब तक सूर्य है, तभी तक अमृत-रागम है, तभी तक विश्व है। जिस दिन सूर्य न रहेगा, उस दिन रात्र्यागम द्वारा प्रलय का साक्षात्प हो जायगा।

“यह विद्या (ज्ञान) है, यह अविद्या (कर्म) है” इस प्रकार से हम सत्ता में समष्टि स्वरूप से जिस ज्ञान-कर्म का साक्षात्कार कर रहे हैं, वह हमारे विज्ञानधन रूप की महिमा है—‘यह सूर्य इन्द्राजनि’। इस प्रकार अविद्या विद्यारूप से हम विज्ञानात्म्य के साक्षात् दर्शन कर रहे हैं। यही सोपाधिक विद्या-अविद्या विज्ञानात्म्य का स्वरूप है। इस स्वरूप को (ज्ञान कर्म को) स्थिति अस्थिति सभी जानते हैं। ‘हम जानते हैं—हम करते हैं’ यह अक्षर सभी के मुख से निकलते हैं। क्या सर्वविदित यही विद्या-अविद्या (सोपाधिक ज्ञान-कर्म) विज्ञानात्म्य का वास्तविक स्वरूप है? क्या सभी आत्मजानी हैं? फिर तो शास्त्रोपदेश की आवश्यकता ही न रही। इसी सारी जटिल समस्या को सुलभता बना—‘अन्यदेवाहुर्विद्यया०’ इत्यादि मन्त्र हमारे सामने आता है। हम सांसारिक पदार्थों में ज्ञानरूप से जिस विद्याभाग का साक्षात्कार कर रहे हैं, क्या यह प्राणानुमृत विद्या आत्मविद्या है? अपि कहते हैं—‘अन्यद-विद्यया’। जिस अविद्याभाग का हम कर्मरूप से दर्शन कर रहे हैं, क्या वह ‘आत्मविद्या’ है, अपि कहते हैं—‘अन्यद-अविद्यया’।

जात असत में यह है कि मुक्ति को ‘विज्ञानात्म्य’ में जो विशुद्ध आत्मप्राप्य है, उस का परि ज्ञान परतना है। यद्यपि विश्व में प्रत्यक्ष वह विद्या-अविद्याभाग उसी का विर्णय है, परन्तु यह दोनों ही भाग मौक्तिक विश्व से संपरिष्कृत बनकर सोपाधिक बनते हुए स्वस्वरूप से व्युत्पन्न हो रहे हैं। तब ही विशुद्ध विद्या अविद्यारूप आत्मतत्त्व केवल स्थातुमौक्तिकम्प है। वहाँ शब्द की गति नहीं है—‘मिहातारमरे। वा केन विप्रानीयात्’। विश्व के प्रत्येक पक्ष के विद्या-अविद्या भाग पर दृष्टि टाकते आइए, सबय ‘इदं न-इदं न-इदमपि न-इदमपि न’ यही कहना पड़ेगा। इस प्रकार न-न बतते जब सारे विश्व प्रपञ्च की समाप्ति होजाय, उस समय जो विशुद्ध-अगम्य तत्त्व

भाग है। इन से क्रमशः अभ्ययात्मक के विद्या-अविद्या भाग का उपकार होता है, अतएव इन्हें भी विद्या-अविद्या शब्द से व्यक्त कर दिया जाता है। वस्तुतः विद्या-अविद्यात्मक अभ्ययात्मक सौर विद्या अविद्या से पृथक् तत्त्व है। यह किसने समझा? इसका उत्तर है—“धीरा”। सौर विज्ञान ही भाग है। इस भीतत्व के परिष्कारा विद्वान् धीर हैं। जो धीर (सौरविज्ञान विद्वान्) हैं वे ही यह समझ सकते हैं कि वह इस सौरी अविद्या से भी अन्य है एवं सौरी विद्या से भी भिन्न है। यही मन्त्र का दूसरा अर्थ है।

प्रथमार्ध में जो मात्र प्रकट किए गए हैं, उन्हीं भागों को ‘विद्यायाः-अविद्यायाः’ इन पष्ठपन्त पाठों से भी व्यक्त किया जा सकता है। स्वयं मूलसंहिताने पष्ठपन्त पाठ को ही प्रधान माना है, जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है—

अन्यदेवाहुर्विद्याया अभ्यदावुरविद्यायाः।

इति शुक्लम धीराणां ये नस्तद्विषयश्चिरं ॥ (पष्ठ सं ४० अ। १३ म)।

सामान्य मनुष्यों में विद्याशब्द का अर्थ ज्ञान, एवं अविद्याशब्द का अर्थ अज्ञान-संसार रक्खा है। इसी अन्तिमें इन्हें आत्मस्वरूप से उचित कर रक्खा है। उधर आत्मा का स्वरूप भी विद्या-अविद्यात्मक बताया जाता है। क्या आत्मा के विद्या-अविद्यात्मक शोकसिद्ध ज्ञान-अज्ञान ही हैं? इस का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि तुमने विद्या का जो अर्थ (ज्ञान) समझ रक्खा है तुम्हारे समक्ष हुए विद्यास्वरूप से उस आत्मविद्या का स्वरूप सर्वथा भिन्न है—‘अन्यदेवाहुर्विद्यायाः’ (आत्मविद्या)। एवमेव तुमने अविद्या का जो अर्थ (अज्ञान) समझ रक्खा है, तुम्हारे समक्ष हुए अविद्यास्वरूप से आत्मा के उस अविद्या का दूसरा ही तात्पर्य है—‘अन्यदेवाहुर्विद्यायाः’। विद्या से अभ्यस्य करि विशुद्ध-विद्या अभिप्रेत

• अन्यदेव तद्विदाह्यो अविद्विताह्यि।

इति शुक्लम धीराणां ये नस्तद्विषयश्चिरं” (वेन० १।५)

“अन्यदेव धर्माव्ययमाधमात्” (पठ १।५)

इत्यदि उपनिषद्भ्यः भी इसी विधीमात्र का स्वीकारण करते हैं।

है, अविद्या से अन्वय का शुद्ध कर्ममात्र अभिप्रेत है। अविद्या का अर्थ अज्ञान नहीं, अपि उ
 क्त है। आत्म विद्याविद्यात्मक है—इस का तात्पर्य—‘आत्मा विद्याकर्ममात्र है’ यही है।

अपि विद्या—अविद्या शब्द से ज्ञान-कर्म का ही प्रत्यक्ष करने वाले कुछ एक मनुष्यों का
 कहना है कि विद्यारूप ज्ञानमात्र सर्वथा स्वतन्त्र तत्त्व है यही वास्तव में आत्मा है। कर्मजन्य
 अज्ञानरूप होता हुआ आत्मा का आवरण है। विद्या कभी अविद्या से, एवं अविद्या कभी विद्या
 से संयुक्त नहीं होती। दोनों (विषयी-विषय) तम—प्रकाशवत् आत्मत विरुद्ध हैं। इन दोनों
 विरुद्धों का जो एकत्र समवेष्ट देख जाता है, वह सर्वथा मिथ्या भाति है। आवरणमूला अवि
 द्या का विद्यारूप आत्मा से क्या सम्बन्ध? इसी भ्रान्तमत का निराकरण करती हुईं मुनि
 कहती हैं कि—यदि तुम विद्या-अविद्या का ऐसा ही स्वरूप समझते हो तो विद्यास करो, न
 तुमने विद्या का यथार्थ स्वरूप समझा, न अविद्या का। तुम्हारी समझी हुई विद्या का एवं अ
 विद्या का जो स्वरूप है, उस अन्वय विद्या का एवं अविद्या का स्वरूप सर्वथा ‘अन्यत्’ है।
 जिसे तुम मिथ्या कहने का साहस करते हो वह अविद्या अज्ञान नहीं, अपि उ विद्यागमिष्ठ
 कर्म है, एवं जिसे तुम शुद्ध विद्या कहते हो वह कर्मगमिता विद्या है। मूलगर्ण पूर्वकी ‘तद्
 गतस्य सर्वस्य तद् सयस्य बाह्यतः’ इस प्रतिज्ञा को। आत्म का आभा भाग विद्या है, आभा-
 भाग कर्म है। दोनों का समन्वितरूप एक आत्मा है। ऐसी स्थिति में केवल ज्ञान के अनुवायी
 भी उसे नहीं पहचानते एवं केवल कर्म के अनुवायी भी आत्मस्वरूपज्ञान से वञ्चित रहते हैं।
 तम—प्रकाशवत् दोनों विरुद्ध अवश्य हैं परन्तु दोनों का एकत्र समन्वय मिथ्या नहीं अपि उ—
 ‘अज्ञातं चैव खस्युश्च सदसच्चाहममुन’ के अनुसार मितागत सत्य है। जो आत्मा के इस
 समन्वितरूप की व्यापकता न कर केवल ज्ञानमात्र अवस्था केवल कर्ममात्र की उपासना करते
 हैं, जानते हो उन की क्या दण्ड होती है? नहीं जानते तो सुनो!

अन्वर्थं तम प्रविशन्ति येऽप्रविद्यामुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रता ॥ २ ॥

(ई उ० १ मन्त्र) ।

पुरुषात्माधिकरण्यान्तर्गतं ब्रह्मसम्बन्ध के समनीतिपद्ध में कमप्रपञ्च का दिग्दृश्यन कराते हुए कम के कम-विक्रम-प्रक्रम भेद से तीन प्रधान विवर्ण, एवं ५ साधारण विवर्ण वतहाए गए हैं—(वेष्टि ६ वि मा १२४—१२५ पृ)। कर्मवद् ज्ञान भी ज्ञान-विज्ञान अज्ञान इन तीन भागों में ही विभक्त है। रज्जु को सप समझना अज्ञान है। इसीको भ्रान्ति, मोह मिथ्याज्ञान आदि शब्दों से व्यवहार किया जाता है। दार्शनिक परिमाणानुसार इसी अज्ञानरूप भ्रान्तज्ञान को 'प्रातिमासिकीदृष्टि' कहा जाता है। यह अज्ञान परमाण्वदृष्टि से भी असत्य है, एवं व्यवहारदृष्टि से भी असत्य है। यही वेदान्तशनामित 'अव्याप्त' है। रज्जु को रज्जु समझना विज्ञान है। यहाँ विज्ञान शब्द से विरुद्ध ज्ञान ही अभिप्रेत है। रज्जु रज्जु नहीं, साधारण वस्तु है। परन्तु लौकिक मनुष्यों ने अपने लौकिक व्यवहार की सुविधा के लिए इसे 'रज्जु' नाम से व्यवहार कर रक्खा है। व्यवहारदृष्टि से रज्जु को रज्जु कहना अवधि सत्य है, परन्तु परमाण्वदृष्टि से रज्जु को रज्जु समझना विज्ञान (विरुद्धज्ञान) है। इन्द्रियों से जिन विषयों का जैसा ज्ञान हो रहा है वह सब परमाण्वज्ञान से श्रुत होता हुआ विज्ञानकोटि में प्रविष्ट है। इसी को 'व्यावहारिकीदृष्टि' कहा जाता है। एवं रज्जु को आत्मा समझना ज्ञान है—'ज्ञाना न्मुक्ति'। यही व्यावहारिक है यही 'पारमार्थिकीदृष्टि' है, यही वास्तविक ज्ञान है। इन में ज्ञान कर्म का उपकार है, विज्ञान विक्रम का उपकारक है, एवं अज्ञान अकर्म का उपकारक है। दूसरे शब्दों में अज्ञानज्ञान से निवृत्तिवर्ण आत्मीय (निक्रम) -कर्म का उद्भव होता है। व्यवहारज्ञान से प्रवृत्तिवर्ण व्यावहारिक कर्मों का उद्भव होता है, एवं अज्ञान से पतन मूलक ध्यात कर्मों में प्रवृत्ति होती है।

१—ज्ञानम् (आत्मज्ञान-सर्वथा सत्यम्) → → → १—कर्म (आत्मीय कर्म)

२—विज्ञानम् (सो-ज्ञान, परमाण्व असत्य) → → → २—विक्रम (व्यावहारिक कर्म)
व्यवहारतः सत्यम्)

३—अज्ञानम् (मिथ्याज्ञान भ्रान्ति) → → → ३—अकर्म (निरर्थक कर्म)

- | | | |
|--|----------------------|------------------|
| १-विद्या (ज्ञान)-सापेक्ष प्रवृत्तिकर्म----- | सत्कर्म-कर्मकारी | } -ज्ञानमूलककर्म |
| २-विद्या (ज्ञान)-निरपेक्ष प्रवृत्तिकर्म----- | सत्कर्म-साधुकारी | |
| ३-विद्या (ज्ञान)-सापेक्ष निवृत्तिकर्म----- | निष्कामकर्म-कर्मयोगी | |
| ४-विद्यानिरपेक्ष विवृत्तिकर्म----- | विकर्म-सौकर्यवतिक] | विज्ञानमूलककर्म |
| ५-विद्यानिरपेक्ष निवृत्तिकर्म----- | अविकर्म-अपेक्षकारी] | अज्ञानमूलककर्म |

इस प्रकार सम्पूर्ण विद्य में ज्ञान और कर्म का साधारण हो रहा है। त्रेधाविभक्त ज्ञान में से ज्ञान, एक त्रेधाविभक्त कर्म में से कर्म प्राप्य है, योग विज्ञान-अज्ञान, एक विकर्म-अकर्म है, यह रहस्यवेदाओं का सिद्धान्त है। इस ज्ञान और कर्म के सम्बन्ध में भारतीय विद्वानों में विचित्रता से भिन्न भिन्न दो मत पड़े चले हैं। कर्मज्ञ को ही प्रधानता देने वाले कर्मों का कहना है कि अस्तम्य का अस्त्युदय कर्म से ही हो सकता है। कर्म करने में ही कल्याण है। सम्पूर्ण विद्य प्रजापति का कर्म है। उस में कर्म से ही यह विभूति प्राप्त की है। कर्म करते जाओ, ज्ञान का उदय अपने आप हो जाएगा-‘तत्र स्वयं योगसंसिद्ध कृपेनात्मनि विन्दति’। ज्ञान के लिए प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमारा मुख्य ध्येय कर्म (प्रवृत्तिकर्म) होगा चाहिए। यही विद्या कर्मठ, कर्मयोगी, कर्मनिष्ठानुयायी आदि नामों से प्रसिद्ध है।

दूसरा दल कहता है कि कर्म से कमी अस्त्युदय नहीं हो सकता। इसका यह कहना कि प्रजापति में कर्म से यह विभूति प्राप्त की है, सर्वथा असंगत है। प्रजापति निश्चय ज्ञानमूर्ति है। वहाँ कर्म की समाप्ति ही नहीं है। यह तो निस्पृह-बुद्ध-मुक्त है। ऐसे जो कर्म प्रपन्न (विद्य) निष्कार्य देखा है, वह ‘रजस्तुसर्पित’ स्पाण्डपुरुषवत्’ शुद्धिरजतवत् सत्ता प्राप्त है, अस्मात्सम्पन्न है। सारा विद्य एक मय का निष्पावक है। हम मानते हैं कि निपातमुक्ति कर्म भेद है, अर्गल देने वाला है। परन्तु वह भी आगे जाकर अर्थिक। ज्ञेय

मिक) सुखकोटि में प्रविष्ट होता हुआ दुःख का ही कारण बन जाता है। 'स्त्रीषु पुरेषे मर्त्य-
लोके वसन्ति' 'पुनराप्तेषु ब्रह्मा यद्गुरुपाः'। कर्म कर्म है, पाप्मा है, आवरण है। इस से
ज्ञानमूर्ति आत्मा का निभेयसमान कपमपि समब नहीं है। समकर्मपरित्यागसत्त्वय ज्ञानयो-
गरूप सन्यास से ही मुक्ति हो सकती है। यही शैविकवादी 'ज्ञानी' 'ज्ञाननिष्ठानुयायी'
'सांख्य' आदि मार्गों से प्रसिद्ध हैं।

एक कहते हैं ज्ञान श्रेष्ठ है, दूसरे कहते हैं कर्म श्रेष्ठ है। एक कहते हैं साध कर्म छोड़
ब्रह्मकर भक्त में चले जाओ, दूसरे कहते हैं रात दिन कर्म (प्रवृत्तिकर्म) करते रहो। लोक
में प्रचलित इन्हीं दो विरुद्ध निष्ठाओं का निरूपण करते हुए महाबान् कहते हैं—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानं कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ (गीता)

उपनिषद् की दृष्टि में उक्त दोनों ही मार्ग पवन के कारण हैं। विद्यामार्ग भी ठीक नहीं,
अविद्यामार्ग भी ठीक नहीं। ठीक क्या नहीं! समब नहीं। कर्मठ कर्म में प्रवृत्त होते हुए
पासना सत्कार से आत्मा को बाह्य कर रहे हैं। ज्ञानी कहनेवाले बाधे ज्ञान में प्रवृत्त होते हुए
मादना से आत्मा को बाह्य कर रहे हैं। सक्रम ज्ञानयोग, सक्रम कर्मयोग दोनों ही साक-
मा-वासनासंस्कार के जनक बनते हुए बन्धन के कारण हैं। सर्वकर्मपरित्यागसत्त्वय सांख्ययोग
बन ही नहीं सकता। क्योंकि ज्ञानवत् कर्म भी आत्मा का कार्य (भाग) है, ऐसा कि पूर्व में बत
चाया गया है। उभर कर्म भी बिना ज्ञान के अपूरा है। जो केवल कर्म के अनुयायी हैं, कुछ
दिनों के लिए उन का सांसारिक भैरव अक्षय्य ब्रह्मा है, परन्तु इस प्रवृत्तिजनक सत्कार से आ
त्मा बाह्य हो जाता है। यही प्रवृत्तिकर्म आगे जाकर अक्षय्यतमरूप पाशाबादि स्थावरजोगियों
का कारण बनता हुआ आत्मा को सदा के लिए अन्धमय से बाह्य कर लेता है—(देखिए ई
मि मा १खण्ड आबरकतन्त्र १६१ से १२३ पर्यन्त)। ऐसी दशा में हम क्या सकते हैं कि जो केवल अवि
द्यारूप कर्म की उपासना करते हैं, व भोर तम में प्रविष्ट होते हैं—“अन्ध तमः मविशन्ति
येऽविद्यामुपासते”।

यह तो ईश्वर विमोक्षासक्तों की कथा, जब विधानुपायियों की दशा देखिए। केवल ज्ञान को ही श्रेष्ठ मानने वाले मन्वानुमात्र सांसारिक अस्त्युदय के मूढमूर्त कर्म को तो ग्रहिले से ही छोड़ बैठते हैं। सब छेड़छाड़ कोपीन सगणकर अरण्य में चले जाते हैं। होता नहीं है, जो होना होता है। कुछ धाम कभी रहता नहीं, कम से कम इस दशा में भी मुक्तिप्रप्त्यना आरम्भ रहती है। मुक्तिप्रप्त्यना ही क्यों, स्वाहा-मीमा-सोमा सभी शारीरिक कर्म तो यहाँ भी साप रहते हैं। इन्द्रियों के वेग भीतर से उत्पाद म्पाते हैं। बनाष्टी स्वांग से वह कस्तूर दाग्न रह सकते हैं। तभी तो मगवान् ने ऐसे सग्यास को 'मिथ्याचार' (बोग) कहा है। जब कर्म है तो आसक्ति अवश्य है, आसक्ति है तो आचरण भी अवश्य है। इस आचरणस्थिति तक तो कर्मठ और ज्ञानी की समान दशा है। अन्तर दोनों की परिस्थिति में केवल यही रह जाता है कि कमानुमायी यहाँ सांसारिक वैभव का मोहना बनता है, वहाँ कमानुमायी इस वैभव से भी बचिग हो जाता है। अतएव हम कह सकते हैं कि इन विमोक्षासक्तों की दशा विमोक्षासक्तों से भी बुरी है। कर्मठ उबर के न सही, इतर के तो हैं। परन्तु यह इतर के रहे, न उबर के रहे, "दुविधा में दोनों गए-माया मिश्री न राम"। न सौकिक दुख है, न आत्मनन्द है। इसी अनिप्राय से उपनिषत् में इनके लिए—“ततो मूय इष ते तमो य च विद्यायां उता।” यह कहा है। कहना नहीं होगा कि आज उक्त श्रौत बचन भारतवर्ष में आचरण चरितार्थ हो रहा है। सयकर्मपरिष्कारकस्य सग्यास के उपदेष्टा आचार्यों की दृष्टि से आज भारतवर्ष सारा कर्मकलाप अपने हाथ से खो बैठ है। प्रत्येक कर्म के लिए आज यह परमुखापेक्षी बन रहा है। उबर कर्मठ बिजेना लोग प्रतिदिन आगे बढ़न जा रहे हैं। हम बगने—‘ससार झूठा है, आत्मज्ञान ही सच्चा है इस बहुते व्यापार में मस्त हैं। यह सब है कि केवल कर्म को बनाने का कर्म भी दृष्टिक वैभव के बनान्तर उसी आचरण से आचर्यत हो जाने हैं, परन्तु उन्हें ऐहलोकिक सम्पत्ति तो मिस रही है। उबर कश्चित विधानुरागी हमारा समाज दोनों से बञ्चित हो रहा है। इस प्रकरण प्रकृत मन्त्र विशुद्ध ज्ञानयोग, कर्मयोग दोनों की ही निन्दा करता है, इनमें भी विशुद्ध ज्ञानियों की विवेक निन्दा करता है।

प्रकारान्तर स मन्त्रार्थ की संगति लगाइए । बिना कर्म की विद्या भी अधूरी है, बिना विद्या के कर्म भी अधूरा है । विद्या-कर्म के समन्वय से ही कर्मता का उदय होता है । एक व्यक्ति विद्या (शास्त्रज्ञान) से सर्वथा शुन्य है, निरक्षर मूर्ख है । यद्यपि वह भी कर्म करता है, परन्तु शास्त्रज्ञान से युक्त बुद्धि के अभाव से इसमें कर्षण्याकर्षण्य का भिन्न नहीं रहता । मजदूरी करके अपने कुटुम्ब का भरण पोषण करते हुए पशुपक्ष जीवन व्यतीत कर देना ही इसका परम पुरुषार्थ है । ऐसा मूर्ख (किन्तु भौतिक कर्मों में पटु) मनुष्य सचमुच आत्मदृष्टि से गहरे अंधेरे में है । इसे परसोक आत्मा आदि का कुछ ध्यान नहीं है । अन्याय-भोका-मांससागी मिथ्याभाषण आदि स अपने आपको सुखदुर मानने का गर्व रखने वाला यह विद्याशून्य मनुष्य विद्यमोह से मोहित होकर कालक्षेप किया करता है—'अज्ञानं तस्य शरणम्' । कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो विद्या पढ़ते हैं, शास्त्रज्ञान सम्पादन करते हैं, इन की बुद्धि में भिन्न भी उत्पन्न हो जाता है, यह आत्म-परमात्म-परसोक का स्वरूप भी समझने लगते हैं । परन्तु यह महानुभाव केवल 'ममत्' (विद्या) पर ही विश्राम कर लेते हैं । सन्ने चौड़े व्याख्यान दे बालना, बात बात में धर्म की दुहाई देना, इस प्रकार केवल बाणी पर ही इनके कर्म-कलाप का अन्तर्धान हो जाता है, कर्म करना इनके लिए एक विषय है—'वाक्शूरा' । समझने अक्षर्य हैं, परन्तु स्वयं कुछ नहीं करते । आदिष्ट हैं, आदिष्ट नहीं हैं । विद्वान् हैं, कर्मठ नहीं हैं । पढ़े हैं, सुणे नहीं हैं । करते हैं, करते नहीं हैं । इस प्रकार केवल विद्या का अवनताने वाले यह महानुभाव कर्मपरित्याग से सब कुछ लो रहे हैं । देखिए अपने सामान को । आज इन दोनों दसों की क्या दशा है । देशद्वितीय कर्म मन्त्र महानुभाव शास्त्रज्ञान से वञ्चित हो रहे हैं । फल यह होता है कि कर्मठ आत्म दृष्टि आत्म होते हुए भी समुद्ध हैं, संप्रतिष्ठाही हैं । परन्तु हमारे विद्वान् आहत होने के साथ साथ ही संप्रति से भी वञ्चित हो रहे हैं । कोई सा ही संस्कृत विद्वान् आपको

सम्पत्ति से युक्त मित्रता । अन्यथा सभी विद्वानों पर निर्भरता (दरिद्रता) देवता की विशेष कृपा मिलेगी । क्या इसी का नाम अमृत्युदय है ? क्या धर्म से यही फल मिलता है ? क्या इसी आधार पर—‘यतोऽमृत्युदयानि भ्रयससिद्धिः स धर्मः’ यह कहा जाता है ? आनन्दकथा है आज दोनों को दोनों धर्मों के अपनाने की । विद्वान् उन कर्मों से कर्म करना सीमें, कर्मों इन विद्वानों से विद्याप्रदण करें, तभी राष्ट्र का अमृत्युदय सम्भव है । केवल ब्रह्मवत् (विद्यावत्) भी कुछ नहीं करसकता, केवल क्षत्रवत् (कर्मवत्) भी अपर्य है । ब्रह्म-क्षत्र के सम्मेलन में राष्ट्र का कल्याण है । सिविल (Civil) और मिलिट्री (Military) के सम्मेलन से ही राष्ट्र का अमृत्युदय है । विद्या-कर्मरूप ब्रह्म—क्षत्रवत् के सम्मेलन से ही ईश्वरप्रजापति विश्वसाम्राज्य का उपमोक्षा बन रहा है । इसी प्रकृतिसिद्ध विज्ञान का निरूपण करते हुए श्रुति करते हैं—

“ब्रह्मैव मित्र , क्षत्रं वरुणः । अभिगन्तैव ब्रह्म, कर्त्ता क्षत्रिय । ते ह्येतेऽश्रमे नानेवासतुऽर्बक्षश्च क्षत्रं च । ततः शशकैव ब्रह्म मित्र ऋते क्षत्रादरुणात् स्यातुम्, न क्षत्रं वरुण —ऋते ब्रह्मणो मित्रात् । यद्ध किञ्च वरुण कर्म चक्रेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, न देवास्मे तत् समानृषे । स क्षत्र वरुण —ब्रह्म मित्रमुपमन्त्रयाञ्चक्रे-
तप मावसम्ब, समृजान्वहे, पुरस्त्वा करवे, त्वत्प्रसूतः कर्म करवा इति । तथेति । तौ समसृजेतां, तत एव मैत्रावरुणो ग्रहोऽभवत् । ×+++. तत्तदवत्कृतमेव-यद्-
ब्राह्मणोऽराजन्य स्यात्, यद्यु राजनं लभेत समृद्धं तत् ।

एतद्ध त्वेवानवकल्लसं यत् क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति । य-
द्ध किञ्च कर्म कुरुतेऽप्रसूत ब्रह्मणा मित्रेण, न हेवास्मै
तत् समृध्यते । तस्माद् क्षत्रियेण कर्मकरिष्यमाणेनो
पसर्त्तव्य एव ब्राह्मण । स हेवास्मे तद् ब्रह्म प्रसूतं
कर्मऽर्च्यते” इति — (शत० ब्रा० ४ क० ११ अ० १४ ब्रा०) ।

ब्रह्म मित्र है, क्षत्र वरुण है । आगे आगे चलने वाला ही (अनुमति प्रदान करने वाला ही) ब्रह्म है, कृपा क्षत्रिय है । यह दोनों (ब्रह्म-क्षत्र) पहले पृथक् पृथक् से ही थे, बर्माद छष्टि से पहिले इन की सहचर अवस्था थी, प्रत्येक-अनमाय न था । उस समय (छष्टि से पहिले) ब्रह्म मित्र तो क्षत्र वरुण के बिना (स्वस्वरूप से) प्रतिष्ठित रहने के लिए समय होगया, परन्तु क्षत्र वरुण ब्रह्म मित्र के बिना स्व-तन्त्र रूप से प्रतिष्ठित रहने के लिए समय न हो सका । उस (एकाकी दशा में) ब्रह्म मित्र की अनुज्ञा के(सहयोग के)बिना वरुणनें मो कुछ कर्म किया,वह कर्म इस वरुणक्षत्र के लिए समृद्धि का कारण न बना । (अपने कर्म की अपर्य होता देख कर) क्षत्र वरुण ने ब्रह्ममित्र से प्रार्थना की कि (हे ब्रह्म !) आप मेरे ऊपर कृपा करें, आप मेरे पास सौत्र आँ । अपने दोनों मित्र-भाय, मैं सदा आप को आगे रखूँगा, आप मेरी आशा देंगे तदनुकूल ही कर्म करूँगा । ब्रह्मने 'तपास्तु' कह दिया, दोनों मिल गए । (इन दोनों के सम्बन्ध से)-(सुप्रसिद्ध अश्वत्थारूप) यह मैत्रावरुणग्रह संपन्न होगया । + + × + + । यह बात तो फिर भी बन सकती है कि ब्राह्मण बिना राजा क रह जाय । यदि ब्राह्मण राजा को प्राप्त कर लेगा तो यह उस ब्राह्मण की समृद्धि होगी । परन्तु यह बात तो किसी भी अवस्था में संभव नहीं है कि क्षत्रिय बिना ब्राह्मण के (क्षत्रमात्र भी) रह जाय । बिना ब्राह्मण की आज्ञा के क्षत्रिय जो भी

कर्म करता है, का कर्म कभी समृद्धि का कारण नहीं बन सकता। इस लिए कर्म करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को अवश्य ब्रह्मण्य का सहारा लेना चाहिए। ब्रह्म से आदिष्ट कर्म इस व्यक्ति के लिए अवश्य ही समृद्ध बन जाता है”।

मक्ष ज्ञान है, यम कर्म है। ज्ञान मनोबल है, कर्म प्राणबल है। माय आपोमय है बुद्धि स्रुयमयी है। आपोमय पारमेष्ठ्य परब्रह्मण्य क्षेत्र है, विज्ञान यम धर्म मित्र है। दोनों के समन्वय से मैत्रावरुण रूप अक्षोरात्रग्रह उत्पन्न हुआ है। रात्रि के १२ बजे से मध्याह्न के १२ बजे तक अर्द्धस्वगत (पूर्वकपाल) मित्र है। इस में धर्म की प्रधानता रहती है—‘मैत्रमह’। दिन के १२ बजे से रात्रि के १२ बजे तक का अर्द्धस्वगत (पश्चिमकपाल) वरुण है। इस में पारमेष्ठ्य सोम की प्रधानता रहती है—‘रात्रिर्वारुणी’। अक्षोरात्र का परिप्लव ही विश्व का रूप है। इस प्रकार ब्रह्म-क्षेत्र के समन्वय से विश्व प्रकाशित हो रहा है। यह विश्व तीसरा वाग्बल है। इस प्रकार मन (मक्ष), प्राण (यम), वाक् (बुद्धि) की समष्टि ‘इदं सर्वम्’ है। यदि ब्रह्म-क्षेत्र का समन्वय बिखिन्न हो जाता है तो बिह्वरूप अर्धमूर्ति विश्व सत्तावस्था में परिणत हो जाता है। यद्यपि ज्ञान-धर्म दोनों को दोनों की प्रशंसा है। परन्तु प्रधानता ज्ञान की ही है। कारण ज्ञान व्यापक है, मूलधरातल है। जब घटिरूप समृद्धि नहीं रहती, तब कर्म का तो विसर्जन हो जाता है परन्तु ज्ञान स्वस्वरूप से क्यों का सौ प्रतिष्ठित रहता है। हाँ यदि ज्ञान का क्रम के साथ समन्वय हो जाता है तो विश्वरूप से उस की समृद्धि अवश्य हो जाती है। परन्तु कर्म यदि ज्ञान का आश्रय छोड़ देता है तो वह अपना स्वरूप ही खो बैठता है। इसी रहस्य को बतसाने के लिए श्रुति ने—सप्तब्रह्म द्वारा मक्ष मित्र की

प्रायेना कर्त्ताई है। ब्रह्म ही चक्षु की योनि है—(देखिए ई बि मा रत्नगढ़ कर्त्त-
तन्त्र)। प्रत्येक कर्म में ज्ञान परिसे है, कर्म अनन्तरभावी है। तत्त्वकर्मों का ज्ञान ही
तत्त्व कर्मों की प्रवृत्ति का कारण बनता है।

इसी ज्ञानबल के उपासक को ब्राह्मण कहा जाता है, क्षत्रिय के उपासक को
क्षत्रिय कहा जाता है, एव अर्थशक्तिरूप धातुत्व के उपासक को (विह्वीर्य के उ-
पासक को) वैश्य कहा जाता है। प्रकृतिसिद्ध निम्न ब्रह्म-क्षत्र-विद् वीर्यों के
आधारपर ही भारतीयवर्णव्यवस्था सुत्र सम्पादित है। प्रकृतिवत् प्रत्येक राजा एक एक
ब्राह्मण पुरोष। अथर्व रत्नना चाहिए, एव इसी के आदेशानुसार इसे कर्म में प्रवृत्त होना
चाहिए। चाणक्य पुरोधानें चन्द्रगुप्त को उन्नति के किस शिखर पर पहुँचा दिया
था यह सर्वविदित है। यदि ब्राह्मण को राजा का आश्रय न मिलेगा तो ब्राह्मण ध-
पनी विषा का विह्वल न कर सकेगा, परन्तु उस के स्वरूप की कोई हानि न होगी।
उपर मन्त्रोक्त राजा यदि ब्राह्मण को पुरोषा न बनाएगा तो वह स्वयं भी नष्ट हो-
जायगा एव विह्वीर्यरूप राष्ट्र की अर्थशक्ति भी खो बैठेगा।

ऐसी त्या में हमारे दशवासियों का क्या कल्याण होता है? इस का विचार ये
स्वयं करें। पञ्चाप क्षत्र है बगाल ब्रह्म है, आर्यसमाज क्षत्र है, सना-
तनधर्म ब्रह्म है। राष्ट्रीयदल क्षत्र है, विद्वन्मण्डली ब्रह्म है। आज
आनन्दप्रकटा है लोगों के समन्वय की। नभ तक ऐसा न होगा, तब तक किसी भी
कर्म की सिद्धि न होगी। एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। यद्यपि गलती लोगों की है
परन्तु प्रधानता विषोपासकों की ही है। यदि कमजोर गलती करता है तो विद्वान् का दो-
ष है। सब में पड़िये देश का प्रादुर्भाव अपने कल्याण से व्युत्पन्न हुआ है। पहली भू

स विद्योपासकों की है। इसी मूल में वर्णान्यवस्था का महत्त्व नष्ट किया है। मूल का अपराध स्वयं है, परन्तु विद्वान् यदि गमती करता है, वह यदि कर्माभ्युपगम से विमुक्त होता है तो उसका अपराध मर्यादित है—'ततो भूय इव ते तमो य उ वि धार्या रता'। अविद्या के उपासक तो अन्धकार में हैं ही, परन्तु उन से भी अधिक अन्धकार में वे हैं, जो रात दिन विद्या की उपासना करते हुए भी कर्ममार्ग से नवित हैं। इस प्रकार आत्मा के अज्ञान की उपासना करने वाले दोनों ही दस सद- स्तुत हो रहे हैं।

बड़ी जटिल समस्या है। केवल ज्ञान ही मुक्ति, केवल ज्ञान उस से भी मुक्त। एव ज्ञान कर्म मार्ग से अतिरिक्त कोई तीसरा मार्ग है नहीं। ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाय, कि- स मार्ग को अवलम्बन किया जाय ? इसी प्रश्न का सम्बन्धन करती हुई आगे आकर मुक्ति करती है—

विद्या चानिद्यां च यस्तदेदोभयं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥३॥

(ई ३ १ म)

राजपविद्या नाम से प्रसिद्ध वैराग्यबुद्धियोगविद्या नाम की प्रथमा विद्या के अन्त- र्गत प्रथम एवं द्वितीय अध्याय में मगधान् में बड़े विस्तार के साथ ज्ञानयोगनिष्ठा, एवं कर्म योगनिष्ठा का निरूपण किया। साथ ही में 'नारिष्ठ बुद्धिरपुच्छाय' (भगवद्गीता) शब्दादि रूप से अज्ञान को बुद्धियोग मर्मा समझना। भगवद्भक्तिपादित बुद्धियोग का अभिप्राय अज्ञान ने यह समझ कि मगधान् कर्म की भवेत्ता ज्ञानमार्ग को श्रेष्ठ नतका रहे है। 'बुद्धि विद्वान् है विद्वान् ज्ञान है' इस सार्वजनीन प्रत्यय के अनुसार बुद्धियोग को ज्ञानयोग समझ किया गया। उक्त मगधान् में ज्ञाननिष्ठा—कर्मनिष्ठा का निरूपण कर बुद्धियोगनिष्ठा पर प्रकाश का-उपलब्ध कर दिया, बुद्धियोग को ही श्रेष्ठ नतकाया ना, साथ ही में 'कुठ

कर्म स्व०' इत्यादि रूप से अर्जुन को वरुणों वरुण कर्म करने के लिए बाध्य किया था । कृष्णार्जुनसंवाद क्या था, ब्रह्म प्रश्न का सम्बन्ध था । भगवान् कृष्ण अभिगमन्ता ब्रह्म थे, अर्जुन कर्षा त्रिभुव था । ज्ञान-कर्म का एकीकरण था । इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन को जो कुछ कहा था, वह ठीक था । परन्तु इन उन्मुख अक्षरों के वास्तविक तात्पर्य को न समझता ब्रह्म अर्जुन प्रश्न कर बैठे—

क्यायसी चेत् कर्मण्यस्ते मता बुद्धिर्भनादेन ।

तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ (गीता ३।१) ।

इस प्रश्न के उत्तर में तीसरे अध्यायमें भगवान् ने उसी उन्मुख अर्थ को स्पष्ट किया । भगवान् ने बतसाया कि बुद्धियोग वास्तव में न कर्मयोग है, न ज्ञानयोग है, अपितु दोनों के समन्वितरूप का ही नाम बुद्धियोग है । बुद्धि में ज्ञान कर्म दोनों हैं । बुद्धि का ज्ञानभाग विद्या है, कर्मभाग अभिधा है । जिस दो निष्ठाओं का हमने उल्लेख किया है, परमार्थदृष्टि से ये दो निष्ठा नहीं, अपितु बुद्धियोग नाम की एक निष्ठा है । जो सांख्य है, वही योग है । जो योग है, वही सांख्य है—'एकं सांख्य च योगं च य परयति स पश्यति' । इस पर यदि व प्रश्न करे कि भगवान् ! कर्म कर्म है, आवश्यक है । वह आवश्यक किए बिना नहीं रह सकता, ऐसी दशा में आप मुक्त कर्मयोग में क्यों प्रवृत्त कर रहे हैं ? इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि कर्मपरित्याग सर्वथा असम्भव है । कितने ही कर्म (आसीयकर्म) ऐसे हैं, जो किसी भी दशा में छोड़े नहीं जा सकते । ऐसी परिस्थिति में कर्मपरित्याग का योग करना अपने आपको भोका देना है । हम मानते हैं कि कितने ही कर्म आवश्यक ऐसे हैं जो बचन में बाध देते हैं, परन्तु कितने ही ऐसे भी हैं जो बचन के स्थान में बचनमुक्ति का कारण बनते हैं । क्या इन अव्ययन कर्मों को छोड़ने में बुद्धिमानी है ? नियत कर्म छोड़े नहीं जा सकते, अव्ययन कर्मों को छोड़ना मुश्किल है, फलतः सर्वकर्मपरित्यागसंन्यास का कोई मूल्य नहीं रहता । कर्म क्यों नहीं छोड़े जा सकते, इस कर्मानिवार्यता के सात कारण हैं ।

१— अम्युपगमबाद का आश्रय लेते हुए हम घोड़ी देर के लिए यह मान लेते हैं कि सचमुच कम आवश्यक हैं। अच्छा उन्हें छोड़ दीजिए। ऐसा करने से भविष्य के लिए आवश्यक बंध होजायगा। परन्तु ऐसी दशा में सखित (सत्काररूप) कर्मों को इनमें का आप के पास क्या साधन है? ज्ञान निष्क्रिय बल है, भव यह आवश्यक को इनमें में असमर्थ है। इस के लिए आप को भाग्य होकर नैष्कर्म्यकर्म का आश्रय लेना आवश्यक हो जायगा। नैष्कर्म्यसिद्धि क्या रश्म के बिना सरया असम्भव है। कर्मविरणनिवृत्त्यर्थं नैष्कर्म्यकर्मनुष्ठान आवश्यक है। कम की नैष्कर्म्यरूपा पहिली यही अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने — 'न कर्मणामनारम्भान्नेष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' यह कहा है।

२— ऊपर कर्मसंन्यास सर्वथा व्यर्थ है। जिस प्रयोजन के लिए (आवरण के आसन्निक निराकरण के लिए) कर्मसंन्यास किया गया, वह प्रयोजन तो सिद्ध हुआ नहीं, कर्म घोर छोड़ दिया, आसन्नसी घोर बन गए, इस व्यर्थ के मार्ग से हमने अपना क्या हित समझ रक्खा है! कर्मसंन्यासवैयर्थ्य रूपा यही दूसरी अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने 'न च स न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति' यह कहा है।

३— मस्त-मूत्रपरिस्त्राव, गमन, भोजन आदि नियत शारीरिक कर्मों को कभी छोड़ा भी नहीं जासकता। हमें परबन्ध होकर यह सारे कर्म करने ही पड़ते हैं। जब कर्मसाग असम्भव है तो फिर कर्म परिस्त्राव कस्ता! यही कर्मपरिस्त्रागाशङ्करूपा तीसरी अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने—'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' यह कहा है।

४— साय ही में क्षिप्ता (छींक) जन्मा (जन्माई-उबासी), आसनिआस, बुधुद्धा आदि कितने ही प्रकृतिसिद्ध कर्म हैं। तुम निश्चय करसो कि आज से हम न क्षिप्ता सेंगे, न जमाई नेंगे, न मूख लगेंगी। परन्तु तुम्हारे इस निश्चय से होगा क्या। तुम्हारी इच्छा यहाँ अवरुद्ध है। इन कर्मों में प्रकृति का हाथ है। वह अवश्य तुम को इन कर्मों में मग्न कर देगी। अपने समय पर तुम्हारी इच्छा की कोई अपेक्षा न रखते हुए यह प्राकृतिक कर्म हो ही पड़ेगे। यही प्रकृतिसिद्धलक्षण चौथी अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने— 'कार्यते ह्यवश कर्मसर्वे प्रकृतिर्जैष्ठ्यौ' यह कहा है।

५— आसक्ति पैदा न करने वाले अनासक्तकर्म विशिष्टकर्म हैं। बसावकार से इन कर्मों का निरोध किया, इन्द्रियों का समय किया, परन्तु मन यश में नहीं है। इन्द्रियसंयम होने पर भी मन अन्तर्जगत् में इधर उधर विषयसौलुष बनता हुआ मटकता फिरता है। यही मिथ्याचार है। इससे तो अच्छा यही है कि इन्द्रियों को अपना अपना कर्म करने दो, मन को यश में रखो। कर्म करो, आसक्ति मत रखो। कर्म का परि त्याग मत करो, कामना का परि त्याग करो। इन अनासक्त कर्मों से इन्द्रियें अपने आप संयत बन जायगी। यही तो इस अनासक्त कर्मयोग की विशेषता है। कर्म की यही पाँचवीं अनिवार्यता है। मन को इन्द्रियों के आधीन मत बनाओ इन्द्रियों को मन के आधीन बनाओ, यही अनासक्त कर्मयोग है। इसी के लिए— 'यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारमतेऽर्जुन। कर्मेन्द्रिये कर्मयोगमसक्त सविशिष्यते' यह कहा है।

०कर्मोद्दिष्टाण्यसंयम्य य आसक्तं मनसा हारम् ।

इन्द्रियाणाम् पिण्डात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ (गीता १६)

६— नियतकर्मारम्भ से आनरुण इत्यादि अनारम्भ से आनरुण बना रहता है। इसलिये नियत कर्मों का आरम्भ ही अच्छा है। इस प्रकार कमारम्भ-एवं कर्मसम्प्राप्त दोनों में नियतकर्म का आरम्भ ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। यही कर्म की दृष्टि अनिवार्यता है। इसी के लिये भगवान् ने—
'नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः' यह कहा है।

७— सबसे आवश्यक बात तो यह है कि कर्ममार्ग की रक्षा से ही ईश्वर की विश्वविभूति की रक्षा है। 'मूढ मुढाय भये सन्यासी' के अनुसार समी कर्म छोड़ बैठें तो सारा विश्व ही उच्छिन्न हो जाय। फिर तो शास्त्रोप देव के श्रोता ही न रहें, जीवनयात्रा का निवाह ही असम्भन हो जाय—
'न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः'। जब कर्म से जीवनयात्रा का मुगमता से निपाह होता है, एव बंधन होता नहीं, अपितु बंधन विमोक्त होता है तो ऐसी दशा में कौन बुद्धिमान् कर्मपरित्याग को उत्तम कहेगा। कर्म की यही मातृर्षी अनिवार्यता है। इसी के लिये भगवान् ने—
'शरीरस्यात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः' कहा है। इस प्रकार सात तरह से जब कर्म की अनिवार्यता सिद्ध हो जाती है तो ऐसी स्थिति में कर्मपरित्याग कैसे बन सकता है।

सप्तधा विमक्ता-कर्मनिवार्यता

- | | | |
|---------------------------------------|---------|---|
| १—नेष्कर्मोपायत्वादनिवार्यत्वम् | → — — → | "न कर्मणामनारम्भात्तैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते" |
| २—कर्मसम्प्राप्तयेमर्थादनिवार्यत्वम् | → — — → | "न च सम्पत्तनाशेन सिद्धिं समधिगच्छति" |
| ३—कर्मनिरन्तरादवश्यकत्वादनिवार्यत्वम् | → — — → | "न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" |
| ४—प्रवृत्तिरहितत्वादनिवार्यत्वम् | → — — → | "कामेति सत्यं कर्म सर्वं प्रवृत्तिर्नैवमुहः" |

- ५-अनासक्तकर्मयोगवैशेष्यादनि० → "कर्मैन्द्रियैः कर्मयोगसक्तः स निशिष्यते"
 ६-अनासक्तकर्मयोगसयो कर्मार्ग- } → "नियते कुरु कर्म त्व कर्म उपायो अकर्मणः"
 रम्भैष्टादनिर्वायत्वम्
 ७-वीक्ष्यप्राप्तिश्चैष्टादनि० → "शरीरयात्रापि च ते न मसिद्येपदकर्मणः"

यह तो हुआ कर्म की अनिवार्यता का विचार। अब कर्म के अवयवमान पर यदि अ-
 स्ति। योतायाक्रमें अवयव कर्मों को १-यज्ञार्थकर्म, २-सोक्तस्थितिनिर्वाहकर्म, ३-वेप-
 चाकृतकर्म, ४-स्वभानसिद्धसहजकर्म इन चार भागों में विभक्त किया है। नियम आभर-
 कता से अधिक विस्तृत होता जा रहा है। अतः प्रकृत में केवल यज्ञार्थकर्म का दिग्दर्शन कर
 के इस अधिकरण को समाप्त किया जाता है।

यज्ञार्थकर्म (अवन्धेन)

आज दिन यज्ञ शब्द का केवल अग्निहोम-दर्शपूर्णमास-चातुर्मास्य-पशुबंध-सोम-
 याग-जपन आदि मनुष्यहत पक्षों के साथ ही सम्बन्ध समझा जाता है। यज्ञकर्म से केवल
 वेदविहित यज्ञ का ही ग्रहण किया जाता है। किसी अर्थ में ऐसा समझना ठीक नहीं है।
 परन्तु इसी को यज्ञ समझना सर्वथा गलत है। यज्ञ प्राकृत-विधेयभेद से दो भागों में विभक्त
 है। नित्ययज्ञ प्राकृतयज्ञ कहलाता है। यह अचिदंबुत-अध्यात्म-अधिभूत इन तीन भागों
 में विभक्त है। विधेययज्ञ मनुष्ययज्ञ कहलाता है। अग्निहोत्रादि सारे यज्ञ प्रकृति में हो रहे
 हैं। प्रकृतियज्ञ से (जो कि अभिदैक्षित्य नाम से प्रसिद्ध है) अध्यात्म और अधिभूत जगत्
 का निर्माण हुआ है। एव उस नित्य प्राकृतयज्ञ की प्रतिकृति पर अभियों ने वैष श्रौत पक्षों
 का आविष्कार किया है। हम जो यज्ञ करते हैं, वह ठीक उस प्रकृतियज्ञ की नकल है। इसी
 आधार पर 'देवाननुमिषा मे मनुष्याः'- 'यद्दे देवा अकुर्वन्स्तव करवाणि' इत्यादि निगम

१ इन विषयों का विस्तृत विवेचन गीताविद्यालयाध्यक्ष के अवयवकर्मरवागागौत्रियोपनिषत्
 नाम के प्रकरण में देखा जायेगा।

प्रकृतित है। प्रकृतिपञ्च में जैसा हो रहा है, यदि तत्प्रतिकृतिमूल मनुष्यपञ्च में उससे जरा भी किराह किया जाता है तो इसका स्वरूप बिगड़ जाता है। प्राकृत-त्रिवेय मेद से वेद्या विभक्त इन पाँचों में से प्रकृत में सुविप्रकर्षक प्राकृत पञ्च का ही प्रकृत है। 'अग्नि में सोमाहुति' होना ही यह है। जिसमें अन्य वस्तु आहुत होती है, वही अग्नि है। आहुत होने वाली वस्तु सोम है। सप में सब आहुत हो रहे हैं। सब अन्नाद हैं, सब अम हैं। इसी अग्नीषो मारयक पञ्च से विश्व स्वरूप में प्रतिष्ठित हो रहा है। परात्पर-अक्षय-अक्षर-क्षरसमष्टि को हमने पोषणी-प्रजापति कहा है। इस पोषणी प्रजापति का अक्षर भाग अन्ना-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम-इन पाँच वस्तुओं में विभक्त है। इनमें अन्ना का जो बीरुह है, वही त्रयी-वेदरूप में परिणित होता है। इस वेदोत्पत्ति में इन्द्राविष्णु की सहाय ही मुख्य कारण है। इस प्रकार अन्ना विष्णु इन्द्र से उत्पन्न वेदत्रयी के कारण यह पोषणी वेदमूर्ति बन जाता है। इसी आधार पर पूर्व के प्रकरणों में हमने ईश्वर को वेदमूर्ति कहा है। वेदत्रयी का पञ्चमाग अस्वामि है। अस्वामिरूप पोषणी पुरुष में माय, आप, वाक्, अन्न, अन्नाद् इन पाँचों प्रकृतियों की आहुति होती है। यह पाँचों आहुति द्रव्य हैं। अतएव इन पाँचों की समष्टि को हम अवरय ही—'सोम' कहने के लिए तय्यार हैं। उस अस्वामिमय पुरुष में प्राणसोम की आहुति होने से स्क्यम्नू प्रकट होता है। आपसोम की आहुति होने से परमेष्ठी उत्पन्न होता है। वाक्सोम की आहुति होने से सूर्य उत्पन्न होता है। अन्नादसोम की आहुति होने से पृथिवी उत्पन्न होती है एवं अमसोम की आहुति होने से अन्नमा उत्पन्न होता है। स्क्यम्नू माक्षयज्ञ है। परमेष्ठी आपोयज्ञ है। सूर्य वाग्यज्ञ है। पृथिवी अन्नाद्यज्ञ है। अन्नमा अमयज्ञ है। इस प्रकार पञ्चधा विभक्त सोमरूपा प्रकृति का पुरुषाग्नि के साथ सम्मिल्य होने से पञ्चावयव विश्वयज्ञ उत्पन्न हो जाता है। इसी आधार पर—'पावक्तो वै यज्ञः' यह कहा जाता है। यह अनुगम सुनि है, अतएव इसके अनेक अर्थ होते हैं। बिना कि आगे के उपनिषदों में समय समय पर निकपण होता रहेगा। अभी केवल इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि प्रकृति एवं पुरुष के सम्मिल्य से पञ्चावयव विश्वयज्ञ उत्पन्न होता है। पाँचों में प्राणादि पाँच

देवता अधिष्ठित हैं। प्रासंग्य प्रश्नों में एक आख्यान आता है कि—“प्रजापति ने यज्ञ द्वारा देवताओं को उत्पन्न किया। उत्पन्न देवताओं ने प्रश्न किया कि हे प्रजापति ! हम आपके यज्ञ से उत्पन्न हुए हैं। अब हमें क्या आज़्ञा होती है ! उत्तर में प्रजापति ने कहा कि जो कर्म मैंने किया है वही तुम करो। मैं यज्ञ द्वारा तुम्हें उत्पन्न किया है, तुम भी यज्ञ द्वारा नई नई प्रजाएं उत्पन्न करो। वस उसी आदेश के अनुसार देवताओं ने उस प्राजापत्य विश्वयज्ञ से पुनः यज्ञ किया, एन उसके द्वारा पाँचों लोकों में (स्वयम्भू आदि में) रहने वाली प्रजाओं को उत्पन्न किया। एवं देवयज्ञ से उत्पन्न हम भी आज यज्ञद्वारा ही प्रजापति में समर्थ होने हैं”। तात्पर्य इस आख्यान का यही है कि विश्वयज्ञ के देवताओं का फिर उत्तर सगम होता है। इससे आगे की सारी प्रजाएं उत्पन्न होती हैं। इसी विज्ञान को ब्रह्म में रखकर—‘यज्ञेन यज्ञमयन्त देवाः’—इत्यादि कहा जाता है। यज्ञकर्म से ही सारा विश्व उत्पन्न हुआ है, इसी से सारी प्रजाएं उत्पन्न हो रही हैं, एवं इसी से आगे आगे नई नई प्रजाएं उत्पन्न होती रहती हैं। इसी प्राकृतिक नियमित यज्ञविज्ञान को ब्रह्म में रख कर मग्नान् कहते हैं—

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोनाम प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यन्मम मोऽस्मिष्टकामधुम् ॥ (गीता २।१०) ।

एक को दूसरे के साथ मिलाना यज्ञ है। इसी मेघ से संसार में नए नए आविष्कार होते रहते हैं। इसी से संसार के पदार्थमात्र उत्पन्न हुए हैं। इसी से हम चारों को कर्मना सिद्ध कर सकते हैं। संसार में जब चेतन ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो यज्ञ न कर रहा हो। जिस पदार्थ का यज्ञ रुक हो जाता है, वह नष्ट हो जाता है। पूर्वोक्त प्रकृत्य से यह मन्वीर्मात सिद्ध हो जाता है कि सृष्ट्युपाध प्रजा शब्द ब्रह्ममात्र का वाचक है। अब जरा व्याख्याताओं की सीढ़ी देखिए। उनकी दृष्टि में “प्रा० सृ० वैश्य तीन ही प्रजा हैं। प्रजापति ने यज्ञ द्वारा इन तीन वर्णों को उत्पन्न किया” यह है प्रजा शब्द का अर्थ। प्रजापति जो कुछ उत्पन्न करते हैं, उस का मूल यज्ञ ही है। यह यज्ञदृष्टि चार वर्णों में विभक्त है।

मनुष्यों में ही यह कार्य विभाग नहीं है, अपितु पदार्थमात्र में आतुर्भरण का समावेश है। इसी अभिप्राय से सामान्यरूप से ब्रह्मसृष्टि का निरूपण करते हुए मगधन् कहते हैं—

आतुर्भरणं मया घृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कथारपि मां विदुषकर्तारमव्ययम् ॥ (गीता)

मगधन् कहते हैं—मैंने चार प्रकार की प्रजासृष्टि की। इस टीकाकार “तीन बरों को (स्त्री भी मनुष्यों से सम्बन्ध रखने वाले प्राणाय-श्रुत्रिय-कैरयो को) ही उत्पन्न किया” यह अर्थ करते हैं। किन्तु मूल है। इस मूल का कारण यह का स्वरूप न समझा ही है। उन्होंने यह को इकनादि प्रसिद्ध पद समझ रक्खा है। किसी विरोध कारण से यह कैव यह मनुष्य ही कर सकते हैं। इन में भी प्राणाय-श्रुत्रिय-कैरय को ही अधिकार है। यह अर्थश्रुति होने से यह में अभिहित है। उन्होंने समझ कि इस यह से प्रवर्तित होती है। किन्तु यह कर्मों का विधान तीन के लिए ही पाया जाता है। अतः यह से सम्बन्ध रखने वाला यहाँ का प्रजा शब्द तीन बरों का ही वाचक हो सकता है। अस्तु पराधिकार नहीं का हमें कोई अधिकार नहीं। यहाँ हमें केवल अपना मन्तव्य प्रकटित करने का अधिकार है। हम यह को सृष्टि का प्रवर्तक समझते हैं। एक प्रजा से सारे विश्व का प्रवर्ण करते हैं, साथ ही में उस विश्वप्रजा की सत्ता इसी यह-कर्मजन समझते हैं। साक्षात्कार प्रक्रिया से दो वस्तुओं के मिलने पर जो अमूर्तभाव उत्पन्न होता है, वही यदसृष्टि कहलाती है। यही सम्बन्ध-‘याग’ कहलाता है। यागस्वरूप-सत्ताक यह यजन (यज्ञ) देवपूजा, देवसंगमन देवज्ञान मंद से तीन मार्गों में विभक्त है। याग भात के तीनों अर्थ हैं। मृतसम्बन्ध से दानयज्ञ होता है देवसम्बन्ध से सगमनयज्ञ होता है, एक आत्मसम्बन्ध से पूजायज्ञ होता है। उदाहरण के लिए वैजय को सीलिए। वैज-य (मनुष्यहृत शीत यज्ञ) में उन निम्न प्राणदेवताओं के लिए पुरोडाश की व्याप्ति दी जाती है। इस पुरोडाश में मृत-नाग दो भाग हैं। हरय भाग मौक्तिक है, एक दिशु तन्त्र के आ-धार पर पुरोडाश द्रव्य स्वरूप में प्रतिष्ठित है, यह प्राण है, यही देवता है। मृत पञ्चावयव

है। प्राण ३३ अवयव है। पुरोबाण में ३३ देवता हैं, ५ भूत हैं। इनमें यजमान जिस देवता की माचना करके पुरोबाण की आहुति देता है, पुरोबाण का वही देवता उन्नयन होकर उस जिस प्राकृतिक प्राणदेवता के साथ मिस जाता है। 'यानदृनिष' तानदात्मा' इस सिद्धांत के अनुसार यजमान का आत्मा भी पुरोबाण में रहता है। पुरोबाण द्वारा यजमान का आत्मा भी उन प्राणदेवताओं के साथ मिस रहा है। यही उन देवताओं के लिए यजमान का आत्मसमर्पण है, इसी का नाम पूजा है। दूसरे शब्दों में आत्मा को देवस्रोत में, देवताओं के शासन में प्रतिष्ठित करना ही, अपने आपको उनकी आराधना के लिए भेंट चढ़ाना ही देवपूजा है। एव जो देव माग है वह उन देवताओं से मिस जाता है। यह संगतिकरण है। याकी वक्ता है भूतभाग। उसे देवता छ छते हैं, परन्तु स्वाहा सम्बन्ध से। 'न वै देवा भरनन्ति-न पिबन्ति, एतदेवापूर्त इष्ट्वा कृष्यन्ति' के अनुसार देवता पितृमास्य की तरह अन्तर्ध्याय सम्बन्ध से इस पुरोबाण में प्रविष्ट नहीं होते, अपितु बाहर म्याप्त होते हैं। अतएव "स्व-अन्द्नेति व्याप्नोति" इस व्युत्पत्ति से देवता 'स्वाहा' नाम से प्रसिद्ध है। स्वाहा बोधकर ही देवताओं के लिए आहुति दी जाती है। इस प्रकार एक पक्ष में तीन विभाग हो जाते हैं। सर्वत्र तीनों हैं। आत्मा कारखशरीर है, देव सूक्ष्मशरीर है, भूत स्थूलशरीर है। आत्मा मनोमय है, देव प्राणमय है। भूत-वाक्मय है। सारी वस्तुएं (प्रजामात्र) मनप्राणवाक्मय हैं। तीनों भाग अन्यत्र तीनों में जाया करते हैं, अन्यत्र तीनों माग इसमें जाया करते हैं। इसी त्रिविधवैश्वामिक आदान विसर्ग से सब प्रजाएं अपने अपने स्वरूप में स्थित हैं।

- १—भूतसम्बन्धात्—दानपक्ष ——— स्थूलशरीरसम्बन्धी—वाक्मय
 .—देवसम्बन्धात्—सङ्गतिकरणपक्ष —सूक्ष्मशरीरसम्बन्धी—प्राणमय
 ।—आत्मसम्बन्धात्—पूजापक्ष ——— कारखशरीरसम्बन्धी—मनोमय

स एष मनःप्राणवा-
 क्मयः, आदानविस-
 र्गोत्पन्नः स्थितियङ्गः

हमारे व्यापारिक प्राण निरन्तर आभिर्देविक प्राणदेवताओं में आहुत होते रहते हैं, आप ही में वे प्राणदेवता हमारे में आहुत होने रहते हैं। प्रकृतिसृष्टि अपने पदार्थ निरन्तर है

में देता रहता है, साथ ही मैं लेता भी रहता है । मैं सबसे उत्तम हूँ । उत्तम होने के लिये मुझ को बड़ा साता है, एक अनुरूप मुझे खाते खाते उसे मैं भी खाता रहता हूँ । इसी निश्चय का निरूपण करते हुए वेदमहर्षि कहते हैं—

“अहमस्मि मयमज्ञा श्रुतस्य पूर्वे देवेभ्योऽस्य नाम ।

यो मा ददाति स इ देवमायत, अहमन्नमन्नमदन्तमदामि”

(ऐतरेयब्राह्मण—) ।

इस वेदमहर्षि के पारस्परिक सम्बन्ध को ‘अहमि संयोग’ कहा जाता है । वे देवता या प्राणी हैं, महा के बड़ा होते हैं, यह वचन निरन्तर चलता रहता है । वह इस वचन की सत्ता के लिए जो कर्म अर्पित है, वही—‘यज्ञाय’ कर्म कहे जाते हैं । हम उस का उचित खाते हैं, यह हमारा उचित खाता है । ‘उचितं शतं जग्निरे सर्वम्’ (अर्ण ११।२।११) यह धृष्ट सिद्धि है । उचित को प्रवर्ण कहते हैं । इस प्रवर्णविद्या का विशद निरूपण पूर्व के—‘ईशावास्यपिदु सर्वम्’—इत्यादि मन्त्र में किया जा चुका है । यह वह भाग जाकर भूते-देव मेर से दो भागों में विभक्त हो जाता है । विस्तार मय से इस का निरूपण नहीं किया जा सकता । यहाँ सारे मन्त्र से हमें केवल यही बतलता है कि यह रूप आत्म की स्थिति-रक्षा के लिए विज्ञान सहकृत जो प्राप्त कर्म है वह वचन का प्रत्यक्ष भाग बनता । उसके म करने से सद्यो हानि होती है । व्यक्तिस्थिति एवं समामस्थिति भिन्न कर्मों से होती है वही यज्ञार्थकर्म है । उन के प्रवर्ण व्याप नहीं है, प्रकृति है । अतएव उन से संस्कार नहीं होता, सकृपरवामान होती है । अतः इन्हें कभी नहीं छोड़ना चाहिए । इसी यज्ञार्थकर्म की अविच्छिन्नता बतलाते हुए मन्त्राह्वय कहते हैं—

१. इस विषय का विस्तार विवेचन वैदिकविज्ञान के — ब्रह्मसूत्रोपनिषत्, नाम के प्रकरण में देखा जाय ।

यज्ञायात् कर्मण्योऽन्यत्र लोकेऽयं कर्मवर्षभनः ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ (गीता १८.१) ।

मन की प्रधानता इत्यने के लिए ही मगवान् में—‘मुक्तसङ्गः’ कहा है। मन की इच्छा से जो कर्म किया जाता है, वह यज्ञार्थ नहीं है। अपितु बुद्धि की प्रधानता से, दूसरे शब्दों में बुद्धियोग द्वारा जो कर्म किए जाते हैं, वे ही—यज्ञार्थकर्म हैं, एवं वे अव्यम्भन हैं।

पूर्व के निरूपण से यह सिद्ध हो जाता है कि कर्मपरिस्थान सर्वथा असम्भव है। साथ ही ये यह भी मान लेना पड़ता है कि केवल कर्म आवश्यक ही बलवत् का कारण है। कर्मपरिस्थान-संशय ज्ञान भी निरर्थक है, कामनामय कर्म भी अनुपादेय है, ‘काम्यानां कर्मणां न्यास सन्यासं कवयो विदुः’ यही बुद्धिमेल है। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है। मनुष्य तत्त्व कर्मों में तत्त्व फसादा को लेकर ही प्रवृत्त होता है। यदि उसे यह विदित होजाता है कि अमुक कर्म करने से मुझे अमुक फल न मिलेगा तो वह भूल कर भी उस निरर्थक कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में मनोविज्ञान सिद्धान्त के अनुसार जो बात बन नहीं सकती, उस के लिए—‘कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन’ यह असम्भव व्याख्या कैसे दी गई ? इसके उत्तर में अभी यही समझ लेना पड़ा होगा कि मनुष्य की आप्तात्मिकसत्त्वा एक सीमित सत्त्वा है। उस में ज्ञान—कर्मशक्ति परिमित हैं। कामारम्भदशा में ही यदि मनुष्य का ज्ञानकर्ममय आत्मा फल की ओर झुक जायगा तो इस की ज्ञान—कर्मशक्ति बल जायगी। आभा ज्ञानकर्म फल पर चला जायगा, आभा ज्ञानकर्म साथ कर्म पर रह जायगा। परिणाम इस का यह होगा कि साध्यकर्म की सिद्धि के लिए कितना कर्म अपेक्षित होना चाहिए, वतना (फलांश में विभक्त हो जाने के कारण) न रहेगा, कम अपूरा रह जायगा। इसलिये कम-कलस में फल की वर्षणा (अनुभव) में कर्म को खर्च न कर सर्वात्मना कर्म में ही लीन होना मा चाहिए। ऐसा होने से फसादा रक्तों की दशा में जो कर्मसिद्धि विरक्तास से सम्भव रखती थी, अपराध भिन्न की सिद्धि में सन्देश पा, फसादापरिस्थान से वह कर्म शीघ्र एवं आवश्यक ही सफल बन जायगा। कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाता। यदि अग्नि पर पानी रक्ता जायगा तो पानी आवश्यक

भ्रम हो जायगा । आप अनन्यथा से कर्म करें, और फल न हो यह सबका असमय है । परन्तु फल उत्पन्न करना आप का कर्म नहीं है । आप कर्म को सिद्ध कर दीजिए, प्राकृतिक नियम के अनुसार सिद्ध कर्म साथ फल का जगत् बन जायगा । फल पर इष्टि रखना अनधिकार प्रेक्ष्य है । जो वह कर्मसिद्धि को संपादन करें वांछा है, उसे निरर्थक खच करना है । आप की व्याख्या से फल उत्पन्न नहीं होता, अपि तु आप के कर्म से फलसिद्धि होती है । इसी अग्नि प्राय से ऋषि चरक ने—'हेतावीर्युः फले नेर्यु' (चरक स सूत्रस्थान—अग्निषोडश ब्रह्मसूत्रोप-देय) । यह कहा है । अमुक मनुष्य मिश्रान् है, उस की इस मिश्रता से ईर्ष्या करना भ्रम है । अपि तु जिस कर्म से उसे विधाफल मिला है, उस हेतुमत् कर्म के साथ ईर्ष्या करनी चाहिए । अमुक व्यक्ति अनवान् है, इस फलैर्ष्या से व्यापकतम होता है । जिस कर्म से वह फलित बना है, उस कर्म के साथ ईर्ष्या करने से अन्तुदय होता है । यही उन्नति का अन्तुदयण सर्वोत्कृष्ट मार्ग है । फल को कर्म सिद्धि का हेतु मत बनाओ, अपि तु कर्म को कर्म सिद्धि का हेतु समझो, यही कहना है । इस पञ्चाशद्व्यास से एक तो कर्म अक्षरम सिद्ध हो जायगा, फल मिसेण, उस के आप मोक्ष बनेंगे । दूसरा जो बड़ा भारी काम होगा उस का तो कहना ही क्या है । उक्त प्रकार से पञ्चाशद्व्यासमूर्ख यदि कर्म किया जायगा तो वह कर्म, एवं तज्जनितफल व्यासक्ति के कारण न बनेंगे—'कुर्वन्नपि न सिध्यते' । फल मिला, उस का आपमें भोग किया, परन्तु व्यासक्ति की जगती व्याख्या के परिमाण से सब झुद्ध करते हुए भी आप अनर्था कहबाए, यही तो निष्कर्मकर्म की विशेषता है । इसी रहस्य को व्यक्त में रखकर मगवान् कहते हैं कि इसाए अग्नि कर केवल कर्म में है । जब फल इसारे अधिकार में ही नहीं तो फिर व्याख्या ही क्यों करते हो । मगवान् की इस उक्ति का कोर्ष यह अर्थ न समझते कि जब फल की ही व्याख्या नहीं तो कर्म में प्रवृत्ति ही कैसे होगी ! इस लिए भागे जाकर मगवान् कहते हैं—'मा कर्म हेतुर्भूः—माते समोऽहस्त्वकर्मसि' । कर्मफल को हेतु मत बनाओ, कर्म को कर्म सिद्धि का हेतु समझो । कभी अकर्म से निरता न करो, फल भी तो अकर्म ही है । उस से संग करना कर्मविमूर्ति से अधिकतर रहना है ।

एक आपत्ति का जैसे तैसे निपटकरण किया गया, दूसरी आपत्ति और उपस्थित हो गई ।
 धुनिए ! फलश्रुति आसक्ति की जननी है, इसलिए भी उसका त्याग करना चाहिए, एवं शक्ति
 विभाग से वह कर्मसाधक कर्म की शक्ति कम करने के कारण भी छोड़ने योग्य है । साथ ही
 में फलश्रुति अनधिकार चेष्टा है, कर्मसिद्धि में इस की कोई अपेक्षा नहीं, यहां तक तो सब परि-
 स्थिति ठीक ठीक हो गई । परन्तु जो कामना कर्म की जननी है, उस के परित्याग का आदेश
 कैसे संभव हुआ ! । कामना (इच्छा) के बिना चल नहीं हो सकता, फलश्रुति परम्परया कामना का
 कर्मजनकत्व, किंवा कर्मप्रवृत्तिहेतुत्व सिद्ध हो जाता है । उपर फलश्रुतिवत् कामना को आसक्ति
 की जननी बताया जाता है । ऐसी परिस्थिति में ऐसा कोई कर्म नहीं रहता जो बिना कामना
 के संपन्न हो जाय । सभी कर्म सक्रम हैं, अतएव कर्ममात्र (सक्रम बनते हुए) आसक्ति के
 प्रवर्तक बनते हुए आधाररूप बंधन के कारण हैं । फलश्रुति सन्मास का 'सर्वकर्मपरित्याग-
 सत्त्वयुक्त सन्यास' इस किंवदन्ती पर ही निग्रह मानना पड़ता है । ऐसी दशा में 'कामना
 रहित हो कर काम करो' इस आदेश का कोई मुख्य नहीं है । इस निप्रतिपत्ति के निराकरण
 के लिए बुद्धि से प्रथम सीधिए, विज्ञानात्म्य की शरण में चलिए, समाधान हो जायगा । बुद्धि
 और मन की प्रधानता अप्रधानता से इच्छा के दो रूप हो जाते हैं । मन की प्रधानता से
 बुद्धि की स्वतन्त्रता गूढ़ हो जाती है, मनोराज्य शेष रह जाता है । मन चान्द्र सोममय दोनों से
 स्नेहयुक्त है । फलश्रुति ऐसे मन की कामना अवश्य ही स्नेहधर्म के कारण आसक्ति की जननी
 है । उपर बुद्धि की प्रधानता से मन गौण बन जाता है । ऐसे बुद्धिप्रधान मन की कामना
 स्नेहमयी न रहकर बुद्धिसम्बन्ध से तेजोमयी बन जाती है । तेजतन्त्र असंग है, अतएव तन्मयी
 कामना असंगमात्रमयी बनती हुई आसक्ति की जननी नहीं बनती । यही तो बुद्धियोग है ।
 कामना है, परन्तु कामना का जो आसक्तिभाव है, वह बुद्धि की दृष्टा से घृतप्राप्य है । ऐसी

अवस्था में इस कामना का रहना न रहने के समान है, यही निष्कर्मकर्म है।

दार्शनिक परिभाषा के अनुसार विचार करिए। दार्शनिकों ने इच्छा के उपायाप्याकांक्षा, परिपक्वाकांक्षा मेद से दो रूप माने हैं। अपने आप उठी हुई इच्छा उरिपक्वाकांक्षा है। प्रयास से उठाई गई इच्छा उपायाप्याकांक्षा है। इन दोनों इच्छाओं का प्रथमसंख्य में निरूपण किया जा चुका है, अतः यहाँ विष्टपेयण की आवश्यकता नहीं है। बुद्धिप्रधाना इच्छा आत्मेच्छा है, ईश्वरेच्छा है, यही उपायाप्याकांक्षा है। मन यदि बुद्धि के अनुगत बन जाता है तो आत्मेच्छा प्रधान बन जाती है, ऐसे मन की कामना आकामना है। यदि मन विषयों की ओर ही मुक्त रहता है तो आत्मेच्छा से पराङ्मुख होता हुआ, स्वस्वरूप से प्रधान बनता हुआ काममग्न बन जाता है। यही कामना बधन का कारण है। निष्कर्मकर्म में इसी कामना के परिहाण का आदेश है।

महत्-कर्म दोनों आत्म के स्वरूप हैं। कर्म करो—ब्रह्माय, कमी बधन न होगी। निवृत्ति-कर्मरूप अविद्या के द्वारा आत्मा पर आघात हुआ मृत्युरूप कर्मस्वरूप हट जायगा, अमृतारमा का साक्षात्कार हो जायगा। मृत्युरूप कर्म—(संस्काररूप कर्म)—समुद्र का तरण निवृत्तिकर्मरूपा अविद्या से ही हो सकता है—‘न कर्मणा न प्रजया पनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानया’ इत्यादि में कर्म शब्द काम्यकर्म का ही वाचक है। त्याग शब्द से कामना का परिहाण ही अभिप्रेत है। कामना का त्याग ही तो वास्तविक त्याग है। कर्म छोड़ दिया, कामना बनी रही, यह तो परि त्याग नहीं प्रज्ञा है। निष्कर्ष यही हुआ कि मध्यम विद्यानात्म में विद्या—अविद्या (कर्म) दोनों हैं। दोनों स्वतन्त्र होकर चले हैं। मिश्रकर बधन को हटाने में समर्थ हैं। हम दोनों के समन्वय से अमृत के दोनों भाग समग्र को प्राप्त हो जाते हैं। यह समस्त ही सत्त्वा बुद्धिबोध है, समस्त ही शान्ति है, शान्ति ही आत्मानन्द है।

इस प्रकार हमारा यह तृतीय अधिकरण (विषयकृत्यानुसार चतुर्थ अधिकरण) विद्या-अविद्यात्मक सूर्य का, एवं तदंशभूत विद्या-अविद्यात्मिक बुद्धि का स्वरूप बतलाता हुआ, दोनों की समष्टिरूप बुद्धियोग का ही उद्देश्य देता है । श्रुति को अभ्यात्म-अविदेवत दोनों सत्ताओं का स्वरूप बतलाना अभीष्ट था, अतएव उसने दोनों के (सूर्य और बुद्धि के) सामान्यधर्मों से सम्बन्ध रखने वाले 'विद्या-अविद्या' शब्दों का ही प्रयोग किया है । विद्या-अविद्यात्मक विज्ञानात्माधिकरण समाप्त हुआ, अब क्रमप्राप्त संभूति-असंभूत्यात्मक विज्ञानात्माधिकरण की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाय । ---

इति-विज्ञानात्माधिकरणम्

— ३०६ —

माकृतात्माधिकरणे-

विज्ञानात्माधिकरणं समाप्तम्

३



पूर्णन्द

पूर्णमिदम्



प्रज्ञानवैभव

४-प्रज्ञानात्मा

व्यप्यात्मम्

ब्रह्मसत्याक्षर —

सम्भूति-असम्भूतिमयः प्राकृतात्मा चन्द्रमाः

प्रज्ञानात्मा

३

चन्द्रमा ← —————→ प्रज्ञानात्मा

(प्राकृतात्माधिकरणे प्रज्ञानात्माधिकरणा चतुर्थम्)

ब्रह्मस्वेदवेदावच्छिन्न -सम्भूति-असम्भूतिमयात्मा

यद्वास्तव्यं

१-अन्ध तम प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।

ततो मूय इव ते तमो य उ सम्भूत्या रता ॥

२-अन्यदेवाहु सम्मवादन्यदाहुरसंभवात् ।

इति श्रुष्टुम धीराणां ये नस्तदिवचक्षिरे ॥

३-सम्भूतिं च विनाश च यस्तद्वेदोभय सह ।

विनाशेन मृत्युं तार्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥

(ईशोपनिषद् १२-११-१४-मं०)





प्रज्ञानात्मस्वरूपनिर्दर्शनम्

- १- यज्ज्ञाप्रतो दूरमुदैति देवं तवु घुप्तस्य तयैवेति ॥
दूरकर्म ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (यजु १४।१) ।
- २- यत् प्रज्ञानमुत धेतो पृतिश्च यज्जोतिरन्तरमृतम्भमासु ॥
यस्मात्तु भूतं किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (१४।२) ।
- ३- येनेन मृतं मुचनं मविष्यत्यरिचृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तापते सप्त होता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (१५।१) ।
- ४- अग्नीय श्रुत्वा निरितास उवाच नक्त दृश्ये कुर विदिमयुः ।
अवृग्धानि ऋणस्य प्रतानि विषाकञ्चन्द्रमा नक्तमेति ॥ (श्रुक् १।२४।१०) ।
- ५- चन्द्रमा अष्टान्तरा सुपर्णो पाषते दिशि ॥
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दति विष्टुतो वित मे अस्य रोदसी ॥ (१।१०५।१) ।
- ६- मयो नयो मयति जायमानोऽर्द्धा केतुरुपमामेयग्रः ॥
मार्गं देवेभ्यो विदधासायन्त म चन्द्रमा स्तिरते वीथमायुः ॥ (श्रु १०।८१।१२) ।
- ७- अम्भमा मनसो मातः (यजुः ११।१२)
- ८- चन्द्रमा मे मनसि स्थितः (तै. ब्रा १।१०।८) ।
- ९- तपत्तमनश्चन्द्रमास्ताः (जै. उ० १।२८।१।) ॥
- १०- मनो मे, रेतो म मजा म पुनः सुम्मृतिम तन्मेत्वयि (अन्यसि) ॥
(तै. उ १।२७।१४) ।
- ११- पतन्मन आसीत्, स चन्द्रमा अमपत् । (मै. उ० २।१।२) ।

॥ श्रीः ॥

भुवोर्मध्ये सप्तादे तु नासिकापास्तु मूततः ।
 बानीपादमृत स्थान तद् घ्राणापवन मइव ॥१॥
 आक्षयमण्डसं वृषं देवताभ्य सदाशिवः ।
 नादरूप भुवोर्मध्ये मनसो मण्डसं विदुः ॥२॥
 त्रिषं वर्पति सूर्योऽसौ स्रवसश्चतुर्मुखाः ।
 तालुमुसे स्थितमन्द्रः सुषो वर्पसचोमुखाः ॥३॥
 क्षिप्ते चक्षति सप्तारो निष्कसं मोक्षं वक्ष्यते ।
 तस्माक्षिर्चं स्थिरीकुर्यात् प्रज्ञया परमा विषे ॥४॥
 त्रिषां क्षारणमर्थानां तस्मिन् सति जगत्प्रथम ।
 तस्मिन् क्षीणे जगत् क्षीयं तच्चिह्नस्त्वं प्रयत्नतः ॥५॥
 मनोऽहं गगनाकार मनोऽहं सर्वतोमुत्तम ।
 मनोऽहं सर्वमात्मा च न मनः केनच पर ॥६॥
 मनः कर्पोणि प्रायन्ते मनो सिष्यति पातकैः ।
 मनश्चेदुन्मनीभूयाच्च पुण्यं न च पातकम् ॥७॥
 मनसा मन आमोक्ष्य हविशून्य यदा येवेत् ।
 सतः परं परब्रह्म हरयते च सुदुर्लभम् ॥८॥
 मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्ति-स्थितिकारणम् ।
 मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतारमकम् ॥९॥



मैन के समी कङ्कर नर्मदेश्वर शङ्कर, शास्त्रमाम के समी कङ्कर शास्त्रायाम । इसी प्रकार ईश्वर प्रजापति के समी पर्ब ईश्वरप्रजापति । समधिकृष से भी नहीं सर्वता, स्वधिकृष से भी नहीं सर्वता । भव-भग्नि दोनों समानवर्मा । 'महो मेदं सर्वम्' । ईश्वरप्रजापति का तीसरा पर्ब (सर्व) कहाँ विद्या-व्यविद्यात्मक है, कहाँ यह बीजा पर्ब (ब्रह्मा) सम्मूति (उत्पत्ति) और असम्मूति का

व्यविद्या है । प्रकृत व्यधिकरण तीन मन्त्रों से इसी का निरूपण करता है ।

सृष्टिक्रमानुसार सूर्य के अनन्तर पृथिवी है, सञ्ज्ञा में अन्धकार है। परन्तु अन्धकारमय की दृष्टि से अन्धकार सूर्य एवं पृथिवी के मध्य में प्रतिष्ठित है। पार्थिव प्रजा पर सूर्य एवं पृथिवी के मध्य में रहने वाले कृष्णपक्ष के अक्षिप्रता अन्धकार का ही अनुमति होता है। जब अन्धकार पृथिवी के इस ओर आता है तो ऐसी अवस्था में आन्द्रसोम का सौर इन्द्र के साथ सम्बन्ध होता है। शुक्लपक्ष में, विद्यमान पूर्णिमा में सायं आन्द्रसोम सौर सावित्राग्नि में इत रहता है। इस शुक्लाक्षिप्रता आन्द्रसोम का पृथिवी पर आगमन नहीं होता। पृथिवी के अग्रे ओर घूमने वाला अन्धकार जब पृथिवी के उस ओर (सूर्य की ओर) आता है तो चन्द्रमा का रूप माग पृथिवी की ओर अनुगत रहता है। कबत वहाँ सौर एरिमर नहीं पहुँचने पाती। इस काल में (हमेशाच में), विद्यमान अमावास्या में आन्द्रसोम प्रभूतमात्रा से पृथिवी पर आकर ओषधि-वनस्पतियों में प्रविष्ट हो जाता है। यों तो पूरे कृष्णपक्ष में ही आन्द्रसोम पृथिवी पर आता रहता है, परन्तु जब अन्धकार ठीक सूर्य और पृथिवी के मध्य में आता है तो सोम सञ्ज्ञा पृथिवी पर आता है। यही सूर्योदयानन्तर 'अमावास्या' नाम से प्रसिद्ध है। इस दिन आन्द्रसोम पार्थिव अग्नि के साथ निवास करता है, अन्तर पर स्थिति 'अग्निना-अमा (सह) वसति (सोम)' इस म्युगति से अमावास्या नाम से प्रसिद्ध है। इस अमासोम में सन्तानसूचनवर्षक पितरमात्र प्रभु रहता है, अन्तर अमावास्या नियुक्तियि कहलती है। सोम के साथ पितर प्राण भी ओषधियों में प्रविष्ट होता है। ओषधिर ही पुरुषाग्नि में इत होकर शुक्लपक्ष में परिणत होती हैं। पितृप्राणाक्षिप्रता शुक्ल की योषिद्वि में अमृति होने से प्रभोत्पत्ति होती है। शुक्लपक्ष इसी पितरप्राण के सम्बन्ध के सिर अमावास्या में दर्शोष्टि की जाती है। कहना पही है कि जब अन्धकार सूर्य एवं पृथिवी के मध्य में आता है, तभी वह अन्धकारमय का उपकारक बनता है। कृष्णपक्ष ही सोम का आशानका है, इसी रहस्य को सञ्ज्ञा में रक कर आभिप्रेति कहती है—

‘इन्द्रो ह यम इत्यथ वज्र मगहार-सो अबसीयात् सम्पमानो नास्तृपीवीव विन्ध्यमिसयाधके। स परा। परावतो अगाम। तमम्बेष्टु दधिरे। अग्निर्हि

पठानां, हिरण्यपातूप श्वपीणां, वृहती छन्दसाय । तमग्निनुविन्द । तेनैतां
 रात्रिं सहानगाम । ते देवा अमुवन् प्रमा वै नोऽय बसुर्वसति । + + × + ।
 ते देवा अमुवन्—न वा इममन्यत् सोमाद्रिनुपात् । सोमभेषास्ते सम्मरोमिति ।
 तस्मै सोमं सममरन् । एष न सोमो राजा देवानामुन्न् यच्चन्मा । स
 यत्रैव एतां रात्रिं न पुरास्ताम पश्चाद्दृष्टे, तदिमं लोकमागच्छति । स ईद-
 वापश्चोपपीथ प्रविशति । स वै देवानां बसु, अंसं द्वेषाम् । तद्यदेव एतां
 रात्रिमिहामावसति—तस्माद्मावास्या नाम” ।

(शत० ब्रा० १।६।११-५) ।

“जिस समय इन्द्रने वृषासुर के लिए (वृषासुर पर) बज्र फेंका—(उस समय) इन्द्र अपने
 आप को (वृषबल में असमर्थ समझते हुए) दूर से दूर भाग गए । तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्रने
 आँख मीच कर वृषासुर पर बज्र फेंकने को तो फेंक दिया, परन्तु उन्हें यह विश्वास न था कि
 भरे बज्र से वृत्र मारा ही जायगा । फलतः बज्रप्रहार कर वृत्र के फिर बचकर प्रहार करने के
 भय से इन्द्र वहीं दूर निकल गए । (चूंकि इन्द्र देवता अग्नि, छन्द आदि के अपत्य थे,
 अतः उनके गुण हो जाने पर) इन्द्र (देवताओंने) वृटना आरम्भ किया । (वृत्रने के लिए) देव-
 ताओं की ओर से अग्नि गए, अपियों की ओर से हिरण्यपातूप गए, एवं छन्दों में वृहती
 गया । अन्ततः अग्निने इन्द्र को वृत्र निरुद्धा । इस अग्नि के साथ यह इन्द्र इस (अथवास्या)
 रात्रि में सोए आए । (अग्नि के साथ इन्द्र को सोए आया देखकर) देवता आपस में बहने
 लगे कि आज अपना यह (बसु बहुपुत्र्य निधिरूप इन्द्र) अग्नि के साथ निवास कर रहा है । +
 + + + । [चूंकि वृत्रबलकाम में इन्द्र की शक्ति पीछे हो गई थी इसलिए देवताओंने बसु
 प्रदान के लिए यह निश्चय किया कि] सोम के अतिरिक्त दूसरा पदार्थ इन्द्र को दत्त नहीं कर
 सकता । अतः इन्द्र के लिए सोम का ही सम्मरण करें । फलतः देवताओंने इन्द्र के लिए
 सोम प्रदान किया । यही वह सोमराजा देवताओं का अन्न है, जो कि आकाश में प्रसन्न हुए
 यह चन्द्रमा है । यह जिस उल में पूर्व दिशाई देता, न परिचय, उस रात्रि में यह इस लोक

[शुक्ली सोक] में आ जाता है। यह यही ओषधि एव पानी में प्रविष्ट हो जाता है। यह वेद
 तान्यों की निधि है, भस्म है। यह इस शक्ति में इन्द्र के स्वर रहता है, इसलिये (भी) यह त्रिपि
 “अमात्रास्या” कहा जाती है ॥’ ।

इन्दरी (आध्यात्मिकसत्ता की) सम्भृति एवं असम्भृति का कारण सूर्य-शुक्लीमण्डल
 कृष्णपद्माविद्यता कद्रमा है, अतएव उपनिषद् में सुष्ठिक्रम की उपेक्षा कर उक्त स्थितिक्रम
 को प्रधान मानते हुए सूयात्मक विज्ञानात्मा के अनन्तर (सुष्ठिक्रमप्राप्त शुक्ली वर निरूपण
 न कर) अन्तःस्थक प्रज्ञानात्मा का ही निरूपण किया है।

‘गायत्री है पुरुषा’ (ऐ० भा० १।१।१) इस निम्न श्रुति के अनुसार पुरुष गायत्री है,
 एवं ‘पुरुष एवेद सर्वम् (यजुः सं० ११।२) के अनुसार सारा प्रपञ्च पुरुष है। पुरुष के यथेष्ट
 अनेक विभक्त हैं, तथापि प्रकृत में केवल ईश्वरपुरुष, जीवपुरुष (मनुष्यपुरुष) इन दो विभक्तियों
 की प्रधानता समझनी चाहिए। ईश्वरपुरुष मातृव्य है, उपास्य है। जीवपुरुष मातृव्यार्थी है,
 उपासक है। यह दोनों ही पुरुष परमेश्वर एक पुरुष है। अष्टादश-विभृति के सम्बन्ध से
 ईश्वर पुरुष भी गायत्री है, जीवपुरुष भी गायत्री है। शब्दब्रह्म और अर्थब्रह्म का अन्वि
 सामान सम्बन्ध है। जिस प्रकार निम्न अष्टादश-पद-वाक्यों के सम्बन्ध से शब्दब्रह्म का
 स्वरूप निश्चित होता है, एतन्म निम्न पदार्थों के सम्बन्ध से अर्थब्रह्म का स्वरूप निश्चित हो
 जाता है। पुरुष अष्ट पदार्थों की समष्टि है। ठहर अष्ट अक्षर के ब्रह्म का नाम गायत्री है,
 अतएव अष्ट पदार्थ स्वरूप अष्ट अक्षर की समष्टिकर इस पुरुष को गायत्री ब्रह्म से कथित
 होने के कारण अक्षर ही ‘गायत्री’ कहा जा सकता है। गायत्री पुरुष में सब कुछ अन्तर्भूत
 है, गायत्री पुरुष साक्षात् ब्रह्म है—(देखिए ब्रा० उ० १ प्र० १११ ब) —वे० उ० भा०
 १ अनु० १ सं० १ प्र० १)।

शास्त्रपुराण का पहिला पर्व रस-वसत्कृत है यही मूलपर्व है । रस सत् है, वस
 असत् है । असद्ब्रह्ममुक्त सदस की समष्टि ही पहिला पर्व है । इसी प्रथमपर्व को परात्पर
 कहा जाता है (देखिए ई. वि. प्र. सं. २५.१५) । आगे के सात पर्व इसी प्रथम पर्व का विकास
 हैं । परात्परक रसमाग मायाकृत अन्तर्धिति से आनन्दविज्ञानमनोमय बनता हुआ 'अमृत'
 नाम से, एव वसमाग मायाकृत बहिर्धिति से मनमागनाममय बनता हुआ 'मृत्यु' नाम से
 प्रसिद्ध हो जाता है । रस का प्रथम विकास अमृत है, वस का प्रथम विकास मृत्यु है । रस
 वसशब्द जहाँ परात्परतत्त्व के लिए नियत हैं, वहाँ अमृत-मृत्युशब्द मायोपाधिक पुरुषविवर्त के
 लिए नियत हैं । जैसे परात्पर की रस-वस कहा सत्-असत् नाम से प्रसिद्ध हैं, एवमेव पुरुष
 की उक्त दोनों कक्षाओं के लिए क्रमशः विद्या-कर्म शब्द निरूपित हैं । अमृत-मृत्युरूप विद्या-
 कर्म की समष्टि यह पुरुष (बोधशीलपुरुष) उस शास्त्रपुराण का दूसरा पर्व, किंवा दूसरा अध्याय
 है । पुरुष का रसप्रधान विद्यामय अमृत भाग ही आगे जाकर 'स्थिति' रूप में परिणत होता
 है, एव वसप्रधान कर्ममय मृत्युभाग ही आगे जाकर 'गति' रूप में परिणत होता है । स्थिति
 गति उस रस-वस का द्वितीय विकास है । यही विकासकाव्या 'वेद' नाम से प्रसिद्ध है, इसे ही
 'स्यम्यम्' कहा जाता है । यही शास्त्रपुराण का तीसरा पर्व, किंवा तीसरा अध्याय है । रसम
 आना स्थिति, वसप्रधान गति इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः अनिरुक्त-निरुक्त शब्द निरूपित
 हैं । अम्यक्त स्यम्यम् का रसप्रधान अनिरुक्त स्थितिभाग ही आगे जाकर स्वरूप में परिणत
 होता है, एव वसप्रधान निरुक्त गतिभाग ही आगे जाकर तेजस्वरूप में परिणत होता है । यह
 स्नेह-तेज उस रस-वस का तृतीय विकास है । यही विकासकाव्या 'सुवेद' नाम से प्रसिद्ध है,
 यही 'परमेष्ठी' नाम से व्यञ्जन होता है । शास्त्रपुराण का यही चौथा पर्व, किंवा चौथा अध्याय
 है । रसप्रधान स्नेह, वसप्रधान तेज इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः रयि-माय्य शब्द निरूपित
 हैं । व्यक्ताम्यक्त परमेष्ठी का रसप्रधान रयिरूप स्नेहभाग ही आगे जाकर (वेदाति के सम्बन्ध
 से) विद्यारूप में परिणत होता है, एव वसप्रधान माय्यरूप तन्त्रभाग ही आगे जाकर अविद्या
 रूप में परिणत होता है । यह विद्या-अविद्या उस रस-वस का चतुर्थ विकास है । यही

विक्रसादस्या 'हिरण्यगर्भे' नाम से प्रसिद्ध है । इसी को सूर्य कहा जाता है । गणपतपुरुष का यही पाँचवाँ पर्व, किंवा पाँचवाँ अक्षर है । रसप्रधाना विद्या, ब्रह्मप्रधाना अविद्या इन दोनों शब्दों के लिए कल्पना व्योति—तम शब्द निरूपित हैं । व्यक्त सत्य का रसप्रधान व्योतिर्मय विद्या का ही भागो जाकर सत्सम्भूति रूप में परिणत होता है, एवं ब्रह्मप्रधान तनोमय अविद्यामय भागो जाकर असत्सम्भूति (विनाश) रूप में परिणत होता है । यह सत्सम्भूति एवं असत्सम्भूति ठा रस—बल का पाँचवाँ विकास है । यही विक्रसादस्या 'विष्वक्' नाम से प्रसिद्ध है, इसी का 'बन्ना' कहा जाता है । गणपतपुरुष का यही छठा पर्व, किंवा छठा अक्षर है । रसप्रधाना सत्सम्भूति ब्रह्मप्रधाना असत्सम्भूति इन दोनों शब्दों के लिए कल्पना व्योति—तम यह दो शब्द निरूपित हैं मय वन्दना का रसप्रधान उत्पत्तिमय सत्सम्भूति भाग ही भागो जाकर ज्ञानरूप में परिणत होकर सर्वज्ञ नाम से व्यक्कृत होता है, एवं ब्रह्मप्रधान लयरूप असत्सम्भूतिमय ही भागो भाग अर्थरूप में परिणत होता हुआ विराट् नाम से प्रसिद्ध होता है । इन दोनों के मध्य में एक तीसरे क्रियामय हिरण्यगर्भ तत्त्व का विकास भी होता है । ज्ञानसत्सि सर्वज्ञ क्रियामूर्ति हिरण्यगर्भ, अर्थसत्सि विराट् की समष्टि ही 'देवसस' नाम से प्रसिद्ध है । इस की प्रति अमृता शुषिकी है । यह उस रसबल का ९ वाँ विकास है । गणपतपुरुष का यही ७वाँ पर्व किंवा ७ वाँ अक्षर है । अग्निमूर्ति देवसस के रसप्रधान ज्ञानभाग से भागो जाकर देवा का विकास होता है एवं ब्रह्मप्रधान अर्थभाग से भूत का विकास होता है । यह 'देवव (प्राण) 'भूत' उस रस—बल का सातवाँ विकास है । यही विकासोक्त्या 'सुषुप्ति' नाम प्रसिद्ध है । गणपत पुरुष का यही ८ वाँ पर्व, किंवा ८ वाँ अक्षर है । रसप्रधान देवता, व प्रपन्न भूत इन दोनों शब्दों के लिए कल्पना अमूर्त्त—मूर्त्त—शब्द निरूपित हैं । यही आर्त्ये प जीवपुरुष में हैं । केवल सत्सम्भूति भाविके नामों में अन्तर है । इस प्रकार एक ही रस—व्योतिवितारतम्य से उक्त आठ रूपों में परिणत हो जाता है । यही तो उस तम का महामय महामय है ।

उक्त गणपतपुरुष—तामिस्र से पाठकर्त्ते को विदित हुआ होगा कि चन्द्रमा ही सम्भूति और विनाश का कारण है। चन्द्रमा से पहले सूर्य, सूर्य से पहले परमपूँी की सम्भूति (उत्पत्ति) हो जाती है। भूपिण्ड सूर्य का उपग्रह है। सन्तान में भूपिण्ड से चन्द्रमा का जन्म होता है, अतः एक पृथिवी सूर्य का उपग्रह कहलाती है, एकमेव चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह कहलाता है। पृथिवी में रहने वाला सूर्यविरोधी, पारदशकता का प्रतिबिम्बक वायुमण्डल प्राण 'अग्नि' नाम से प्रसिद्ध है। यह प्राण वाक्मपान है, एक वाक्मपान प्राणरस का जनक है। फलतः वाक्मपान अग्निप्राण का भी वाक्मपान सिद्ध होजाता है। भूपिण्ड अपने अक्ष पर घूमता हुआ इस स्वात्परिभ्रमण से दैनंदिनगति का (अक्षोद्यम का) स्वरूप संपादन करता हुआ, सूर्य के चारों ओर अपने निश्चित द्रान्तिवृत्त पर घूमता हुआ संवत्सरगति (वार्षिक गति) का अधिष्ठाता बन रहा है। प्रसङ्गे से घूमते हुए भूपिण्ड के साथ सहस्रांश सूर्य के अग्नि का सम्बन्ध होता रहता है। इस सौर अग्नि के ताप से पार्थिव वाक्मपान अग्निप्राण (पार्थिववाक्मपान अग्निरस) द्रुत होता रहता है। विद्यता हुआ यह अग्निप्राण भूपिण्ड के साथ साथ ही भूपिण्ड से संघर्ष रहता हुआ घूमता रहता है। ऐसी तीन परिक्रमाओं के अनन्तर यह द्रुत अग्निप्राण (अग्निरस) सोमरूप में परिणत होजाता है। सौर अग्नि से परिवर्तमान यह सोममाग अग्नि नेत्र से यह कर घनीभूत होता हुआ चन्द्रपिण्डरूप में परिणत होजाता है।

जात यह है कि अग्निशरीर का जितना अंश सोमरूप में परिणत होजाता है, वह उस पार्थिव वाक्मपान, अतएव जन अग्नि की अपेक्षा इसका जन जाता है। इसका जनते ही यह णपिण्ड अग्नि से प्रपक्व होकर चारों ओर विशाओं में क्षूत रूप से व्याप्त होता हुआ पृथिवी की ओर ही अनुगत होने लगता है। अन्तरिक्ष में हिरण्यगर्भ ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध वायु चन्द्रकक्षा घराब पर (वायु में इतस्ततः) व्याप्त सोमपरमाणुओं को एकत्रासावष्टेदेन समेट कर उन्हें पुञ्जीभूत बना आता है। वायु का यह पिण्डसम्पादनव्यापार पृथिवी की २१ परिक्रमा पर समाप्त होता है। अर्थात् भूपिण्ड के चारों ओर घूमते हुए सोमपरमाणु कक्ष घन होते होते वायुव्यापार से पृथिवी के २१ परिक्रमण के अनन्तर इरममान चन्द्रपिण्ड रूप में परि

यत्न होते हैं। यही पिण्ड पृथिवी के चारों ओर घुमता है। यही दिखलाई दे रहा है।
 विन में सूर्यकिरणों द्वारा पार्ष्णि पानी वाष्परूप में परिरक्त होकर अन्तरिक्ष अणुतल में व्याप्त
 होता है, यही पानी यत्रि में सूर्य के अभावे से फिर पृथिवी की ओर (बोस रूप से) गिरने
 लगते हैं। यही अकस्मा सोम के सम्बन्ध में समझिए। सोम अन्तरिक्ष में जाकर पुनः पृथिवी
 पर गिरना चाहता है, परन्तु यज्ञवराह नाम से प्रसिद्ध वसी अणु से (देखिए ई० द्वि० अ० ३० अन्व-
 त्तारभाषिकरण ०१४) विहित होकर पिण्डरूप में परिवर्तित होता हुआ निगूहीत होनाता है। बिना
 प्रकृत आकाश में इतस्ततः व्याप्त केतु (आग्निपुत्र क्रमशः पिण्डीभूत बनकर सूर्यरूप में परि-
 वात हुए हैं—(देखिए ई० द्वि० अ० २३१५), एवमेव इतस्ततः फैले हुए पार्ष्णि सोम अणु ही
 अमरः पिण्डीभूत होकर अणुरूप में परिवर्तित हुए हैं। इसी अन्तरेत्यपि रहस्य को अक्षर में रख
 कर पुराण कहता है—

पिता सोमस्य वै विमा जज्ञेऽग्निर्निर्गतामृषिः ।

आण्डभुगव्यशिमामृत ऊर्ध्वबाहुर्महाद्युतिः ॥१॥

सुदुर्धरं नाम तपो येन तप्तं यद्वत् पुरा ।

श्रीगीर्णं वर्षसहस्राणी निव्यानीति ह नः श्रुतम् ॥२॥

तस्योर्ध्वरितसारतत्र स्थितस्यानिमिषस्य द्वि ।

सोमश्च तनुरापेदे महाबुद्धिः स वै दिवः ॥३॥

ऊर्ध्वमाश्रमे तस्य सोमस्य भाषितात्यना ।

नेत्राभ्यामस्रवत् सोमो वयसा पोतयन् दिग्वा ॥४॥

यदा न पारणे गङ्गास्तस्य गर्भस्य वा दिग्वा ।

ततः सरामिः शीतांशुर्निपपात वसुन्वराम् ॥५॥

पतन्ते सोमपात्नोचय मध्या न्योक्षपितामह ।

वयमारोपयामास मोक्षनां रिक्ताम्पया ॥६॥

गायत्रपुरुषपरिलेख

अष्टाक्षरावै गायत्री-ईश्वरपुरुषो गायत्रः-जीवपुरुषो गायत्रः



१- १-रस (सत्)	{	परात्पर	परात्पर
२-वसु (असत्)			
२- १-अमृतम् (विद्या)	{	पोदशीपुरुष	पोदशीपुरुष
२-मृतम् (कर्म)			
३- १-ह्यति (अनिष्ट)	{	स्वयम्भू	अव्यक्तात्मा
२-अति (निष्ट)			
४- १-स्नेह (रसि)	{	परमेष्ठी	महानात्मा
२-तेज (प्राण)			
५- १-विद्या (ज्योति)	{	सूर्य	विज्ञानात्मा
२-अविद्या (तम)			
६- १-संमृति (उत्पत्ति)	{	चन्द्रमा	प्रज्ञानात्मा
२-विनाशः (सय)			
७- १-ज्ञानम् (ब्रह्म)	{	साक्षीसुपर्ण	शोकासुपर्ण
२-अज्ञानम् (कर्म)			
८- १-वक्ता (अमृतम्)	{	भृषिगडम्	शरीरम्
२-भूतानि (मृतम्)			

उत्त होते हैं। यही पिण्ड पृथिवी के चारों ओर पुष्यरातल में घूमता हुआ दिखलाई दे रहा है।
दिन में सूर्यकिरणों द्वारा पार्ष्व पानी प्राप्यक्ष्म में परिणत होकर अन्तरिक्ष वरतल में व्याप्त
होमते हैं। यही पानी पृथि में सूर्य के अभाव से फिर पृथिवी की ओर (ओस रूप से) गिरने
सकते हैं। यही अमृता सोम के सम्बन्ध में समझिए। सोम अन्तरिक्ष में जाकर पुनः पृथिवी
पर गिरना चाहता है, परन्तु यह पुराह नाम से प्रसिद्ध चली बापु से (वेत्तिर ई० द्वि० स० अन्व-
त्तामाविकरय ७४४) वेधित होकर पिण्डरूप में परिणत होता हुआ निगूहीत होनाता है। जिस
प्रकार आकाश में इतस्ततः व्याप्त केतु (अग्निपुङ्ख क्रमशः पिण्डीमूत बनकर सूर्यरूप में परि-
णत हुए हैं—(वेत्तिर ई० द्वि० स० २३३५), एवमेव इतस्ततः फैले हुए पार्ष्व सोम सण्ड ही
क्रमशः पिण्डीमूत होकर अन्नरूप में परिणत हुए हैं। इसी अन्त्रोत्पत्ति रहस्य को सण्ड में रख
कर पुराण कहता है—

पिठा सोमस्य वै विधा ऋद्धिर्मगवानृषिः ।

काष्ठकुण्डपरिस्तामृत ऊर्ध्वबाहुर्मगानृषिः ॥१॥

सुदुश्चरं नाम तपो यन तप्तं मह्य पुरा ।

त्रीणि वर्षसहस्राणि दिव्यानीति इ नः श्रुतम् ॥२॥

तस्योर्ध्वरेतसस्तम स्थितस्यानिमिषस्य हि ।

सोमश्च तनुगोपेदे परावृद्धिः स वै द्विजः ॥३॥

ऊर्ध्वमाचक्रमे तस्य सोमस्य मावितात्मनः ।

नेत्राम्यामस्रत् सोमो वरुणा द्योतयन् दिशः ॥४॥

यदा न पारये शक्तास्तस्य गर्भस्य ता दिशः ।

तदा सहाभिः शीतोऽशुर्निपपात वसुन्धराम् ॥५॥

पठन्त सोममासोक्य व्रजा सोऽपि तामहा ।

रश्मिरोपयामास सोऽकानां शिवद्वान्पया ॥६॥

स तेन रथमुत्थेन सागगन्तां वसुधराम् ।
 त्रि सप्तकृत्वो ऽतिशयशोभकारामिषदक्षिणाम् ॥३॥
 तस्य यद्वर्धित तेजः पृथिवीमन्वपगत ।
 भोपम्यस्ताः समुद्रमूनास्तेजसा ज्वमयत्युत ॥४॥
 तामिः पुष्पात्पर्यं सोफान् यमाश्चापि चतुर्विधाः ।
 पोष्टा हि भगवान् सोमो जगती हि द्विजोद्यमा ॥५॥
 सतस्तस्यै वदो राज्यं ब्रह्मा ब्रह्मविदा वरः ।
 श्रीर्भौपवीनां विमल्योपमां च द्विजममयाम् ॥६॥

[ब्रह्माण्डोद्घात]

‘हि ब्रह्मणो ! एक बार सोम के विषय भगवान् अग्नि अग्निने यह किया । (यज्ञसिद्धि के लिए) पुण्युग में (यज्ञसिद्धि के अन्तर्गम्य में) महतेजस्वी अग्नि महर्षिने अपने हाथों को ऊंचाकर, शरीर से द्वापर पापाण की प्रतिमा समाप्त करके ‘सुवृद्धर’ नाम का बड़ा तप किया । हमने सुना है कि तीन हजार दिव्य वर्ष पर्यंत सौ अग्निने यह तप किया । सर्वथा निरपेक्ष एकत्र रूप से द्वापर ऊर्ध्वरेता उन अग्नि महर्षि का शरीर महाशुद्धिशीला ब्रह्मण सोमरूप में परिवर्तित होगया । सोम की भावना करने वाले अग्नि महर्षि का वह सोम ऊपर की ओर उठ कर नेत्रों से सोमरस बह निकला, उसमें दसों विशाखों को प्रकाशित कर दिया । जब दिशाएँ उस गर्मीयुत सोम को धारण करने में समर्थ न होसकी तो वह शीतांशु सोम पृथिवी की ओर गिरने लग्य । सोम की पृथिवी की ओर गिरता हुआ देखकर ब्रह्मने उसे सोमक-कल्याण के लिए अपने रथ में बैठा लिया । रथ में बैठा कर ब्रह्मने २१ बार उसे भूमिपट्ट की परिभ्रमण करवाई । गिरते हुए सोम का जो प्रहृष्ट गाग पृथिवी में गिर गया उससे भोपविषं उत्पन्न हुई । इसी भोपविषों से अन्धमा अतुर्विध प्रजा का पोषण करता है । हे द्विजप्रेष्ठो ! भगवान् सोम ब्रह्म के पोष्टा हैं । वेदविदों में श्रेष्ठ ब्रह्मने अन्धमा को राज्य का अधिकार बनाया, जो पवि और ब्रह्मणो का अधिपति बनाम—‘सोमोऽस्माकं ब्रह्मणो रामा’ ।

उक्त व्याख्यान समानरूप से आपिदैविक (प्राकृतिक) एव आपिमौक्तिक (ऐतिहासिक) करि क्य निरूपण करता है। मौम ग्रन्थाने अधि महर्षि के पुत्र चन्द्रमा का राज्याधिकार कर इन्हें उत्तरविशाल क्य विक्षास बनाया था, एव सोम और आसुर्यों क्य लोकपाल बनाया था। आगे आकर शुक्लपत्नी तारा के अपहरण से अद्यत्ति चन्द्रमा की बदासीनता से असुरों द्वारा राज्याधिकार सोमह्वर [सोमग्रन्थी] क्य समूह विनाश हुआ। इसप्रकार गन्धर्वनगराधिपतिता चन्द्रमा की हत्या से मौमवेवर्ण सदा के लिए उन्मिष होगया। इसीलिए असुरसम्प्रदाय वाले आज भी आपमें पार्थिक कृत्यों में चन्द्रमा को ही प्रधानता देते हैं।

इसी प्रकार महाभारत में भी चन्द्ररूप में परिणत अग्नि द्वारा ही अम्बकन की निहृति मयी गई है, जैसा कि बाहरापण कहते हैं—

इत्युक्तस्त्वर्जुनस्तृष्णीयमुद्गायस्तममधीत् ।

शृणु मे ईहयश्रेष्ठ ! कम्मधिः सुमहात्मनः ॥ १ ॥

मोरे तपस्यमुष्यन्त संहिता देवदानवाः ।

अविध्यत शरैस्त्वत्स्वमासुः सोमयात्करो ॥ २ ॥

अथ ते तपसा प्रस्ता निहन्यतेष्व दानवैः ।

देवा नृपनिशादृप्त ! सहेष वसिमित्वादा ॥ ३ ॥

असुरैर्बध्यमानास्ते क्षीणमाया दिवौकसः ।

अपरयन्त तपस्यन्तामर्षि विप तपोधनम् ॥ ४ ॥

अथैनममुबन देवाः शान्तकोषं मितेन्द्रियम् ।

असुरैरिन्द्रमिन्द्रो बभ्रादित्पादिमाहूयौ ॥ ५ ॥

वयं बध्यामहे आपि शत्रुमिस्तपसाहते ।

नाभिगच्छाम शान्तिं च मयात्पापस्य नः ममोः ॥ ६ ॥

अत्रिरुवाच

कर्म रक्षामि भवतस्तेऽमुनश्चन्द्रमा भव ।
 विमिरन्मम सविता दत्तुहन्ता च नो भव ॥ ७ ॥
 एमुक्तस्तदाभिर्न तमोनुदभवच्छशी ॥
 अपरयत् सौम्यभावाच्च सोमवत् पियदर्शन ॥ ८ ॥
 इन्द्रा नातिमम सोमं तथा सूर्यं च पार्थिव ।
 प्रकाशमकरोदमिहापसा स्वेन सयुगे ॥ ९ ॥
 जगद्विदिभिर्न चापि मदीसमकरोद्यदा ॥ १० ॥

[महाभारत अनु पर्व १३७ अ] ।

“यह सुनकर अजय चुप होगया । बापु में (पुन) कहा कि हे ईश्वरवश में श्रेष्ठ । तुम (अब) महात्म्यों में सुप्रसिद्ध अग्नि का कर्म (चरित्र) सुनो । (एकवार) भोर अन्धकार में देव दानव (देवता और असुर) एक स्थान पर सम्मिश्रित होकर युद्ध करने लगे । (उस युद्ध में) स्वर्मानु नाम के राहु में सैकड़ों तीरों से चाद्रमा और सूर्य का शरीर घसनी लगा जाता । हे राजाओं में श्रेष्ठ । इस प्रकार उन महा भव शत्रु दानवों से पीड़ित वे देवता उस भोर अन्धकार से घिर गए । उस समय असुरों से संश्रुत वे देवता सर्वपा जर्जरित होगए । (उसी अन्धकार में) उन क्षीणकाय दैत्यों में (एक स्थान पर) तपस्वी अग्नि को तप करते हुए देखा । सर्वपा शान्तमूर्ति एव चितेन्द्रिय अग्नि से देवता (विनाश पूर्वक) कहने लगे कि (हे महर्षे !) इस युद्ध में सूर्य और चन्द्रमा असुरों द्वारा तीरों से भीषण बाले गए हैं । (अजय इस समयसे) इस भोर अन्धकार में इन शत्रुओं से डारे जाफे । हमें इस समय परा भी शान्ति नहीं है । हे प्रभो । आप (ही) इस समय) इस मय से हमारी रक्षा कीजिए । (देवताओं की यह कष्टकर प्रार्थना सुन कर) अग्नि कहने लगे—हे देवताओं । तुम्हीं बतलाओ, मैं निन्त तपाय से तुम्हारी रक्षा करूँ । देवता कहने लगे, हे महर्षे । आप चन्द्रमा पन आइए, एव अन्धकार का नाश करने लगे सूर्य

बन जाय। इस प्रकार सूर्य चन्द्रमा बन कर आप इन दस्तुओं के माश कर करण करि।
देवताओं से यह सुनकर अग्नि (तत्त्व) अम्बरकार कर करने वाले चन्द्रमा बन गए। एक सोम-
माशक सुन्दर अम्बे की तरह दीहमें में सुन्दर उस चन्द्रमा को अग्नि देखा। इ राजन्।
उस चन्द्रमा और सूर्य को अधिक प्रकाशयुक्त न देख कर उस युद्ध में अपने तयोक्त से अग्नि में उन
दोनों में अधिक प्रकाश कर दिया। इस प्रकार अग्नि ने अपने तयोक्त से संसार को अम्बरकार
रूप कर दिया, सर्वत्र उन्नासा कर दिया”।

इतिहास के साथ साथ उक्त पौराणिक आख्यान में गहन विज्ञान भी छिपा हुआ है,
जिसका कि निरूपण विस्तार भय से प्रकृत में नहीं किया जासकता। इन पौराणिक आख्यानों
के मूल ग्रोव आख्यान ही हैं। प्रायः इसी से निष्ठा शुद्धता आख्यान भय संहिता में, एवं
प्राकृत में भी उपलब्ध होता है। देखिए—

१-यस्या सूर्य स्वर्मानुस्तपसाविष्यदासुरः।

अथैव विषया सुगो मुबनायदीपयुः॥

२-स्वर्मानोरपमदिन्द माया अयो दिवो वर्तमाना अवाइन्।

गृह्य सूर्य तपसापत्रतेन तुरीयेन ब्रह्मणाविन्ददग्निः॥

३-आम्बो ब्रह्मा सुसुमाना सपर्यन्त कीदिषा देवाअपसोपसिचन्।

अग्नि सूर्यस्य दिवि अचुरापाव स्वर्मानोरपमाया अमुचद॥

४-यं वै सूर्य स्वर्मानुस्तपसाविष्यदासुरः

अथयस्तमन्विन्दन् नक्षत्रे अशनुवन्॥

(अथ स० १०।४०।१-१-८६)।

१-“स्वर्मानुर्वाऽप्रासुरा सूर्य तपसा विष्याप। स तपसा विदो न अय
रोक्त, तस्य से मासुद्वौ-पनेवचमोऽप्रास्ताम्। सपयोऽप्रास्ताप्या वपति”।

(यत् १।१।२।१-२)।

इस प्रकार व्याससहित्य में चन्द्रमा की उत्पत्ति पार्थिव अग्नि से मानी गई है, एव चन्द्रमा को सोम का पिण्ड, एव पृथिवी का उपग्रह माना गया है। इधर वर्तमान विज्ञान के अनुसार चन्द्रमा किसी समय का एक स्वतन्त्र सूर्य है। पश्चिमी विद्वानों का कहना है कि—“किसी समय चन्द्रमा धीरे उष्ण था, दूसरा सूर्य था। वह धीरे धीरे ठंडा होने लगा, कालान्तर में बाहर का स्तर ठंडा हो गया, गर्म में अग्नि रह गया, इसी प्रकृति का नाम पृथिवी हुआ। पृथिवी का वह भाग जो सर्पया अग्निशून्य बनता हुआ पृथिवी की पकड़ से बाहर होकर पृथिवी के चारों ओर घूमने लगा, यही चन्द्रमा कहलाया”। अतः इन मतमतान्तरों से हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। यह बात सर्वोत्तमा सिद्ध है कि चन्द्रमा पृथिवी के पीछे उत्पन्न हुआ है, एवं यह पृथिवी का उपग्रह है।

जब यह सिद्ध है कि चन्द्रमा सृष्टिकाल में सप्त के अन्त में उत्पन्न होने वाला पर्व है तो ऐसी स्थिति में चन्द्रमा को विश्व की सम्पत्ति, एव विनाश का कारण मानना कैसे संगत हो सकता है? हम पार्थिव प्राणिमणियों की उत्पत्ति-नाश का कारण तो फिर भी क्या कल्पित चन्द्रमा माना जा सकता है, परन्तु एकहेतुवा चन्द्रमा को सम्पूर्ण विश्व का उत्पत्ति-परायण मान बैठना कैसे संगत हुआ? उक्त प्रश्न का समाधान करें, इस से पहिले संक्षेप से सम्पत्ति, एव विनाश शब्दों का अर्थ जान लेना आवश्यक होगा।

प्रकृत्य के आरम्भ में ही यह बताया गया है कि रस-वस के अन्वयात्पारतम्य से विश्व में विविध भाव उत्पन्न हो जाते हैं। रस और वस इन दोनों में रस प्रत्येक दशा में असन्न रहता है एव वस रस की व्यापक अवस्था में असंग, एव रस की परिच्छिन्न दशा में ससंग बन जाता है। रस की व्यापक एव परिच्छिन्न दशामें से वस की भार अवस्था हो जाती है। ये ही चार अवस्थाएँ आविर्भाव, तिरोभाव, सम्पत्ति विनाश इन नामों से प्रसिद्ध हैं। रस व्यापक है। इस व्यापक रससमुद्र में असंख्य वस उदित होते रहते हैं, एव अस्त होते रहते हैं। रस की व्यापकता के कारण इन ससंगवर्मी वसों को परस्पर में प्रभिवचन करने का अवसर नहीं मिलता। अतः तु विनाश प्रकृति एक असीम समुद्र में खड़े उठती रहती है, एवं

बैठती रहती है, इसी प्रकार उच्चारणवाचक बस उस रसवस्तु में सहज सम्बन्ध से धीरे-धीरे के समान उदित होते रहते हैं, एव अस्त होते रहते हैं। बसों का यह सम्बन्ध अस्ति-सम्बन्ध है। आविर्मान-विरोधान्, उद्यम अस्त यही इस सम्बन्ध का स्वरूप है। बसों का ऐसा सम्बन्ध संसृष्टिसदृश-हृदयप्रणियमनक सृष्टिसम्बन्ध से सर्वथा बहिर्भूत है। आगे आकर मध्य की कृपा से रस परिच्छिन्न हो जाता है। इस परिच्छेदमात्र के कारण हृदयबस उत्पन्न हो जाता है। हृदयबस से सर्वप्रथम 'संचारस' का उदय होता है। पुरुषात्माधिकरण की पुरुष निरुक्ति में यह विस्तार से कृतार्थ जाना है कि बस की धिति से एक ही रसताप आनन्द-विज्ञान-मन प्राण-माक् मेद से पञ्चकोशरूप में परिणत हो जाता है—(देखिए—अ. वि. सं २६१, २६२=१५)। इनमें मन-माण्डाक् की समष्टि ही संचारस है। इसी संचारस का नाम 'अस्तित्व' है। यही संचारस सम्मूर्ति का कारण है। यदि वह हृदयप्रणियमन से संचारस के उदर में आजाते हैं तो उस संचायुक्त बससमुच्चय में अपूर्व नाम-रूप-कर्म का उदय हो जाता है। बस संचारस के प्रणियमन सम्बन्ध में बसों का अपूर्व नाम रूप पारण कर लेता ही बस की 'सम्मूर्ति' है। एव प्रणियमन के दृष्ट आने से उस बससंपाद का संचारस से वृष्ट होते हुए नाम रूप का परित्याग कर देता ही 'विनाश' है।

संचारक मू जात से सम्मूर्ति शब्द निम्न है। 'अथ यद्येऽस्ति' यह पदार्थ का यह संचारक निर्वचन है। मिथी में जो मगप्राणव्यवस्था संचारस या, उसे लेकर बस यह सम्मूर्ति का अभिप्राय बन रहा है। जिस दिन यह से मिथी की सत्ता निकल जायगी, उस दिन यह अपने नामरूप का परित्याग कर देगा। यही यह का विनाशकाल होगा। बसों पर संचारस का अनुभव भी दो प्रकार से होता है। आप पृथिवीतल पर प्रतिष्ठित हैं। पृथिवी की पृथिवीतल सत्ता में आपको पकड़ रक्खा है। यदि घणमात्र के लिए भी इस पार्थिव सत्ता से आपका विप्रेषण हो जाता है तो आपका मपाक्य हो जाता है। आप मार्ग में जा रहे हैं। बिन्दु बिन्दु पर पार्थिव सत्ता आपकी अनुमतिवश बन रही है। बसते बसते आपकी दृष्टि किसी

सुन्दर रूप पर जाती है। उसे देखने में आप इतने तल्लीन हो जाते हैं कि आपको मार्ग में जाने वाले गर्त (गड्ढे) का भय नहीं रहता। अकस्मात् पैर फिसल जाता है। उसी समय आत्मा में एक प्रकार का कम्प हो पड़ता है। यह कम्प और कुछ नहीं, केवल व्यग्रमात्र के लिए पृथिवी की प्रतिष्ठास्वरूप सच्चा का वियोग है। यदि आनन्द कर सावधानी से आप तीन फिट के गड्ढे गर्त में भी पाँव रख देते हैं तो गम नहीं होता, कारण इस समय आप का लक्ष्य उस सच्चा पर रहता है। परन्तु अज्ञात दशा में यदि आपका पैर कुल्पात्र से सड़क पर भी गिर जाता है तो आत्मा कम्पित हो जाता है, क्योंकि यहाँ आपकी दृष्टि सच्चा पर नहीं रहती। इस निदर्शन से बतलाना यही है कि हमारे पर पृथिवी की सच्चा का अनुग्रह रहता है। हम पार्थिव सच्चा के गम में प्रतिष्ठित रहते हैं। एक मिट्टी के डेसे को आप कितना ही ऊँचा फैकिए, उसी पार्थिवसत्ता के आकर्षण से वह तत्वास्त नीचे आ जायगा। इस प्रकार तत्त्वज्ञान की तत्त्वप्रज्ञाओं पर तत्त्वज्ञानों की प्रतिष्ठात्मिक सच्चा का अनुग्रह रहता है। परन्तु इस सच्चास का हमारे साथ प्रणियन्त्रण सम्बन्ध नहीं है, अपितु विमृतिसम्बन्ध है। इस सच्चा से हमारे में किसी अपूर्व नाम-रूप का उदय नहीं होता, केवल स्वरूपणा होती है, अतएव इस सच्चास के अनुग्रह को हम सम्मृति न कहकर 'विमृति' ही करेंगे। कुछ मिट्टी का हिस्सा शरीररूप में परिणत हो गया है। हमारा शरीर पार्थिव है। पृथिवी की सच्चा ही प्रणियन्त्रण सम्बन्ध से अपूर्व नाम-रूपोदय की जमनी बनती हुई हमारी (शरीर की) सम्मृति का कारण बनी है। उदय एक निष्पत्ति बिन्दु है। इस एकमात्रात्मिक उदयबिन्दु के साथ पार्थिव सच्चा का जब प्रणियन्त्रण हो जाता है, तभी अपूर्वभाव का उदय होता है। इसी अभिप्राय से इस अपूर्वतरणा को 'सम्मृति' कहा है। 'समित्येकीभावे' इस नैगमिक सिद्धान्त के अनुसार 'सम्' एकीभाव का सूचक है, 'मृति' सत्ताभाव का घटक है। ऐसी भूति (सच्चा), जो प्रणियन्त्रण द्वारा वलसमष्टि के साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाय, वही 'सम्मृति' है। भूति का एकीभाव से प्रपक्व हो जाना ही सब का विचार है। सब मष्ट नहीं होता, प्रथि कथन से सब की उत्पत्ति भ्रान्ती होती है, एवं प्रणियन्त्रणोक्तस्या ही सब का विचार भ्रान्ती

सिद्धि जाता है। जो ब्रह्मसत्ता प्रत्यक्षबोधन से युक्त सत्तात्त्विक से अपूर्व नाम-रूप धारण करता हुआ प्रकट हुआ या, यही प्रत्यक्षबोधन के दृष्ट करने से आज उसी सत्ता के गम में स्थिति हो रहा है। सत्तात्त्विक को अपने फेस में रख लेना दूसरे शब्दों में सत्ता को अपने चर में रख लेना बस की सम्भूति है, एक बस का सत्ता के गम में जाता आना बस का विनाश माना जाता है। सत्ता नीचे है, बस ऊपर है, बस का 'उत्-अयन' (सत्ता के ऊपर गमन) है, यही उदयावस्था है, यही सम्भूति है। उत् अयन हो गया, बस सत्ता के चर में सीन हो गया, यही विनाशावस्था है। इसी रहस्य को समझने के लिए उत्पत्तिस्थला सम्भूति के लिए जहाँ अपिचो ने 'सृष्टि' शब्द प्रयुक्त किया है, वहाँ विनाश के लिए 'प्रलय' शब्द प्रयुक्त किया है। वहाँ का लयमान ही हम का विनाश है, उदयमान ही हमकी उत्पत्ति है। सम्भूति में ब्रह्मप्रधान है, विनाश में रसप्रधान है। दूसरे शब्दों में सम्भूति में सत्ता बस की अनुगामी बन रही है। विनाश में बस सत्ता का अनुगामी बन रहा है। ब्रह्म सम्भूति है, ब्रह्मविमोक्ष विनाश है। एक ही तत्त्व की अवस्था विशेष सम्भूति है, अवस्थाविशेष विनाश है, परमार्थतः न सम्भूति है न विनाश है—'न जायते म्रियते वा कदाचित्'।

सम्भूति एक विनाश का संक्षिप्त स्वरूप बनसाया गया, अब उक्त प्रश्न का निवेदन किया जाता है। यह प्रकरण सम्भूति-विनाशात्मक चन्द्रमा का निरूपण करता है। सम्पूर्ण विषय चन्द्रमा से ही उत्पन्न होता है, एक चन्द्रमा ही विनाशविनाश का कारण है। इस पर पूर्वपक्ष यह हुआ या कि विषयों के अन्त में पृथिवी से उत्पन्न होने वाला चन्द्रमा सम्पूर्ण विषय की सम्भूति एक विनाश का कारण कैसे माना जा सकता है। इस प्रश्न के समाधान के लिए योही दर के लिए हमें यथार्थ की शरणा में सहना होगा। पूर्व के विज्ञानात्मकिकरण में यज्ञावहन का स्वरूप बतलाते हुए यज्ञावहन का स्वरूप बताया गया है—(देखिए ई. वि. २. २१३-२२२)। अग्नि में सोम की व्यापृष्टि होने से अग्निसेम के सम्मेलन से जो एक अपूर्वमान उत्पन्न होता है, उसी का नाम यज्ञ है। इसी यज्ञ से विषय में रहने वाली ब्रह्मा

सत्यम् होती है। फिर हम सत्तात्त से पुनः वस्तुसत्ता को सम्प्रति का कारण बतसा रहे हैं।
 'देतो विरुद्ध माया का सम्प्रत्य कीलिए'। मनप्राणबाह्यमूर्तिपरसं सत्ता है, यह विज्ञानरूप
 'विद' एवं आनन्द से अभिनामृत है। सम्प्रति पञ्चकल, किन्तु प्रकृत सत्तादानन्द प्रकृत की
 अभ्यस्य है। अक्षर एवं आत्मक्षर नाम से प्रसिद्ध इस अभ्यस्य की दो अन्तरंग प्रकृति हैं।
 यह उस पुरुष की लक्षणमृता है, अतएव उस से अभिनामृत है। सम्प्रधान, अतएव सम्प्रति
 अन्तरंगप्रकृतिविशिष्ट पुरुष की 'पोद्गामीनापति' है। यद्यपि सम्प्रति का कारण सत्तादा-
 नन्द प्रकृत की है, तथापि सत्तामात्र को ही प्रधान माना गया है। आनन्द और विज्ञान (विद)
 भी सम्प्रति के कारण हैं, किन्तु गौरवरूप से। आनन्द विज्ञान उस अभ्यस्य प्रकृत की मुक्तिसाक्षी
 भाग है। मन-प्राण-बाह्यम सत्तामात्र सत्तासाक्षी है। मुक्ति में यह गौर है, यह प्रधान
 है। सृष्टि में यह प्रधान है, यह गौर है। इसी अभिप्राय से मन-प्राण-बाह्य की सत्तासाक्षी
 सत्तात्त के सम्प्रत्य-अभ्यस्य को ही सम्प्रति एवं विनाय का कारण बतसाया गया है। मन
 से कामना का उदय होता है, प्राणव्यापार उस का तप है, बाह्यव्यापार श्रम है। काम-तप-
 श्रम ही सृष्टि के साधारण अनुसन्ध है—(ई० भा० २२०३१०५०)। यह सत्तामात्र प्रजापति अक्षर-
 मय है, अक्षर वेदमूर्ति है, वेद का यजुर्मय प्रजापति है। ऐसी दशा में सत्तात्तक वेद-
 मूर्ति पोद्गामी प्रजापति को अक्षर ही 'अग्नि' (वेदामूर्ति) कहा जासकता है। पुरुष साक्षात्
 'अग्नि' है—“पुरुषो वा अग्निः” (ऋत० १७।१।१।१५)। “अस वा अग्निः” (की० हा० ४०-
 'आत्मा वा अग्निः' (ऋत० ७।१।१।२)।

इस पुरुषोपनि में वस्तुप्रधाना पञ्चका निम्न प्रकृति की आहुति होती है। यह अक्षरमय
 प्रकृति ही 'सोम' है। 'सुतो मवति' 'युयोऽपि' 'अग्निपुतो मवति' इत्यादि निर्वचनों के
 अनुसार अग्नि में आहुत होने वाला पदार्थ ही 'सोम' है। यह सोम अग्नि में आहुत होकर अग्नि
 को प्रदीप्त करता हुआ, स्वयमपि परिमेषात्तर करता हुआ प्रदीप्त हो जाता है, अतएव सोम को
 'अग्नेमा' शब्द से व्यञ्जित कर दिया जाता है। अथ अन्तरिक्ष में अग्निप्रकाश जो विद्य देखा
 है उसी का नाम अग्नेमा मही है। अथि अग्नेमा सोमत्व है, अग्नेमा शब्द सोमत्व का

व्यक्त है, सोमत्व आहुतिव्यक्त का प्रथम है। इस सामान्य परिभाषा के अनुसार आहुत होने वाले जितने भी पदार्थ हैं, सब सोम हैं। एवं विन पदार्थों में इन सोमरूप पदार्थों की व्याप्ति होती है, वे सब पदार्थ 'अन्नाद्' बनते हुए अग्नि हैं। पुरुषप्रजापति में रस की प्रधानता है, प्राण-आप-आग्नि पाँचों प्रकृतियों में रस की प्रधानता है। यह रस है, यह अन्न है। यह मोक्ष (अन्नाद्) बनता हुआ पूर्वकथनानुसार साक्षात् अग्नि है, यह योग्य (अन्न) बनता हुआ साक्षात् सोम है। इस की वसमें आहुति होती है, रसवसारमक-अग्नीषोममूर्ति पुरुषप्रकृति का समन्वय होता है, इसी पक्ष से विश्व सम्भूत हुआ है। साध विष सोमरूप प्रकृति की पुरुष में व्याप्ति होने से ही उत्पन्न हुआ है। अग्नि में पुरुष की प्रधानता रहती है, दूसरे शब्दों में रस की प्रधानता रहती है, अतएव पुरुष (मनुष्य) को आधेय रस चाया जाता है। सोम में प्रकृति की, दूसरे शब्दों में वसन्त की प्रधानता रहती है, अतएव अग्नी को सौम्या कहा जाता है। पुरुष-प्रकृति, रस-अन्न, अग्नि-सोम सब अविच्छिन्न हैं। प्रकृति-पुरुष का समन्वय, रस-अन्न का समन्वय, अग्नि-सोम का समन्वय एवं असमन्वय ही सम्भूति विनाश का कारण है। इसी रहस्य को सामने रखते हुए हम कह सकते हैं कि अन्न (सोम-प्रकृति) ही सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति एवं विनाश का अनिच्छात है।

अपेक्ष्य समी सोम है, समी अग्नि है। हम यदि अन्य पदार्थों के प्रत्यक्षों को लेकर उन्हें अपने शरीर अग्नि में आहुत करते हुए उन आहुत पदार्थों की अपेक्षा अन्नाद् (अग्नि) हैं तो अन्य पदार्थों के लिए हम अन्न (सोम) भी हैं। हमारा रस सूय से छा है, सूय का रस हम से रहे हैं। हम सूय से उत्पन्न हुए हैं। उस के पत्रों को जहाँ हम जा रहे हैं, वह हमारे भक्षणों का आदान करता हुआ आदित्य बन रहा है। इसी प्रकार प्रजा में भी एक प्रजा दूसरी प्रजा के प्राणियों का सेठी देती रहती है। सर्वत्र आदान विसर्गोत्पन्न अन्नान्नादमय व्याप्त है। समी अन्न है, समी सोम है। समी अग्नि है, समी अन्नाद् है—“अन्नाद् पशविरमवदन्नं सोमः। अन्नादन्नं वा इदं सर्वमन्नं च” (उप० ११।१।५।१२)। इसी व्यापक अन्न-अन्नादमात्र का निरूपण करती हुई मन्त्रभूति कहती है—

अहमस्मि प्रथमज्ञा श्रुतस्य पूर्वं देवेभ्योऽध्वनस्य नाम ।

यो मा ददाति स इ देवमावदहमन्नमन्नमदन्तमग्नि ॥

यह तो इह शास्त्रदृष्टि । अब प्रसन्नदृष्टि से सोम की सम्पत्ति विचार का विचार कीजिए । समति (सृष्टि) आत्मा-प्रकृति-विकृति इन तीन भागों में विभक्त है । आत्मसृष्टि-प्रकृतिसृष्टि विकृतिसृष्टि मेद से स्रष्टृरूपा सृष्टि के तीन भिन्न हैं । इन तीनों ही सृष्टियों का अधिष्ठाता सोमतात्त्व है । महदात्माविकरण में यह विस्तार से बतसाया जा चुका है कि सोममूर्ति महात्मा से ही पोखरी आत्मा गम धारण करता है-‘मम योनिर्महद्मन्म’ । आत्मविकृतिसृष्टि एकमात्र महत्सोम (पारमेष्ठ्य सोम) ही है । प्रकृति तब से विद्य का निमाण हुआ है, परन्तु अप्रत्यक्ष की आहुति से । अप्रत्यक्ष साक्षात् सोम है । इस प्रकार प्रकृति का प्रकृतितत्त्व रूप सृष्टिकर्तृत्व भी सोमसम्बन्ध पर ही निरर है । इसी सोमाहुति से सूर्य का विकास हुआ है, इसी सोम से परमेष्ठी का विकास हुआ है, यही सोम अम्ब्यक्त पुण्यदीर स्वयम्भू का जनक है । इसी सोमाहुति से भूपिण्ड निष्पन्न हुआ है । इसी सोम का प्रकृत बंध प्रभूमा है । इस प्रकार आगे जाकर अम्ब्य नाम धारण करने वाला सोम ही सम्पूर्ण विद्य की सम्पत्ति का कारण बन जाता है । सोम की इसी सम्पत्तिव्यवस्था भूमि का विकरण करती हुई भूमि कहती है-

१- महत्त्व सोमो महिषमकाराणां यद्गमोऽदृशीत देवान् ।

अद्वयान्ति पवमान सोमोऽग्रनयत् ध्येय्योतिरिन्दुः ॥ [अ. ६। १७। ११] ।

२- अद्वान्तसमुद्र मयमे विधर्मज्ञनयत् प्रजा सुवनस्य राजा ।

इषा पवित्र अपि सानो अम्ब्ये बृहत्सोमो वाटये सुवान इन्दु ॥ [अ. ६। १७। १०] ।

३- पवित्रमिः पवमानो नृषदा राजा देवानामुत मर्त्यानाम् ।

दिता मुक्तापिनी रयीणामृत भरत् सुमत्तं चार्विन्दु ॥ [अ. ६। १७। १२] ।

४- एष विश्वविद मयते अनीषी सोमो 'विश्वस्य सुर्वेनस्य संजा ।

द्रष्टो ईर्यन् विद्योष्विन्दुर्वि पारमस्य समयाति याति ॥ (अ. ३।३७।३८) ।

५- या ते प्रामानि दिवि या पृथिव्या या पर्वतेष्वोषधीष्वप्यम् ।

तमिर्नो विरत्रैः सुमना अरेन्वाजन्तसोमं प्रति हव्या सुमाय (अ. ३।३९।४०) ।

६- स्वमिमा ओपप्रीः सोमं विश्वास्त्वमपो अमनयस्व गाः ।

ममा तत्त्वोर्ध्वन्तरिदं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्ष ॥ (अ. ३।४०।४१) ।

१- (महानात्मा का स्वरूप सम्पादन करने के कारण) -महिम- (महान् नाम से प्रसिद्ध) सोम में यह महत् कर्म (बड़ा भारी कर्म) किया है, जो कि पानी के गम बने हुए देव ताओं का (सौर देवताओं का) बरख कर दिया है । (आपोमय परमेष्ठी मयब्रह्म में प्रसिद्ध अप्सुल्ल का विरवावरपरूप सोम की आहुति से ही ज्योतिर्मय सौर देवताओं का नि कास हुआ है, इसी अग्निप्राप से "अपां यद्गमोऽह्वीत देवान्" यह कहा है) । (इष्टि माग को निकट करने के कारण) पञ्चमान [नाम से प्रसिद्ध इसी पारमेश्वर ब्रह्मणस्पति सोम] में इन्द्र (सौर अप्सुल्लप्राप्य) में ओम [ब्रह्मप्रद बीज्य] स्थापित किया है - [तमी तो "या य का य वसकृतिरिन्द्रकर्म्यैव तत्" यह कहा जाता है] । इसी इन्द्र (सोम) ने सूर्य में ज्योति (प्रकाश) उत्पन्न की है । "स्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्ष" इस श्रुतिवाक्य के अनुसार वायु पारमेश्वर सोम की वाहक सौर सावित्राग्नि में निरन्तर आहुति होती रहती है । इसी सोमाहुति से सौर मयब्रह्म में प्रकाश होता है । "आ कृष्येन रजसा वचपान्" इस मनु श्रुति के अनुसार सूर्य, किंवा सौर अग्नि भी स- स्वरूप से बोर हुआ [कण] है, एव 'प्रसा कृष्यस्य सोऽवतु-चन्द्रमा वै प्रसा- कृष्यः" इस मन्त्र-ब्राह्मण श्रुति के अनुसार चन्द्रमा (सोम) भी बोर हुआ है । य अग्नि में प्रकाश है, न सोम में प्रकाश है । प्रकाश उत्पन्न होता है दोनों के सम्मन्वय से । इस सम्मन्वय में योनि स्थानीय अग्नि स्वरूपान पर प्रसिद्धित रहता है । इस में रेतः

स्थानीय सोम की आहुति होती है। इसीलिए सोम को ही ओषति का प्रवर्तक माना जाता है। यही निष्ठातिहोत्र है, यही जरामर्षसोम है—“धूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्” (शत २३१.२३५।५५।१६५) ॥१॥

२- पानी की वर्षा करने के कारण समुद्र नाम से प्रसिद्ध यह सोम राजा इस विरासत अन्तर्गत में (त्रैलोक्य में अपनी आहुति से) प्रजा उत्पन्न करता हुआ सब का अतिश्रमण करता है। तात्पर्य यही है कि छान्दोग्य उपनिषद् की पञ्चाग्निविद्या के अनुसार श्रद्धालु सोम ही क्रमशः श्रद्धा-सोम-वृष्टि (पानी)-अन्न-रेत रूप में परिवर्तित होता हुआ क्रमशः पु-पर्जन्य-पृथिवी-पुरुष-योषित इन पाँचों अक्षियों में आहुत होता हुआ “इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति” इस सिद्धान्त के अनुसार प्रबोधपति का कारण बनता है। अग्निपूजकाय कर्षणीय का प्रदीप्त सोम विशेषरूप से प्रसूत होता है ॥२॥

३- सूर्य की पवित्र शक्तियों से पवित्रतम बना हुआ, वेदता मनुष्यादि प्रमात्रों का अभिपति, सम्पूर्ण सम्पत्तियों का अभिप्राता यह सोम मसीमाति समृद्धित होता हुआ कल्याणप्रद सम्पदा का धारण करता है ॥३॥

४- सर्वज्ञ, मनीषी, त्रैलोक्य का राजा यह सोम सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। यही कर्मों में अपनी शक्ति प्रदान करता है। यही सब का वेद्यन करता हुआ, कर्म सम्पन्न करता हुआ आशीर्वाद देता है ॥४॥ (येय दोनों का अर्थ स्पष्ट है)।



यदि निरूपण से यह भलीभाँति सिद्ध होना चाहता है कि वास्तव में सम्पूर्ण विश्व की सम्पत्ति एवं विनाश का कारण एकमात्र सोम ही है। सोम की इस व्याप्ति को स्वयं में उल्टा ए सुप्रसिद्ध सोम (अग्निपूज) पर वृष्टि गति। उपनिषद् मुक्ति को सामान्यरूप से सम्पत्ति और विनाश का लक्षण बतलाना है, साथ ही में प्रधानतया का भी निरूपण करता है, इस पर प्रधानतया का सम्पन्न प्रसूत यह चन्द्रपिण्ड के साथ ही है, अतएव किसी विशेषमात्र का उल्लेख न कर सा

माय्य रूप से "सम्भूति य विनाश च" इत्यादि ब्रह्म दिया गया है । सोम सारे विश्व की सम्भूति एवं विनाश का कारण कैसे है ? इसका समाधान होगा । अब यही सोम हमारे आध्यात्मिक प्रपञ्च की सम्भूति एवं विनाश का कारण कैसे बनाता है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए आपको उस व्यापक सोम ही के प्रत्यक्षमूल सृष्टि के अग्रिम परिरूप, पृथिवी के उपग्रहमूल सृष्टिब्रह्म चन्द्रपिण्ड को ही सामने रखना पड़ेगा । इस चन्द्रपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाली सम्भूति सम्भूति एवं पुनःसम्भूति भेद से दो मार्गों में विभक्त है । हमारी प्राण-मिक सम्भूति का कारण आधिदैविक चन्द्रमा है, एवं उत्तरोत्तर होने वाली ध्वन्यक्तरूपा सम्भूति का कारण आध्यात्मिक चन्द्रमा है । प्रकृत अधिकतर प्रचानरूप से इसी आध्यात्मिक चन्द्रमा का निरूपण करता है । आधिदैविक चन्द्रमा हमारी प्राणमिक सम्भूति का कारण कैसे बनाता है ? पहिले इसी प्रश्न का विचार कीजिए ।

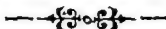
“अग्नीषोमात्मकं ब्रह्म” (जाबालोपनिषत्) इस श्रुति के अनुसार संपूर्ण ब्रह्म (रोदसी वैशोक्य) अग्नीषोमात्मक है । शीतमिसोकी जगम प्राणियों के सम्बन्ध से ‘जगत्’ नाम से प्रसिद्ध है । विश्व और ब्रह्म शब्द परस्पर में पर्याय मणी हैं । सप्तमी-चन्द्रसी रोदसी इन तीनों प्रेक्षकों की समष्टि विश्व है, एवं एकमात्र रोदसी मिसोकी ब्रह्म है । यह ब्रह्म सबकुछ अग्नीषोममय है । ब्रह्मसत्त्वकपसपादक अग्नि और सोम दोनों ही अनेक मार्गों में विभक्त हैं । परन्तु इसका ध्यान रखिए कि संजन अग्नि का सामान्य वाक्य है, एवं स्नेहन सोम का सामान्य वाक्य है । एक की प्रतिष्ठा इदं है, एक की प्रतिष्ठा परिधि है । अन्तिम केन्द्र में सत्त्वकप से प्रतिष्ठित होता हुआ अर्द्धरूप से निरन्तर परिधि की ओर जाया करता है एवं सोमरूप परिधि से निरन्तर केन्द्र की ओर आया करता है । अग्नि अपने स्नेहनत्वभाव से उत्तरोत्तर विश्वकृत होता जाता है । इसी विश्वकृत से इस की अग्नि-यम-आदिरूप यह तीन प्रधान व्यक्तियाँ हो जाती हैं । ठीक इसके विपरीत सोमकृत अपने स्नेहनत्वभाव से उत्तरोत्तर सङ्कुचित होता जाता है । इसी संकुच से इस की आप-वायु-सोम यह तीन व्यक्तियाँ हो जाती हैं । अग्निजप्री अक्रिया है । अक्रिय नियम से निकसकर निरन्तर ऊपर की ओर

आया करता है, विद्यकहन की पराकाष्ठा पर पहुँचने से इसकी विकास क्रिया बढ़ हो जाती है। विकास की अन्तिम अवस्था पर पहुँचते ही अग्नि की गति गलट जाती है। विरुद्धगतिमात्रात्मक अग्नि ही सूर्यरूप में परिणत होकर केन्द्र की ओर आने लगता है। केन्द्र की ओर आते आते जब सूर्यप्रदी (आप-वायु-सोम) ठीक केन्द्रविन्दु पर आ जाती है तो स्नेहसङ्कषा क्रिया अवरुद्ध हो जाती है, तत्काश तीनों में सर्प हो जाता है। इस सर्प से अगिरा का जन्म हो जाता है। दूसरे शब्दों में केन्द्र में आकर सूर्य ही अगिरा रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार एक ही प्रजापतितत्त्व गति-आगति भेद से अग्नि (अग्नि), सोम (सूर्य) यह दो रूप धारण कर लेता है। जो अग्नि है, वही सोम है। जो सोम है, वही अग्नि है। अग्नि अग्नि है, सोम पानी है। अग्नि पराकाष्ठा पर पहुँचकर पानी बन जाता है, पानी उद्गम की अवस्था पहुँचकर अग्नि बन जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् में तेज-स्नेहसङ्कषा अग्नि-सोम का साधाम्य है। इनमें तेजोरूप अस्तित्व के अग्नि, यम, आदित्य, सार्धियामुप, देव, अमृत, सत्य, वैश्वानर, आहुत, महत, उद्भूत, पिप्पल्य आदि अनेक भेद हैं। सोम के भी अनेक भेद हैं। उन सब अवान्तर सोमों का १० जातियों में अन्तर्गम्य माना जा सकता है। अग्नि-सोम के इसी वैजात्य से जगत् में वैजात्य उपपन्न होता है। सोम की वे १० जाति निम्नलिखित नामों से प्रसिद्ध हैं।

- १-अरमा—(१-धुव, २-धर्म, ३-महर्षि, ४-धर्म)
- २-असुर—(१-हृष, २-नमुषिः, ३-वसु, ४-मम्मः)
- ३-अक्षम—(१-राजा, २-वामः, ३-प्रशः, ४-इति)
- ४-आपः—(सृगम -अगरिस्तः)।
- ५-सर—(अग्निमवः)।
- ६-ओषधीः—(अग्निगर्भितः)।
- ७-अमृत—(अमृतः)
- ८-वसिष्ठ—(अक्षयपतिः)।
- ९-दिक्—(सवर्णापहः)।
- १०-आमा—(महान्)।

अग्नि में सोम की आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है । इस आहुतिरूप का ही नाम पुरुष है । अतएव हम कह सकते हैं कि पुरुष की सम्पत्ति का कारण यह ही है । 'पाङ्क्तो न पशु' के अनुसार यह पुरुषस्वरूप समस्त पशु पक्ष्यादयः हैं । पुरुषस्व से सम्बन्ध रखने वाले अग्नि के भी पाँच ही पर्व हैं, एवं सोम के भी पाँच ही पर्व हैं । दोनों की समष्टि दशहर विराट् पशु है । उस महाविराट् से इस सृष्टिविराट् का जन्म होता है—“अद्वेन नारी तस्मात् स विराट्मसृजत् प्रभुः” । अग्नि पुरुष है सोम स्त्री है । दोनों पवित्रपानियों के म्लिथ से उस महाविराट् की सम्पत्ति हुई है, एवं उसी से सृष्टिविराट् सम्भूत हुआ है । पुरुषरूप अग्नि के पाँचों पर्व कण्ठ, ध्रु, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष, योषित् इन नामों से प्रसिद्ध हैं । एवं सोम-तल के पाँचों पर्व कण्ठ, अद्वा, सोम, घष, रेत इन नामों से प्रसिद्ध हैं । दिव्यसोम का अग्नि पश्चिमा अग्नि है, आन्तरिरूप अग्नि वृषा अग्नि है, पार्थिव अग्नि तीसरा अग्नि है पुरुषाग्नि चौथा अग्नि है योषित् पाँचवाँ अग्नि है । पार्थिव अग्नि घनाग्नि है, आन्तरिरूप अग्नि तरमाग्नि है यही गन्ध है । 'वायु र्भ हृष्टा इगे' इस इष्टिनिषास्त्र के अनुसार पर्जन्य नाम से प्रसिद्ध आन्तरिरूप तरमवायु ही इष्टि का अविष्टाता है । दिव्य अग्नि विरसावस्था-पन्न है, यही आदिस्वामि है । अक्षिरात्रयी ही अग्नि-वायु-आदित्य है । यही पृथिवी-पर्जन्य-ध्रु हैं । पुरुषाग्नि में इन तीनों अग्नियों का समुच्चय है । अक्षिरात्र के संयोग से गन्ध तापप्रभा अग्नि उत्पन्न हो जाता है, यही वैश्वानर नाम से प्रसिद्ध है । पुरुष साक्षात् वैश्वानर अग्नि की प्रतिष्ठा है । यह चारों अग्नि (ध्रु-पर्जन्य-पृथिवी-पुरुषरूप आदित्य-वम-अग्निमय-वैश्वानर) स स्वाग्नि हैं । पाँचवाँ योषित् अग्नि स्मृतरूप है । स्मृतु का लक्षण इसी अतत्त्व से उत्पन्न होता है । इसी अत्ताग्नि से की का आत्मा बनता है । की अत्ताग्निमयी है । सभी समयों में इससे अत्ताग्नि का आभिमान नहीं होता, अग्नि तु अतृप्तस में ही अत्ताग्नि का निवृत्त होता है । स्मृतुपत्ती की के अत्ताग्नि में जब सीमावृत्ति होती है तभी प्रवर्णपति होती है ।

१-सु—	दिव्यविरसाभिः—	→	आदित्यः	}—अक्षिराप्रयी	}—सत्पाणि
२-पर्जन्य—	मान्तरिक्षयतरसाभि—	→	वायु		
३-पृथिवी—	पार्थिवधनाभिः—	→	अग्निः		
४-पुरुषः—	अग्निप्रयसयोगजन्मा—	→	वैश्वानर	}]—मृताग्नि
५-योपितृ—	अध्वरुकांते व्यासो मृताभि—	→	मृताभिः		



इसी प्रकार अद्वातल सोम की विरभावस्था है, सोम तरसावस्था है, वर्षा (पानी) घना बस्या है। तीनों की समष्टि 'मृगु' है। इन तीनों के समन्वय से ब्रह्म का विकास होता है, अन्न ही आगे जाकर रेतोरूप में परिणत होता है। उक्त पाँचों अग्निषों में क्रमशः इन पाँचों सोमों की आहुति होती है। पाँचवीं आहुति में पुरुष उत्पन्न होता है। प्राणदेवता पद्म के सवासक हैं, आहुति देने वाले हैं। दिव्याग्नि में अद्वा सोम की आहुति होती है। चान्द्रस का नाम ही अद्वा है। यह रस आपोमय है, चन्द्रमा स्वयं पानीपिण्ड है, अद्वा का पिण्ड है। प्रायेक पानी में यह चान्द्रस प्रतिष्ठित रहता है, इसी रसमाग के लिए 'यो यः शिष्यतमो रस' यह कहा जाता है। अग्निष इसी आचार पर—'आपो वै श्रद्धां सनमन्ते' "श्रद्धा वा मेध्या-या आपः" इत्यादि श्रुतिवचन प्रसिद्ध हैं। यही चान्द्रमन्दारस दिव्याग्नि में आहुत होकर सोमरूप में परिणत हो जाता है। श्रद्धा पहिली अवरणा है, सोम दूसरी अवरणा है। इस सोम की पञ्चम्याग्नि में आहुति होती है। इस आहुति से वृष्टिरूप 'स्थूल पानी' उत्पन्न होता है। यह स्थूलपानी उस अद्वा नाम के सूक्ष्मगानी की तीसरी अवरणा है। इस गानी की तीसरे पार्थिव्याग्नि में आहुति होती है। इस आहुति से 'अन्न' उत्पन्न होता है। यह चौथी अवरणा है। व्याप्याग्नि प्राणदेवताओं द्वारा (इन्द्रियो दाय) इस अन्न की पुरुषाग्नि (वैश्वानराग्नि) में आहुति होती है। शरीरपि में आहुत अन्नसोम रस-मस के क्रमिक विसरकतल से क्रमशः रस-अग्रक-मोम-मेद-मस्थि-मज्जा रूप में परिणत होता हुआ सर्वांग में रतोरूप में परिणत होता है। यह रेत अन्तर्गति उस अद्वासोम की पाँचवीं अवरणा है। अन्तर्गत में तृती के अन्ताग्नि में (अध्वरु में) रस रेत सोम

की आहुति होती है। इसी से पुरुषोत्तमि होती है। इस प्रकार वह अन्नारूप अर्थात् अन्न-सोम-अपा-अन्न-रेसोरूप में परिणत होता हुआ पाँचवीं आहुति में पुरुषरूप में परिणत हो जाता है, जिसका निम्न स्थिति उपनिषद्बचन से स्पष्ट है—

“इति तु पञ्चम्यामाहुताराप पुरुषवत्सो भवन्ति”

(ऋ० उ० ३।११)।

यह स्पष्ट है कि वह अन्नारूप आग्नेयसोम ही परम्परा पुरुष की प्रथमसंभूति का कारण बनता है। पुरुष अन्तर्मात्र का उपबन्ध है। ऐसी प्रसिद्धि में जिनमें भी पदार्थ हैं, सब की सम्भूति का कारण अन्तर्मात्र ही है। त्रैलोक्यम्पापक स्वयं साक्षि देवसप्त (साक्षिपुत्र) भी वक्षस्त्रायक अन्तर्मात्र से ही सम्भूत है। इतर सारे जड़ चेतन पदार्थ भी इसी से उत्पन्न हुए हैं। सूर्य ऊरुपय प्रजापति है, अन्तर्मात्र दक्षप्रजापति है, अन्तर्मात्र जिस जड़ पर पृथिवी की परिक्रमा चलता है वह एक दक्षप्रजापति नाम से प्रसिद्ध है। यह दक्ष आग्नेयसोम से जन्मा रहता है। दक्षप्रजापति इस आग्नेयसोम के सूर्यसम्बन्ध से १२ निमग्न होता है। १२ मास ही १२ निमग्न हैं। आग्नेयसोमवर्षिक १० रात्रिरूप स्तम्भ का एक एक प्रवेश एक एक मास है। एक सप्तरात्रिक में ऐसे १२ मास हैं। इन १२ दाक्षायिणियों के साथ सौर-कल्पप्रजापति का मोग होता है। दिति के साथ मोग होने से दैत्य, अदिति से आदिश, कसू से सर्प, विनता से गरुड़, आदि प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। ससार की सारी प्रजाएँ कल्प प्रजापति द्वारा इन्हीं १२ दाक्षायिणियों से उत्पन्न हुई हैं। यम-अरिष्टनेमि-गिर-कृशान्ना-सर्व अन्तर्मात्र-ऊरुपय आदि मेद से वह सोम-वत्तक ६० मागों में विभक्त होता है। दक्षप्रजापति की इन ६० कल्पार्थों से ही सृष्टि का संचालन होता है। इन्हीं सब कार्यों से हम सोममय अन्तर्मात्र को अन्तर्य ही ‘संभूति’ का कारण मानने के लिए तत्पार हैं।

प्रत्येक कल्प अपने अपने निश्चित समय पर उत्पन्न होती है। यह निश्चित समय ही बोधमाया

में 'मोसम' नाम से प्रसिद्ध है। मोसम ऋतु है। ऋतुकाल में ही वस्तु की उत्पत्ति होती है। ऋतुसमष्टि सेव्यतर है। इस सत्त्वसर का स्वरूप ऋतुसोम की भाविति से ही सपन होता है। चान्द्रेते ही ऋतुकूप सत्त्वसर का अभिधत्ता है। सत्त्वसर के १२ विभाग चन्द्रमा के सम्बन्ध से ही 'मास' नाम से प्रसिद्ध हैं। चन्द्रमा नक्षत्र सम्बन्ध से बदसता रहता है। इस परिणाम-मास से ही चन्द्रमा 'मास' (मसि परिणामे) नाम से प्रसिद्ध है। मास का (चन्द्रमा) जो योग काय है, वही (मास-अय-मास) के अनुसार 'मास' (महिमा) नाम से प्रसिद्ध है। इस दृष्टि से भी चन्द्रमा को ही सम्भूति का कारण मानना पड़ता है। इसी प्रकार विनाश का अभिधत्ता भी यही चन्द्रमा है। जैसी स्थिति अक्षरोहक्रम में है, वैसी ही स्थिति आरोहक्रम में है। अक्षरोह सम्भूति है, आरोह विनाश है। "तदन्तर प्रतिपत्तौ रंहति सपरिप्लवक्तः प्रवृत्तिरूपणाम्याम्" "अपारमकृत्वाणु मूपस्वात्" "मातृगतेष्व" (शा.सू. १५. १-२ १५) इत्यादि सूत्रों से आरोह-अक्षरोह क्रम का ही निरूपण किया गया है। जिस क्रम से प्रत्येक न्यूनरूपा सम्भूति हुई थी, उसी क्रम से प्रत्येकविमोकरूप विनाश होता है। दोनों का अभिधत्ता चन्द्रमा ही है। चन्द्रमा के द्वारा ऋतुकूप से होने वाली इसी सम्भूति एवं विनाश का स्वरूप कदाचित् हुए महर्षि कौपीतिक कहते हैं—

'स होवाच—ये धे केषास्मान्लोकाद् भवन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति । तेषां प्राणि पूवपक्ष आप्यापते, तानपरपक्षे न भवन्त्यति । + + + + । न यत् प्रसाद तपतिष्ठजेते, अथ य एनं न प्रसाद, तमिह लटिमुत्था वपति । स इह कीगे वा, पतङ्गो वा, शकुनिवा, शार्ङ्गो वा, सिंहो वा, मत्स्यो वा, परन्था वा, पुरुषो वा, अम्भो वा—एतेषु स्थानेषु प्रसादादते यथा कर्म, यथा विषयम् । तमागतं पृच्छति—कोऽसि ? इति । तं प्रतिवृत्त्या—विचक्षणापरत यो रेत आमृत, पञ्चदशात् ममृतात् पिप्पलवत्समा पुंसि कर्त्तव्येयम् । पुमा कृत्वा मातरि निषिष स जाय उपमायमानो, द्वादशवयोदय उपयासो, द्वादशवयोदयेन पित्राऽऽसतद्विदे, प्रतितद्विदेऽहं, तन्म अतरो अपत्यं प्रामर

ध्वम् । तेन सत्तेन तेन तपसा—अतुरस्मि, आर्षवोऽस्मि, कोऽस्मि स्वमस्मीभिः, समवि सृजने । + + + + । त जन्मा वृत्ति-कोऽसीति । तं प्रतिश्रूयात्—अतुरस्मि, आर्षवोऽस्मि । आकाशाद्योनेः समूहो, मार्षार्यं रेत संवत्सरस्य तेनो-भूतस्य भूतस्य भूतस्याऽऽत्मा स्वमत्मासि । यस्तनयसि—सोऽमस्मि—इति” ।

(कौ० उ० १ अ० ६ ख०) ।

चन्द्रमा ही निखलण है । यही पूर्वग्रहसिद्ध क्रमावुसार अतु द्राष्ट रेत कमकर सब की सम्पत्ति का कारण बनता हुआ सबरूप में परिणत होता है । इसी विज्ञान के आधार पर निम्न छिन्नि धोत्र बचन हमारे सामने आते हैं—

१—“मसौ पं सामो राजा विखलणचन्द्रमा” (कौ० उ० ७।७।१।०) ।

२—“चन्द्रमा पं सायते पुनः” (तै० ब्रा० १।३।५।४) ।

३—“एष पं (चन्द्रमा) रेतः” (शत० ६।१।१२) ।

४—“चन्द्रमा एव सर्वम्” (गो० ब्रा० पू० ५।१।५) ।

जो चन्द्रमा सम्पत्ति का कारण है, पूर्वग्रहानुसार वही विभाग का भी अभिप्राय है । सोम शिवतन्त्र है । जब तक यह अग्नि में आहुत होता रहता है, तभी तक सम्पत्तिरूप शिवपात्र है, तभी तक यज्ञ है । यम बाध के अन्तर्ही सोमसंयम टूट जाती है, यज्ञ बंद होजाता है । बसप्रतिपद टूट जाती है, रस से बस (मन्त्रिसम्बन्ध की अनेका से) दूषण लेकर असद्वृत्त में परिणत हो जाता है । इसी का नाम विभाग है । जिस रूप से ईश्वर के अग्निमन्त्र है । यही कारण है कि सम्पत्ति में आता है, बाद यह पात्रात्मा हो अपना सामग्री के लिए दो माग निम्न होत अग्रा अन्तर्मा में पात्र बर उत्तरमाग में पात्र में बाहर दण्डिपार्श्व में आता है

मधुमाग सूर्य का रस है। चोपा रस चान्द्रसोम है। इसका दिव्यरस में ही अन्तर्भाव है। मधु और रेत का मिलित सम्बन्ध है। अन्न में जो एक स्वादविशेष (जापका) होता है, वह यही सोमरस है। विज्ञानभाषा में यही दिव्यरस अमृत नाम से प्रसिद्ध है। कहीं कहीं इसे चोपे सोक का रस भी माना जाता है। पृथिवी-अन्तरिक्ष-घौ-दिक्-यह चार सोक हैं। इन चारों सोकों के कारण अग्नि-वायु-आदित्य-चन्द्रमा यह चार देवता अभिष्ठाता हैं। अन्न में अग्नि से दधि (घन) रस आता है। वायु से घृत (तरल) रस आता है। आदित्य से मधु (विरल) रस आता है। एव चन्द्रमा से अमृतरस आता है। उक्त अन्न में जो पार्थिव दधिमाग (घनमाग) है, वह रस अष्टक मांस मेद, अस्त्रि, मज्जा, शुक्र इम सात भागों में विभक्त है। शुक्र पक्वत पार्थिवरस है। पार्थिव भाग के हट जाने से केवल आन्तरिक्ष वायु, एव दिव्य सौर आन्तररस रह जाते हैं। इन रसों की समष्टि ही 'ओज' है। ओज वायुप्रधान वायव्य प्रातु है। आगे जाकर आन्तरिक्ष रस भी हट जाता है। इसी मधुमय विद्युद सोमरस का नाम 'मन' है। इस प्रकार जोकरसों के कारण से एक ही अन्तःसरस शुक्र-ओज-मन इन तीन रूपों में परिणत हो जाता है। पार्थिव सप्तधातुरूप शुक्र वाकतत्व है, आन्तरिक्ष वायुमय ओज माण्डतत्व है, दिव्य आदित्यमय आन्तररस मनस्तत्व है। मन-मांस-बाह्य की समष्टि ही 'इम' (आत्मा) है।

- १-पार्थिवमनरस — पृथिवी — अग्नि — इधि] सप्तधातवः शुक्रम शक्र
 २-आन्तरिक्षतरसरस (अन्तरिक्ष-वायुः — शुक्र] ओजः — प्राणः
 ३-दिव्यदिव्यरसः — घौः — आदित्यः मधु
 ४-दिव्यामृतरसः — अत्रि — चन्द्रमाः — अमृतम् } मनः — मनः

आत्मा

शुक्र भी आन्त्र है, मन भी आन्त्र है। शुक्रावृत्ति से इम उत्पन्न होते हैं। इस शुक्र में सजातीय आकर्षण सिद्धान्त के अनुसार आन्तररस भाषा करता है, साथ ही में अन्तःसार भी

चान्द्रस आया करता है। जो चान्द्रस सतत्त्वरूप से शुक्र में आता है वह—‘सहासि’ नाम से प्रसिद्ध है। मन्त्र सम्बन्ध से शुक्रप्रतिष्ठ चान्द्र सहोमाग २८ भागों में विभक्त हो जाते हैं। यही आध्यात्मिक सतानप्रवर्धक पितर हैं। इन का मन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। एवं अन्तरा जो चान्द्रस हमारे में आता है, यही पूर्वोक्त मिश्रकस्तन प्रक्रिया के अनुसार ‘मन’ बनता है—‘अक्षमये हि सौम्य मनः’। ‘पोदशकनो मे चन्द्रमाः’ (पर्विश भा० ४।६।) के अनुसार चन्द्रमा पोदशकस है। एक एक चाग्र सक्तर में एक एक मन कटा का निकलता होता है। इस क्रम से मन की सर्वात्मकता में आयु के १६ वष लग जाते हैं। मन सिता १६ वष में सत्य होती है। यही चाग्रसोम का दूसरा भोग है। हमारा मन साक्षात् आध्यात्मिक चन्द्रमा है, यह अम द्वारा सपन हुआ है, अन्तरा ही आध्यात्मसंस्था में स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। मन का उपादान चन्द्रमा है, हमारा मन चन्द्रमा में प्रतिष्ठित है, इसी अभिप्राय से युति कहती है—

१—“तद्यत्तन्मनश्चन्द्रमाः सा” (जे० उ० १।७८६)।

२—“मनश्चन्द्रमाः” (जे० उ० १।२।६)।

३—“चन्द्रमा मे मनसि त्रिवः” (ते० भा० ३।१०।८६)।

४—“मन्मन एष स चन्द्रमाः” (यत० १०।१।३।७)।

चन्द्रमा से (अन्तरा) उत्पन्न मन में स्नेहत्वप्रधान वही अन्तरस प्रतिष्ठित है। इसी वशात्कन स्नेह के कारण हमारा मन विषयों में आसक्त होना हुआ उनके साथ बद्ध हो जाता है, जसा कि पूर्व के विज्ञानाभाषिकरण में विस्तार से बताया जा चुका है। वही विषयसंस्कार पुन्त्र ‘वासना’ है। यही वासनापुन्त्र हमें आगे जन्म लेने के लिए बाध्य करता है। जब तक संस्काररूप परिधिपशुक्र मन पर प्रतिष्ठित रहता है, तब तक प्राणी अक्षर्य ही पुन-सम्मृति के चक्र में फसा रहता है। कामनामय परिधावर्धित मन ही आगे के जन्मों के लिए शुक्र (उपादानकारण) बनता है, अतएव पूर्व के महात्मापिकरण में काम-परिधा को शुक्र बताया गया है। प्रणिमिमोक विनाश है, प्रणिमेषन सम्मृति है। आत्मा के प्रणिमेषन

कत्र कारण (वासनामय) मन ही है, एवं बंधनमुक्ति का कारण भी (वासनाशून्य) मन ही है । पुनः सम्भूति एवं विनाश दोनों का कारण यही मन है । जैसा कि अभिवृत्त कहते हैं—

न ददो न च नीचात्मा नन्विषासि परंतप ।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धनमोक्षयो ॥

शुद्ध हमारा आत्मिक रेत (उपादान) नहीं है, अविद्ध सम्भूति का प्रथम रेत तो काम-मय हमारा मन ही है । यही पुनः सम्भूति का कारण है । इसी अभिप्राय से उपनिष-कृति कहती है—

“मनो मे, रेतो मे, प्रजा मे, पुनः सम्भूतिर्ये तन्मे त्वयि (चन्द्रमसि)” ।

(जै० उ० १२७।१४) ।

हमारा चन्द्रमा आध्यात्मिकसत्त्वा की सम्भूति — विनाश का कारण है, उपर आकाश विहारी ईश्वर का मन आधिभौतिक सत्त्वा की सम्भूति—विनाश का कारण है । पूर्व में चन्द्रमा शब्द को सोमवारक मानते हुए हमने सोमदृष्टया चन्द्रमा को सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति का कारण बताया था, आन हम प्रत्यक्ष यह इसी चन्द्रमा को सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति का कारण कह सकते हैं । हिरण्यकाम विषा के अनुसार विश्वब्रह्मस्य सृज ही विश्व का प्रभव—प्रतिष्ठ—परायण है । सूर्य से ऊपर के सप्तर्षि-पञ्चेष्टी दोनों अमृतलोक सूर्य के अमृतभाग से प्रतिष्ठित हैं, एवं सूर्य से नीचे के कर्मलोक सूर्य के मध्यभाग से स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं । इस प्रकार सूर्य ही मूलकविषय का मूलकमम (स्वप्न) बन रहा है । इस सूर्य को जीवित रखने वाला है, यही प्रत्यक्ष यह चन्द्रमा । सूर्य सारिर्मयों से पार्थिव रसों का गिरल्लर आदान करता रहता है । इसी आदान से सप्तप्रजापति का निमित्त माग पूरा होता रहता है । इस कमी को पूरा करना चान्द्रनाडी पर निर्भर है । यूपिषद् से सप्तम चान्द्रनाडी श्रात ही पार्थिव रस सूर्य में आश्रित होते रहते हैं । जब तक चन्द्रमा है, तब तक चान्द्रनाडी है जब तक चान्द्रनाडी है तभी तक सौरयज्ञस्थिति है, जब तक यह है तभी तक सूर्य जीवित है, जब तक सूर्य

जीवित है, तभी तक अमृतमृत्युमय विश्व की सम्भूति है । इस प्रकार परम्परया इस सम्भूति का ग्रह एकमात्र चन्द्रमा को ही है ।

अप्यात्मप्रगल्भो वेत्ति । हम उत्पन्न हुए हैं, चन्द्रमा से । हमारी पुनः सम्भूति होती है चन्द्रमा (मन) से । एक अपनी आधु के भोगकाष्ठ में हम जो कुछ सम्भूति (वैभव) प्राप्त करते हैं, वह भी इसी चन्द्रमा (मन) से । यदि मन नहीं हो तो हमारे विज्ञान(बुद्धि), महान्, प्रकृष्ट आदि कुछ नहीं कर सकते । मन पर ही विज्ञान प्रतिष्ठित है । मन भीष्ट प्राप्त है । इसी पर विज्ञानसूर्य प्रतिबिम्बित होता है । विज्ञानात्माधिकरण में बतसाईं गर्व प्रकिया के अनुसार विज्ञानसूर्य के दर्शपूर्णमास से ही महान् में त्रैगुण्यभाव का उदय होता है । त्रैगुण्य महान् ही विद्यात्मा की योनि है । यदि मन नहीं तो विज्ञान नहीं, विज्ञान नहीं तो त्रिगुणभाषणम महान् नहीं, महान् नहीं तो विद्यामास नहीं, विद्यामास नहीं तो कुछ नहीं । यह तो इई मन से उचर (आत्म्यन्तर) की स्मृति, अब वहिए इधर की ओर । 'स च देवो धुनक्ति' (केनोपनिषद्) के अनुसार सारी इन्द्रिये मन से युक्त होकर ही लक्षद्विपयभोग में सम्यक् होती हैं । विषयज्ञान में प्रज्ञाभाषा-प्राणभाषा-भूतभाषा यह त्रिपुटी रहती है । मन में सोम-चित्-मास यह तीन कक्षाएँ हैं । इन में चिदश से प्रज्ञाभाषा पर, सोमांश से भूतभाषा पर, एक मार्गांश से प्राणभाषा पर मन का अनुग्रह होता है । 'न हि प्रज्ञापेनाकाचन भी सिष्येय, नामासासिष्यम्, अन्यत्र मे मनोऽमुत्' (कौ० उ० ३ अ० ८ ख०) के अनुसार बिना मन के इन्द्रिय विषयभोग में एकान्तत असमर्थ हैं । बिना विषयभोग के शरीर नहीं, शरीर नहीं तो कुछ नहीं ।

इस चान्द्रमन को 'प्रज्ञान' नाम से व्यवहृत किया जाता है । हमारी अप्यात्मसत्त्वा में तीन प्रकार का मनोराग्य है । पञ्चकक्ष अभ्यय भाषा मन सर्वसम्बन्ध है । यह जड़-चेतन सब में समानरूप से विद्यमान है । इसी चिन्मन की अपेक्षा से भारतीय आर्यसाहित्य का सर्वम्पा एक चैतन्यवाद प्रतिष्ठित है । इस अभ्यय मन को 'श्रोवसीयसमन' 'श्रोवस्यसद्यस्' आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है । दूसरा है चान्द्रमन । 'नियतविषयत्वमिन्द्रियत्वम्' इन्द्रिय

कय यह सङ्गष्ट है । सभी इन्द्रिय अपने-अपने रूप-रस-गंधादि निष्ठ विषयों को ही मोहने में समर्थ हैं । यही इन्द्रियों का इन्द्रियत्व है । मोह ज्ञानसाधक है । अतएव ही सब इन्द्रियों के मूल में एक ऐसा ज्ञानयन्त्र स्थाना पड़ता है कि जिसकी ज्ञान शक्तियों को लेकर इन्द्रिय स्वस्वविषयमोह में समर्थ बनती हैं । उसी ज्ञानयन्त्र का नाम प्रधान मन है । यह सब इन्द्रियों का प्रभु है । बिना इस का सहाय लिए कोई भी इन्द्रिय अपना काम नहीं कर सकती । यदि यह सब इन्द्रियों में अनुस्यूत रहता है, अतएव हम इसे 'सर्वेन्द्रियमन' नाम से सम्बोधित कर सकते हैं । इस का विषय निष्ठ नहीं है, यह सब में है, अतएव निष्ठविषय सङ्गष्ट ही द्रव मध्यमा से रूपरू रहता हुआ यही 'अनिन्द्रियमन' नाम से भी प्रसिद्ध है । इस का सोम भाग विद्युत् से युक्त रहता है अतएव इसे 'प्रज्ञानमन' कहना भी व्याख्यात होता है । एक, तीसरा मन और है । उसका काम है—अपने बुरे का अनुभव करना । मनुकूल वेदना, मति, कुल वेदना इस का निष्ठ विषय है, अतएव यह तीसरा मन इन्द्रियक्षेत्र में प्रविष्ट होता हुआ 'इन्द्रियमन' नाम से प्रसिद्ध है । इसी के लिए 'मना पष्ठानीन्द्रियाणि' (अपने) यह कहा जाता है । अतः इन सब विषयों का विशद निरूपण प्रधान निरूपणात्मिका भागे की केनोपनिषत् में होमें बाधा है । अतः इस विषय को अधिक विस्तृत न कर केवल यही कहना चाहते हैं कि प्राणोन्म-प्रज्ञा-सोम की समष्टिरूप यह सर्वेन्द्रिय, अतएव अनिन्द्रिय, प्रधानब्रह्म नाम से प्रसिद्ध अमनस मन ही अक्षय-महत्-विज्ञान-शरीर-इन्द्रिय-शरीरद्वयता-मूल-शरीरसौक्य आदि सब की सम्भूति का कारण है । प्रधानब्रह्म की इसी सर्व्या का निरूपण करते हुए गार्गी देवरेय कहते हैं—

कोऽयमास्मेति वयमुपास्महे, क्वरं स आत्मा ! इति । येन वा पश्यति, यन वा शृणोति, येन वा गन्धानामिन्द्रियाणि, येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वादु वा स्वादु च विमानाति, यत्रैतत्-हृदय, मनश्च (इन्द्रियमनश्च), एतत् स ज्ञानसाधनं विज्ञानं प्रधानं, मेवा इष्टि र्भूति, मति, र्मनीषा, जूतिः, सकल्पः । क्रयः, रसः, कामो, कण इति । सर्वाप्येवैतानि प्रधानस्य नामधेयानि । ब्रह्मि ।

एष ब्रह्म, एष इन्द्र, एष प्रमापति, रेते सर्वे देवा, इमानि च पञ्चमहाभूतानि
शुक्ली-वायु-राकाश-आपो-ज्योतीर्पीत्यतानि, इमानि च सुप्तमिन्द्राणीव भी
जानीतराणि, चेतराणि चायदजानि च, जाह्नजानि च श्वेदजानि च, चद्रमि
जानि च, अन्धा, गामः, पुरुषा, इस्तिनो, यदकिंचेद् प्राणि मङ्गमच पतभि च,
यस न्यावरं, तत् प्रज्ञानेत्र, प्रज्ञाने मनिष्ठितम् । प्रज्ञानेभो सोकः । प्रज्ञा
प्रदिष्टा । स एतेन प्राज्ञेनात्मनाऽऽस्मारसोकाद्भुवक्रम्य अमुष्मिन्स्वर्गे सोके
सर्वान् क्षयमानाञ्चाश्मृत समभवत्, समभवत् ॥

(ऐतरेय ब्राह्मणक २ । ४ । १) ।

सम्पत्ति-एव विनाश का क्या स्वरूप है ! अविदेष्ट, एव अप्रप्यत्न में बादमा और सब
ही सम्पत्ति-विनाश के अविश्रुता कैसे हैं ! इत्यादि बहिरंग प्रश्नों का समाधान होसुक्त । अब
मूलग्रन्थ की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

उपनिषद् में प्रकृत अधिकरण के तीन मन्त्रों का 'अन्य तमः प्रविशन्ति' 'अन्यदेवाहुः
सम्भवाव' 'सम्पत्तिं च विनाश च' यह क्रम उपसम्भ होता है, परन्तु विज्ञानरूपि से पूर्व के
विज्ञानात्म्याधिकरण की तरह यहाँ भी 'अन्यदेवाहुः सम्भवाव' 'अन्य तमः प्रविशन्ति'
'सम्पत्तिं च विनाश च' यही क्रम समझना चाहिए । 'अन्यदेवाहुः' यह प्रथम मन्त्र प्रज्ञा-
नात्मा का स्वरूप बतसाता है, 'अन्य तमः प्रविशन्ति' यह मन्त्र प्रतिपादित आत्मस्वरूप से
विरुद्ध जाने भासों की अशोभति बतसाता है, एव 'सम्पत्तिं च विनाश च' इत्यादि मन्त्र प्रति
पादित आत्मस्वरूप का स्पष्टीकरण करता है । इस क्रम को प्रथम मन्त्रे हुए, सम्पत्ति-विना-
शात्मक प्रज्ञानात्म्य का निरूपण करते हुए निम्नलिखित प्रथम मन्त्र हमारे सामने आता है—

अन्यदेवाहु सम्भवादन्यदेवाहुससम्भवात् ।

इति श्रुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१॥

(ई ७० (१५०)) ।

यह सङ्गण है। सभी इन्द्रिय आगने आगने रूप-रस-गंधादि निष्कलियणों को ही मोहने में समर्थ हैं। यही इन्द्रियों का इन्द्रियत्व है। मोह ज्ञानसाधक है। आकरय ही सब इन्द्रियों के मूल में एक ऐसा ज्ञानयन्त्र मानना पड़ता है कि जिसकी ज्ञान शक्तियों को लेकर इन्द्रिय अस्त्वित्पयभोग में समर्थ बनती हैं। उही ज्ञानयन्त्र का नाम प्रधान मन है। यह सब इन्द्रियों का प्रभु है। बिना इस का सहाय लिए कोई भी इन्द्रिय अपना काम नहीं कर सकती। बूझिए यह सब इन्द्रियों में अनुत्प्लुत रहता है, अतएव हम इसे 'सर्वेन्द्रियमन' नाम से व्यवहार कर सकते हैं। इस का विषय निष्कल नहीं है, यह सब में है, अतएव निष्कलविषय सङ्गण इन्द्रिय मय्याश से पृथक् रहता हुआ यही 'अनिन्द्रियमन' नाम से भी प्रसिद्ध है। इसका सोम, मय्य विराट से युक्त रहता है। अतएव इसे 'प्रधानमन' कहना भी म्याप्यपात होता है। एक तीसरा मन और है। उसका काम है—अपने घुरे का अनुभव करना। अनुकूल वेदना, प्रति कुल वेदना इस का निष्कल विषय है, अतएव यह तीसरा मन इन्द्रियकोटि में प्रसिद्ध होता हुआ 'इन्द्रियमन' नाम से प्रसिद्ध है। इसी के लिए 'मना पष्ठानीन्द्रियाणि' (अथर्व) यह कहा जाता है। अतः इन सब विषयों का विशद निरूपण प्रधान निरूपणशक्ति का आगे की केनोपनिषत् में होने का है। अतः इस विषय को अधिक विस्तृत न कर केवल यही कहना चाहते हैं कि प्रायेन्द्र-प्रज्ञा-सोम की समष्टिरूप यह सर्वेन्द्रिय अतएव अनिन्द्रिय, प्रधानमन नाम से प्रसिद्ध अक्षय्य मन ही अक्षय्य-महत्-विज्ञान-शरीर-इन्द्रिय-शरीरद्वयता-मूल-शरीरसाक आदि सब की सम्प्रति का कारण है। प्रधानमन की इसी सर्वता का निरूपण करते हुए स्वर्णि ऐतरेय कहते हैं—

कोऽयमात्मेति वयमुपासाहे, कतरं स आत्मा ? इति । येन वा पश्यति यन वा शृणोति, येन वा गन्थानाभिप्राति येन वा वार्ध व्याकरोति, येन वा स्वापु वा स्वातु वा विमानाति, ववैतद-इदं, मनश्च (इन्द्रियमनश्च), एतत् स ज्ञानमाप्तानं विज्ञानं, प्रधानं, मेधा, दृष्टि र्भूति, मति, र्मनीषा, जूतिः, सकल्पः श्रुतु, रसुः कामो, वश इति । सर्वाधयेवैतानि प्रधानस्य नामधेयानि भवन्ति ।

एष ब्रह्म, एष इन्द्र, एष महापति, रेतो सर्वे देवा, इमानि च पञ्चमहाभूतानि
 श्रुतिर्वा-वायु-राकाश-आपो-भ्योर्वापीत्यतानि, इमानि च तृणमिच्छापीव भी
 जानीतराणि, चेताराणि चारुजानि च, मातृजानि च खेदजानि च, सृष्टि-
 जानि च, अन्धा, गन्धा, पुरुषा, इस्तिनो, यवर्कित्वेष्ट माणि मङ्गमच पतमि च,
 यव न्यावरं, तव प्रज्ञानेन, प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम् । प्रज्ञानेनोक्तः । प्रज्ञा
 प्रतिष्ठा । स एतेन प्राप्तेनात्मनाऽऽत्मावतोक्तादुक्तस्य भ्रमुष्यन्स्वर्गं लोके
 सर्वाव कामानाप्त्वाऽप्यतः समभवत्, समभवत्” ॥

(ऐतरेय ब्राह्मणक २।६।१) ।

सम्प्रति-एव विनाश का रूप है । अविदेवत्, एव अप्यात्म में च प्रमा और मत्
 की सम्प्रति-विनाश के अविच्छेदा कैसे हैं । इत्यादि अहिरण्य प्ररनों का समाधान होचुका । अतः
 सूत्रमन्त्र की ओर पाठक्रम का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

उपनिषद् में प्रकृत अहिरण्य के तीन मन्त्रों का ‘अन्यं तमः प्रविशन्ति’ ‘अन्यदेवाहुः
 सम्मवात्’ ‘सम्प्रति च विनाश च’ यह क्रम उपसम्भ होता है, परन्तु विज्ञानरसि से पूर्व के
 विज्ञानात्मापिकरण की तरह यहाँ भी ‘अन्यदेवाहुः सम्मवात्’ अन्य तमः प्रविशन्ति’
 ‘सम्प्रति च विनाश च’ यही क्रम समझना चाहिए । ‘अन्यदेवाहुः’ यह प्रथम मन्त्र प्रज्ञा-
 नात्मा का स्वरूप बतलाना है, ‘अन्य तमः प्रविशन्ति’ यह मन्त्र प्रतिपादित आत्मस्वरूप से
 विद्वद् जानें चाहें की मजोमसी बतलाता है, एव ‘सम्प्रति च विनाश च’ इत्यादि मन्त्र प्रति
 पादित आत्मस्वरूप पर स्पष्टीकरण करता है । इस क्रम को प्रधान मन्त्रों हुए, सम्प्रति-विना-
 शात्मक प्रज्ञानात्मा का निरूपण करते हुए निम्नलिखित प्रथम मन्त्र हमारे सामने आता है—

अन्यदेवाहु सम्मवादन्यदेवाहुससम्भवात् ।
 इति श्रुत्वा धीराणां ये नस्तद्विचचिरे ॥१॥

(ई० उ० १२ य०) ।

“विद्वान् भोग उत (प्रधानात्मकत्व) को सम्पन्न स भी पृथक् कहते हैं, असम्पन्न से भी पृथक् कहते हैं। मिन वैज्ञानिकों ने हमारे लिए आत्मस्वरूप बतसाया है, उन भीर विद्वानों के द्वारा हम यही सुनते आए हैं—(कि वह आत्मतत्त्व सम्पत्ति और असम्पत्ति दोनों से पृथक् है” यह है मन्त्र का अर्थ। सम्पत्ति अस्तित्वतत्त्व है, असम्पत्ति नास्तित्वतत्त्व है। सत्कार से अनुगृहीत पदार्थ सम्पत्ति है, सत्कार से विपुक्त पदार्थ असम्पत्ति है। उत्पत्ति और विनाश दोनों भाव प्रसन्न हैं। यह उत्पत्तिकृपा सम्पत्ति विनाशरूपा असम्पत्ति आत्मा के धर्म नहीं हैं। प्रधानात्म में जो आत्म अंश (विश) है, न वह उत्पन्न होता, न उस का कभी विनाश होता। वरों की ही रसरूप आत्मा के अनुग्रह से सम्पत्ति होती है, रसपरिव्याघ्रवर्थात्म्या में वरों की ही असम्पत्ति होती है। सम्पत्ति—असम्पत्ति दोनों कल के धर्म हैं। यह इन दोनों का आत्मकन बनता हुआ दोनों से पृथक् है। सम्पत्ति और असम्पत्ति जिसके आधार पर होती है, उसे आत्म (प्रधानात्म) समझना चाहिए।

अपि न रस—वस्तुसमष्टिरूप यह आत्मा न केवल सम्पत्ति का अधिष्ठाता है, न केवल असम्पत्ति का अधिष्ठाता है। अधिष्ठ दोनों उसी के विवर्त हैं। यह असम्पत्तिकरूप है इसलिए तो उसे सम्पत्ति नहीं कहा जासकता। सम्पत्तिकरूप है, अतः उसे असम्पत्ति भी नहीं कहा जा सकता। सम्पत्ति एवं असम्पत्ति का परस्पर में विरोध है, अतः उसे उभयात्मक भी नहीं कहा जासकता। ऐसी स्थिति में यदि उसके सम्पन्न में कुछ कहा जासकता है तो यही कि वह सम्पत्ति—असम्पत्ति दोनों से पृथक् है।

अपि न आत्मा का रसमाग सम्पत्ति का अधिष्ठाता है, वसमाग असम्पत्ति का अधिष्ठाता है। वह न शुद्ध रसरूप है न शुद्ध वस्तुरूप ही है। उस का स्वरूप दोनों से निवृत्त है। अथात् दोनों की समष्टि आत्मा है। ‘सतो बभ्रुमसति निरवमिदन्’ ‘अन्तरं मृसोरमृतं मृसानमृतमाहितम्’ अपरं चैव मृसुम् सदसबाहममुन’ ‘नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्’ इत्यादि श्रौत-स्मार्त ऋषियों के अनुसार लोकद्वय समस्त एक असम्पन्न दोनों से अन्वित होता हुआ वह दोनों की समष्टि ही है। ऐसी भावना में—

अन्ध तम प्रविशन्ति येऽसम्प्रतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्प्रत्यूहा रता ॥३॥

(ई० उ० १२ म) ।

जो व्यक्ति केवल असेमिति की उपासना करते हैं, वह घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं, एवं इनसे भी अधिक वे मनुष्य अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं, जो केवल सम्प्रति में ही रत हैं । अर्थात् जो चार्वाकानि केवल क्षणिक वस्तु की ही प्रधान मानते हुए संसार को शून्य शून्य समझते हैं, व तो शून्यरूप अन्धकार में हैं ही, परन्तु आस्तिक बनने का गर्व करने वाले जो महानुभाव क्षणिक वस्तु का निरादर कर केवल सांसारिक अस्तित्वरूप विषयों में ही आसक्त रहते हैं । जो यह नहीं समझते कि जिन की हमने सम्प्रति समझ रखी है, कालांतर में उन सब का नाश होने वाला है, ऐसे आसक्त पुरुष और भी अधिक आवरण में हैं ।

अभिष समिच्छीभावे' के अनुसार सम् का अर्थ है दो वस्तुओं का एकीभाव । प्रकृत में वे दो तत्त्व सुखविन रस-यस ही हैं । रस से सचा, बिना सत्त्वत्व अभिप्रेत है, वस्तु से असत्त्वत्व अभिप्रेत है । इस असत्त्व वस्तु में जो सत्त्व रस का सम्बन्ध है, वही वस्तु की सम्प्रति है, जिसका पूर्व में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है । सत्त्वरस स्वस्वरूप से सर्वथा एक है । असत्त्ववत्-‘पृथ्वी स सत्पुमानोति य इह जानेष परमति’ के अनुसार नामा है । जब तक यह वस्तु सत्त्वरूप एकरस से प्रयुक्त रहता है, तब तक एकीभाव से शून्य रहता हुआ यह नामामाश्रय है । यही रस से अनुमतीत होकर एकीभाव को प्राप्त होता हुआ सम्प्रति-रूप में परिणत हो जाता है । यस-‘रसवत्सर्पोः-सदसतो-एकीभाव’ ही सम्प्रति है । सम्प्रति सत्त्वरस से, शुद्ध वस्तु असम्प्रति है । वस्तु आवरण स्वरूप होने से तम है । ऐसी अवस्था में जो असम्प्रतिरूप केवल इस वस्तु मात्र की ही उपासना करते हैं, व सधनुष आवरणरूप अन्धतम में प्रविष्ट रहते हैं । वस्तु असत्त्व (नास्ति) भाव है, नास्ति शून्यभाव है, शून्यभाव अन्धकार है । ‘प्रममेव स मयति असत्त्व प्रप्तेति वेद सत्त्व’ के अनुसार केवल असत्त्व के

उपासक स्वयं बसत वन जाते हैं। परन्तु वे और भी अधिक गहरे अन्तर में हैं, जो कि केवल स्वरूप सम्पत्ति की ही उपासना करते हैं। इस वस्तुस्थिति है। बिना वस के विशुद्ध (सत्य) —

आसीद्भिर्दत्तमोक्षममज्ञातमसत्त्वम् ।

अमृतवर्त्मनिर्देयं मनुसविष सर्वतः ॥

के अनुसार सत्ता अज्ञात-असत्त्व-अमृतवर्त्म-अनिर्देय-मनुसर्वतः है। जब तक वस का आग्रह नहीं किया जाता, तब तक सत्त्वस्वरूप से रह अनुपाय्यतम है। यह तम अज्ञात से भी गहरा है। वस सत्ता का स्वरूप है अतः इस की उपासना करने वाला, अमृतवर्त्म से साक्षात् संपर्क तो प्राप्त करलेगा है। परन्तु विशुद्ध स्वरूप सम्पत्ति का अनुपायी न रह कर रहता, न बचकर रहता। यही इस का सुधान्वय है। ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए? सुनिश्च—

सम्पत्तिं च विनाशं च यस्तदेवोभयं सह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्पत्त्यामृतमश्नुते ॥३॥

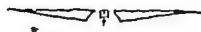
(ई० न० १४ म०) ।

जो भी विनाश सम्पत्ति और विनाश दोनों को एक विशुद्ध पर प्रतिष्ठित देखता है, वह विनाश से मृत्यु का तात्पर्य कर सम्पत्ति से अमृतत्व प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। मन्त्रार्थ के सम्बन्ध में विशय ब्रह्मण्य नहीं है। मृत्यु ही अमृतप्राप्ति की साधन है। अतः दोनों के समुचित रूप की ही उपासना करनी चाहिए। निष्कर्मभाव से शून्य अवस्था सत्ता की उपासना करते हुए अमृत पर छवि छिपे। यही आदेश है, यही उपदेश है, यही सत्य है यही प्राप्ति उपनिषद् है।

उपनिषद् का प्रधान सार भाग्य है। अतः एक प्रत्येक प्रकार के अन्तिम अर्थ अमृत तत्त्वसम्पत्ति आत्मा ही बन जाता है। आत्मस्वरूपपरिणाम के लिए आत्मसत्ति का स्वरूप

ज्ञानना भी आवश्यक होनाता है। अतएव अगत्या उपनिषद् को इस का भी स्वरूप फलसाना पड़ता है। यही कारण है कि उपनिषद् आत्मा—एक आत्मसृष्टि दोनों के किसी विशेषमाण का निरूपण न कर सामान्य शब्दों का उपयोग करती है। उपनिषद् ऐसे अक्षर बोधती है, जिस से आत्मा—एक आत्मसृष्टि दोनों का स्वरूप ग्राह्य होजाता है। अतएव प्रकृत के तीनों मन्त्रों से जहाँ रसबसात्मक आत्मा का परिज्ञान होता है, एवमेव सम्भूति—विनाशमयी अक्षरका आत्मसृष्टि का भी परिज्ञान होजाता है। म केवल अधिदेवतचरित्र का ही, किन्तु अप्यात्मद्विपति का भी उही अक्षरों से स्पष्टीकरण होजाता है। ईश्वरीय जगत् की अपेक्षा से प्रकृत मकरध्या से प्रज्ञासत्तात्वरूप असमय सम्भूति—विनाश के कारणभूत 'षष्ठमा' का स्वरूपज्ञान होता है। एवं अप्यात्मजगत् की अपेक्षा से मनुष्य की पुनःसम्भूति के अधिष्ठाता प्रज्ञानात्मा का स्वरूप परिषय होजाता है। साथ ही में दोनों विश्वों के आसम्बन्धभूत सदसदात्म सम्भूति—विनाशरूप अमृतमृत्युमय आत्मा का बोध होजाता है। इसी सारे प्रज्ञानबोध का प्रतिपादन करता हुआ प्रज्ञानात्माधिकरण समाप्त होता है।

इति प्रज्ञानात्माधिकरणम् ।



प्राकृततत्त्वविकरणो-
प्रज्ञानात्माधिकरण

समाप्तम्

४

— ४०५ —

पूराद

→ → →

पूरादिदम्

साक्षी-देवसत्यः → → →

प्राणवैभव मोक्ता देवसत्य

अधिदेवतम्

→ → →

अध्यात्मम्

देवसत्याक्षर —

ज्ञान-क्रिया-अर्थमयः-वैकृतात्मा साक्षी

प्राणात्मा

५

साक्षीदेवसत्य ← — ← ← अमृतात्मनाद ← — ← ← मोक्तादेवसत्य

[(प्राकृतात्माधिकरणे प्राणात्माधिकरणा पञ्चमम्)

यज्ञमात्रिकवेदावच्छिन्न - ज्ञान-क्रिया-अर्थमयात्मा

मृतात्मा

१- हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं सुखम् ।

तत्त्वम्पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

२- पूषन्नेकर्पे यमं सूर्यं प्राजापत्यं व्यूहं रश्मीन् ।

समूहं तेजो, यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ॥

योऽसावसौ पुरुष सोहमस्मि ॥

३- वायुरनिलममृतम्

।

॥

(ईशोपनिषद् ११-१६-१७ मन्त्र)



देवसत्यात्मस्वरूपानिदर्शन

- १- अग्निर्यैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिः ॥
- २- वायुमयैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिः ॥
- ३- सूर्यो यथा सर्वसोकस्य वक्षुर्न सिप्यते चाक्षुषैर्बाह्विदोयैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न सिप्यते सोकदुःखेन बाह्यः ॥
- ४- एको यथै सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं यदुपायः करोति ।
तमात्मत्वं येऽनुपरयन्ति पीरास्तेषां सुखं शारवतं नेतरेषाम् ॥
(कठोपनिषद् २ अ० ५ व० २-१०-११-१२ म०) ।
- ५- अहमुपायः पुरुषो मध्यं आत्मनि तिष्ठति ।
इयानो भूतमन्यस्य न ततो विभ्रुयुप्तते । एतद्वै तत् । (कठ० २-४-१२) ।
- ६- अहमुपायः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
तं स्वाश्वस्तीरात् प्रष्टेन मुञ्जादिभेपीकां धैर्येण ॥ (कठ० २।६।१७) ।
- ७- हा सुपर्णा सधुमा ससाया समानं हृक्षं परिप्लवताते ।
तयोरन्याः पिप्पसं त्वाद्वयनमनमन्योऽमिधाकरोति ॥ (मुण्डक० ३।१।१) ।
- ८- समाने हृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
क्षुधं यदा परमस्यम्यमीशमस्य महिमानमिति भीतशोकः ॥ (मुण्डक० ३।१।२) ।

- ६- यदा परयः पश्यते रुक्ममर्ष्य कर्त्तारमीर्यं पुरुष ब्रह्मयोनिम् ।
तदा निद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ मुण्डक ३।१।३)
- १०- प्राणो ज्ञेयः यः सर्वमृतैर्विभाति विमानन् विद्वान् भवते नातिपात्री ।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेव ब्रह्मनिदां परितः ॥ (मु० ३।१।४) ।
- ११- पुञ्जानः प्रथमं मनस्वत्त्वाय सविता प्रियः ।
अप्रेक्ष्योतिर्निवाय्य दृषिष्या अभ्यामरत् ॥ (खे० २।१) ।
- १२- सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्षः सहस्रपादः ।
स भूमिं विश्वतो दृक्त्वाऽऽसतिष्ठदद्याद्भुवम् ॥ (खे० ३।१।४) ।



यो देवो भग्नो यो अयुः यो विरवो मुक्तामविशेष ।

य भोषधीः यो कनस्यतिष्ठ तस्मै देवाय नमो नम ॥ १ ॥

तदेवामिस्तदादित्यस्वद्रायुस्तदु चन्द्रमा ।

तदेव शुक्र तद् ब्रह्म तदपस्तव प्रजापति ॥ २ ॥

श्रुचो अक्षरे परमे म्योमन् यस्मिन् देवा अवि विरवे निषेदु ।

यस्ते न वेद किमुवा करिष्यति य इच्छद्भिस्तु इमे समासत ॥ ३ ॥

गुणान्क्यो यः फलकर्मकर्त्ता हतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।

स विचरुपस्त्रिगुणस्त्रिगुणार्त्ता प्राणाभिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः ॥ ४ ॥

अक्षुप्तमात्रो रक्षित्वरूपः सकल्पार्थकार समन्वितो यः ।

मुञ्चेगुणेनात्मगुणेन वैव आराममात्रो ह्यपरोऽपि इहः ॥ ५ ॥

एको देवः सर्वमूलेषु गूढ सर्वम्यापी सर्वमूतान्तराग्न्या ।

कर्मभ्यश्चः सर्वमूताभिश्च स साक्षी चेत्ता केवसो निगुणश्च ॥ ६ ॥

आत्मानं रश्मि विद्धि शरीरं रश्मेव तु ।

शुद्धिं तु सारथिं विद्धि मन प्रमदमेव च ॥ ७ ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विचर्यतेषु ग्रेभरान् ।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्त भोक्तेऽप्याहमनीयिणः ॥ ८ ॥

— ० —



इससम्य से सन्कथ रक्षने बाधे स्वयम्भू, परमेष्ठी मूर्य, चन्द्रमा, इन चार आधिदैविक सत्त्वात्मार्थों का, एव इहारी के अशमूत अभ्यक्त, महान् विज्ञान, प्रज्ञान, इन चार आप्यात्मिक सत्त्वात्मार्थों का पूर्व के—
१-अभ्यक्तात्माधिकरण, २-महदात्माधिकरण, ३-विज्ञानात्माधि-
करण, ४-महानात्माधिकरण इन चार अधिकरणों में निरूपण किया जा चुका है । हमारी स्थिति के अनुसार स्वयम्भू-परमेष्ठी-मूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी यह क्रम

है। यह पाँचों विण्ड क्रमशः प्राणमहा, आपोमहा, वायुमहा, अक्षमहा, अमादमहा इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन पाँचों में आत्मा—पद—धुनःपद यह तीन तीन पर्व हैं। अतएव पाँचों विण्ड सङ्ख्य—सगरीरी बनते हुए 'सत्य' हैं। इसी आधार पर इन पाँचों अक्षों को हमें 'सत्यात्मा' 'ब्रह्मसत्यात्मा' 'मह्मसत्यात्मा' इत्यादि नामों से व्यवहृत किया है। अब तक चार ब्रह्मसत्त्वों का निरूपण हुआ है। पृथिवी नाम का पाँचवाँ ब्रह्मसत्य शेष रहा है। उक्ति यह था कि चान्द्रब्रह्मसत्य के अनन्तर ही उपनिषद् पाँचवें पार्थिव ब्रह्मसत्य का निरूपण करती। परन्तु ऐसा न कर पार्थिव ब्रह्मसत्य से पहिले, एक चान्द्रब्रह्मसत्य के अनन्तर धुनिं पार्थिव देव सत्यात्मा का ही निरूपण किया है।

ब्रह्मसत्त्वरूप पृथिवी के मूल—प्राण मेद से दो विर्क हैं। इन दोनों में मूलप्रभावा पृथिवी (मृषिण्ड) ब्रह्मसत्त्व है। ब्रह्मसत्त्वात्मक इस मृषिण्ड पर प्राणप्रधाना पृथिवी (महिम्न—पिण्ड) प्रतिष्ठित है। इसी प्राणमयी पृथिवी के साथ देवसत्त्वात्मा का सम्बन्ध है। देवसत्त्वप्रति—ष्ठामयी प्राणपृथिवी देवरूपा है। यह ब्रह्मसत्त्वरूप अन्तम, एक ब्रह्मसत्त्वरूप मृषिण्ड दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित है। इसी प्राकृतिक स्थिति को वक्ष्य में रहकर उपनिषद् ने चान्द्रब्रह्मसत्त्व निरूपण के अनन्तर ही प्राणपृथिवी पर प्रतिष्ठित देवसत्त्वात्मा का निरूपण किया है। इस के अनन्तर बाकी बचे हुए मृषिण्डात्मक पाँचवें ब्रह्मसत्त्वात्मा का निरूपण होगा।

औपनिषद् ज्ञान के लिए जैसे खोबरी प्रजापति का स्वरूप जानना आवश्यक है, एवमेव किन्ना ब्रह्मसत्त्व—देवसत्त्व के स्वरूपज्ञान के भी उपनिषदय का समन्वय करना कठिन है। आगे आने वाली कठोपनिषद् में इस कठिनता का निस्तार के साथ निराकरण किया गया है। अतः प्रकृत में प्रकाशसङ्गति के लिए दो बार शब्दों में इन दोनों का परिचयमात्र कर दिया जाता है। ब्रह्मसत्त्व—देवसत्त्व के परिज्ञान के लिए निम्न स्थिति अतिवचन पर दृष्टि बांशिए—

द्वौ सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिपस्वन्नाते ।

तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्ति, अनभ्रन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

(सुषुक्ते ० ३।१।१) ।

“एक वृक्ष की ए शाखा के अग्रभाग पर दो मुनहरी रंग के पक्षी बैठे हैं । दोनों सयुक् (जोड़ते) हैं । दोनों में अनिष्ट मिश्रता है । इन दोनों में से एक पक्षी फस लगे चले रहा है, दूसरा पक्षी बिना खाए उस खाने माने की चौकसी कर रहा है ।” यह है मन्त्र का फलिताय ।

यह वृक्ष नहीं आया का सुपरिचित महाभाष्यार्थिभक्त समुत्-अक्ष-शुभमूर्ति महेश्वररूप ‘अश्वत्थवृक्ष’ है । इस अश्वत्थवृक्ष में सहस्रवत्स्या (एक हजार टहनियाँ) हैं । प्रत्येक टहनियों में सयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-जन्मा-पृथिवी यह पाँच पर्वा (प्रणियाँ) हैं , यही सहस्रवत्स्या महाभाष्य है । पक्षी वृक्षपर नहीं बैठता, वृक्ष की टहनियों पर बैठता है । टहनियों के भी ओर किसी भाग में न बैठकर टहनियों के भागों के ओर पर बैठता है । पक्षी परिदृष्टि पक्षां समम्भि । अश्वत्थवृक्ष की एक टहनियों में सयम्भू मूलभाग है, सूर्य मध्यभाग है, पृथिवी सबसे अन्त का भाग है । इसी पर दोनों पक्षी बैठे हुए हैं । इन दोनों में एक पक्षी फस जाता हुआ ‘मोक्ता’ बन रहा है । इसी को कठोपनिषद् ने ‘मय्यद्’ नाम से व्यञ्जित किया है । दूसरा फस न खाया हुआ ‘साक्षी’ बन रहा है । मोक्ता एवं साक्षी दोनों पक्षियों का स्वरूप देवताओं से सगुण होता है, अतएव यह दोनों ‘देवसस’ नाम से प्रसिद्ध हैं ।

जीवात्मा-ओर परमात्मा का शुभ माना जाता है । परमात्मा ईश्वर है, जीवात्मा नीच है । ओर ओर ईश्वर केवल देवसस का नाम है । सयम्भू आदि उपरपर हैं, अश्वत्थ महेश्वर है, परात्पर परमेश्वर है । सयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-जन्मा-पृथिवी यह ईश्वर के उपकरण हैं,

• इस अनुगम मन्त्र के २ अर्थ होते हैं । इन अर्थों का हिरण्यगर्भनिधाप्रतिपादक सुब्रह्मोपनिषत् में विस्तार से निरूपण हुआ है ।

अमृत-महान्-विद्या-महान्-शरीर यह जीव के स्वरूप हैं । कर्म योगों वासा, योग्यन्तर में जन्म होने वाला जीवात्मा केवल मोक्ष देवसत्त्व है । महान्-विद्या अमृतादि का कर्मयोग से, कोई सम्भव नहीं है । इस आत्मरूपस्वरूप से ही आत्मनैयक सम्बन्ध निवृत्त होते हैं । 'मम जीवात्मा कर्म योगों के लिए लोकांश्वर में, किंवा योग्यन्तर में जाता गया तो फिर आद्य किसके लिए किया जाता है ? जब आत्मा अमन्मा है तो उस की सर्वाधि कैसे बतसाई जाती है ? ऐसे ऐसे प्रश्नों का उस समय कोई मूल्य नहीं रहता, बने कि सर्वथा विमल आत्मसत्त्वों का स्वरूपज्ञ हो जाता है । आद्य महानात्मा के लिए ही निष्प जाता है । कर्मयोग उक्त देवसत्त्व ही है । योग्यी पुरुष सत्त्वा अमन्मा ही है । अष्टा भागो आने वाली उपनिषदों में इन सब विषयों का स्पष्टीकरण होता रहेगा । प्रकृत में केवल ईश्वर और जीव का स्वरूप ही विविधात्म है ।

पञ्चतन्त्रों में सबसे अमृत का प्रस 'अमृत' है । अमृतत्व को ही अमृत कहा जाता है । 'अग्निः सर्वा देवता' 'अग्निपुरोणाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम्' के अनुसार अमृत अग्नि ही है देवताओं की मूलप्रतिष्ठा है । अतएव सब देवताओं के लिए अग्नि में ही आहुति दी जाती है । अग्नि ही देवताओं का मुख है । 'मर्दं इ मे प्रजापतेरात्मनो पर्ययासीदर्द्धममृतम्' इस श्रुति के अनुसार यह प्रजापति अग्नि अमृत-प्राप्ति में से दो भागों में विभक्त है । अमृतमि प्राणाग्नि नाम से, अर्थात् अमृतमि नाम से प्रसिद्ध है । पञ्चतन्त्रानुसार अमृतमि को 'चित्तेनिषे यामि' एवं अमृतमि को 'चित्ताग्नि' कहा जाता है । अमृतमि अमृतमि से मृषिण्ड का निर्माण हुआ है । आप-केत-पुत्र-सिक्ता-गर्भक-अमृत-अर्ध-हिरण्य इन आठ चित्तियों में परिरक्षित होकर वह अमृतमि मृषिण्डरूप में परिणत हुआ है अतएव इसे 'चित्ताग्नि' कहा गया संगत होता है । इसका अमृतमि, किंवा प्राणाग्नि मृषेन्द्र में उक्तस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ अर्द्ध- (रश्मि) -रूप से मृषिण्ड से बाहर निकल कर अपना एक स्वतन्त्र भयङ्क बनावट है । अर्द्धरश्मि यह अमृतमि व्याप्त रहता है, अर्द्धरश्मि का अमृतमि-मण्डल 'मृषिण्डमृषिणी' नाम से प्रसिद्ध है । अमृतमिप्राणा के अनुसार चित्ताग्निमय मृषिण्ड 'कुप्याग्नि' का

साता है, एवं त्रितेनिधेयाग्निमयः भूमण्डल 'पुष्करपर्ण' नाम से प्रसिद्ध है। इस पुष्करपर्णरूप महिम्नमण्डल में व्याप्त रहने वाले अग्नि की क्रमशः घन-तरस-विरस-यह तीन अवस्थाएं हो जाती हैं। एक ही अग्नि की यह तीनों अवस्थाएं क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य नाम से प्रसिद्ध हैं। भूपृष्ठ के मण्डल की सीमा तक व्याप्त रहने वाले प्राणामि के तीन विभाग करवा लिए। इन तीनों में भी अवस्थांतरात्म्य मानना पड़ेगा। घनाग्नि की घनावस्था के तारतम्य से आठ अवयव माने जाते हैं, अग्नि के यही आठ अवयव आठ वस्तु हैं। मध्य के तरसस्तर की (तरसता के तारतम्य से) ११ अवस्थाएं हैं, यही ११ रुद्र हैं। अन्त के विरसस्तर की (विरसता के तारतम्य से) १२ अवस्थाएं हैं, यही १२ आदित्य हैं। इस तीन अवस्थाओं में दो सान्द्र्य प्राणों का उदय होता है। इस प्रकार अग्निभ्येष्ट आठ वस्तु वायुभ्येष्ट ११ रुद्र, इन्द्रभ्येष्ट १२ आदित्य, २ साध्यप्राण, संमूय ३३ देवता हो जाते हैं। एक ही अग्नि पहिले अग्नि-वायु-आदित्यरूप से तीन रूप धारण करता है, वही अनन्तर अवस्थाओं से भागे जाकर ३३ रूप धारण कर लेता है—“अग्निः सर्वा देवताः”।

अदिसां अग्निरे देवास्त्रयस्त्रिंशद्विन्दम।

आदिद्या वसवो रुपा अरिचनौ च परंतप ॥ (वा० रा०)।

पृथिवी में वायु-गौ यौ यह तीन मनोत्प हैं। माध्य के प्रथम खण्ड में शुक्रनिरुक्ति में वाक्-आप अग्नि नाम के तीन शुरु बतसाए गए हैं—(वेदिए ई० नि० १ खंड ५० ३३७)। स्वस्त्यन्मुव वाक्स्तर यौ है, पारमेष्ठप आपस्तर गौ है, एवं सौर अग्निस्तर वाक् है। यौ-(वाक् शुक्र)-भाग मृषियड के केन्द्र से आरम्भ कर महापृथिवी के ४० वें स्तोम तक व्याप्त है। गौ भाग ३३ वें स्तोम तक व्याप्त है, एवं वाक्भाग (अग्निशुक्र) पृथिवी के २१ अर्धग तक व्याप्त है। 'तस्य वा एवस्यामेर्वागेपोपनिषत्' (शत० १०।५।१।१) के अनुसार वाक्स्तर अग्नि है। इस अग्निस्तर की ही अग्नि-वायु-आदित्य यह तीन अवस्थाएं हैं। पृथिवीपृष्ठ से आरम्भ कर ६ वें अर्धग तक (जो कि अर्धगों की समष्टि त्रिहस्तुस्तोम नाम से प्रसिद्ध है) घनावस्थात्मक अग्नि प्रतिष्ठित है। यहां से पञ्चदशअर्धग पर्यन्त तरसावस्थापन्न अग्नि (वायु)

प्रतिष्ठित है। एव यहाँ से २१ पर्यन्त विरक्त अग्नि (इन्द्र) प्रतिष्ठित है। त्रिष्टुतस्तोम इस महिम्नः पृथिवी का पृथिवीस्तोम है, इस का अतिष्ठाना (अभिष्टाता) अग्नि है। पञ्चदशस्तोम महिम्नः पृथिवी का अन्तरिक्षस्तोम है, इस का अतिष्ठाना वायु है। एकविंशस्तोम महिम्नः पृथिवी का द्युस्तोम है, इस का अतिष्ठाना इन्द्र है। इस प्रकार केवल महिम्नः पृथिवी में ही स्तोमभेद से त्रैलोक्यमात्र का उद्भव होना था है। यही पाणिपत्तिसे की 'स्तौम्यत्रिसोकी' नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव त्रैलोक्य में व्याप्त इन्हीं तीनों अग्नियों के सर्वव्यापक से वैश्वानर-हिरण्यगर्भ सर्वव्यापक ईश्वरीय देवसत्त्व का जन्म होता है।

पार्थिव भिद्वृषि को आधार बना कर अन्तरिक्ष वायु, दिव्य इन्द्र की आहुति होने से, तीनों के समन्वय से वैश्वानर अग्नि उत्पन्न होता है। वैश्वानर अग्नि में यपसि त्रैलोक्य का अग्नि है, परन्तु प्रधानता पार्थिव अग्नि की है। अन्तरिक्ष वायु में पार्थिव अग्नि दिव्य इन्द्र की आहुति होने से हिरण्यगर्भ का जन्म होता है। इसमें भी तीनों हैं, परन्तु प्रधानता अन्तरिक्ष वायु की ही है। एवं दिव्य अग्नि में पार्थिव अग्नि, अन्तरिक्ष वायु की आहुति होने से सर्वज्ञ का जन्म होता है। इसमें भी तीनों अग्नि हैं, परन्तु प्रधानता दिव्य अग्नि की ही है। अग्नि अर्पणशक्ति का अभिष्टाता है, अतः तत्प्रधान वैश्वानर अग्नि अर्पणमूर्ति ही है। वायु क्रियाशक्ति का अभिष्टाता है, अतः तत्प्रधान हिरण्यगर्भ क्रियामूर्ति ही है। एव इन्द्र ज्ञानशक्ति का अभिष्टाता है अतः तत्प्रधान सर्वज्ञ ज्ञानमूर्ति ही है। वैश्वानर अग्नि का प्रमथ वायु-इन्द्रगर्भित पार्थिव अग्नि है अतिष्ठा भिद्वृत्स्तोम है, आशय (स्थापितमान) साय त्रैलोक्य है। इसी आधार पर-वैश्वानरो यतते-सर्वेषां (ऋक्० १।७।१६), 'आ यो यो माता-पृथिवीम्' (या. नि. ३।२६) इत्यादि कहा जाता है। हिरण्यगर्भ-वायु का प्रमथ पार्थिव-इन्द्रगर्भित अन्तरिक्ष वायु है अतिष्ठा पञ्चदशस्तोम है, आशय साय त्रैलोक्य है। एवं सर्वज्ञ इन्द्र का प्रमथ अग्निवायुगर्भित दिव्य इन्द्र है, अतिष्ठा एकविंशस्तोम है, आशय त्रैलोक्य है। यही त्रिदेवसमष्टि सङ्गान-विषय-अपराध से सारे भौतिक विश्व का आधार बन रही है। भूतों के अभिष्टाता होने से ही इस देवसत्त्व को 'सर्वमृतामरताया' कहा जाता है। क्लीप-

निपत् में जिन अग्नि-वायु-इन्द्र का त्रैलोक्य में विजय बतलाया गया है, वह यही सर्वभूतान्तरात्मा है। इस देवसत्त्व की प्रतिष्ठा ब्रह्मसत्त्व है, ब्रह्मसत्त्व की प्रतिष्ठा आत्मसत्त्व है।

आत्मा के अमृत-ब्रह्म-देव-भूत यह चार विवर्त हैं। षोडशीपुरुष स्वयं अमृतात्मा है। स्रग्मू-परमेष्ठी आदि पाँचों परब्रह्मविवर्त है। अग्नि-वायु-इन्द्र की समष्टि देवविवर्त है, भूतप्रपञ्च प्रसिद्ध है। यही चारों सत्त्वाएँ अण्मात्म में हैं। इन चारों आण्मात्मिक सत्त्वाओं में से अमृतात्मा असत्कारणीय है। ब्रह्म-देव-भूत तीनों का सत्कार किया जाता है। लौकिक शुद्धिसंस्कार भूतसंस्कार हैं, १९ स्मार्तसंस्कार ब्राह्मसंस्कार हैं, २२ श्रौतसंस्कार देवसंस्कार हैं। इन सत्कारों से ब्रह्म-देव-भूत यह तीनों विवर्त शुद्ध संस्कृत बनकर ब्रह्मविभूतिमय बन जाते हैं। जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैरुत्तरैरपि संस्कृतः ।

निष्कमष्टयुगैर्युक्तो ब्राह्मणो ब्रह्म लौकिकम् ।

ब्राह्मं पद्मभाज्जोति यस्मात्तु न्यवत् पुनः ॥

अण्मात्मसत्त्वा की उक्त चारों संस्त्वाओं में अमृतसत्त्वा के तो वे ही नाम रहते हैं, इतर सत्त्वाओं के नाम बदल जाते हैं। ईश्वरीय देवसत्त्व का सर्वत्र भाग यहाँ प्राज्ञ नाम से, हिरण्यगर्भ भाग तैमस नाम से, वैश्वानर भाग वैश्वानर नाम से ही प्रसिद्ध है। यही भूतात्मा है। इस की प्रतिष्ठा यही सर्वभूतान्तरात्मा है। वह मोक्षा सुपथ है, वह सात्वी सुपथ है। वह कर्मकर्मार्थी है, वह कर्मसात्वी है। दोनों सत्त्वा हैं, दोनों सयुक्त हैं। दोनों स्तौम्यत्रिलोकीरूप ब्रह्मब्रह्म की शाखा के अमभाग में प्रतिष्ठित हैं। दोनों की मूलप्रतिष्ठा भूमिपद है।

सर्वत्रभाग सहस्ररीर्षि है, हिरण्यगर्भभाग सहस्राक्ष है, वैश्वानरभाग सहस्रपाद है। मूस-मण्य-अन्त मेव से वह त्रिपर्वा है। त्रिपर्वा देवसत्त्व पादरूप वैश्वानर भाग से भूमिपद पर प्रतिष्ठित हो रहा है। अण्मात्मसत्त्वा में जीवरूप से यही दश अंगुष्ठ का अतिक्रमण कर (मादेशमाम बनकर) प्रतिष्ठित हो रहा है। इसी देवसत्त्व का समष्टिरूप से निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

सहस्रशीर्षो पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमिं सर्वतस्तृणाद्यविष्टमृगाङ्गुलम् ॥ (यजु सं० ३१।१) ।

ईश्वरजगत्

१-परम्पर — एकस

२-अमय — पञ्चकस

३-आक्षर — पञ्चकस

४-आक्षर — पञ्चकस

} पोद्शीमजापतिः
(अमृतसमात्म)

आपः — १-स्यम् — माह्वतात्म

आपः — २-परमेष्ठी — "

आरु — ३-स्य — "

अमम् — ४-अमम् — "

} अक्षसत्यात्मा

} ईश्वरमजापति

अमृताभादः { १-सर्व — इन्द्र
२-शिरव्यगम — वायु
३-वैश्वानर — अग्नि

} देवसत्यात्मा साक्षी

मर्त्याभादः — ४-मृषिण्डः

} अक्षसत्यात्मा

जीवजगत्

- १-परात्पर-एकसः
२-अप्यस-पञ्चकस
३-अक्षर-पञ्चकस
४-आत्मक्षर-पञ्चकस

गोदपीमभापति
(अमृतसत्त्वात्मा)

- माया-१-अमृतस्वामी-प्राकृतस्वामी
आप-२-सहानामा-"
पाक-३-विक्रानामा-"
अक्षय-४-प्रधानामा-"

अक्षतस्यात्मा

जायप्रजापात

- मपुमाभादः { १-प्राक-इन्द्र
२-तेजस-अपु
३-वैशानर-मति

वैशसस्यात्मा मोक्षा

मर्त्यामात्र-१-अपीम

अक्षसस्यम्

१११

- १-प्रमथ-आश्रितिय-रिप्यामिर्गमित्रपार्थिवविद्वत्तिः
१-२-प्रविष्ट-विद्वत्सोऽ
३-आद्य-रतीपयिसोऽ

वैशानरामि पार्थिव
(अप्यसक्तिमवर्षका)

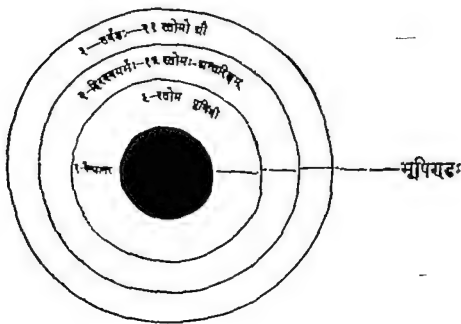
- १-प्रमथ — पार्थिव-दिव्यप्रणिमित-आन्तरिक्षो वायु
२-२-प्रतिष्ठा — एकाग्रस्थितिः
३-आशयः — सौम्यप्रतिष्ठा
} हिरण्यगर्भोवायु आन्तरिक्ष
(क्रियाशक्तिपर्यवसः)

— ० —

- १-प्रमथ — पार्थिव-आन्तरिक्ष-प्रणिमितोदिव्येन्द्र
२-२-प्रतिष्ठा — एकाग्रस्थितिः
३-आशयः — सौम्यप्रतिष्ठा
} सर्वज्ञ-इन्द्र-दिव्य
(ज्ञानशक्तिपर्यवसः)

— १ —

एष सर्वमूतान्तरात्मा



अग्नि-वायु-इन्द्र तीनों ही प्राणायामक । हैं अतएव प्राणाग्निमी से सपन इस देवसत्य को हम 'प्राणात्मा' कहने के लिए तय्यार हैं । इन्द्रियबग, प्रज्ञानमन, एव बुद्धि के सहारे स्थूल-शरीररूप रथ में प्रतिष्ठित यह रथी कर्मात्मा इस भोक की यात्रा करता है, एवं आतिना-हिकशरीररूप (स्थूलशरीररूप) रथ में प्रतिष्ठित होकर परलोक की यात्रा करता है । इस रथी कर्ममोक्षा कर्मात्मा के उस छोर में मन (प्रज्ञान)-बुद्धि (विज्ञान)-महत्-अव्यक्त-पोडशी हैं, इस छोर में शरीर है । विज्ञानात्मा सौर है । महद्गर्भित बिदात्मा के बिदभाग का साक्षात् सम्बन्ध चित्तिवन्धवच्छिन्न इसी सौरविज्ञान के साथ होता है । विज्ञान बिदात्मा से साक्षात् सम्बन्ध रखता है, अतएव 'तद्विज्ञानेन परिपरयन्ति भीराः' यह कहा जाता है । अन्ध्याम-सत्या में विज्ञानपुरुष ही प्रधान तत्त्व है । इसी विज्ञानज्योति से प्रज्ञान प्रकाशित है, इसी से देवसत्यरूप का तत्त्वा प्रकाशित है । कर्मपरिमा-मन-बुद्धि तीनों का धनिष्ठ सम्बन्ध है । बिना मन-बुद्धि के कर्मात्मा कर्ममोग करने में सर्वथा असमर्थ है । अत एव मन बुद्धि को (भोगसाधन होने से) मोक्षात्मा में अन्तर्भूत मान लिया जाता है । इसी अभिप्राय से इस कर्मात्मरूप देव-सत्त्वात्मक मोक्षात्मा पर - 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्त मोक्षेत्याहुर्मनोपिण्ड' (कठोपनिषद्) यह संक्षेप किया जाता है । प्रज्ञानयुक्त चाक्षुषपुरुषावच्छिन्न (सौरविज्ञानात्मावच्छिन्न) मोक्षा देव सत्य 'अहम्' है, यही जीवात्मा है । चान्द्रयुक्त सीपुरुषावच्छिन्न साक्षी देवसत्य 'भोम्' है, यही परमात्मा है । सौर एवं विज्ञानावच्छिन्न देवत्रयसमष्टिरूप साक्षी और मोक्षा देवसत्य के लिए ही उपनिषद् में 'ससर्पर्म' शब्द का प्रयोग किया है ।

अब बरा मन्त्रों की सगृहीत का विचार कीजिए । 'हिरण्यमयेन पात्रेण ससस्यापिहित मुन्वम्' इत्यादि मन्त्र चाक्षुषपुरुष (विज्ञानात्मा) की उपासना कर, दूसरे शब्दों में उसके प्रत्यक्ष करने का उपाय बतलाता है । ऐसी व्यवस्था में उचित यह था कि विज्ञानात्मप्रतिपादक ६-१०-११ मन्त्रों के अन्त में ही (विज्ञानात्माधिकरण में ही) 'हिरण्यमयेन पात्रेण' इत्यादि पढ़ा जाता । परन्तु ऐसा न कर अग्नि में सम्पूतिविनाशायक प्रज्ञानात्माविकारण के अन्त में (१४-वें मन्त्र से आगे) इसे पढ़ा है । ऐसा व्यतिरेक क्यों किया गया ? उत्तर स्पष्ट है । उपनिषदुप

देख प्रधानरूप से जीवात्माके स्वरूपज्ञान करवाने के लिए प्रवृत्त हुआ है । जीवसंस्था में—
 'स वा एष विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मना सपरिप्लवक्त' के अनुसार विज्ञान प्रज्ञान में जोतप्रोत
 है प्रज्ञान विज्ञान में सपरिप्लवक्त है । बिना विज्ञान के प्रज्ञान कुछ नहीं कर सकता, साथ ही में
 बिना प्रज्ञान के विज्ञान भी स्वरूप से प्रसिद्धि नहीं रह सकता । न केवल जीवसंस्था में ही,
 अपितु ईश्वरसंस्था में भी यही स्थिति है । अन्द्रमा (सोम) के बिना सूर्य कभी प्रसिद्धि नहीं
 रह सकता । सौप्तिक भावरूप है, ज्योतिर्मय है । इसका यह ज्योतिमान चान्द्रसोमावृत्ति पर
 निर्भर है । 'स ज्योतिषा वितपो वस्य' के अनुसार सोम में ही सूर्य को ज्योतिर्मय बना
 रखा है, ऐसा कि पूर्व के प्रज्ञानाभाधिकरण में विस्तार से बताया जा चुका है । इसी
 प्रकार अन्द्रमा सौप्तिकरूप से ही चन्द्रिकामय बन रहा है । यही स्थिति अग्न्यात्म में है । मन पर
 ही सौमिशानपुरक प्रतिबिम्बित होता है । यदि मन न हो तो उसी क्षण विज्ञानात्म उच्छन्न
 होजाय । ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि चातुर्यपुरक का चातुर्यमा प्रज्ञान सम्बन्ध पर
 ही आधारित है । निष्पेक्ष चातुर्यपुरक की उपासना असम्भव है । क्योंकि वह कभी निष्पे-
 क्षरूप (एकाकी) रहता ही नहीं । इसी सारी परिस्थिति को ध्यान में रखकर अग्निने विज्ञानात्म
 पितरस के अन्त में विज्ञानपुरक की प्राप्ति का उपायभूत 'हिरण्यमेन०' इत्यादि मन्त्र को
 न पढ़कर प्रज्ञानाभाधिकरण के अन्त में पढ़ा है । इससे अग्नि को यही सिखाना है कि त्रित
 चातुर्यपुरक की तुल्य उपासना करने जैसे हो वह उपासना बिना प्रज्ञानमन के सहयोग के
 असम्भव है । मनोवेग ही चातुर्यपुरक की उपासना का आधार है ।

॥विज्ञानात्मा की उपासना का प्रकार बनवाने जैसे 'हिरण्यमेन' इत्यादि मन्त्र को उसी
 अधिकरण के अन्त में न पढ़कर प्रज्ञानाभाधिकरण के अन्त में क्यों पढ़ा ? इस प्रश्न का
 सम्बन्ध तो होगा, पर तु इसी सम्बन्ध में जब प्रश्न चीर उद्घटित होता है । प्रकरण ११
 मन्त्र के अनुसार 'हिरण्यमेन०' इत्यादि मन्त्र का करने मायाभाधिकरण नाम से प्रतिष्ठ
 कर्मार्थमयकारण में सम्मिलित माना है । वेदा क्यों ? पूर्व जपनानुसार तो पूर्व के प्रज्ञानात्मा
 विकार में जब मन्त्र का सम्बन्ध होना चाहिए था ! इस प्रश्न का उत्तर उपासक कर्मार्थमा

ही है। विज्ञानात्मा उपास्य है, प्रज्ञानात्मा उपासना का साधन है, कर्मात्मा उपासक है। उपासक कर्मात्मा ही मनोयोग (प्रज्ञानयोग) द्वारा उस विज्ञान पुरुष की उपासना करता है। ऐसी अवस्था में उपासक कर्मात्मा के साथ उस उपास्य विज्ञानात्मा का सम्बन्ध वतसाया आवश्यक है। इसी सम्बन्ध परिज्ञान के लिए उपासनाप्रकारप्रतिपादक 'हिरण्यमेन०' इत्यादि मन्त्र का कर्मात्माधिकरण के अन्त में सम्मिश्रण करना उचित होता है।

अब जब तक कर्मात्मा शरीर में प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक अन्य आत्मसंस्था प्रतिष्ठित रहती हैं। जीवसंस्था में प्रज्ञानता कर्मात्मा की ही है। कर्मात्मा (मोक्षात्मा)—प्रतिपादक 'कठोपनिषत्' में यह विस्तार से वतसाया जाने वाला है कि अस्तुत जीवात्मा देवसंस्वरूप कर्मात्मा का ही नाम नहीं है, अपितु कर्मात्मापरपर्यायक इस मोक्षात्मा का मोक्षा पना 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं मोक्षेसाहुमनीषिणः' के अनुसार बुद्धिरूप बाह्यपुरुष, एवं मनोमय प्रज्ञानपुरुष के सम्मिश्रण पर ही निर्भर हैं। इसीलिए तो उपनिषत् ने मन एवं बुद्धि को कर्मात्मा के साथ निम्न सम्बन्ध माना है। यद्यपि बाह्यपुरुष का जितना घनिष्ठ सम्बन्ध प्रज्ञानात्मा के साथ है, उतना देवसंस्वरूप प्राणात्मा के साथ नहीं है, तथापि बिना इसके सम्बन्ध के मोक्षात्मा का मोक्षा ही नहीं बन सकता। विज्ञान—प्रज्ञान एक भेदि में हैं, मोक्षात्मा दूसरी भेदि में है। प्रज्ञान—विज्ञान दोनों का सम्बन्ध इसके साथ होता है। इस देवसंस्वरूप की 'अहता' (आत्मता) प्रज्ञानसपरिवृक्त सीरविज्ञान के आधार पर ही प्रतिष्ठित है, वैसे कि—'मूर्ध्ना ध्यात्वा भगवत्संस्वरूपम्' इत्यादि से स्पष्ट है। देवसंस्वरूपप्रतिपादक प्राणात्माधिकरण के मध्य में 'हिरण्यमेन०' इत्यादि का पका आना ही यह सूचित करता है कि बाह्यपुरुष का सम्बन्ध प्रज्ञान कर्मात्मा दोनों से है। 'मैं क्यों हूँ' ? इस प्रश्न का उत्तर है 'वयसस'। इस देवसंस्वरूप का 'मैं पना' उसी बाह्यपुरुष पर निर्भर है। पूर्व में ही वतसाया गया है कि देवसंस्वरूप की अपेक्षा से विज्ञान का प्रज्ञान के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी स्थिति को ध्यान में रखकर प्रज्ञाननिरूपण के अन्त में ही पहिले उस विज्ञान का स्वरूप दो मन्त्रों से वतसाया सीधे 'बाह्युरनिस-ममृत' मन्त्रमाग से देवसंस्वरूप का स्वरूप वतसाया गया है। इस प्रकार इस प्रकार के तीन

मन्त्रों में से आरम्भ के दो मन्त्र बाहुपुरुष की उपासना का प्रकार बतलाते हैं, तीसरा मन्त्रमन्त्र प्राणात्म्य का स्वरूप बतलाता है । इसी बाहुपुरुष की उपासना का प्रकार बतलाता हुआ निम्न लिखित मन्त्र हमारे सामने आता है ।

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम् ।

तत्त्व रूपभपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१॥

(ई० उ० १२ म०) ।

“हिरण्यमपाप से सजका मुख रका हुआ है । हे पूजादेवता ! ससर्पर्म की दृष्टि के लिए (साक्षात्कार के लिए) आप उस आवरण को हटाइए” यह है मन्त्र का अर्थार्थ । त्रैलोक्यगर्भित बाहुपुरुष सौर पुरुष है । यह हृदयस्थ मन पर प्रतिष्ठित होकर दक्षिणबहु से प्रादेश मात्र बाहर निकलता है, जैसा कि विज्ञानात्मापिस्वरूप में निष्ठार से बतलाया जा चुका है । इस विज्ञानपुरुष का आप अनुकूलदृष्टि से साक्षात्कार कर सकते हैं । परन्तु इतना जरूर है कि बाहुपुरुष, दक्षिणाक्षिपुरुष आदि मार्गों से प्रसिद्ध यह सम्पूर्ण सूर्य के हिरण्यम प्रकाश में नहीं लीकता । घूँ में आप इसे नहीं देख सकते । यह देखा जा सकता है—पार्ष्णि-हृत्प्राण की सत्ता में । पशुभागप्रधाना पृथिवी ही ‘पूपा’ कहलाती है । शत्रुदृष्टि का मर्ष, रोग, तमोमय पार्ष्णि शक्तियुक्त माया ही ‘पूपा’ है । ‘छाया’ इस प्राण का वास्तविक स्वरूप है । इस क्षायामय पूषामय के आगमन से हिरण्यपात्ररूप आवरण हट जाता है, उसी समय बाहुपुरुष के दर्शन होता है । प्राचीन व्याख्याताओं के मतानुसार बाहुपुरुष अक्षणात्मक नहीं है जिसका कि साक्षात्कार न हो सके । आप क्षायामय अपनी इहिली आँस से अनुकूलदृष्टि से एक प्रादेश पर दृष्टि—अन्तरेष का अभ्यास करते आइए । मत्तियोगरूप इस अभ्यासयोग से एक दिन सर्पपाकार इस पुरुष के आपकी आँस में दर्शन होजायेगा । जिस दिन आप इसके दर्शन करेंगे, विश्वास कीजिए उस दिन वेदवत्त्व आपके लिए अपने आप प्रकट होजायेगा । कारण बाहुपुरुष सौर है, एव सूर्यदेवता ‘सिंहा मयीमिच्छा यज्ञः’ के अनुसार वेदवत्त्व है ।

अपि च प्रकरणान्तर से मन्त्राय का समन्वय कीजिए । सांसारिक संपत्ति हिरण्यमयपात्र है, सत्कार सुनहरा है । सुवय (संपत्ति) ने आत्मतत्त्व को आवृत कर रक्खा है । इस हिरण्यमय पात्ररूप वित्तमोह से मुग्ध मनुष्य आतद्दय में प्रसिद्धित सत्त्व आत्मतत्त्व के दर्शन करने में असमर्थ हो रहा है । इस पार्थिव मौक्तिक सम्पत्ति का अधिष्ठाता पृथिवी का अभिमानी देवता 'पूषा' है । उसी की आराधना से मौक्तिक आवरण हट सकता है । जो पूषादेवता आवरण का अधिष्ठाता होता है, वही आवरण दूर करने में समर्थ है । हमें प्रणतभाव से उसी पार्थिव अभिमानी देवता से प्रार्थना करनी चाहिए कि हे पूषन् ! आपने शक्ति से सत्त्वाम-तत्त्व पर जो मौक्तिक संपत्तिरूप आवरण सगुण रक्खा है, उसे हटाइए, हमारे आत्मा को मौक्तिक वचन से मुक्त कीजिए, जिससे कि हम आत्मस्वरूप पहिचान सकें । पूषा देवता आवरण को हटाकर सत्त्वधर्म का साक्षात्कार करवाती है, यह उक्त मन्त्र से सिद्ध हुआ । यह पूषा देवता किस प्रकार से आवरण हटाती है ? इस प्रश्न का समाधान करती हुई आगे आकर शक्ति कहती है—

पूषन्नेकैषं यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्, समूह तेज ।

यत्ते रूप कल्पाण्यतमं तत्ते पश्यामि-योसावसौ पुरुष सोऽहमस्मि ॥२॥

(ई० उ० १६ म०) ।

सूर्य के मूलप्रवक्तक प्राण को 'धृषि' कहा जाता है । सायम्मुत्र असत्प्रमाण का ही नाम धृषि है । पूर्व के अध्यक्षात्मभिकरण में हमने सायम्मुत्र वेद को 'ब्रह्मनिश्चित' कहा है, एवं उस वेद के यजुभाग को 'ब्रह्म' कहा है । उस यजु का यजु भाग ही प्राण है, यही अग्नि है । इसी से आगे की सारी सूर्य होती हैं । इस अग्निप्राण की सप्तर्षि, द्रुपर्षि, एकर्षि, त्र्यर्षि आदि अनेक जाटिए हैं । विश्व में उपसम्भ होने वाले एकत्त्व, द्वित्व-मित्व-आदि जितने भाव हैं, उन सब के मूलाधार यही एकर्षि—द्रुपर्षि आदि धृषिप्राण हैं । सात रश्मि, सात उपरश्मि, सात पादु, सात उपपादु, सात बिज, सात उपबिज, सात सोक, सात पादास, सात द्वीप, सात समुद्र, सात मरुद, सात रंग, सात छन्द, सप्ताक्षय, शरीर सात पादु, सप्तनाडी, सप्ताधि, सप्तसमिध, सप्तहोम आदि आदि जितने भी सत्त्व हैं, उन सब का प्रवक्तक एकमात्र 'सप्तर्षिप्राण' है ।

श्रुत-सत्य, धर्मी-सोम, सत्य-अनृत, धाना-पृथिवी, योपा-हृपा, रवि-वायु, ब्रह्म-सुप्रब्रह्म, स्थिति-गति, आदान-विसर्ग, ब्रह्म-कर्म, ज्ञान-क्रिया, मृत-अमृत, निरुक्त-अनिरुक्त, अमृत-मृत्यु, सत-असत, अहो-रात्र, शुक्र-कृष्ण, पुरुष-महति, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, आत्मा-शरीर, भाग-पानी, अन्न-मक्ष, ओष-धि-वनस्पति, सूर्य-चन्द्र, ओषधय, चतुर्दश, पाण्डय आदि आदि नितर्क भी द्वैत भाव हैं, सब की मूलप्रतिष्ठा 'द्व्यर्षि' प्राण ही है।

भैसोमय, भेतामि वीर्यप्रयी, प्रजाप्रयी, वेदप्रयी भिसख आदि नितर्क भी त्रिविध भाव हैं, उन सबका मूल व्यर्षिप्राण है। एवं एकत्वमात्रात्मक पदार्थों की मूलप्रतिष्ठा 'एकर्षि' प्राण है। इन प्राणों के अर्घ्यात्म-अभिदैवत-अभिनतम-अभिभूत भेद से निम्न निम्न कर्म हैं, जैसा कि भाष्यप्रथमखण्ड की विन्यनिरुक्ति में कतछाया जायुका है—(देखिए ई नि म् १ सं १५२-१६२) ।

उसी प्रकार में साकृज्ज नाम से प्रसिद्ध सप्तर्षिप्राण का निरूपण किया गया है। इस सप्तर्षिप्राण के समष्टि एवं व्यष्टिरूप से सप्तर्षि-द्व्यर्षि-एकर्षि यह तीन भेद होजाते हैं, जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होजाता है—

१- १-ग्रेतम	} भोत्रे ←→ द्व्यर्षि	} सप्तर्षिः (अतः १७।५।२।७।५।१०)
२- २-मरशत्र		
३- १-विशामित्र	} चतुर्षी ←→ द्व्यर्षिः	
४- २-अमर्षि		
५- १-वसिष्ठ	} नासिके ←→ द्व्यर्षि	
६- २-अरपा		
७- १-अधि	} वाक् ←→ एकर्षिः	

उक्त सप्तविंशत्यो मे से सातवां अग्नि प्राण वाक्य है । यह वाक् (अग्नि) — मय प्राण ही मुख में प्रतिष्ठित होकर मन साठा है, अतएव—‘अन्नमसि’ इस व्युत्पत्ति से इस वाक्य प्राण को—‘असि’ कहा जाता है । असि ही देवताओं की परोक्षमाया में ‘अग्नि नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि श्रुति कहती है—

‘भागवाग्नि । वाचा (अग्निना) शशमपधते । अग्निर्ह वै नामैतद्यदग्निः । सर्वस्याचा मवति, सर्वमस्याशं मवति, य एवं वेद’ (शत० १४।१।२।४) ।

यह वाक्यत्व अग्निरा अपि है । पूर्व में जिन अग्निप्राणों का दिग्दर्शन कराया गया है, वे अनन्त प्रकार के हैं । उन सब की मूलप्रतिष्ठा वाक्य अग्नि नाम का एकविंशत्य ही है जैसा कि श्वेत्किरसः सूत्रः (आ० १०।६।१५) इत्यादि मन्त्रग्रन्थन से स्पष्ट है । पथि मृगु—अग्निरा—अग्नि वेद से अग्निप्राण अग्नि से पृथक् तत्त्व माना गया है । परन्तु पर मार्गतः तीनों एक ही हैं । अग्निरा अग्नि ही विश्वकसन की पञ्चकषा पर पहुँच कर भाग्य सोम-रूप में परिणत हो जाता है । एव अग्नि ही चित्तिमात्र को प्राप्त होकर धामऋद्ध बनता हुआ ‘अग्नि’ कहलाने लगता है । यही अग्निरा अग्निप्राण मूषिण्ड का स्वरूपसमर्पक है । इसी एकविं—वाक्य—पार्थिव अग्निप्राण के दृढ भाव से आग्नेय चन्द्रमा उत्पन्न होता है, जैसा कि पूर के मङ्गलान्तापिकरण में अग्नेत्यसि-प्रकरण में बताया जा चुका है । अग्नि धामऋद्ध अवस्था में आकर अग्नि है, यही वाग्नि रूप है । यही अग्निमय प्राण वाक्यरूप से (वागिन्द्रिय रूप से) मुख में प्रतिष्ठित होता है—‘अग्निर्वाग्मूत्रा मुर्धं प्राविशत्’ । अग्नि नाम से प्रसिद्ध यह अग्नि ही मन्त्रग्रन्थ ‘एकविंशत्य’ है । ‘मआपतिर्वा एकः’ (तै० भा० १।४।१६।१) के अनुसार यह एकवकी है । इसी अग्निप्राण से (अग्निप्राण के मर्त्यभाग की चित्ति से) मूषिण्ड का स्वरूप निगम हुआ है । इसी एकविरूप पार्थिव वाग्नि, किंवा अग्निप्राण, किंवा अग्नि का नाम ‘पूषा’ है । धामऋद्धभाव के कारण यह अग्निमूर्ति पूषाप्राण पारदर्शिता का प्रतिबन्धक होना हुआ तमोमय है, कण्ठ है, छाया रूप है । इसी पूषा प्राण के सम्बन्ध से पृथिवी को पूषा कहा जाता है, जैसा कि निम्न बचन से स्पष्ट है—

१—स गौत्रं बर्णमनुमतं पूषणम्, इयं वै पूषा, इयं हीदं सर्वं पुष्पति—यदिदं
किञ्च' (यत् ० १४/४/२/१२) ।

यह विद्या के सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों को एक प्रश्न किया गया गया है कि, "आयुष्य
(वृत्त) वरुण पदार्थ है। इस की शक्ति में आहुति दी जाती है। इस तरह आयुष्य
की आहुति से धनमायावत्तुक्त पुरुष कैसे उत्पन्न हो जाता है?" । इस प्रश्न का स-
धान करते हुए आगे आकर ब्राह्मणमुनि ने उत्तर दिया है कि—"वृत्त आयुष्य वरुण पदार्थ
है, परन्तु इसमें हिरण्यगर्भ (सुवर्णरूप) आसकर इस की आहुति दी जाती है,
अतएव अस्मिन्मात्रपुक्त पुरुष उत्पन्न होता है" । इस प्रश्नोत्तर का उत्तर यही है कि वृत्त शुक्र
है यह पार्ष्णिषद् में साफ ही में तरफ है। परन्तु इस पार्ष्णिषद् तरफ शुक्र में हिरण्यगर्भ-
रूप धनमाया सम्पादक सौर हिरण्यगर्भ तेज प्रविष्ट रहता है। इससे अस्मिन्मात्र का निर्माण
होता है। जिस प्रजा के शुक्र में सौरमाया कम होता है उस की हड्डि निर्बल रहती है।
सौर सञ्चर के बितने पर्व हैं पुरुष में उतनी ही हड्डि हैं। एक एक पर्व से एक एक
अस्ति का निर्माण होता है। 'सप्त य इ वै यतानि विंशतिश्च सप्तसरस्पातानि य राश
मय (७२०), इत्येवावन्त एक पुरुषस्मीनि य मज्जानम' (गो. भा० पू० १५॥) ।
यद्यपि पारषात्य विद्वान् (स्वयं भारतीय विद्वान् संस्कृत भी दाँतों की हड्डी नहीं मानते परन्तु
वैदिकसंस्कृतविद्वान् के अनुसार दाँत हड्डी का प्राथमिक रूप है) कहना यह है कि अस्ति
निर्माण सौर तेज से होता है। उत्पन्न शिष्ट में एक रूप तक दाँत पैदा नहीं होते। क्योंकि
इस का यही है कि एक रूप तक इसमें पार्ष्णिषद् प्राण की ही प्रधानता रहती है। अतएव
सौरमाया प्रबल नहीं होने पाता, फलतः दाँत उत्पन्न नहीं होते। रूप भर दाँत उत्पन्न न होने
का एकमात्र कारण पार्ष्णिषद् पूषामात्र की ही प्रधानता है। इसी आधार पर—'तस्य दन्तान्
पुषोपाय तस्मादाहुरवन्तक पूषा' (कौ० १॥१॥) यह कहा जाता है।

मुनि ने पूषा शब्द की अनेकधा व्याप्ति देखी जाती है। सूर्य को भी पूषा कहा जाता
है। वायु भी पूषा नाम से प्रसिद्ध है। पृथिवी को भी पूषा माना गया है। देवता नदयः

भी पूषा नाम से व्यक्त होता है। पूष्यो इस्ताभ्यामाददे नार्पसि (यजु ५।२२) का पूषा शब्द रेवती मङ्गल-का वाचक है। "सोमः पूषा च वेतसुर्विभ्रासां सुचितीनाम्" (साम २।५।१०) का पूषा शब्द पृथिवी का वाचक है। "पूष्यः पोषेय्य मग्न दीर्घायुत्वाय शतशारदाय शत शरद्व्यम् आयुषे वचसे" (तत्ति ५।१।२।१२) का पूषा शब्द सूर्य का वाचक है। "अयं वै पूषा योऽयं (वायुः) बबने, एष ईदं सर्वं पुरुषपति-यदिदं किञ्च" (शत १४।२।१।२) का पूषा शब्द वायु का वाचक है। प्रकृतमन्त्र के 'पूषन्' शब्द से रेवती मङ्गल को छोड़कर शेष तीनों (पृथिवी-वायु-सूर्य) पूषाओं का ग्रहण है। पृथिवी अग्निमयी है, अन्तरिक्ष वायु-मय है, सूर्योपसहित सुक्षोक् आदित्यमय है। १२ आदित्यों में से एक पूषा नाम का आदित्य है। प्रकृत में सूर्य शब्द से इसी आदित्य विशेष का ग्रहण है। पार्थिव पूषा पूर्ण कपनानुसार 'एकपि' है। रेवती वैशोक्य के अन्तरिक्ष में रहने वाला आन्तरिक्ष वायुरूप पूषा 'यम' है। सुक्षोक्य आदित्यरूप पूषा 'सूर्य' है। एकपि (पार्थिव पूषा), यम (आन्तरिक्ष पूषा), सूर्य (दिव्य पूषा) तीनों ही प्रजापत्य हैं, प्रजापति की सत्ताएं हैं। मृषिण्ड पितृव्यमय है। इसमें त्रिवेदिभ्य अग्निना नाम का पूषाग्नि प्रतिष्ठित है। केन्द्रस्य यही पूषा पार्थिव प्रजापति है। इसी वचन प्रजापति की एकपि-यम-सूर्य (आदित्य) यह तीन अवस्थाएं हो जाती हैं। पूर्वप्रदर्शित देवस्य स्वरूप में महिमा पृथिवी में रहने वाले जिस अग्नि-वायु-आदित्य इन तीन देवताओं का दिग्दर्शन कराया गया है, वे यही तीनों हैं। त्रिष्टुतलोम तक अग्निप्रधान एकपि प्रजापत्य पञ्चदशलोम तक वायुप्रधान यम प्रजापत्य, एक एकविंशलोम पर्यन्त आदित्य प्रधान सूर्य प्रजापत्य प्रतिष्ठित है। एक ही मूलप्रजापति की यह तीन वसावरथाएं हैं। अग्नि-वायु-आदित्य तीनों एक ही पार्थिव अग्नि के विभक्त हैं, अतएव तीनों के लिए (समष्टि दृष्टि से) अग्नि में पहिले 'पूषन्' यह कहा है। एवं आगे जाकर इसके व्यष्टिरूप प्रजापत्य भागों का दिग्दर्शन करते हुए—“एकैरे ! यम ! सूर्य ! प्रजापत्य” यह कहा है।

सम में त्रयोवि, गौ, वायु, यह तीन मनोता हैं। ज्योति इन्द्र है, विरज्यमभाग है, यही देवमाग है। नौ भाग पशु है, यही पूषा है—“पशवो वै पूषा”। वायुभाग भाप है, यही

मरुतः । सूर्यः मे पानी है, ज्योति है, पशु है, तीनों की समष्टि सूर्य है । अथवा, अनुवाय, छन्दः वायु पशु हैं । सूर्य देवमय है, इस छिणः वह इन्द्र है । आपोमय है, इस छिणः वह रुद्र है । पशुमय है, इस छिणः 'पूषा' है । इन तीनों में पूषाभाग देवमय (ज्योति-हिरण्यमया-मया) का निरोपी है । पृथिवी से सूर्य तक वह एक ही पूषाभासः प्राप्त हो रहा है । पृथिवीसूक्तः पूषा एकर्षि है, अन्तरिक्षसूक्तः पूषा यम है, स्वर्ग दिव्यलोकस्य पूषा सूर्य है । जहाँ एकर्षिप्राण (पार्ष्णि-तमोमयः आपाका पूषाप्राणः) रहता है, जहाँ इन्द्र ज्योतिमय नहीं रहता । वह इसी एकर्षि पार्ष्णि पूषाप्राण को स्वर्ग में रखकर भूति करती है—हे पूषा ! आप पृथिव्यपच्छेदेन एकर्षि हैं, अन्तरिक्षापच्छेदेन यम हैं । दिव्यलोकपच्छेदेन सूर्य हैं । आप परिमाणरूप से असोक्त में प्राप्त होकर, अपने मन्त्रापति (मूल-वचन) रूप को प्राप्तपत्य (मूल-मन्त्र) रूपों में परिवर्तित कर एकर्षि-यम-आदित्य मन्त्र से तीन स्वरूपों में परिवर्तित हो रहे हैं । आप स्वयं (केन्द्रापच्छेदेन) मन्त्रापति हैं, एवं एकर्षि-यमादि आप के तीनों रूप आप के ही विवर्धन होते हुए प्राप्तपत्य हैं । ऐसे आप अपनी (कृष्ण) रश्मियों को फैलाएँ । साव ही में असोक्त में वगात हिरण्यमय सौर देव का (सत्यधर्म के दर्शन के लिए) संरक्ष कीजिए, सवेर ! आप का जो कल्याणरूप रूप है मैं उसे ही देखता हूँ—(देखना चाहता हूँ) । जो वह सौर हिरण्यमय पुरुष है, यही मैं हूँ ।

तत्पर्य यह है कि त्रैलोक्य व्यापक पूषा में सत्यधर्म के अनुकूल-प्रतिकूल दो भाग हैं । पूषा में रहने वाला हिरण्यमय (देवरूप ज्योतिर्मय - भाग सत्यधर्म के दर्शन का निरोपी है, वह यह इस की सत्ता में आशुपद रूप के दर्शन नहीं हो सकते । एवं तमोमय त्रिदशविधुस मूत्रभाग अनुकूल है क्योंकि इसी की सत्ता में आशुपद रूप के दर्शन होते हैं । पूषा का यह पार्ष्णि तमोमयरूप ही सत्यधर्मवृद्धि में उपयोगी बनता हुआ हमारे लिए कल्याणरूप है । सत्यधर्मदर्शन में यही रूप अपेक्षित है । तमोमय मूत्रभाग पूषा का प्राथमिक रूप है । हिरण्यमय भाग व्यापक है । यह हिरण्यमय सौर भाग तो भेद वाला है यह तो सत्य प्रकाश है, उपासक है, उसे देख कर भेद नष्ट का नाम होगा । यह तो सत्य मैं हूँ । मैं देखना चाहता हूँ—उस उपा-

स्य कथ्यतव को, पूषावन्निष्कम कल्याणतमरूप को । इसी विज्ञान को सत्य में रखकर धृति
करती है—

यत्ते कल्याणतम रूप तत्ते परयामि ।
योऽसावसौ पुरुष (हिरण्यमयः) सोऽहमस्मि”
(न त पश्यामि—स तु—अहमेवेति भावः) ।

पूर्व के सन्दर्भ का निष्कर्ष यही हुआ कि पार्ष्णि अगिरा भाग पूषा है । त्रिहृद-पञ्चदश-
एकविंश भेद से इसके एकविंश-यम-सूर्य-यह तीन प्राजापत्य रूप हैं । पूषा पृथिवी है । इसके
साथ अह (दिन) का भी सम्बन्ध है, रात्रि का भी सम्बन्ध है । अह सौर भाग है, यह आन्तु-
पपुरुष का आवरण होने से अकल्याणरूप है । रात्रि का घोरतम भी आगन्तुक होता हुआ,
अतएव आन्तुपपुरुष का आवरण बनता हुआ अकल्याणरूप ही है । प्रातिष्ठिक छायामाग ही
इसका कल्याणतम रूप है । आन्तुपपुरुष को न आप दिन में (धूप में) देख सकते, न रात्रि
के अन्धकार में देख सकते । वह दृश्यता है—छाया में । सत्यधर्मदर्शन के लिए हमें पूर्वा के
छायारूप इसी कल्याणतम रूप पर दृष्टि अमानी चाहिए, छायामय भूतप्रधान पूषादेवता की ही
उपासना करनी चाहिए ।

मन्त्रार्थ के आरम्भ में हमने—‘पूषभेकर्षे यम सूर्य०’ इसादि मन्त्र को “पूषाप्राण का
कौनसा रूप सत्यधर्म का साक्षात् करवाने में समर्थ है” इस प्रश्न का समाधान करने वाला
मतवाया था । वास्तव में मन्त्र उक्त प्रश्न का ही प्रधान रूप से समाधान करता है । परन्तु
केवल इसी अर्थ पर मन्त्र की व्याप्ति समाप्त नहीं होगी । अतः उक्तार्थ के साथ साथ ही
यह मन्त्र वैश्वानर-सैत्रस-प्राणरूप जीव देवसत्त्व का भी निरूपण करता है । पूषा को जिस
भूषिण्ड समझिए । इस पर प्रतिष्ठित त्रिहृदस्थानीय अग्नि एकविंश, पञ्चदशस्थानीय वायु यम है,
एकविंशस्थानीय आदित्य सूर्य है । एकविंश अग्निप्रधान वैश्वानर का, यम वायुप्रधान हिरण्य
गर्भ का, सूर्य इन्द्रप्रधान सर्वज्ञ का स्वरूप संपादक है । पार्ष्णि पूषा प्रजापतिरूप असत्त्व
है, जिसका वि निरूपण आगे के प्रकरण में होमें वाला है । तीनों की समष्टि देवसत्त्व है, यही

प्राकृतप्रमाण है। मयामिभूतमय शरीर है। इस जीविक धूमाग का यह देवस्वरूप अमृतमय ही कल्याणतम रूप है। सत्यवर्मरूप विज्ञान की उपासना के द्वारा मैं इसे ही देखना चाहता हूँ। धूमा का कल्याणतम अमृतरूप 'मैं' (भोक्ता-भक्ष्य) हूँ यह अमृत भाग उस ईश्वरीय अमृतपुरुष से अभिन्न है, मैं उसी का प्रत्यय हूँ।

{ १-एकत्रय-प्राजापत्य-अमृतामि-विद्वत्स्थानीय-अग्नि-वैशानर (वैशाः)
२-यम-प्राजापत्य-अमृतामि-एकदशस्थानीय-वायु-विराटपुत्रः (वैत्रस)
३-सूर्य-प्राजापत्य-अमृतामि-एकविंशस्थानीय-इन्द्र-सप्तर्षि (प्राज्ञ) } देवसंस्थाना



वैशानर अग्नि-वैशस वायु-प्राज्ञ इन्द्र तीनों की समष्टि देवस्वरूप जीवन्मा है। इसप्रकार यम 'यह माय में अग्नि-वायु-इन्द्र तीनों प्रविष्ट हैं, तथापि हमारे में प्रधानता वायु की ही है। वायु ही हमारा वास्तविक आत्मा है। विदामास को ही जीवन्मा कहा जाता है। बिद्व का प्रतिबिम्ब ही विदामास है। इस बिद्व का प्रतिबिम्ब-‘यम योनिर्महद्वृक्षस्य तस्मिन् गर्भदूषाम्यहम्’ के अनुसार महाम् पर ही प्रतिष्ठित है। ययुक्ता ही महद्वृक्ष है। इस ययु की प्राय-वायु-सोम यह तीन अक्षरपाए हैं। महद्वृक्ष की इन तीन अक्षरपाओं के कारण ही यह महद्वृ प्रतिबिम्ब पानी-इशा-सोम इन तीन ही स्थानों में प्रतिष्ठित होता है। अतएव जीवन्मा प्राय-मीन, वायव्य मीन, सौम्य मीन मेरु से तीन ही गर्भों में निहित है। पानी में रहने वाले मत्स्यवि जीव प्राय है। इन की भोजना का मूलाधार पानी ही है। यदि इनके इस में रस दिया जाता है तो इन मत्स्य जीवों की चेतना उत्कृष्ट हो जाती है। इससे विमग्न वायव्य जीवों का है। पृथिवी पृष्ठ पर रहने वाले जीव ‘वायव्य’ हैं। कुमि-कीट-पक्षि पर-पशु-वृक्षादि सब वायव्य जीव हैं। बिदा वायु के इन की जीवन्मा नहीं रह सकती। हम

१-एकत्रयस्थान पर नहीं है। २- वा ही पाठ्य अमृतमय है। इसी स्थानस्थितता की वजह से एकत्रय उप विद्व में एक के लिए त्रय एक का मीन का विद्व है।

वायव्य जीवों को यदि अधिक समय तक पानी में रक्खा जाय तो हमारी जीवनसत्ता उत्क्रान्त होजाय । तीसरा विभाग सौम्य जीवों का है । राक्षस-विशास-यक्ष-गर्भ-ऐन्द्र-पैश्व-शामापन्न-प्राज्ञ भेदभिन्न अष्टविध सत्त्वविशासनीय सौम्य हैं । चातुस्रोम ही इनकी चेतना का आधार है । उक्त जीवविभागों में से उपनिषदुपदेश हम वायव्य जीवों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है । हमारी अन्त्यात्मसत्ता में वायु ही प्रधान है । वैश्वानर अपान सम्बन्धी है, प्राज्ञमाग प्राण सम्बन्धी है, मध्यस्थ वायुरूप तैजसभाग ध्यान सम्बन्धी है । जब तक मध्यस्थ ध्यान वायु स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक जीवनसाधक प्राणरूप वैश्वानर-प्राज्ञ प्रतिष्ठित रहते हैं ।

न प्रायेण नापानेन मर्यो जीवति कश्चन ।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतादुपाश्रितौ ॥१॥

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपान मक्षगास्त्यति ।

मध्ये धामनमासीन सर्वे देवा उपासते ॥२॥ [कठ १.१—३ ।]

उक्त श्रुति के अनुसार मध्यस्थ ध्यानवायुमय तैजस ही जीवनसत्ता का कारण है । बीच में बैठे हुआ यह तैजस वायु इस ओर से पार्थिव रस खेता है, उस ओर से दिव्यरस खेता है । पार्थिवभाग अथमपान होने से मर्य है, दिव्यभाग ज्ञानप्रधान होने से अमृत है । मध्यस्थ वायु इधर अनुगत बनता हुआ मर्त्यमात्रापन्न है उधर अनुगत रहता हुआ अमृतमात्रापन्न है । पार्थिवरस 'इरा' नाम से प्रसिद्ध है । महर्षि ऐतरेय में इस पार्थिव इरा रस के सम्बन्ध से ही प्रधानपुरुष को 'इरामय' कह्वाते हुए परोक्षध्यान से इसे हिरण्यमय कहा है । विज्ञानपुरुष भी हिरण्यमय है, प्रधानपुरुष भी हिरण्यमय है । दोनों ही हिरण्यमय हैं, केवल स्वरूप में अन्तर है । विज्ञानपुरुष हिरण्य (अग्नि) मय होने से हिरण्यमय है, एव प्रधानपुरुष इरामय [पार्थिवभारसमय] होने से हिरण्यमय है । (देखिए ऐ० आरण्यक २ । ७ ।) । इस निदर्शन से प्रष्ट में हमें यही कहना है कि पार्थिव मय मौलिक रस 'इरा' कहलाता है । सारा अथमप्रपञ्च पार्थिव इरामय वैश्वानर से सम्बन्ध रखता है । मृतप्रधान होता हुआ यह अमृत का कारण बनता हुआ मृत्यु

मय है। जिस पुरुष का वायुमय आत्मा पार्थिव मय शरीर की ओर [पार्थिव संपत्ति की ओर] झुक जाता है, उसका वह वायुरूप आत्मा शरीरप्रधान बनता हुआ मृत्पुरुष बन जाता है। जब तक पार्थिव इष्टमित्र में आसक्ति है, तब तक अमृतत्व का अभाव है। 'नामृतत्वरस्य तु मा-
शास्ति विद्येन'। यदि वायुमय आत्मा पार्थिव शरीर से आसक्ति छोड़कर ज्ञानमूर्ति प्राप्त कर
आत्म्य लेता हुआ 'अनिर' (शरीर रहित) बन जाता है तो अमृतप्राप्त की प्रभावता से यह भी
अमृतरूप बन जाता है—'ज्ञाना मुक्तिः'। "देवस्य ही जीवात्मा है। उसमें प्रधान मयस्य
तैजस वायु है। यदि आप आत्मकल्याण चाहते हैं तो अपने इस वायुप्रधान आत्म्य को
'अनिर' बनाएँ, पार्थिव संपत्ति से आसक्ति करना छोड़िए। अनासक्ति—योगरूप बुद्धियोग
द्वारा जब आपका वायुभाग अनिर बन जायगा तो निश्चय ही निर, मयमान से प्रपन्न होकर
हुआ वह उसी समय—'अमृत' बन जायगा। इसी रहस्य का निरूपण करते हुए आगे जाकर
अपि कहते हैं—

“वायुरानिलममृतम्

।

॥”

(१० उ० १७ म०)।

(यदा वायुः (मयस्यस्तैजसात्मा) अनिरासु—(अनिरासु-पार्थिवरसासक्तिविरहितो)
मवति—मय स आत्मा अमृतभावयुक्तो मवति)—

पार्थिव वातु इय है, इस से मौलिक शरीर बनता है, यही वाक्त्वा मृतपिति है।
आन्तरिक्य वातु वायु है, यही ओज बनता है यही मायपिति है। दिव्य वातु इन्द्र है,
इस से मन बनता है, यही देवपिति है। इस प्रकार त्रैलोक्य के तीनों विषयों से व्यपत्य के
उक्त तीनों विषयों का निर्माण होता है। दिव्यलोक यनोमय है, आन्तरिकलोक मायामय है
पृथिवीलोक वाक्मय है—(वेद्विप निगमणीसंक्षिप्तम्)। शरीर मय है, मन अमृत है।
प्राणवायु दोनों के मय में है। यदि यह शरीर है तो मृत्पुरुषमय है, अनिर है तो अमृत है।

- १—शरीरम्—वाक्—गार्गिषघात ——अग्नि (मृत्यु) —इयमप (वायुर्मृत्युमप)
 २—ओष —प्राण —आन्तरिद्य वसम्—वायु —————
 ३—मन —मन —दिव्यज्ञानम् ——इन्द्र (अमृतम्) —हिरण्य (वायुरनिसममृतम्)



इस प्रकार हमारा यह प्राणात्माधिकरूप देवसत्य से अत्यनाभूत वायुयपुरुष की उपासना वय उपाय बतसाता हुआ, देवसत्य का निरूख करता हुआ, सशक्त में उसे वायुग्रधान बतसाना हुआ, साथ ही में आत्मा के अमृतमात्र के सिव पार्थिव विरवों में अनासक्ति रखने का आदेश देता हुआ समाप्त होता है ।

इति—प्राणात्माधिकरणम्



माकृतास्माधिकरणे
प्राणात्माधिकरणं
समाप्तम्

५



पूणमत्तः →→→→
६-मू →→→→
अभिदमतम् →→→→

भूतवैभव

पूणमिदम्
६-शरीरम्
अध्यात्मम्

ब्रह्मसत्याक्षर —

बीज-दैवत-भूतमयः प्राकृतात्मा भूः
शरीरम्

६

मू ← ——— ←←← मर्त्यान्नादः →→→ ——— → शरीरम्

(प्राकृतात्माधिकरणे शरीरात्माधिकरणम्)

यज्ञमात्रिकवेदावच्छिन्न - बीज-देव-भूतमयात्मा
चित्स्थितात्मा

१-

अथेदं मस्मान्तं शरीरम् ।

ओं क्रतो स्मर, कृतं स्मर, क्रतो स्मर, कृतं स्मर ॥

(श्रीगोपनिषद् १७ मन्त्र) ।





शरीरात्मस्वरूपनिदर्शनः—

१-पञ्चात्मक पञ्चसु वर्तमान पञ्चाश्रय पद्गुणयोगसुक्तम् ।

त सप्तधातु त्रिमस द्वयोर्नि अशुविबाह्यरमयं शरीरम् ॥

(गमोपनिषत्) ।

२-स-वायु-स्योति-राप-पृथिवी तिस्रस्य चारिणी ॥

(कैकयोपनिषत्) ।

३-मस्मनिष्ठस्य दहन्ते दोषा मस्मान्निसगमात् ।

मस्मत्स्नानमिश्रुद्धामा मस्मनिष्ठ इति स्मृत ॥

(मृद्व्यावासोपनिषत्)

४-अप येतेषां सप्ताणां पुरुषाणां श्रीः, यो, रस आसीत्, तन्मूष समुदोहन् । तदस्य
शिरोऽभवत् । यन्मिथ्य समुदोहन्, तस्माभिर । तस्मिन्नेतस्मिन् प्राणा अभवन्त,
तस्माद्वैतभिर । अप यत् सवस्मिभभवन्त, तस्माद् शरीरम् ॥

(शत ६ भा० ६ कं । १ प्र । १ भा । ४ क) ।

५-“आत्मा च तनूः” (शत० ६।७।२।५) ।

६-“आत्मनो वेवाप्यहानि प्ररोहन्ति” (शत० ८।७।२।५) ।

७-“पाद् इतर आत्मा (शरीरं) सोम-रव-मास-मसि-मन्त्रा” (तां भा १।१।४) ।

८-“पद्मोऽयमात्मा (शरीरं) पद्मिष ” (कौ० भा० २०।१) ।

९-“तस्मादितर आत्मा (शरीरं) मेपति च इत्यपि च” । (तां भा १।१।७) ।

१०-“मूत्रेऽणोऽहानां यदात्मा (शरीरम्)” (शत ६।६।१।१०) ।

११—‘तस्मादयं सर्वं द्वात्म्या (शरीर) उच्यते (अस्मिन्मात्रे) ।

तत्रैतदेव जीविष्यतश्च मरिष्यतश्च विज्ञानम् ।

उच्यते एव जीविष्यन्, मरिष्यन्” (शत ८।७।१।११) ।

१२—“तत् सर्वं आत्मा (शरीर) वाचमप्येति, वाक्मये भवति” (कौ श्र २।७) ।

१३—“आत्मा (शरीरम्)” (शत ६।६।२।१६) ।

१४—“सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुष [शरीर] पञ्चत्वर आत्मा,

अयं पञ्चपञ्चालि” (शत० ६।१।१।६।) ।

१५—“आत्मा [शरीर] एव—उक्ता” (शत० ६।५।३।८) ।



॥ श्री ॥

महामृतानि सत्त्वानि सद्भवानि क्रमेण च ।

सत्त्वपातुमयो देहो दग्धा योगक्षिप्ता गतै ॥१॥

यथाकाशस्तथा देह आकाशस्तथा सिम्बल ।

सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरु इव सूक्ष्मात् सूक्ष्मो ब्रह्माब्जः ॥२॥

भूतमिष पयसि निगूढं भूते भूते च बसति विज्ञानम् ।

सत्तत मर्षापिस्तस्य मनसा मय्यामभूतेन ॥३॥



पनिपत् का बह्व्य नियम प्राय समाप्त है । आत्मरुद्धि की अपेक्षा से अप्यात्मसत्त्वा में जो तात्त्विक अंश थे, उनका क्रमिक निरूपण कर उपनिषदार्थ गतार्थ है । जो सत्तारी उक्त आत्मविकर्षों को न पहिचान कर केवल शरीर की आराधना में ही निमग्न रहते हुए भोग-ऐश्वर्यों में तल्लीन रहते हैं, जिन यथानात मूढ़ मनुष्यों के जीवन का एकमात्र उद्देश्य शरीर परिपालन ही है, जिन्होंने—“खाना-पीना मौझ उढ़ाना” (eat drink and

bo marry) इसी सिद्धांत को अपने जीवन का परम पुरुषार्थ मान रक्खा है, उन का यह नियतम शरीर एक दिन मलमसाद् (राख की ढेरी) होने वाला है । यदि उन्होंने इसी शरीर में प्रतिष्ठित उक्त आत्मसत्त्वाओं को न पहिचाना तो अन्त में शरीर तो एक दिन मिट्टी में मिगड़ी जायगा, साप ही में यह यथानात इस जन्म-मृत्युपरम्पराचक्षण दुःखाखण से भी कमी नुटकवार न पासकेंगे । अमृतारामा निकल गया, रह गया भस्मान्त शरीर ।

विश्वास करो जो शरीर एक दिन भस्म बनने वाला है, इसी मरमान्त शरीर में अमृतारामा से अनुपम्वीत कृष्णात्मा प्रतिष्ठित है । उसके स्वरूप को पहिचानों । कर्मात्मा द्वारा महानात्मा [अन्तर्मा] पर, प्रज्ञानशय विज्ञानात्मा [बुद्धि] पर, विज्ञानशय महानात्मा पर, महान् द्वारा

अभ्यक्त मांस से प्रसिद्ध शान्तात्मा पर पहुँचते हुए, परब्रह्म रूप उस पुरुष तत्व को प्राप्त कर अपना जन्म, एव जीवन सफल करे। इस दुसम मानव शरीर को पाकर भी यदि तुम्हें अपना जन्म एव जीवन, निरर्थक ही गया दिया तो तुम्हें अपना सबसे बड़ा अनिष्ट कर लिया। यही शरीर आत्मवृद्धि से तुम्हारे उद्धार का साधन है, यही शरीर तुम्हारे सर्वनाश का कारण है। इसी भाव का वर्य सुन्दर शब्दों में दिव्यशक्ति करताती हुई श्रुति कहती है —

१-इह वेदवेदीदृष सधर्मास्ति, न वेदिहावेदीन्महती निनष्टिः ।

भूतेषु मृतेषु निषिद्धं धीरा मेष्वास्माक्योक्तदमृता भवन्ति ॥ (केनोपनिषद् २।११) ।

२-अस्य निष्कसमानस्य शरीरस्यैव देहिनः ।

देहादिसुष्पमानस्य किमत्र परिशिष्यते ॥ (कठोप० ३।४।) ।

३-इह वेदराक्ष् बोधुं प्राक् शरीरस्य निष्कसः ।

ततः संशु सोऽप्येव शरीरस्यैव कल्पते ॥ (कठ० ६।७) ।

मित्र प्रकार मन्त्रानिष्ट उस निष्कसापक ईश्वर का शरीर है एवमेव हमारे जीवन्मा का यह मौक्तिक शरीर हमारा पित्र है। ईश्वरतत्त्व शरीरापेक्षया = ४ अंगुल का है, ईश्वर जीवन्मा भी अपने निष्क की अपेक्षा से = ४ अंगुल का ही है। दोनों का आकार समान है, तभी तो “पुरुषो वै मजापतेर्नेदिष्ठम्” (मनुष्य ईश्वर के बहुत समीप है, ईश्वर से मिलता जुलता है—(शत. २।१।११) यह मुक्ति वरितार्थ होती है। ईश्वर और पुरुष ही क्या, प्रत्येक प्राणी का शरीर अपने अंगुल के परिमाण से = ४ अंगुल का ही होता है। एक १ महीने का बच्चा भी = ४ अंगुल का ही है, एक पुत्र भी = ४ अंगुल का ही है। कारण इस का यही है कि आत्मवृद्धि का मूल स्तम्भ आवाहर गायत्री छन्द माना गया है, वैसा कि पूर्व में विस्तार से बताया जा चुका है—(देखिए ई उ डि सं मन्त्रात्मिकाधिकरण पृ. सं. ११० से १११ पृष्ठा) । “महासुरा वै गाममी” इस सिद्धान्त के अनुसार गायत्री को आठ आक्षर का छन्द माना गया है। प्राणतत्त्व का ही नाम आक्षर है। एवं “मादेश्वरिः प्राणः” (ऐ का १।२।७) के

अनुसार प्रायतन प्रदेश परिमित स्थान में अपनी व्याप्ति रखता है। अगुष्ठ और तर्जनी को फैला दीजिए। इन दोनों के मध्य का जिसना प्रदेश होगा, वही प्रदेश कइसावेग। यह अगुली-परिमण्व की अपेक्षा से १०॥ अगुलमित होग, जैसा कि- 'अत्यतिष्ठदगुलसम्' इत्यादि से स्पष्ट है। निष्कर्ष यह हुआ कि प्रत्येक प्राण की व्याप्ति १०॥ अंगुसाबन्धुन प्रदेश में रहती है। गणप्री में ऐसे आठ प्राण किंवा आठ अक्षर हैं। पञ्चत पूरे गणप्री सुन्द की व्याप्ति ८४ अगुलमयी बन जाती है। अक्षर-अक्षर से कण्ठ तक एक प्रादेश है। कण्ठ से हृदय तक दूसरा प्रादेश है। हृदय से नाभि तक तीसरा प्रादेश है। नाभि से अक्षग्रन्थि (गुदस्थान) पर्यन्त चौथा प्रादेश है। अक्षग्रन्थि से गोखों की कगली तक दो प्रादेश हैं। यहाँ से पाद पर्यन्त दो प्रादेश हैं। सम्भूष आठ प्रादेश हो जाते हैं। इस प्रकार आठ प्रादेशों से शरीर बीसवीं अगुल का होजाता है। इन आठों प्रादेशों में क्रमशः सत्य, तप, जनत, महः, स्व, सुवः, पृथिवी, मूः इन आठ पर्वों का सम्मेलन है। ईश्वर शरीर सप्तनितस्तिकाय नाम से प्रसिद्ध है। जैसा कि—“सवेष्टिबायदपन्सप्तनितस्तिकायः” (मागक्त) इत्यादि पुराण-सिद्धान्त से स्पष्ट है ॥ अगुष्ठ से कनिष्ठिका अगुली पर्यन्त जो वित्तत प्रदेश है, उसे ही वित्तन्ति (किन्नात) कहा जाता है। यह प्रदेश १२ अगुल मित है। ईश्वर शरीर में मू-मुह-मह-मह-मनत-तप-सत्यम्-यह सप्तसोबन्धनिका सात नितस्तिका हैं। सम्भूष विद्यात्मक ईश्वर शरीर भी बीसवीं अगुल का ही हो जाता है—(१२+७=१९)। जैसी स्थिति इस आध्यात्मिक पुरुष की है, ठीक वही स्थिति उस आधिदैविक पुरुष की है। केवल मध्यस्थ आधिमौलिक प्रपञ्च में दोनों में भेद उपस्थित कर रक्खा है। देखिए !

योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसाधेशाधिदैविकः ।

यत्तन्मोमयकिञ्छेदः पुरुषोऽपिमीतिकः ॥

[श्रीमद्भागवत दि० १८० १० अ० ८ २सो०]

ईश्वर के उक्त सात पर्वों में आठ पर्व होजाते हैं। सातवें, किंवा पन्द्रहसे भूपर्व के मू-पृथिवी दो विभाग हैं, जैसा कि पूर के प्राणायामाधिकरण में विस्तार से बताया जा चुका है।

यह आठों ही पर्व—‘अद्वैतं हि मे भगवतेरहमनो मममासीदर्द्धममृतम्’ इस सिद्धान्तके अनुसार
 अमृत—मत्स्य मेद से दो दो भागों में विभक्त है । इन अमृत भागों की समष्टि आत्मसत्त्वा है, इस
 भाग भागों की समष्टि विश्वसत्त्वा है । विश्व ऊपरप्रधान है, आत्मा अन्वयकार्थित अक्षरप्रधान है ।
 ऊपर मूर्तमात्र है, मूर्त ही मूर्ति है, मूर्ति ही मत्स्य है, यही मत्स्यगत विश्व है । ठीक यही अन्व
 यमत्स्य में है । अमिदंभक्त की अमृतमयी आत्मसत्त्वा से अन्वयमत्स्यसत्त्वों का उदय होता है,
 एवं विश्वसत्त्वा से शरीर का स्वरूप निष्पन्न होता है । विश्व का क्या स्वरूप है ? एवं
 विरहाशमृत शरीर का क्या स्वरूप है ? इन सब प्रश्नों का विशद निरूपण ईशोपास्य के
 प्रथमसर्ग में किया जा चुका है—(दक्षिण ई उ प्र ख. विश्वनिरुक्ति १२७ से १८०
 पञ्च पञ्च) । अतः यहाँ विवक्षित की कोई आवश्यकता नहीं है । प्रकृत में केवल यही समझ
 सेना पक्का होगी कि हमारे शरीर का निर्माण स्वयं मूर्ति से हुआ है, परन्तु मूर्ति
 पञ्चात्मक, किंवा सप्त लोकात्मक है । अतः तदुत्पन्न शरीर में भी विश्व के सभी भौतिक प्रत्ययों
 का समावेश सिद्ध होना चाहिये । व्यापाद—मत्स्य शरीर भौतिक है । इसमें उक्त आठों पर्वों
 का योग होना है, जैसा कि अग्रे के परिच्छेद से स्पष्ट होना चाहिये ।

उक्त शरीरसत्त्वा का निरूपण करता हुआ ही निम्न लिखित मन्त्र हमारे सामने आता है—

अथेदं मत्मान्तं शरीरम् ।

अथोक्तो स्मर, कृतं स्मर, कृतो स्मर, कृत स्मर ॥

(ई० उ० १० मन्त्र) ।

‘अथेदं मत्मान्तं शरीरम्’ इस वाक्य से उपनिषद् की यही बातसना है कि मत्स्य का
 वायुरूप आत्मा अनित्य (अमर) बनता हुआ अमृतभाव को प्राप्त होना चाहिये, परन्तु शरीर
 भरीममूल बनकर यही रह जाता है । इस प्रकार यह ईशोपनिषद् उपनिषत्सत्त्वानीप पौंडरी
 पुरुष से आरम्भ कर उपसंहार स्वरूप शरीरपर्यन्त सम्पूर्ण आत्मनिर्माणों का सङ्घट्ट से निरूपण
 करती हुई आती—“सर्वोपनिषद्” “पुरुषोपनिषद्” इत्यादि नामों को अन्तिम बन रही है ।

उपनिषदादेश समस्त हुआ। ईश्वर—एवं जीव दोनों का स्वरूप हमारे सामने रखकर अर्थात् में उपनिषत् हमें आदेश करती है कि ‘यदि तुम ज्ञानकममय पूर्णोक्त आत्मस्वरूप का स्वरूप स्वरूप जानना चाहते हो तो ऋतु का स्वरूप करो एवं कृत का स्वरूप करो। अथ-स्वायत्तु ऋतु है। ‘अहमिदं करिष्यामि’ (मैं यह करूँगा) इस मानसवृत्ति का नाम ही ऋतु है। इस ऋतु की सफलता ‘दत्त’ है। कार्यसिद्धि दक्षमान है, तदर्थ होने वाला सकल्प (इरादा) ऋतुमान है। पहिले ऋतु होता है, अनन्तर कृतस्वरूप दक्षमान का उदय होता है। प्रत्येक कर्म में ऋतु—दक्ष (ऋतु—कृत) दोनों भाग निमिष्ट हैं। मनोसुक्त प्राणम्यापार ऋतु है, वाग्म्यापार कृत है, दोनों का आत्ममन मन है। मन से कामना का उदय होता है, तदनु कृष प्राणम्यापार हो पड़ता है, तदनन्तर वाग्म्यापार होता है, कर्म सिद्ध होजाता है। प्राण म्यापार कामनामय है, अतएव ऋतु को मानस म्यापार भी मान लिया जाता है, ऐसा कि—कृति कहती है—

“स यदेव मनसा कामयते—इदं मे स्यात्, इदं कुर्यात्—इति, स एव ऋतुः।”

(शत० १।१।१।१।)

“इत्तु अथ ऋतुर्धनोमयः प्रविष्ट” (शत० १।१।१।१।)

इरादा ऋतु है, इरादे से जो काम किया जाता है वह कृत है। जो मनुष्य अपने ऋतु और कृत पर पूरा ध्यान रखता है, वही आत्मबोध में समर्थ होता है। सौमिक नियम—सम्बन्धी ऋतु और कृत आत्मिक के कारण हैं, आत्मानुग्रहक ऋतु एवं कृत आत्मिक के कारण हैं। ‘क्या इरादा था, क्या किया’ इस प्रकार प्रत्येक काम में दोनों पर ध्यान रखो। इस से सदसद्विवेक होगी, अच्छे बुरे की पहिचान होगी। फलतः सदकार्य में प्रवृत्ति होगी, असत् कर्मों से निवृत्ति होगी। आत्मबोध के लिए प्रत्येक दशा में—‘हमारा क्या इरादा था, हमने क्या करवाया’

● किंतु ये स्वयंसेवक कृत किंतु ये स्वयंसेवक।

इति ईशोपनिषत् मेधवी सततं कर्म्यं चरेत् ॥

इस विचारधारा को कल्प में रक्खो ! इस विचारधारा से कस्मान्तर में तुम्हें क्याई परिस्थिति का ज्ञान होजायगा । आत्मज्ञान के लिए ऋतु और इन्द्र के स्मरण से अतिरिक्त और कोई ऋतु उपाय नहीं है ।

अपि च तुम्हें आत्मोपनिषत् सुनी, आत्मा का शब्दधारा (शब्दधारा) तुम्हें परिज्ञान हुआ । परन्तु यह शब्दिक ज्ञान तब तक सर्वथा निरर्थक है, जब तक कि हम तदनुकूल ऋतु-और इन्द्र का आश्रय न लें । “आत्मा निरा है, हम और वह अस्मिन् हैं, हम साक्षात् ब्रह्म हैं” इस प्रकार केवल मुक्त से शब्द कह देना से ही आत्मबोध नहीं हुआ करता । आत्मबोध के लिए जहाँ आत्मस्वरूप अमल आवश्यक है, तमैव (अवश्यान्तर) मनन-निदिध्यासन भी आवश्यक हैं । “आत्माते वायं द्रष्टव्याः—(कथं द्रष्टव्याः) ? श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्याः” । सुनो, मनन करो, आत्मसत्ता में रह करो तभी आत्मसाक्षात्कार होय । मन्तव्याः—ऋतुमात्र है, निदिध्यासितव्याः—कृतमात्र है । अष्टांगानुसृत सक्रिय रहते, सक्रियानुसृत आत्मोपयोगी निष्क्रिय बन करो, यही आत्मबोध के मुख्यधारा हैं—“कृतो स्मर-कृत स्मर” । “अभ्यासे भूयांसमर्थं मम्यन्ते” के अनुसार पुनरुक्ति श्रुता के लिए है । साधन ही में यही उपनिषत् सन्नात है, इस सम्यक्पि सूचना के लिए भी विकृति है । “ऋतु का स्मरण करो, इन्द्र को स्मरण में रक्खो” यही वक्त्यावत का अन्त्यमार्ग है ।

इति शरीरात्माधिकरणम् ।



५

उभयो सत्यात्मनोरभिनायेकात्म्यम्

स्वप्न-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी पर पाँच ईश्वरीय ब्रह्मसत्त्व हैं, अभ्यक्त-महान्-विज्ञान मद्भान-शरीर पर पाँच जीव ब्रह्मसत्त्व हैं । सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-वैश्वानर

छन्दः पञ्चन ह । इति पञ्चना वय आनन वासा (भस्वरूपसंवादन करमे वासा), अस्तएव 'आत्वेदेव'।

नाम से प्रसिद्ध अग्नि ही है । इसी वयुनित्तु निष्कृति अग्नि का स्वरूप बतलाते हुए अग्नि कहते हैं—

हे अग्ने ! आप सपत्ति, आत्मसम्पत्ति—एवं विश्वसम्पत्ति के लिए हमें कौनसे मार्ग से ले चलिए । क्योंकि ससार की वयुनित्तु जितनी भी सम्पत्ति है, आप ही उस सबके व्यस्तम होता है । हमारे आत्म को कुटिल बनाने वाला [असम्पत्ति में से जाने वाला] जो पाप्मा है, उसे हमसे छुट्कार दीजिए । हे अग्ने ! हम आपके लिए बार बार नाम वाक् का उच्चारण करते हैं—[आपके अन्न बनते हैं] ” । स्वाहा—स्वया—स्वगा—धौपद्—धौपद्—नमः आदि मंत्र से अन्न के कई भू हैं । इनमें मुख्यरूप अन्न ‘नमः’ है । ‘हम आपको नमस्कार करते हैं’ इसका तात्पर्य यही है कि हम आपके भोग्य (अन्न) बनते हैं । अग्नि अन्नाद है । अन्न इसकी प्रसन्नता का कारण है । अन्न हम लय ‘नम’ बोलते हुए इस अग्नि के मम, रूप अन्न बन रहे हैं । इस प्रकार वाजसनेय्यसमायुक्त वयुनापिष्टाता, सन्मार्गमन्त्रक इसी अग्निदेव को भूयः-भूयः नमस्कार करते हुए यह उपनिषद् समाप्त होती है ।

ओं पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्ति ' शान्ति ॥ शान्तिः ॥॥

इति वाजसनेयोपनिषत् विज्ञानभाष्यं सम्पूर्णम् ।

→ एषा वाक् ब्राह्मी उपनिषत् ←

— ❖ —

उपनिषत्-निष्कर्ष

सर्वविवेक के अभाव से मनुष्य अपना स्वरूप भ्रष्टता हुआ पावग्रीवम फसारापूर्वक भोगों में ही प्रवृत्त रहता है ।

भोगैश्वर्यमसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते” (गीता० २।४४)

इस स्वार्थी उपनिषत् के अनुसार जो व्यक्ति भोगैश्वर्य का वास्तविक रहस्य न समझते हुए परमना पूर्वक इनमें अहोरात्र प्रवृत्त रहते हैं, दूसरे शब्दों में जिनके जीवन का अरम सदैव एक मात्र सांसारिक भोग-वैभव ही है उन व्यक्ति की मनुष्यों का भोगप्रसक्त मन बधल रहता है । मन के साथ बुद्धि का कनिष्ठ सम्बन्ध है । दूसरे शब्दों में सोमसमय मन पर प्रतिबिम्बरूप से बुद्धि प्रतिष्ठित है । जिस प्रकार वायु के आघात से समुद्र से पार खेमाने वाली नौका डगमग जाती है—(वायुनाश्विषाम्मसि—गीता), अथवा जिस तरह पानी के हिल जाने से तत्प्रतिष्ठ सूक्ष्मप्रतिबिम्ब हिल पड़ता है, ठीक इसी तरह कामासहिष्णुनीय वायु के आघात से चञ्चल बना हुआ समुद्र, किंवा अप्रस्थानीय मन तत्प्रतिष्ठ नौकास्थानीय बुद्धि को चञ्चल बना देता है । बुद्धि के साथ 'महान्' नाम से प्रसिद्ध 'चित्' की सामाजिक स्थिरता मारी जाती है । चित् का सावधान उत्क्रान्त होना ही है, रजोमिश्रित तमोमात्र बुद्धि और मन पर आक्रमण कर सता है । ऐसी मशिन बुद्धि कभी आत्मशान्तिरक्षण समाधि में प्रतिष्ठित नहीं रह सकती । यह ही ऐसा सतारी कहने भर को अपने ध्या को सुग्री समझता रहे, परन्तु यदि इस से शपथ पुर स्तर पूजा काय तो इसे बड़ी उत्तर देना पड़ेगा, जो कि उत्तर कामशानी महाराज यथाति के मुख से निकले थे । पुरु हाथ प्राप्त पुत्रबाधा से भी जब यत्नि की गति न हुई तो विप्र होकर अन्त में उन्हें कहना पड़ा—

न मातु काम कामानामुपभोगेन शम्भयति ।

इतिषा कृष्णवर्णेन मूय एवाभिरुदने ॥

इस प्रकार अविवेक के द्वारा तु साक्षात् में निम्न प्राणियों के समुदाय के लिए है ईगोपनिषत् प्रकृत हुई है। उपनिषत् का कल्याण केवल यही है कि “तुम ईशदृष्टि से मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त रहते हुए निष्कामबुद्धि से यापजीवन कर्म करते रहो”। निष्कामग्रहण से कर्म करते करते कालान्तर में तुम्हारा मन बनासक्त बन जायगा, प्रज्ञा स्थिर होजायगी, मन की स्थिरता से बुद्धि स्थिर होजायगी। बुद्धि की स्थिरता से विष्णुप्रसाद होय—‘प्रसादे सर्व दुःस्वार्ता हानिरस्योपजायते’। प्रकृत उपनिषत् में निम्न लिखित ६ श्रवणों पर ही ध्यान रखनी चाहिए—

- १—तेन त्यक्तेन मुञ्जीथा ।
- २—मा गृध कस्यस्विद्धनम् ।
- ३—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् ।
- ४—योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम् ।
- ५—क्रतो स्मर, कृत स्मर ।
- ६—श्रग्ने नय सुपथा राये ।

—०—

- १—ईश से छोड़ हुए भाग का (ही) भोग करो !
- २—किसी की सम्पत्ति पर निषत मन बिगाओ !
- ३—काम करते हुए ही मोक्षित रहने की इच्छा करो !
- ४—जो आदिम में आत्मा है, वही तुम हो !
- ५—अपने इरादे को अक्षय में रखो, जो करगुने हो उसे अक्षय में रखो !
- ६—साथ ही मैं अपने वन (अभिज्ञान) का ठीक मार्ग में उपयोग करो !

— श्री(६७)६ —

१- तुम्हें अपने जीवन में जो कुछ भोग मिलें वांछा है, वह उस अन्तर्धामी की प्रेरणा से (तुम्हारे ही मन्त्रित कर्मों के अनुसार) पहिले से ही निपट है । 'जात्यापुमोंगा' इस सिद्धांत के अनुसार तुम्हारी जाति (वोनि) आयु और भोग तीनों पहिले से ही निपट हैं । तुम्हें जो कुछ मिलें वांछा है वह तुम्हारा भागधेय (हिस्सा) है, उसे दूसरा नहीं बना सकता, साथ ही मैं तुम दूसरे का खे भी नहीं सकता । मिलें वांछा मिल ही जायगा, न मिलें वांछा नहीं ही मिलेगा । विश्वास करो । मोहन तुम्हारे जीवन के लिए है, जीवन मोहन के लिए नहीं है । मोहन को जीवन का दास समझे, जीवन को मोहन का गुलाम मत बनाओ ! स्वस्वों के दास मत बनो, स्वस्वों को अपना दास बनाओ ! स्वार्थ के लिए जितित मत रहो, जीवित रहने के लिए ग्राहो । मोहन की दासता में तुम स्वयं संसार के मोहन बन जाओगे, एक मोहन को अपना दास बनालेने से संसार तुम्हारा भोग बन जायगा । यदि ऐसा नहीं करोगे तो—



२- तुम्हारी जिन्सा तुम ही पलायन तुम्हारी वांछा तुम्हारे आत्मा को गिरागी । तुम्हें धन की दासता में अत्यसमरल करना पड़गा क्योंकि क सिर दीरों की भ गइनी पड़गी, अकस्मात के लिए सख्त गाना पड़गा, पर की दासता में तुम्हें परमुनपेदी बनना पड़गा दूसरों की हिंसा सहनी पड़गी । मोरो ' (मत पर ध्यानार करो) विषा रो (सुद्धे से बचता) ' साथ समझार बहवायण का आग्रहना । तुम क्यों दूसरों की सरति में जिन्सा रहने हो । क्या तुम मनुष्य नहीं हो ? क्या तुम्हारे पास बुद्धि नहीं है ? क्या तुम उस साराजन के बराबरी हो ? हाँ और बराबर हो । तुम्हें अपने प्रज्ञा (जातधर्म-धर्म) से अपना विनिर्माण भुला रहना है । उठो ' जग ॥ वेदपुराण का प्रमाण है से जगो होने का । आप ११। तुम्हारे गण है । तुम्हें विग का दर है तुम्हारे पास क्या नहीं है । जानते हो आप का बच तुम्हारे ऊपर अनुपद करी । बच

तुम्हें आत्मक (Will Power) मिलेगा । फल तुझारी गरीब दूनेगी । कब तुम भोगों के पञ्जे से छूटोगे ? नहीं तो सुनो !



३- जो मनुष्य फल को अपने अधिकार से बाहर की वस्तु समझता हुआ अनन्यथा से केवल कर्म में प्रवृत्त रहता है, सिध की निम्नलिखित उस के कारणों में सोच करती है । फल को तुम उत्पन्न नहीं करते, फल उत्पन्न होता है तुम्हारे कर्म से । तुम कर्मदश में ही जब फल की चर्चणा करने लगते हो तो परिणाम इस प्रकार यह होता है कि तुम्हारा मन दोनों तरफ बट जाता है, अनन्यता जाती रहती है । कर्मसिद्धि में वित्तमा बल अपेक्षित है, वह बट जाता है, कर्म अपूर्ण रह जाता है । फलतः पूर्ण कर्म से सम्बन्ध रखने वाले पूर्णफल का उदय नहीं होता । इस प्रकार कर्मप्रवृत्तिकार में फल की आशा रखते हुए तुम सदैव ही फलनाश के कारण बन जाते हो । यही नहीं, फलनाशकार से तुम्हारा मन विचलित हो जाता है, शृङ्खला बद्ध जाती है । यदि तुम शृङ्खला हटाना चाहते हो मिलनम बनना चाहते हो तो कर्मप्रवृत्तिकार में सर्वथा अनभिज्ञ फलनाश का परित्याग करते हुए शास्त्रसिद्ध आनुक्यधर्ममूलाक कर्मों में निष्कामबुद्धि से प्रवृत्त रहो । मोक्ष-लप्सा के लिए जीमित रहने की इच्छा मत करो, कर्म करने के लिए जीमित रहने की इच्छा करो । परिणाम इस का यह होगा कि कर्म की अनन्यता से फलानिबन्धि में भी संशय न रहेगा, एवं फलनाश से सम्बन्ध रखने वाला संस्कार छेप भी न होगा । बरे ! तुम बिल तुच्छ फलों की आसक्ति में पड़े हुए हो । त्रैलोक्य की संप्रति के अविद्याता आदिम पुरुष के बराबर होकर इन तुच्छ संप्रतियों के पीछे दौड़ते हुए तुम अपने बराजों की कीर्ति मिट्टी में मिटा रहे हो । सोचो तुम कौन हो, कहाँ से आए हो, क्या करना चाहिए या क्या कर रहे हो । यदि तुम यह नहीं जानते कि तुम क्या हो तो सुनो, हम बताते हैं ।



४- सूर्य तुम्हारे सामने है । अशोक्य इस के प्रकाश से प्रकाशित है । “सूर्य आत्मा जगत स्तस्युपम” (यजु सं०) इस श्रुत सिद्धान्त के अनुसार हम उसी के अंग हैं । अश्व अग्नी से अभिन्न है । फलतः जो वह है, यही हम हैं । “हम कौन हैं” इस का यही सच्चा इतिहास है । जिम धोकेबाजों ने तुम्हारे इतिहास का स्वरूप विकृत कर तुम्हारे आत्मैव का अपहरण कर रक्खा है, एव जिस कल्पित इतिहास को मोहवश सत्य समझते हुए तुम अपनी जन्मसिद्ध क्षतव्रता से वञ्चित हो रहे हो, कलङ्कित, कल्पित, कुत्सित, कुतर्कमय उस मिथ्या इतिहासप्रन्थ के पत्रों को जला जाओ । अपने अतीत गौरव के सच्चे इतिहास का अवधारण करो । यह विवेक तुम्हें अपने अधियों की वाणी में, उपनिषदों में । यह इतिहास अजर अमर है, अतएव अमिट है । अपने इस सत्य आत्म-इतिहास के बल पर तुम जन्मसिद्ध उस आत्मानन्दमूला क्षतव्रता को प्राप्त करने में समर्थ बनोगे । परन्तु इतना ध्यान रखना कि इतिहास देखने में कहीं प्रमाद न हो जाय । कर्म करो, परन्तु सावधानी से । आँख मीच कर धोखाधारी मत बनना । अग्नि तु निम्न लिखित सिद्धान्त को सदा अपने सामने रखते हुए ही कर्ममार्ग में प्रवृत्त रहना—

किं नु मे स्मादिद कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वता ।

इति सचिन्स मेभाभी कर्म कुर्वीत वा न वा ॥

कर्मब्रत क्या दुस्तर है । “किं क्म किमकर्मैति क्मयोऽप्यत्र मोहिता” (गीता) के अनुसार कवि (यजु-सोम) वराह, सोममय मन का संपन करने के कारण कवि नाम से प्रसिद्ध बड़े बड़े मनस्वी भी कभी कभी धोखा खा जाते हैं । ये भी कभी कभी वयाधम भर्ममूला आधिकारिक कर्म की उपेक्षा कर अकर्म को कर्म मान बैठते हैं, कर्म को अकर्म मान बैठते हैं । तुम्हें चाहिए कि—

—४३६—

५- तुम्हें कर्म में प्रवृत्त होने के लिए जो इच्छा (कृत्वा) किया है, उसकी पूर्ण परीक्षा कर लो । साथ ही मैं जो काम कर चुके हो उस पर दृष्टि रखो । सोचो कि अस्तक हमने

जो कुछ किया है, उससे हमारा क्या उपकार हुआ है एवं उससे समाज का क्या हित हुआ है। वर्तमान को मध्य बनाने के लिए अतीत को सदैव में रखो। कहीं ऐसा न हो कि केवल वर्तमान के भ्रष्टाचार के झगड़े में भाँकर भाँस भीष कर अराजकीय कर्मों को शास्त्रीय मानते हुए, साथ ही में कर्ममार्ग का द्विपिडमधोप करते हुए अपना सर्वनाश करा बैठे। 'सुरस्य पारा निशिता दुरजया दुर्ग पयस्तत् फलयो यदन्ति'।

—४३५—

६- तुम्हारा कृत (इरादा) भी बड़ा उदात्त है, अतीत भी तुम्हारा बड़ा मध्य था। परन्तु सावधान! कहीं वर्तमान को न भूल जाना। वर्तमान में तुम्हारे पास जितनी शक्ति है उसे ध्यान में रखते हुए ही आगे बढ़ना। हमने चौंके इरादे, अतीत का गौरव ही कर्म प्रवृत्ति के मुख्य द्वार नहीं हैं। इसके लिए तुम्हें वर्तमान वल का आश्रय लेना पड़ेगा। तुम्हारी अन्धधामसत्ता में कर्म के प्रवक्तृ देवता सोमगर्भित अग्नि हैं। अग्नि अक्षिण है, सोम मृगु है। यही दोनों तुम्हारे तप [कर्म] के सम्हालक हैं। “युग्व्याम हिरसां तपसा सप्यश्चम्” इस ग्रीक सिद्धान्त का समादा करते हुए मृगु-अक्षिण मय अपने शरीर आग्नेय बल को सामने रखते हुए सत्यनुसार कर्म करो। वही अग्नि दस्ता तुम्हें सुवय का अनुग्रही बनाने वासा है। जो व्यक्ति शक्तिहीनता का उत्सर्जन करता हुआ असम्भव कर्मों में प्रवृत्त होता है वह कभी सफल नहीं होसकता। इस प्रकार कृत (इरादा) कृत (अस्तीम) अग्नि (वर्तमान शक्ति) तीनों को सदैव में रखते हुए, फलाण कोषते हुए कर्म में प्रवृत्त रहो, ऐहलौकिक पारलौकिक दोनों निभूति परब्रह्म तुम्हारे सामने खड़ी हैं।

ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

—४३६—

ईशोपनिषत्-हिन्दीविज्ञानभाष्य

द्वितीयखण्ड

२

समाप्त



